रेडियो संग्रह

अंक १ त्रैमासिक वर्ष १

जुलाई-सितम्बर, १९५३ आठ आने

परिचय

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—संस्कृत, हिन्दी और ज्योतिष के आचार्य; अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काशी विश्वविद्यालय।

चिंतामणि बालकृष्ण राव, आई. सी. एस.—हिन्दी के सुकवि, भारत सरकार के सूचना एवं प्रसार मंत्रालय के उप-सचिव।

पं० सुन्दरलाल—प्रसिद्ध गांधीवादी, "भारत में अंग्रेजी राज्य" के लेखक, सम्पादक "नया हिन्द"।

आचार्य क्षितिमोहन सेन—संत-साहित्य-मर्मज्ञ, प्रिंसिपल, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन—सुयोग्य लेखक, कवि और पत्रकार।

डा० ए. एन. अल्तेकर—अध्यक्ष, प्राच्य भारतीय इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय।

सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी—नागपुर विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष।

पं० भगवद्दत्त, बी. ए.—उच्च कोटि के वैदिक रिसर्च स्कालर।

स्वामी कृष्णानन्द सोख़्ता—हिन्दी सेवी, मिली-जुली संस्कृति के समर्थक।

जोश मलीहाबादी—क्रांतदर्शी उर्दू कवि और विचारक, सम्पादक आजकल (उर्दू), दिल्ली।

रामचन्द्र वर्मा—भाषाशास्त्री, हिन्दी कोष विज्ञान के विशेषज्ञ।

केदारनाथ सिंह—उदीयमान कवि, छात्र, काशी विश्वविद्यालय।

इंदिरा गांधी—प्रधान मन्त्री नेहरू की सुपुत्री।

आचार्य काका कालेलकर—बहुभाषाविद्, गांधी दर्शन के व्याख्याता, पिछड़े-वर्ग कमीशन के अध्यक्ष।

मिर्ज़ा महमूद बेग—शिक्षा शास्त्री, प्रिंसिपल दिल्ली कालेज, हास्य-वार्ताओं के लिये प्रसिद्ध।

सुमित्रानन्दन पन्त—हिन्दी के यशस्वी कवि।

हरिवंशराय 'बच्चन'—लोकप्रिय कवि।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'—हिन्दी के राष्ट्रवादी एवं दार्शनिक कवि, संसद-सदस्य।

मनोहरदास चतुर्वेदी—प्रसिद्ध शिकारी, इन्सपेक्टर जनरल ऑफ़ फ़ोरेस्ट्स, भारत सरकार।

डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय।

मैथिली शरण गुप्त—राष्ट्रकवि, राज्य परिषद् के सदस्य।

भदन्त आनन्द कौसल्यायन—सुप्रसिद्ध बौद्ध हिन्दी सेवी।

बालकृष्ण—भारत सरकार के विधि मन्त्रालय में ऑफ़िसर ऑन स्पेशल ड्यूटी।

बनारसी दास चतुर्वेदी—हिन्दी के सुपरिचित लेखक और पत्रकार; राज्य परिषद् के सदस्य।

रामनरेश त्रिपाठी—हिन्दी के वयोवृद्ध कवि, लेखक और लोक-गीत-मर्मज्ञ।

रामधारी सिंह 'दिनकर'—प्रमुख राष्ट्रीय कवि, राज्य परिषद् के सदस्य।

डा० श्रीकृष्ण सक्सेना—दर्शन शास्त्री, पब्लिकेशन्स डिवीज़न के डिप्टी डाइरेक्टर।

डा० विश्वनाथ एस. नरवने—लखनऊ यूनिवर्सिटी में राजनीति के प्रोफेसर।

प्रभाकर माचवे—मराठी भाषी हिन्दी साहित्यिक।

आर. एल. शर्मा—संस्कृत प्रोफेसर, दोआबा कालेज, जालन्धर।

रज़िया सज्जाद ज़हीर—लखनऊ के एक प्रसिद्ध राष्ट्रवादी परिवार की सिद्धहस्त उर्दू कहानी लेखिका।

धर्मलाल सिंह—बिहार के कृषि विशेषज्ञ।

डा. भीखनलाल आत्रेय—काशी विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र विभाग के अध्यक्ष।

चारु देव शास्त्री—संस्कृत प्रोफेसर, डी. ए. वी. कालेज, जालन्धर।

हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय—स्व० सरोजिनी नायडू के क्रांतदर्शी भाई, मनीषी साहित्यिक, संसद-सदस्य।

विश्वम्भर नाथ पांडे—प्रयाग के कांग्रेसी नेता, कवि और लेखक।

डा० रामकुमार वर्मा—सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि और नाट्यकार।

महादेवी वर्मा—उत्कृष्ट छायावादी कवयित्री।

प्रो० लालजीराम शुक्ल—मनोविज्ञान सम्बन्धी प्रसिद्ध हिन्दी लेखक।

रेडियो संग्रह

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२	२७ (२)	नारदीय	नासदीय
५६	६ (१)	चारपाई	चार पाई
६०	७ (२)	सम्माननीय है	की ओर रहता है
६३	२९-३० (२)	ईसा पूर्व १००० शती से	१००० ई० पू० से
६४	अन्तिम (२)	वचनों को प्रज्ञाप्ति द्वितीय, प्रज्ञाप्ति,	वाचनों को प्रज्ञाप्ति द्वितीय, प्रज्ञाप्ति तृतीय और प्रज्ञाप्ति
६६	१	दीनबन्धू	दीनबन्धु
६६	१५ (१)	वर्षा	वसन्त
९३	१७ (१)	अनुपात	औसत
९४	८	महात्म्य	माहात्म्य

(१) और (२) संख्याएं पहले और दूसरे कालम की सूचक हैं।

रेडियो संग्रह

जुलाई—सितम्बर, १६५३

विषय-सूची



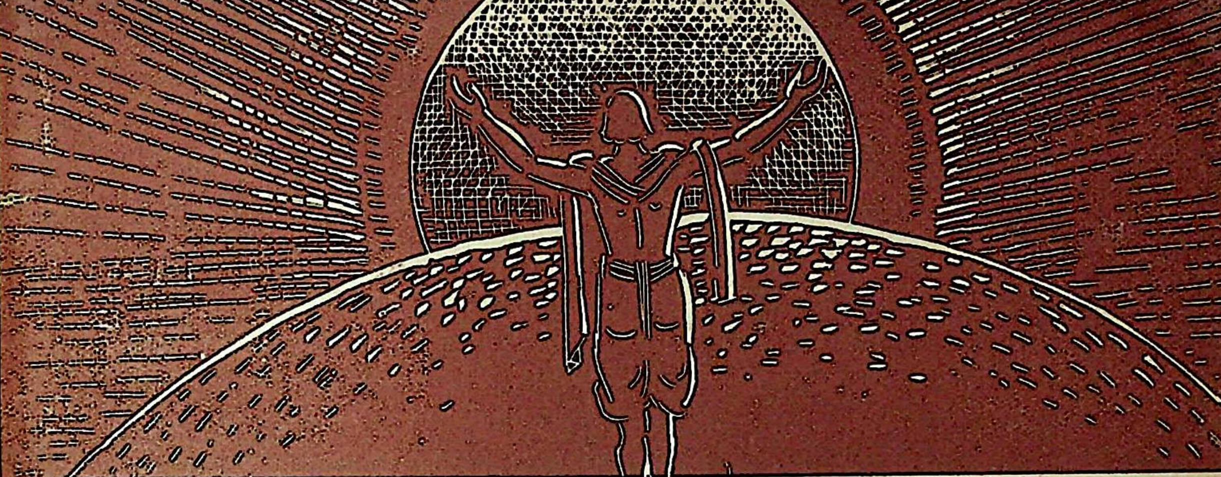
रेडियो संग्रह का उद्देश्य विशेष महत्व की उन उपादेय, शिक्षाप्रद, मनोरंजक एवं ज्ञानवर्धक वार्ता, कविता आदि का संकलन करना है, जो भारतीय आकाशवाणी द्वारा प्रसारित की जाती हैं। इस संग्रह में वार्ता आदि पूरी तरह उसी रूप में नहीं दी गईं जिस रूप में कि वे प्रसारित हुई हैं, क्योंकि भाषण और लेखन शैली में भिन्नता तथा सीमित स्थान होने के कारण उन में थोड़ा बहुत संशोधन एवं परिवर्तन आवश्यकीय है।

इस संग्रह में व्यक्त किये गये विचारों की जिम्मेदारी प्रकाशकों पर नहीं है।

रेडियो संग्रह के वार्षिक चन्दा, और विज्ञापन की दर के विषय में निम्न-लिखित पते पर पत्र-व्यवहार करें :—

डिस्ट्रिब्यूशन आफ़िसर, पब्लिकेशन्स डिवीजन, मिनिस्ट्री ऑफ इन्फ़र्मेशन एण्ड ब्रॉडकास्टिंग, ओल्ड सैक्रेटेरियट, दिल्ली—८

सम्पादक—शंकर गौर



मंत्रों की मधुमती भूमिका : सविता

हजारीप्रसाद द्विवेदी

वेद हमारी सभ्यता के मूल उत्स हैं, हमारी समृद्ध ज्ञान परम्परा के आदि उद्गम हैं और हमारे प्रत्येक उत्थान के सनातन प्रेरक हैं। न जाने कब से इस देश में समस्त ज्ञान-विज्ञान का मूल उद्गम स्रोत वेदों को ही माना जाता रहा है। आज भी इस नाम का प्रभाव ज्यों का त्यों है। दुर्भाग्यवश इस प्रेरणा और स्फूर्ति के आश्रय का अध्ययन-अध्यापन इस समय कम हो गया है। आज विवाह और श्राद्ध आदि के अवसर पर ही कुछ वैदिक मंत्रों को जैसे-तैसे पढ़ देने की व्यवस्था बच रही है। साधारण हिन्दू वेद के विषय में बहुत कम जानता है। यह तो कहना ही बेकार है कि ज्ञानहीन श्रद्धा बहुत अच्छे रास्ते नहीं ले जाती। वही श्रद्धा वस्तुतः कल्याण-कारिणी होती है जिसके आगे-आगे ज्ञान का आलोक हो। शुद्ध और पवित्र बुद्धि द्वारा चालित श्रद्धा ही मनुष्य को कल्याण के मार्ग की ओर ले जाती है।

हमारे पूर्वजों ने इस तत्त्व को समझा था। सारे वैदिक साहित्य में से चुनकर उन्होंने एक मंत्र ऐसा निकाल लिया था जिसे वे वेदों का सार समझते थे। सब कुछ भूल जाने पर भी आस्तिक हिन्दू उस मंत्र को नहीं भूल सका है। यह मंत्र साधारणतः 'गायत्री मंत्र' के नाम से प्रचलित है। इस की महिमा बताने के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस गायत्री को परवर्ती हिन्दू शास्त्र 'वेदमाता' कहकर स्मरण करते हैं। आज भी आस्तिक हिन्दू वेद के बारे में और कुछ जाने या न जाने, गायत्री मंत्र सीख लेने के लिए अवश्य व्याकुल रहता है। लेकिन गायत्री तो एक छंद का नाम है। इस छंद में वेद के अनेक मंत्र लिखे गए हैं। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र वस्तुतः 'सविता' देवता की स्तुति है। इन्हीं सविता देवता के बारे में आज हम अपने विचार आपकी सेवा में निवेदन करने जा रहे हैं। इनकी महिमा का अन्दाज़ा तो आप इतने से ही लगा

सकते हैं कि समूचे वैदिक साहित्य का सार तत्व मानी जाने वाली 'वेदमाता' गायत्री इन्हीं की स्तुति है। सविता देवता वेद के प्रधान देवता हैं। इनकी स्तुति के लिये लिखे हुए पवित्र मंत्र का जप नित्य ही आस्तिक हिन्दू किया करता है। परन्तु इस मंत्र का अर्थ क्या है? मंत्र का सीधी भाषा में यह अर्थ है कि मैं सविता देवता के उस श्रेष्ठ तेज का ध्यान करता हूँ जो हमारी बुद्धि को नित्य प्रेरणा देता रहता है। जो बात यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है वह यह है कि 'वेदमाता' हमें नित्य ही सविता देवता के उसी तेज का ध्यान करने को कहती है जो हमारी बुद्धि को प्रेरणा देता है, जो हमारी श्रद्धा के आगे ज्ञान का आलोक देता रहता है। इस सविता देवता की चर्चा वैदिक साहित्य में जहाँ-कहीं आती है वहीं वह बुद्धि और मन के प्रेरक बताये गये हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के प्रथम मंत्र में ऋषि ने प्रार्थना की है कि सविता देवता मन और बुद्धि को युक्त करते हुए अग्नि से तेज संग्रह करके हमें इस योग्य बनावें कि जगत का वास्तविक रहस्य समझने के लिये हम स्थूल पृथ्वी से ऊपर उठें :

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ।।

जब तक मनुष्य स्थूल जड़तत्व के आकर्षण में फँसा हुआ है तब तक वह मानव जीवन के वास्तविक रहस्य को नहीं समझ सकता। सविता देवता मनुष्य को उसी रहस्य की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा देते हैं। आप के मन में निश्चय ही यह जिज्ञासा उठ रही होगी कि यह सविता देवता कौन हैं जिनका श्रेष्ठ तेज हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे रहा है। उपनिषद् ने कहा है कि जब न दिन था न रात थी, न सत् था न असत् था ....केवल शिव ही शिव....केवल मंगलमय कल्याणमय महा देवता ही...विद्यमान थे, उसी समय से सविता देवता का वह श्रेष्ठ तेज है, वह अक्षर है, अविनाशी है। सविता देवता के उसी वरणीय तेज से पुरानी से पुरानी ज्ञानधारा का आविर्भाव हुआ है....

यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रि...
न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं
प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी।

ऊपर-ऊपर से देखने वाले को यह मन्त्र पहेली जैसा सुनाई देगा। परन्तु थोड़ा ध्यान से देखा जाये तो इसका रहस्य समझ में आ जायेगा। 'सविता' शब्द का अर्थ है उत्पन्न करने वाला या प्रेरणा देने वाला। इस शब्द का विशुद्ध आधिभौतिक अर्थ सूर्य है। सूर्य अर्थात् ग्रहमंडली के केन्द्र में रहकर समूचे सौरजगत को जड़ आकर्षण की अंगुलि पर नचाने वाला तेजः पुंज विराट् नक्षत्र विशेष। इस सूर्यमंडल के चारों ओर ग्रहमंडली उसी प्रकार घूम रही है जिस प्रकार सर्कस के निपुण खिलाड़ी के इशारे पर घोड़े चक्कर लगाया करते हैं। हमारी पृथ्वी भी इस घूमने वाली मंडली की एक सदस्या है। न जाने कब यह पृथ्वी सूर्यमंडल से टूट कर उसके चारों ओर चक्कर लगाने लगी थी। वैज्ञानिकों ने बताया है कि यह पृथ्वी सूर्य का एक खण्ड है। पृथ्वी ही क्यों, सभी ग्रह सूर्य की देह के ही टुकड़े हैं। लाखों वर्ष तक इस पृथ्वी का ऊपरी खण्ड ठंडा होता रहा है, ठंडा होने की अवस्था में भी लाखों वर्ष तक इसके ऊपरी परत पर तप्त धातुओं के तरलीभूत रूप की लहाछेह वर्षा चलती रही और अन्त में पृथ्वी जीव के वास योग्य हुई है। कोई नहीं जानता कि कब इस पृथ्वी पर जीवकण ने अपने आप को प्रकट किया। विशुद्ध आधिभौतिक व्याख्या है कि जीव कण कहीं बाहर से नहीं आया। पृथ्वी में जो कुछ है उसी में कुछ ख़ास तत्त्वों के ख़ास ढंग से मिल जाने पर यह परम रहस्यमय जीवतत्व उत्पन्न हुआ है। इसी ने क्रमशः विकसित होते हुए मन और बुद्धि को विकसित किया है। इस प्रकार विशुद्ध आधिभौतिक दृष्टि से विचार करें तो मनुष्य की बुद्धि मूल रूप से सूर्य का ही क्रम-विकास है। उसी से पृथ्वी उत्पन्न हुई है। पृथ्वी से जीव उत्पन्न हुआ है। प्राण से मन....मन से बुद्धि....यही

क्रम है। इस प्रकार यदि विशुद्ध आधिभौतिक दृष्टि से भी देखें तो जब गायत्री मंत्र सविता देवता का ध्यान हमारी बुद्धि के प्रेरक के रूप में करने को कहता है तो वह वस्तुतः समूची सृष्टि-परम्परा के ध्यान करने का रास्ता दिखाता है। इस ध्यान से हम सहज ही समझ सकते हैं कि इस ब्रह्मांड के प्रत्येक कण से हमारा योग है; हम अलग नहीं हैं, हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व ही साबित करता है कि हम भूमा के अंग हैं। सविता देवता का यह ध्यान कैसी अद्भुत महिमा से मंडित है! परन्तु उपनिषद् के ऋषि हमें आधिभौतिक अर्थ की ओर ले जाकर ही छोड़ नहीं देते। यह ठीक है कि यदि विशुद्ध आधिभौतिक दृष्टि से भी देखा जाये तो भी, जब दिन-रात नहीं थे तब भी सविता का वरेण्य तेज वर्तमान था, क्योंकि दिन-रात तो तब होने लगे जब पृथ्वी सूर्यमंडल से टूट कर चक्कर लगाने लगी। सविता देवता, अर्थात् सूर्य तो तब भी थे और उनका श्रेष्ठ तेज भी जहाँ का तहाँ था और प्रज्ञा-विकास भी उसी से हुआ। लेकिन ऋषि का तात्पर्य इतने से ही नहीं है। यह जो विराट् तेज-पुंज सूर्य है वह अपने आप में सत्य नहीं है। यह किसी और के तेज से तेजस्वी है, किसी और के बल से बलवान है। यह जो तेज का प्रचंड मंडल है उसके भीतर वह परम पुरुष है जो सबको शक्ति देता है। सूर्य उसी के बल से सूर्य है, अग्नि उसी के बल से अग्नि है, वायु उसी के बल से वायु है।

ऋषि ने इसी प्रेरणादायक परमपिता को सम्बोधन करके कहा है: हमारे पिता, हमारे समस्त दुरित को, समस्त कलुष को दूर करो और हमें उसी दिशा की ओर ले चलो जो कल्याणकर है। तुम समस्त मंगलों के जनक हो, आकर हो, उद्भव हो, तुम कल्याणरूप हो। हमारी प्रणति स्वीकार करो। विश्वानि देव सवितर् दुरितानि परासुव।

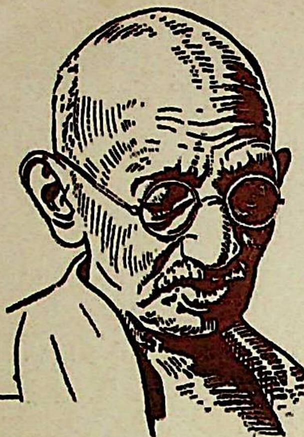
—लखनऊ से प्रसारित

कल के गीत न गाओ आज

बालकृष्ण राव

कल के गीत न गाओ आज!
कल के सूखे सुमनों से मत
फिर जयमाल बनाओ आज!
गत रजनी के स्वप्नों की निधि,
जीवित क्यों न रहे बन कर सुधि?
जग की भावशून्य जागृति में—
उसे न यों बिखराओ आज!
पल-पल पर पग धर, बढ़-बढ़ कर
खड़ा हुआ जग काल-शिखर पर,
इस क्षण की क्षणभंगुरता का
उसे न ध्यान दिलाओ आज!
कल की करुणा छिपी शान्ति में
खोया है उल्लास भ्रान्ति में,
नये अश्रु से, नये हास से
जग का जी बहलाओ आज!

—दिल्ली से प्रसारित



गांधीजी की देन

सुन्दर लाल

अंग्रेज़ी राज से भारत को आज़ाद कराने की कोशिशों का सूत्रपात हमें १८ वीं सदी के आख़िर में सबसे पहले हैदर और टीपू की कोशिशों में मिलता है। वे कोशिशें नाकाम हुईं। उसके बाद सन् १८५७ की आज़ादी की मशहूर लड़ाई आती है। यह भी असफल रही। १९वीं सदी के आख़िर में सरहद पर मुसलमान जां-निसारों की तहरीक और पंजाब में कूकों की बग़ावत का ज़िक्र मिलता है। वे भी कोई ख़ास नतीजा पैदा न कर सकीं। १९वीं सदी के आख़ीर में शायद कोई भी छोटा या बड़ा हिन्दुस्तानी यह सपना देखने का साहस न कर सकता था कि यह मुल्क कभी भी अंग्रेज़ों के पंजे से आज़ाद हो सकेगा। २०वीं सदी के शुरू में बंगाल के दो टुकड़े हुए जिससे भारत की सोई हुई आत्मा को एक गहरी ठेस लगी। आज़ादी के कुछ नये मतवाले इधर-उधर दिखाई देने लगे। रूस-जापान युद्ध के नतीजे से उनकी हिम्मत और भी बढ़ी। पर उस समय के देश-भक्तों के सामने मिसालें थीं इटली, आयरलैंड और रूस के आज़ादी के संग्रामों की। बम, रिवाल्वर, गुप्त हत्याओं और राजकाजी डाकों के सिवा उन्हें कोई और उपाय न सूझता था। हाँ, उनके साथ अंग्रेज़ी माल के बाईकाट की थोड़ी बहुत कोशिश भी थी। लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय और अरविन्द बाबू उस आंदोलन के ख़ास नेता थे। इन तरीकों से देश में कुछ बेदारी पैदा हुई, अंग्रेज़ हाकिमों की अकड़ को भी कुछ धक्का लगा, पर चार-पाँच वर्षों के अन्दर ही साफ़ दिखाई दे गया कि इन तरीकों से देश को आज़ाद करा सकना बिल्कुल नामुमकिन था। १९१५ के आसपास का समय, यानी महात्मा गांधी के दक्खिन अफ्रीका से भारत आने का समय, आज़ादी की कोशिशें करने वालों के लिये गहरी निराशा का ज़माना था। जेल से लौटने के बाद लोकमान्य तिलक को कोई आगे की राह न सूझती थी। लाजपतराय का दिल टूट चुका था। अरविन्द राजकाज से अलग होकर योग में अपना दिल लगा चुके थे।

महात्मा गांधी ने कुछ दिनों देश की हालत देखने और समझने के बाद अहिंसात्मक असहयोग और सत्याग्रह के नये तरीके और लड़ाई के नये ढंग देश के सामने रखे। खेड़ा और चम्पारन में दो छोटे, लेकिन नये ढंग के तजुरबे हुए। आज़ादी के मतवालों का ध्यान उस तरफ़ खिंचा। पहले महायुद्ध ने लोगों के अन्दर आज़ादी की प्यास को और ज़्यादा भड़काया। अंग्रेज़ हाकिमों ने रौलट ऐक्ट जैसे अन्यायी कानूनों के ज़रिये नई उमंगों को कुचल डालना चाहा। महात्मा गांधी ने अपने सत्याग्रह यानी सिविल नाफ़रमानी के हथियार को और ज़्यादा तेज़ किया। सन् १९१९ में, बावजूद पंजाब के अत्याचारों और भयंकर दमन के, जाग्रति की वह ज़बरदस्त लहर सारे देश में दौड़ गई जिसे देखकर अंग्रेज़ हाकिम

एक बार घबरा गये। शायद छः अप्रैल सन् १९१९ जैसी ज़बरदस्त हड़ताल......जिसमें समझा जाता है कि दूर से दूर के किसी गाँव में भी कोई हल नहीं चलाया गया... इस देश में उससे पहले या उसके बाद कभी नहीं हुई। पहली बार भारतवासियों को यह सूझा कि अगर वे केवल पक्का इरादा कर लें, अंग्रेज़ी कानूनों को मानने से इन्कार कर दें और अपनी बात निबाहने के लिये मिटने को तैयार हो जायें, तो दुनिया की कोई ताकत उन्हें दबा नहीं सकती और बिना हथियार उठाये वे देश को विदेशी राज से आज़ाद कर सकते हैं। महात्मा गाँधी की इस देश को और सारी राजकाजी दुनिया को यह पहली बड़ी देन थी।

दुनिया की कोई भी पार्टी इस बात से इंकार नहीं कर सकती कि इंसानी समाज का आख़िरी ध्येय प्रेम, शान्ति और अहिंसा है, नफ़रत, लड़ाई, झगड़े और एक दूसरे की हिंसा नहीं। इसके बाद यह सवाल आता है कि अगर कहीं अन्याय या ज़ुल्म दिखाई दे तो हमें क्या करना चाहिये। गाँधी जी का यहाँ साफ़ कहना था कि किसी भी अन्याय या ज़ुल्म के सामने सर झुका देना या उसे चुपचाप सह लेना पाप और गलत है। फिर सवाल होता है कि उस अन्याय या ज़ुल्म का मुकाबला कैसे किया जाय? दुनिया के सामने, अभी तक आमतौर पर इसका एक ही तरीका रहा है, और वह हिंसा का तरीका है। गाँधी जी ने इसका मुकाबला करने का एक नया तरीका, यानी अहिंसा का तरीका सुझाया। वह इस तरीके को हिंसा के तरीके से ज़्यादा अच्छा बताते थे। उनका यह भी कहना था कि इस रास्ते पर चलकर इंसानी समाज अपने आख़िरी ध्येय तक ज़्यादा जल्दी और ज़्यादा आसानी से पहुँच सकता है। इस देश की आज़ादी की लड़ाई में उन्होंने इसके कुछ नमूने भी दुनिया के सामने पेश कर दिये। गाँधी जी की यह साफ़ राय थी कि अन्याय का बिना मुकाबला किये उसे चुपचाप सह लेने की निस्बत उसका हिंसा से मुकाबला करना ज़्यादा अच्छा है। कायरता को वह हिंसा से ज़्यादा बुरा मानते थे। उनकी अहिंसा में हिंसा के मुकाबले ज़्यादा बहादुरी और ज़्यादा कुरबानी की ज़रूरत पड़ती थी।

हमारे देश में गाँधी जी के राजकाजी लड़ाई के इन नये तरीकों ने थोड़े दिनों के अन्दर ही यह गहरा असर पैदा किया कि अंग्रेज़ी वायसराय लार्ड रीडिंग को कलकत्ते के अन्दर खुले जलसे में यह इकबाल करना पड़ा:—

"His programme came within an inch of success. I stood puzzled and perplexed."

यानी महात्मा गाँधी के प्रोग्राम की कामयाबी में केवल एक इंच भर की कसर रह गयी थी। मैं हैरान था और घबरा गया था।

अंग्रेज़ सरकार के तरकस में अब एक ही आख़िरी तीर बाकी रह गया था। वह था हिन्दू और मुसलमानों में फ़िरकापरस्ती की आग को भड़काना। सन् १९२३ में गाँधी जी के जेल में रहते जगह-जगह साम्प्रदायिक दंगे हुए। शुद्धि और संगठन, तबलीग़ और तंज़ीम का बाज़ार, दोनों तरफ़ से गरम हुआ। एक बार गाँधी जी का और देश का सब किया-कराया ख़ाक में मिलता हुआ दिखाई देने लगा। जेल से लौटते ही उन्होंने देशवासियों को बताया कि देश की और इंसानी समाज की स्वस्थता के लिये इस तरह की साम्प्रदायिकता सबसे ख़तरनाक ज़हर है। इस ज़हर को देश के जिस्म से निकालने के लिये उन्होंने उसी समय से अनथक कोशिश की और आख़िर में इसी कोशिश में अपने प्राण दिये।

उन्होंने देश को और दुनिया को बताया कि नफ़रत धर्म नहीं है। धर्म प्रेम है और प्रेम ही ईश्वर है। दुनिया के सब अवतार पैग़म्बर और तीर्थंकर और सब धर्म-पुस्तकें आदर की

हक़दार हैं। ऊपर के रीति-रिवाजों की निस्बत हमें दिल की सफ़ाई, सचाई और किसी को पीड़ा न पहुँचाने के असूलों पर अधिक ध्यान देना चाहिये और सबके साथ प्रेम से मिलकर रहना चाहिये। गांधी जी के इन असूलों को 'सर्व धर्म समभाव' का नाम दिया जाता है। अपनी प्रार्थना के अन्दर उनका गीता, पुराण, इंजील, ज़िंदः अवस्था सबको जगह देना और ईश्वर और अल्ला दोनों को उसका नाम मानना इसी 'सर्व धर्म समाज' के असली रूप हैं। भारत को और इंसानी समाज को गाँधीजी की यह दूसरी बड़ी देन थी।

गाँधी जी का यह 'सर्व धर्म समभाव' कोई नई चीज़ नहीं है। दुनिया के सब धर्म-आचार्य और दुनिया की सब धर्म-पुस्तकें यही उपदेश देती रही हैं। ग़लत और संकीर्ण ढंग की धार्मिक तालीम ने और अँग्रेज़ों की लिखी हुई इतिहास की दूसरी पुस्तकों ने मिलकर हमारे अन्दर अंधविश्वासों, आपसी नफ़रतों और ज़हरीले साम्प्रदायिक भावों को जन्म दिया और उभारा। मुल्क को इससे काफ़ी नुकसान पहुँचा। यह ज़हर अभी तक देश के जिस्म से निकला नहीं है और जिस दिन भी हमारा राष्ट्रीय शरीर इस ज़हर से बिल्कुल पाक होगा, उस दिन इसका सबसे बड़ा श्रेय महात्मा गांधी की ज़िन्दगी और उनकी कुरबानी को ही मिलेगा।

महात्मा गांधी जनता के आदमी थे। वह सारी दुनिया की जनता को, सारे इंसानी समाज को एक मानते थे। दुनिया की इस करोड़ों बल्कि अरबों जनता को ही वह "दरिद्रनारायण" कहकर अपना उपास्य देव मानते थे। आम जनता यानी सबके भले को ही वह सर्वोदय का नाम देते थे। उनका ख़्याल था कि सच्चा अहिंसात्मक इंसानी समाज गाँव के आज़ाद धंधों को नष्ट करके बड़ी-बड़ी मिलों के सहारे कायम नहीं हो सकता। गांधीजी सब मशीनों या मिलों के ख़िलाफ़ नहीं थे। साइन्स की अधिक से अधिक तरक्की के वह पूरी तरह तरफ़दार थे। लेकिन उनका यह भी कहना था कि जब तक हमारे गाँव आज़ाद और स्वावलम्बी न होंगे तब तक क़ौमों-क़ौमों के बीच की लागडाट, लूट-खसोट और सल्तनत की प्यास मिट नहीं सकती और न जंगों की सम्भावना दूर हो सकती है। इसीलिये बड़ी-बड़ी मशीनों और झोंपड़ों के उद्योग-धन्धों दोनों में एक मेल और बैठ-बिठाव चाहते थे। उनका कहना था कि हमारी ज़िन्दगी की आये दिन की ज़रूरत की चीज़ें, ख़ासकर हमारा खाना और कपड़ा घरेलू धंधों से ही तैयार होना चाहियें। बाकी बहुत सी चीज़ों के वह मशीनों से बनने के हक़ में थे। मिसाल के लिये, काग़ज़ का बनाया जाना वह मशीनों से ही ठीक मानते थे। गाँधी-वाद या गाँधी जी के विचारों का यही ख़ास आर्थिक यानी माली पहलू है। दुनिया को महात्मा गाँधी की यह तीसरी बड़ी देन है।

इस देश में भी अभी हमारे राजकाजी नेता गाँधी जी के आर्थिक विचारों को ठीक-ठीक कद्र नहीं कर पा रहे हैं, लेकिन इस बात के लक्षण काफ़ी मौजूद हैं कि इस तरह भी दुनिया के विचारवान् अर्थशास्त्रियों का ध्यान धीरे-धीरे मुड़ता जा रहा है।

महात्मा गाँधी अपने ज़माने के इंसानी एकता और शांति के सबसे बड़े पुजारी थे। युद्ध को वह दुनिया से हमेशा के लिये मिटा देना चाहते थे। दुनिया की उस समय की मुसीबतों के उनके बताये हुए हल कोई अनोखे हल नहीं हैं, फिर भी वह हमें अभी बहुत आगे ज़माने की सूचना दे रहे हैं। दुनिया इस बात को समझेगी कि महात्मा गाँधी कोई कोरे आदर्शवादी या रजअत पसन्द प्रतिक्रियावादी या रिएक्शनरी इंसान नहीं थे, बल्कि अच्छे से अच्छे मानी में इस ज़माने के एक ऊँचे दर्जे के विचारक, दुनिया के सच्चे हितचिन्तक, अमली सुधारक और एक बहुत बड़े क्रान्तिकारी थे।

—इलाहाबाद से प्रसारित

गोपाल भांड



क्षितिमोहन सेन

हमारे देश में चार मसखरे काफी प्रसिद्ध हैं। बीरबल, मुल्ला दो पियाज़ा, गोपाल भाँड और तेनाली रमण। मसखरी एक उच्च स्तर की कला है, उसे हीन दृष्टि से देखना उचित नहीं। साधारणतया भोजन में षट्रस की चर्चा की जाती है, किन्तु साहित्य में-मन और बुद्धि के भोजन में-आठ अथवा नौ रसों का उल्लेख मिलता है। साहित्य शास्त्र में हास्य रस का स्थान कम सम्मान के योग्य नहीं।

पुस्तकों की दुनियाँ में पुस्तकी पण्डित तो बहुत मिल सकते हैं, परन्तु सहज हास्य की सृष्टि कर सकने वाले व्यक्ति इतनी सरलता से नहीं मिलते। जहाँ पण्डित हार जाते हैं, वहाँ हास्य-रसिक हमें सहज ही रास्ता दिखा देते हैं।

इसी प्रसंग में हमें उन अपढ़ निरक्षर सन्त कवियों की याद आती है जिन्होंने ग्रन्थ-मत पांडित्य के भारयुक्त मानव को सहज पथ दिखाया। जिन सत्यों को संस्कृत जैसी महिमा-शालिनी भाषा में भी व्यक्त करना कठिन था, उन्हें इन सन्त कवियों ने सहज भाषा में जनता के जीवन तक पहुँचा दिया। कबीर ने इसीलिए कहा था—

"संसकिरत कूपजल कबीरा
भाषा बहता नीर ॥
जब चाहो तब ही बूड़ो
शान्त होय शरीर।

कहते हैं कि गोपाल भाँड बंगाल के अन्तर्गत नदिया (शांतिपुर) के रहने वाले थे। वे महाराज कृष्णचन्द्र के आश्रय में थे। अतएव गोपाल भाँड अठारहवीं शताब्दी के व्यक्ति थे। उनका जन्म बड़े ग़रीब परिवार में हुआ था। दरिद्रता के कारण वे शिक्षा नहीं पा सके, किन्तु उनकी सहज बुद्धि बड़ी तीव्र और प्रखर थी। इसी से जहाँ पण्डित हाथ टेक देते थे, वहाँ गोपाल भाँड आसानी से निर्णय कर दिया करते थे।

एक बार कृष्णचन्द्र की सभा में बाहर के एक पण्डित अन्य प्रान्त से पधारे। वे भारतवर्ष की अधिकांश प्रचलित भाषाएँ, यहाँ तक कि संस्कृत, फारसी, अरबी आदि प्राचीन भाषाएँ धारा प्रवाह बोल सकते थे। पण्डित जन यह स्थिर न कर सके कि मूलतः उनकी मातृ भाषा क्या है? पण्डितों ने गोपाल भाँड की ओर ताका। गोपाल बोला—मैं तो भाषाओं का जानकार नहीं, किन्तु यदि मेरी प्रणाली के सम्बन्ध में मुझे आज़ादी दी जाय तो मैं पता लगा सकता हूँ कि उक्त पण्डित की मातृभाषा क्या है? निदान गोपाल को ही यह काम सौंपा गया। सब लोग सीढ़ी से उतर रहे थे। गोपाल ने पण्डित को एक ऐसा धक्का दिया कि वे बेचारे हठात् अपनी मातृभाषा में गाली देते हुए नीचे आ गिरे। पण्डितों ने चकित होकर पूछा, "इस व्यवहार का अर्थ?" गोपाल ने कहा—देखिए, तोते को आप राम राम और राधेश्याम सिखाया करते

हैं, वह भी सदा राम नाम सुनाया करता है। किन्तु जब बिल्ली आकर उसे दबोचना चाहती है, तो मुख से टें-टें के सिवाय और कुछ नहीं निकलता। आराम के समय अन्य सब भाषाएँ चल जाती हैं, किन्तु मुसीबत में मातृभाषा ही काम देती है।

गोपाल भाँड बड़ी उदार प्रकृति के व्यक्ति थे, साम्प्रदायिकता से मुक्त। उनके तीन मित्र थे, एक शाक्त, गायक रामप्रसाद, दूसरे आजु गोसाई नामक वैष्णव और तीसरे एक मौलवी। चारों मिलकर प्रायः ही मौज किया करते थे। किसी ने एक दिन गोपाल से पूछा—तुम चारों में मित्रता कैसे है? चारों के मुख तो चार भिन्न दिशाओं की ओर हैं। गोपाल बोले। यह हमारे गुरू की शिक्षा है। पूछा गया: "तुम्हारे गुरू कौन हैं?" गोपाल ने कहा—घर आना, दर्शन करा दूंगा। घर आने पर गोपाल ने अपनी चार गायें दिखाईं, जो चारों ओर से एक ही नाँद से पुआल खा रही थीं। गोपाल बोले: ये रहे मेरे 'गोरू'। बँगला में "गोरू" गाय के अर्थ में व्यवहार होता है। इसी श्लेष के आधार पर गोपाल ने बता दिया कि ये चारों मित्र अलग-अलग देवता के उपासक होकर भी वस्तुतः एक ही आनन्द के स्रोत से अपनी प्यास मिटाया करते हैं।

गोपाल भाँड धार्मिक बाह्याचार के समर्थक न होकर धर्म के मर्म को ही महत्त्व दिया करते थे। वे मानव धर्म को सर्वोपरि मानते थे। एक बार आस-पास के अनेक हिन्दू और मुसलमान तीर्थयात्रा के लिए निकले। अधिकांश तीर्थयात्री सफलतापूर्वक यात्रा सम्पन्न करके लौटे और उनका काफी स्वागत किया गया। किन्तु एक मुसाफिर मक्का शरीफ़ जाते हुए आधे रास्ते से लौट आया और दूसरा हरद्वार जाते हुए आधे रास्ते से। गोपाल को जब इन दोनों के वापिस आने का वृत्तान्त मालूम हुआ तो उन्होंने उनकी अच्छी अभ्यर्थना की। लोगों ने आश्चर्य से पूछा कि यह क्यों? तो गोपाल ने कहा: आप लोगों को मालूम नहीं कि इन यात्रियों को बिना तीर्थ तक पहुँचे ही परिपूर्ण पुण्य मिल गया है। मक्का शरीफ़ का मुसाफ़िर अपनी सारी पूँजी ख़र्च करके अपने बीमार सहयात्री की सेवा करता रहा। आने जाने के लिए उसके पास कुछ भी नहीं बचा। उसका हज्ज वहीं क़बूल हो गया। दूसरे यात्री ने हरद्वार पहुँचने से पहले ही किसी गाँव में पानी का कष्ट देख कर अपना सारा धन लगा कर जलाशय खुदवा दिया, और खाली हाथ घर लौट आया। इन दोनों तीर्थयात्रियों की यात्रा भगवान के दरबार में सार्थक मानी गई है। इसी लिए मैंने इन के स्वागत का आयोजन किया है।

नदिया-शान्तिपुर में पण्डितों के दो दल थे, जिनमें हमेशा तर्क चला करता था, किन्तु कोई निष्पत्ति न हो पाती थी। पूछने पर गोपाल ने कहा कि मैं जानता हूँ निष्पत्ति क्यों नहीं हो पाती। लोगों ने पूछा—कैसे? गोपाल बोले – मैं प्रत्यक्ष दिखा दूंगा।

दिवाली की रात आई। गाँव में दो शामलाती ज़मीदार थे, जिन में काफ़ी स्पर्द्धा थी। रात को काली पूजा के पश्चात जब एक पहर रात्रि शेष रह जाती थी, तब दोनों ओर के लोग पूजा का तिलक लगा कर दो नावों में कूद पड़ते थे और प्राणपण से नाव खेते थे। प्रातःकाल जब शंख बजता, तब जो नाव आगे होती, उसे प्रतिमा का स्वर्ण मुकुट प्राप्त होता। इस बार भी होड़ लगी थी। अमावस का गहरा अन्धकार! गोपाल ने माँझियों को शराब पिला कर नशे में चूर कर रखा था। यथासमय डाँड चलनी शुरू हो गई और माँझियों ने एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया। जब शंख बजा तो लोगों को चेतना हुई, किन्तु देखा गया कि नावें जहाँ की तहाँ बंधी हुई हैं, इतने परिश्रम के बावजूद भी घाट से आगे नहीं बढ़ीं। असल में गोपाल ने नावों की रस्सियाँ खोली ही न थीं। तर्क करने वाले दोनों सम्प्रदाय के लोग भी वहाँ उपस्थित थे, और सब हंस कर लोट पोट हो रहे थे। गोपाल ने गम्भीर हो कर कहा—हंसने की

बात नहीं। आप लोगों की भी यही अवस्था है। शास्त्र के नशे में आप दोनों दल चूर हैं। तर्क के दाँव-पेंच और शास्त्रार्थ की डाँड-चलाई तो खूब हो रही है, किन्तु साम्प्रदायिकता के खूँटे से आप दोनों ही बँधे हैं, मुक्त कोई भी नहीं। यही कारण है कि तर्क में उलझे हुए हैं, किन्तु प्रगति नहीं हो पाती। जब तक आप संकीर्ण विचारों के बन्धन न तोड़ें, मीमांसा कैसे हो सकती है ?''

पास के किसी ज़मींदार ने गोपाल को एक बार अपने यहाँ भगवान् की झाँकी देखने के लिए बुलाया। गोपाल ने जाकर देखा कि पूजालय में पूजा का आयोजन है, किन्तु बाहर प्रजा पर अत्याचार हो रहा है। इस दृश्य को देखकर गोपाल को इतनी पीड़ा हुई कि वे पूजाघर में नहीं गए। पूछने पर गोपाल ने कहा, "यह पूजाघर नहीं, भगवान् का बन्दीगृह है। यहाँ थोड़ी सी जगह में भगवान क़ैद हैं, बाहर सर्वत्र शैतान की लीला चल रही है। तुम्हारे देवता जिन्हें तुमने घर में प्रतिष्ठित किया है, प्रेम के देवता नहीं। मैं तो मूर्ख आदमी हूँ—इतना ही समझता हूँ।''

एक बार किसी पण्डित ने गोपाल से पूछा, "अच्छा यह तो बताइए कि ब्रह्मा की पूजा का प्रचलन क्यों नहीं है, जब कि विष्णु और शिव की पूजा होती है ?'' गोपाल ने कहा—"तुम्हारी भक्ति ही ऐसी है। विष्णु पालन करते हैं, इसलिए तुम उनकी उपासना करते हो। शिव संहार करते हैं, इसलिए डर के मारे उन्हें प्रसन्न रखते हो। ब्रह्मा ने जन्म दे दिया, फिर उनसे क्या ग़रज़ ? जब बच्चा हो गया, तो सूतिका को कौन पूछता है ? जब प्रेमिका मिल गई, तो दूतिका की क्या पूछ ? जब पार उतर गए, तो नाव से क्या प्रयोजन ? मतलब पर ही तो तुम्हारी भक्ति आश्रित है।''

कबीर के समान गोपाल ने देवता को मन्दिर-मसजिद में उपलब्ध नहीं किया था, मनुष्य के अन्तर में ही उन्हें पाया था। कबीर की वाणी "मोको कहाँ ढूंढ़ता बन्दे....." इत्यादि का सत्य गोपाल के जीवन में प्रत्यक्ष देखने को मिलता है। साधारणतया हमारा धर्म हमारे लोभ और भय को व्यक्त करता है—स्वर्ग का लोभ या नरक का भय। गोपाल की उपलब्धि इस आधार पर नहीं खड़ी थी। यहाँ फिर कबीर की वाणी याद आती है।

"अनजाने को स्वर्ग नरक है,
हरि जाने को नाँहिं......''

—दिल्ली से प्रसारित

मौत और मैं

मौत से मुझे नफ़रत है और मौत को भी यह बात मालूम है कि मुझे उससे नफ़रत है। यही वजह है कि वह मेरे पास आने में देर कर रही है। अभी वह बहुत देर तक मेरे पास नहीं आयेगी, क्योंकि मुझे उम्मीद है कि मैं बहुत बड़ी उम्र तक ज़िन्दा रहूँगा। कोई वजह नहीं कि मैं बहुत बड़ी उम्र तक ज़िन्दा न रहूँ। मैं हँसता हूँ, काम करता हूँ, गाता हूँ, सपने देखता हूँ। आकाश को देख कर खुश होता हूँ। मज़लूम तबक़े की उदास आँखों में आँखें डाल कर देखता हूँ, और उनके लिये पूरे शद्दो मद से लड़ाई करता हूँ। जब जनता मुझसे मुतालबा करती है, मैं मैदान में कूद पड़ता हूँ। मौत इन तमाम बातों से डरती है, और इसलिये मेरे समीप आने से ख़ौफ़ खाती है। मौत मेरी ज़िन्दगी के दरवाज़े के बाहर इन्तज़ार करेगी, क्योंकि मैं मर नहीं सकता। मैं उस वक्त तक नहीं मरूँगा जब तक क़ब्रिस्तानों को लहलहाते हुए बागों की सूरत में न देख लूँ और लोगों की ज़िन्दगियों पर जो भारी साये पड़े हुए हैं, उन्हें ख़त्म होता न देख लूँ। बहर तौर, एक शायर और एक सिपाही की हैसियत से मैं हमेशा ज़िन्दा रहूँगा।

(हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय—दिल्ली)

कामाख्या की छाया में

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन

मेरी असम की डायरी में कामाख्या की छाया कितनी कम है, इस पर कभी-कभी मुझे स्वयं आश्चर्य होता है। पर इसका कारण यह नहीं है कि मैं आराम से देशाटन करना चाहने वाले विदेशी यात्रिओं की भाँति ऊपर ही ऊपर से दो चार उल्लेख्य स्थलों को छू कर उड़नछू हो गया। इसका कारण इससे ठीक उलटा है। पिछली शतियों में कामाख्या का और उस तीर्थ, उस मन्दिर, उस देवी से सम्बद्ध विश्वासों का चाहे कितना महत्त्व रहा हो, इधर वह नगण्य है, क्योंकि असमिया लोग वैष्णव हैं, वह भी निराकारोपासक : उनके धार्मिक जीवन का केन्द्र प्रत्येक गाँव का अपना-अपना 'नामघर' होता है, और इनसे बाहर उनकी श्रद्धा का केन्द्र है तो माझुली द्वीप में विभिन्न वैष्णव गोस्वामियों का सत्र, जो वैष्णव सन्त शंकर देव और उनके शिष्य माधव देव की परम्परा के संरक्षक और व्याख्याता होते चले आये हैं। जो देश तान्त्रिक अभिचारों का अभेद्य दुर्ग था, जिसकी कीर्ति लोक-गाथाओं तक में फैली हुई थी, जहाँ की जादूगरनियाँ आदमियों को भेड़ बना कर रखा करती थीं, वहाँ इतना भारी परिवर्तन ले आने वाले शंकर देव के सम्मुख श्रद्धा से झुक जाना स्वाभाविक ही है, इसलिए और भी स्वाभाविक कि शंकर के ही समकालीन दूसरे महान् वैष्णव सन्त अपने-अपने प्रदेश में गहरा प्रभाव डालकर भी वहाँ की परम्पराओं को इतने आमूल रूप में बदल नहीं सके।

लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि इस परिवर्तन का श्रेय बहुत कुछ असमिया चरित्र की विशेषता को भी है। यों तो असमिया का अर्थ अगर असम प्रान्त का रहने वाला मात्र न लेकर असमिया भाषा-भाषी या असमिया जाति का भी लें तो भी उसके अन्तर्गत अनेक जातियों-वर्गों के लोग आ जाते हैं। नृ-तत्त्व शास्त्रियों की इस क्रीड़ा भूमि में अगर अनेक जातियाँ निकट सम्पर्क में रहती पायी जाती हैं तो उनका काफी सम्मिश्रण भी पाया ही जाता है। फिर भी, अपनी यात्राओं के अनुभवों से मेरी यह धारणा निरन्तर पुष्ट होती गयी कि असमिया चरित्र एक विशिष्ट चरित्र है, और उसके मुख्य सूत्र सहज ही निरूपित किये जा सकते हैं।

असमिया संकोची किन्तु स्वाभिमानी, अजनबी से खिंचने वाले, पर परिचय हो जाने पर बड़े मिलनसार होते हैं। जीवन से उन्हें गहरा प्रेम है, पर महत्त्वाकांक्षा उनमें लगभग नहीं होती। जीवन के आस्वादों से विरत वे कदापि नहीं हैं, लेकिन उसके लिए किसी चीज़ पर लोभ वे नहीं करते। संक्षेप में उनका जीवन-दर्शन है : "मेरे पास धान के लिए अपना खेत है, मछली के लिए अपना पोखरा है, लौकी-कुम्हड़े के लिए अपनी बेल, बासा बनाने के लिए अपना बाँसों का झुरमुट; मैं किसी की चीज़ पर मोह क्यों करूँ ?" हम-आप जीवन दर्शन के रूप में इसे स्वीकार करें या न करें, यह तो मानना होगा कि सुखी जीवन का यह अच्छा नुस्ख़ा है—

सुखी व्यक्तिजीवन का ही नहीं, एक सुखी समाज का भी। बहुत से लोग इस पर हँसते हैं और व्यंग्य करते हैं, क्योंकि असमिया किसी की चीज़ का लोभ न करने का अर्थ यह भी लगाते हैं कि मैं मेहनत क्यों करूँ ? असम के अनेकों चाय-बगानों में लाखों मज़दूर काम करते हैं, उनमें दर्जनों प्रदेशों और जातियों के लोग मिल जायेंगे, लेकिन असमिया लगभग नहीं मिलेंगे। कहा जा सकता है कि वहाँ मज़दूरी की दर बहुत कम है, लेकिन युद्धकाल में जब और कोई व्यवसाय ही नहीं था, और बगानों में मज़दूरी अधिक न होने पर भी सुविधाएं अनेक थीं जो अन्यत्र अच्छी नौकरी वालों को भी न मिलतीं, तब भी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। और उन्हीं दिनों सड़कें बनाने के जो महत् आयोजन किये गये थे, उनमें भी बंगाल बिहार उड़ीसा की तो बात ही क्या, दक्षिण के मलाबारी और पश्चिमोत्तर के पठान तक आये, मगर असमिया नहीं। किसी ने मुझे कहा था, यहाँ घरेलू नौकर हैं नेपाली या बंगाली, मज़दूर बिहारी या मद्रासी, छोटे काम करने वाले पंजाबी या फिर गिरिजन गारो, निकिर, मीरी, इत्यादि। सच्चा असमिया तो बस पान खाता है, हँसता है, नामघर में कीर्तन करता है, अयन संक्रान्ति पर ढोल के ताल पर नाचता है और मिष्टान खाता है। मैं कभी कभी सोचा करता कि इनके यहाँ ढोड यानी पोस्तियों की जो कहानियां प्रचलित हैं वे यों ही नहीं, सचमुच ये बड़े आलसी होते होंगे, और इनके पुराने देवालयों और ऐतिहासिक राज-प्रासादों के अन्दर गायें पगुराती और गोबर करती देख कर मैंने एक व्यंगात्मक कहानी भी लिख डाली थी "जब शेख-चिल्ली आसाम गये"—पर वास्तव में उन्हें आलसी न कह कर आनन्दी ही कहना उचित है। हमारे साहित्य-कारों में अनेक जैसे अपने कमरों को मकड़ी के जाले और कचरे से भरा, किताबों को धूल से पटा और बिछावन को तेल से चीकट रख कर अपने आलस्य को फक्कड़पन का लुभावना नाम देते हैं, असमियों में आप वैसा नहीं पायेंगे। उनके नामघरों के भीतर ही नहीं, बाहर भी आप कहीं एक तिनका भी स्थान से च्युत न पायेंगे, उनके घर अत्यन्त साफ़ सुथरे और व्यवस्थित, आंगन लिपे-पुते या हरियाले, कपड़े सूती हों तो उजले और रेशमी हों तो साफ-सुथरे और तरतीब से पहने हुए। उनके जलाशय निरे जोहड़ या पोखर नहीं होते, बाकायदा चौरस किये हुए और बाँस के बाड़े से घिरे हुए ताल होते हैं, बड़े ताल चारों ओर बन्ध से घिरे होते हैं और सागर कहलाते हैं। कितने ही गंवई-गाँव में चले जाइये, पीने के पानी के ताल पर आपको कपड़े धुलते या बर्तन मंजते नहीं मिलेंगे, न धुलाई का पानी कभी ताल की ओर बहता हुआ मिलेगा, ताल की मछलियाँ उसे स्वच्छ रख रही होंगी, यों आप नल का या फिल्टर का या उबला हुआ पानी पीने के आदी हों वह दूसरी बात है।

मैंने अभी अभी सूती और रेशमी कपड़े की बात कही। असम में कपास लगभग नहीं होता, गारो पर्वतमाला में कुछ होता है पर घटिया किस्म का और छोटे तार का, फिर भी बुनाई वहाँ घर घर में होती है और कोई भी असमिया स्त्री ऐसी नहीं होती जो बुनना न जानती हो। असमियों में मैत्री या सौहार्द होने पर अँगोछा भेंट करने की प्रथा है। मेरे पास इनका अच्छा खासा संग्रह है और ये निरपवाद रूप से घर ही के बुने हुए होते हैं। बुनना न जाने, इससे बढ़ कर स्त्री के फूहड़पन का लक्षण नहीं हो सकता। असमिया लोग रंग



स० ही० वात्स्यायन

बहुत कम पहनते हैं, रेशम के सहज सुनहले रंग के अलावा हल्का गुलाबी और हल्का आसमानी, ये दो रंग ही चलते हैं, और इस मामले में निकटवर्ती बंगाल से उनका वैभिन्य आश्चर्य-जनक है।

और रेशम—असम का विशिष्ट रेशम तो मुगा है, जिसका नैसर्गिक सुनहला रंग और टिकाऊ-पन दोनों ही उल्लेख्य हैं, लेकिन इसके अलावा और भी अनेक प्रकार का रेशम वहाँ होता है। अब उसका निर्यात बहुत बढ़ गया है और इस-लिए दाम भी काफी बढ़ गये हैं, लेकिन अब भी वहाँ काफी संख्या में ऐसे लोग हैं साधारण वित्त के भूमिदार जो अधिकतर रेशम ही पहनते हैं। एक समय था जब असम का मुख्य आयात नमक था और मुख्य निर्यात रेशम, दस हाथ की रेशमी साड़ी तब दस आने में मिलती थी।

लेकिन असमिया के आनन्दी स्वभाव की बात कह कर छोड़ देना अन्याय होगा। उससे भी बड़ा गुण है उसका धीरज, निरा भाग्यवाद नहीं जो पौर्वात्य स्वभाव का गुण माना जाता है, बल्कि एक अस्खलित आत्मविश्वासयुक्त सहिष्णुता, प्रकृति के योगायोग सुख-दुःख के आवर्तन के साथ वह एकात्मता, जिसे समदृष्टि कहा जा सकता है। मुझे याद है, बाढ़ के ज़माने में शिवसागर में एक नदी का बाँध टूट जाने पर जो गाँव जलमग्न हो गये थे, वहाँ के तत्कालीन अधिकारी के साथ मैंने उनका दौरा किया, कहीं भी उद्विग्नता या रोना चिल्लाना नहीं था, एक जगह नीची सड़क पर पानी भर आया था, वहाँ मैं तो अपने जूते उतार कर पतलून की टाँगें चढ़ा कर पार हो गया पर हाकिम को वैसा करते संकोच हुआ तो एक तगड़े किसान ने हँस कर उन्हें कन्धे पर उठा कर वह जगह पार कर ली। हम लोग तो घूमघाम कर क्षति का अनुमान करते रहे और सोचते रहे कि सहायता के क्या क्या उपाय करने होंगे, पर स्थानीय लोग अपने अपने कामों में ऐसे रत थे मानों यह संकट भी उनके जाने पहचाने दैनन्दिन जीवन की एक घटना हो। बादल आये हैं तो बारिश होगी, बारिश होगी तो नदी चढ़ेगी, तो बाँध टूटेगा, तो घर डूबेंगे, फ़स्लें सड़ेंगी, तो नया परिश्रम करना होगा और बाँस काट छील कर नये बांसे बनाने होंगे—इस में थकान तो बहुत होगी पर तब तक आश्विन आ जायगा, फिर अयनोत्सव और विष्णु-वोत्सव होगा—असमिया 'बिहू' जब ढोल बजेंगे और नृत्य होगा, तो जीवन का कीच में फंसा हुआ रथ फिर मुक्त होकर आगे चल पड़ेगा।

यही बात और भी स्पष्ट मैंने माझुली में देखी। लेकिन पहले यह बता दूं कि माझुली है क्या। यह ब्रह्मपुत्र के मंझधार में एक बड़ा द्वीप है, मध्य स्थिति के कारण ही इसका नाम माझुली है। नदी का द्वीप क्या होगा भला, आप सोचेंगे, लेकिन इसकी लम्बाई जाड़ों में सत्तर और वर्षा में बाईस मील है, और चौड़ाई जाड़ों में लगभग ग्यारह और वर्षा में लगभग सात मील। यों वर्षा में बचे खुचे क्षेत्र के भी अधिकांश में पानी भरा हो वह दूसरी बात है। द्वीप की आबादी बाईस हज़ार के लगभग है। संसार में अपने ढंग का यह एक ही द्वीप है, नहीं तो नदी का ऐसा द्वीप किसने सुना है? यहां वैष्णवों के कई सत्र हैं: शंकरदेव तो गृहस्थ संत थे, और शिष्य माधवदेव को भी उन्होंने यही उपदेश दिया था किन्तु माधवदेव ने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था और उनके बाद से गोस्वामियों की परम्परा में भक्तगण ब्रह्मचारी होते हैं। आउ-नियाटी, दखिनपाट और गड़ामूर के सत्र प्रसिद्ध हैं। सत्रों और उनसे सम्बद्ध ज़मीदारियों के अलावा माझुली में मीरी जाति के कुछ गाँव हैं। माझुली का मध्य जोरहाट के सामने पड़ता है, वहीं से कोकिलामुख घाट और वहाँ से माझुली के मुख्य घाट कमला बाड़ी जाते हैं। नाव में लगभग चार घण्टे में पार हुये थे। माझुली मैं तीन बार गया, एक यात्रा जाड़ों में हुई, दूसरी वर्षा में, तीसरी बसन्त में, और तीनों के अनुभव बिल्कुल अलग अलग थे। समय इतना नहीं कि सब आपको बता सकूं पर बाढ़ में जब गया तब की छवि मन पर बड़ी गहरी है। जाड़ों में बड़ा आतिथ्य हुआ था, सत्राधिकारों का आतिथ्य

प्रसिद्ध है—पर बरसात में द्वीप नाम को ही था, कमलाबाड़ी के मेखलावत् दूसरे सिरे तक बनी हुई ऊँची पटरी की सड़क ही 'भूमि' नाम के लायक थी, और सारे द्वीप के ढोर-डाँगर इसी पर जमा थे। ढोर-डाँगर ही नहीं, द्वीप के जंगली प्रदेश के वन्य पशु भी लोमड़ी और सयार, बन्दर और बाघ, और हाँ जंगली चूहे और साँप भी—मानो पंचतन्त्र का युग आ गया हो—मानो पगुराती हुई कोई भैंस अभी भारी स्वर में 'भोः ब्राह्मण' कह कर सम्बोधन कर उठेगी। और मानव ? मैंने देखा कि गाँवों ने अपने-अपने मचान बना रखे हैं, जहाँ लोगों को रक्षा के लिये पहुँचाया जाता है—सहकारिता के इस आयोजन में सब पहले से निश्चित है कि कौन क्या करेगा, कहाँ टिकेगा·· और मानो यह भी निश्चित सा है कि बाघ कितने ढोर उठा ले जायेंगे, या किसानों को घायल करेंगे, या साँप कितनों को डसेंगे। अनिश्चय थोड़ा सा है तो इस बारे में कि उन कितनों में अमुक होगा या अमुक। घर घर में मलेरिया था, और क्योंकि गाँवों में राजनैतिक जागृति थी इसलिये राशन में तेल और नमक बन्द कर दिया गया था, मैं जहाँ जाता लोग पुआल की मशाल जला कर रोगी को दिखा देते और फिर अन्धकार हो जाता जिसमें मैं मानो उनके धीरज की साँसें सुनता रहता। द्वीप में कुल एक सरकारी डिस्पेंसरी थी जिसे वार्षिक दो सौ रुपया मिलता था। बाईस हज़ार की आबादी पर पड़त फैलाकर देखिये, हर साल हर व्यक्ति को एक अधेले की दवा मिल सकती थी—समझ लीजिये कि साल में एक बार आधी गोली कुनैन। लेकिन मैंने कहीं रोना झींकना या कोसना नहीं देखा, देखा तो एक शान्त भव्य अभिमान जो मानों कहता हो प्रकृति दयालु नहीं है, लेकिन हमारी परिचित है, जिस तरह पड़ोसी एक दूसरे का अत्याचार सह लेते हैं वैसे ही हम भी हैं, जिस तरह पड़ोसियों में आपस में मान होता है वैसा ही हम में भी, झुकने में या शिकायत करने में हमारी प्रतिष्ठा घटती है·······

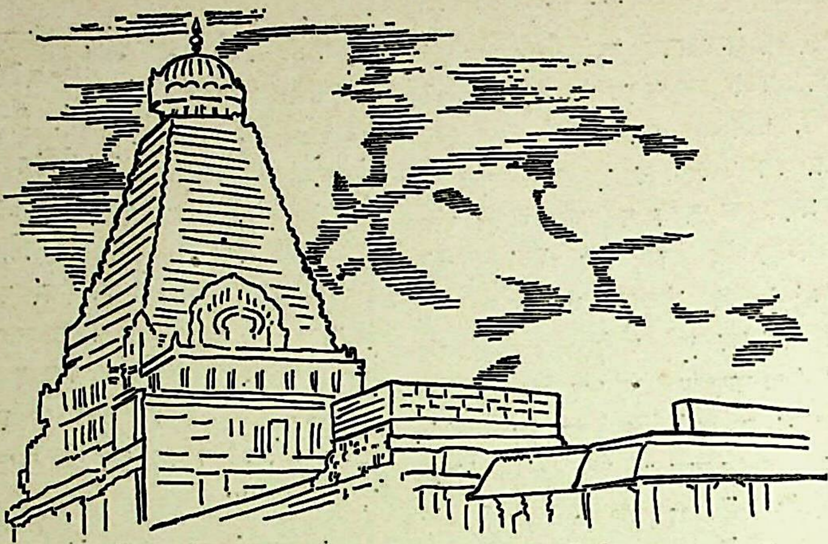
और इसके बाद बसन्त में जब गया था, तब नाव पर से ही दूर से ढोल का द्रुत स्वर सुन सका था—जान गया था कि जीवन भले ही प्रकृति की देन हो, वह सदैव प्रकृति पर विजयी है·······

समय होता, तो मैं असमिया धैर्य की एक ऐतिहासिक प्रतिमा रानी जयमती की गाथा सुना कर समाप्त करता, लेकिन अभी उनका स्मरण ही कर सकता हुँ। इस स्वाभिमानिनी रानी की वीरता असमिया लोकमानस में बहुत गहरे पैठी है, और जयसागर नामक ताल के तट पर उस का मन्दिर जयदोल, एक तीर्थस्थल है—भले ही वहाँ भी गायें पगुराती हों—पर अभी समकालीन चरित्र चित्र से ही सन्तोष करें।

—दिल्ली से प्रसारित

आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामायं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न काम कामी ॥ गीता ॥

सब ओर से परिपूर्ण जलनिधि में सलिल जैसे सदा आकर समाता, किन्तु अविकल सिन्धु रहता सर्वदा। इस भांति ही जिसमें विषय जाकर समा जाते सभी, वह शान्ति पाता है, न पाता है कामी जन कभी। (दीनानाथ 'दिनेश'—दिल्ली)



हमारी संस्कृति में जातियों का योग : द्रविड़

अनन्त सदाशिव अल्तेकर

अनेक जातियों की संस्कृति के समन्वय, मेल-जोल या योग से भारतीय संस्कृति बनी है। भारत ही शायद ऐसा एकमात्र देश है जहाँ हिन्दू, जैन, बौद्ध, ख्रिस्ती, यहूदी, ईरानी और मुस्लिम संस्कृति के लोग मिलजुल कर और प्रेम से रहते हैं। भारतीय संस्कृति एक सुंदर गलीचे के सदृश है, जिसके विभिन्न रंग आर्य, द्रविड़, मंगोल, मुंड, कोलारियन, ग्रीक, शक, पार्थियन, कुशाण, हूण इत्यादि वंशों की संस्कृतियों से आकर्षक और मनोरम बन सके हैं। आज हम द्रविड़ संस्कृति से भारतीय संस्कृति किस प्रकार सुसमृद्ध हुई है इस सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे। किन्तु यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है। द्रविड़ संस्कृति का आर्यों के आगमन से पूर्व क्या स्वरूप था, इसके बारे में हमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। न हमें उस प्रागैतिहासिक काल के कुछ शिलालेख मिले हैं, न ग्रंथ, जिनके सहारे हम द्रविड़ संस्कृति का रूप निर्धारण कर सकें। वैदिक वाङ्मय में अनार्यों का वर्णन आता है, किन्तु वह अत्यन्त संक्षिप्त और छिटपुट रूप में है। हिन्दुस्तान में खश, कोलारियन, गोंड, मुंड, द्राविड़, इत्यादि अनेक अनार्य लोग थे। उनमें से किनके बारे में वेदों ने अनास, मृध्रवाच इत्यादि लिखा है, यह कहना भी कठिन है। द्राविड़ लोग कौन थे, उनकी संस्कृति कहाँ तक फैली थी, इसके बारे में भी अत्यन्त मनोरंजक और आश्चर्यजनक मतवैचित्र्य हैं। जस्टिस पार्जिटर महोदय ने अनेक वर्षों तक पुराणों का अध्ययन किया। उसके फलस्वरूप वह इस नतीजे पर पहुँचे कि भगवान् रामचन्द्र द्राविड़ वंश के थे और अन्य ब्राह्मण जाति भी उसी वंश की थी। दूसरों का कहना यह है कि द्राविड़ लोग न केवल दक्षिण देश में थे वरन् उन्होंने बिलोचिस्तान, ईरान, मेसोपोटेमिया तक भी अपने उपनिवेश कायम किये थे। बिलोचिस्तान के ब्रहुई लोग, ईरान के लूरी और मेसोपोटेमिया के सुमेरियान, ये सब द्राविड़वंशी थे। सिंधु घाटी की संस्कृति भी द्राविड़ थी, ऐसा अनेक विद्वान् मानते हैं। द्राविड़

वाङ्मय से द्राविड़ संस्कृति का स्वरूप निश्चित करना आसान नहीं है, क्योंकि सबसे प्राचीन द्राविड़ी वाङ्मय केवल २००० साल का पुराना है और उस समय आर्य और द्राविड़ संस्कृतियों का समन्वय पूर्णतया हो चुका था। द्राविड़ लोग अपने व्याकरण का भी जनकत्व आर्य ऋषि अगस्त्य को देते हैं। उनकी समाज स्थिति भी यदि हम कुछ जातियों में दिखाई देने वाली मातृसात्तक कुटुम्ब पद्धति को छोड़ दें तो बिल्कुल आर्यों की तरह की है। सब सुसंस्कृत द्राविड़ लोग आर्य देवताओं की ही पूजा करते हैं, वेद, वेदाँत, पुराण, स्मृति आदि को ही धर्म के आधारभूत ग्रंथ मानते हैं। इसलिये द्राविड़ धर्म का या संस्कृति का मूल स्वरूप निर्धारित करना और उनसे भारतीय संस्कृति को कौन सी देन मिली है, यह निश्चित रूप से कहना आसान नहीं है।

पर कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्य हैं जिनसे कुछ निर्णयों पर हम पहुँच सकते हैं। जिनकी पूजा के बिना हम कोई भी संस्कार या धार्मिक कार्य अब भी नहीं शुरू करते, वह गणेश जी द्राविड़ देव हैं, वैसे ही उनके पिता शिवजी की पुराणों में अनेक कथाएं मिलती हैं जिनसे यह मालूम होता है कि शिवजी को वैदिक यज्ञों में अनेक दशकों तक प्रवेश नहीं मिला था। उनके अनुयायियों ने दक्ष यज्ञ का विनाश भी किया था। शिव और विष्णु के झगड़े का वर्णन अनेक स्थल पर पुराणों में आया है। किन्तु आख़िर में शिवजी और विष्णु जी एक दूसरे के प्रशंसक बन गये। इतना ही नहीं, हरि और हर को एक देवता में मिलाकर एक नये हरिहर देवता का निर्माण हुआ। जो देव शिवजी और गणेश जी की तरह उच्च देवताओं में प्रवेश न कर सके, वे म्हसोबा, विरोबा इत्यादि के रूप में ग्राम देवता बनाये गये। उनकी पूजा आज भी दक्षिण में सब लोग करते हैं। वैदिक सूत्रों में पुनर्जन्म के सिद्धांत का उल्लेख भी नहीं है। एक हज़ार साल के पश्चात् उपनिषत्काल में वह दृष्टिगत होने लगता है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह सिद्धाँत हमने द्राविड़ लोगों से लिया है। सगोत्र विवाह-निषेध कल्पना भी द्राविड़ संस्कृति से ही शायद लाई गयी है। वैदिक काल में तो इसका अस्तित्व भी नहीं था। भक्तिमार्ग का उदय निसंशय आर्यों में हुआ था, किन्तु उसे जनता में सर्वत्र फैलाने का श्रेय हमें द्राविड़ लोगों को देना पड़ेगा। वैसे तो पुराण भगवद्गीता इत्यादि ग्रंथों ने भक्तिमार्ग को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया था। किन्तु द्राविड़ देश के आलवार साधुओं ने लोकभाषा याने, तमिल में भक्तिरस के स्तोत्र बनाकर सर्वसामान्य जनता में उसका प्रचार किया। द्राविड़ देश से रामानंद जी काशी में आये और वहां उन्होंने हिन्दी में भक्ति स्तोत्रों की रचना शुरू की। उनके शिष्य प्रशिष्य कबीर इत्यादि ने भक्ति सम्प्रदाय को उत्तर प्रदेश में और सूरदास, नंददास इत्यादि ने मथुरा वृन्दावन में लोकप्रिय बनाया।

जब ज्ञानमार्ग या वैराग्यमार्ग से मोक्षसाधना करना लोगों को कठिन मालूम पड़ने लगा, जब मध्ययुग में विधर्मियों के आघात से हिंदूधर्म पर अनेक संकट आ पड़े, तब उसमें नव जीवन और चैतन्य डालने का श्रेय भक्तिमार्ग को और उस के नवप्रचारक द्राविड़ लोगों को देना पड़ेगा।

आर्यों ने उपनिषदादि ग्रंथों में तत्त्वज्ञान के अनेक सिद्धान्तों की चर्चा की है, किन्तु वह सुसम्बद्ध और तर्काधिष्ठित नहीं है। शास्त्रीय दृष्टि से भाष्य लिखकर सर्व सिद्धान्तों को यथा साँग प्रस्थापित करने की प्रथा द्राविड़ देशीय शंकराचार्य जी ने शुरू की और पीछे उसी देश के रामानुजाचार्य जी ने उसका अनुकरण किया।


शंकराचार्य

यह एक मार्के की बात है कि करीब करीब सब विद्वान् आचार्य, जैसे शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, सब द्राविड़ देश के ही थे। हिन्दू तत्त्वज्ञान के द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत इत्यादि अनेक सम्प्रदायों की स्थापना करने का श्रेय हमें द्राविड़ों को ही देना पड़ेगा। आर्यों के वैदिक मन्त्रों का संगोपन द्राविड़ों ने ही सबसे अच्छा किया है। आर्यों के वैदिक मन्त्रों का स्पष्ट और दोषरहित पाठ यदि आप सुनना चाहें तो द्राविड़ ब्राह्मणों के मुख से निकलने वाले वेद मन्त्रों को ही आपको सुनना पड़ेगा। उत्तर हिन्दुस्तान के आर्य ब्राह्मण जब वेद मन्त्र पाठ करते हैं तब वे व, ब, श, ष, स इत्यादि वर्णों का स्पष्ट उच्चारण नहीं कर सकते हैं; पुरुष को पुरुख, वेद को बेद, सप्त को शप्त कहते हैं। हम लोग एक्का के 'ए' को और एकान्त के 'ए' को एक ही तरह से हिन्दी में लिखते हैं, यद्यपि एक ह्रस्व ए है और दूसरा दीर्घ। द्राविड़ लिपियाँ अधिक शास्त्रीय हैं, उनमें ह्रस्व और दीर्घ 'ए' और ह्रस्व 'ओ' और दीर्घ 'औ' अलग चिह्नों से दिखाये गये हैं।

यदि सिन्धु-घाटी की संस्कृति द्राविड़ी हो, जैसा कि मालूम पड़ता है, तो यह मानना पड़ेगा कि द्राविड़ लोग नगर-निर्माण शास्त्र में अत्यन्त प्रवीण थे। नगर में चौड़े रास्ते, ठीक तरह की नालियाँ और सार्वजनिक स्नानगृह बनाने का महत्व वे जान चुके थे। वास्तुविद्या में भी वे अत्यन्त प्रवीण थे। आगे चलकर ऐतिहासिक काल में भी उन्होंने दक्षिण हिन्दुस्तान में तंजोर, त्रिचनापोली, रामेश्वर इत्यादि तीर्थों में जो प्रचंड गोपुर के सहस्र स्तंभी देवालयों का निर्माण किया है, उससे उनकी वास्तुविद्या का प्रेम और प्रभुत्व विदित होता है। एलोरा में द्राविड़ों ने पत्थर की प्रचंड चट्टान में खुदाई करके जिन सुन्दर कैलाश मन्दिरों का निर्माण किया है वह एक विश्वविस्मयकारी कृति है। इन सब मंदिरों में अत्यन्त उच्च कोटि की पच्चीकारी का काम दिखाई देता है।

व्यापार और नौका-निर्माण में द्राविड़ लोग अग्रसर थे। आर्यों ने इन क्षेत्रों में द्राविड़ों से ही सबक सीखे हैं। वैदिक आर्य तो व्यापार और व्यापारियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। समुद्र से विशेष सम्पर्क न होने के कारण नौकानयन में उनकी विशेष प्रगति नहीं हुई थी। किन्तु कोंकण, मलाबार, कोरोमंडेल इत्यादि समुद्रतट पर रहने वाले द्राविड़ लोग समुद्र में अति प्राचीन काल से नौकानयन करते थे। पता चला है कि ईसा पूर्व ३००० के समय भी उनका बिबिलोनिया से व्यापार चलता था जिसके फलस्वरूप अनेक द्राविड़ी शब्द पश्चिमी भाषाओं में प्रचलित हुए हैं। हिब्रू भाषा में मोर के लिये तुकिर, इरानी में तविस् और ग्रीक में तोफास शब्द हैं, वे सब तमिल मलयालम के तकई शब्द से सम्बद्ध हैं। चावल के लिये ग्रीक भाषा में Aruzu, लैटिन में Aryza ये जो शब्द हैं उनकी तामिल आरसि से उत्पत्ति हुई है। अंग्रेज़ी का Rice शब्द भी उससे ही उत्क्रान्त हुआ है। दक्षिण-पूर्व एशिया से भी द्राविड़ों का व्यापारिक और साँस्कृतिक संबंध था। वहाँ हिन्दू या बौद्ध संस्कृति का फैलाव करने का श्रेय द्राविड़ों को पर्याप्त मात्रा में देना पड़ेगा। जावा द्वीप समूह को चीनी लोग क्लिंग याने कलिंग कहते थे, इसका कारण यह था कि वहाँ आने वाले भारतीय कलिंग देश से प्रायः आते थे। कलिंग देश से २०,००० कुटुम्ब आकर जावा में कैसे बस गये इसके बारे में एक जनश्रुति जावा में अब भी प्रचलित है। बर्मा, मलाया, द्वीप कल्प, चम्पा, बोर्नियो इत्यादि देशों में जो प्राचीन लेख मिलते हैं उनकी लेखन शैली द्राविड़ी है। उससे भी यह सिद्ध होता है कि दक्षिण-पूर्व एशिया में आर्य संस्कृति को फैलाने का श्रेय द्राविड़ लोगों को पर्याप्त अंश में देना उचित है।

द्राविड़ों के सहयोग से भारतीय संस्कृति को बहुत लाभ हुआ है। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, इत्यादि जो तत्वज्ञान पद्धतियाँ आर्य संस्कृति में विकसित हुई हैं, वे द्राविड़ों के सहयोग की ही परिणाम हैं—भारतीय वास्तुशास्त्र भी अत्यन्त साधारण होता, यदि द्राविड़ों की सहायता हमें नहीं मिलती। आजकल सुदूर-पूर्व एशिया और दक्षिण-पूर्व एशिया से जो हम

सांस्कृतिक सम्बन्ध अनुभूत करते हैं, उसका भी श्रेय जितना आर्यों को है उतना ही द्राविड़ों को भी।

अनेक संस्कृतियों के मधुर समन्वय से हमारे पूर्वजों ने भारतीय संस्कृति को स्वरूप दिया है। आधुनिक भारत को एक कदम आगे बढ़ा कर आधुनिक इस्लामी, ईसाई इत्यादि संस्कृतियों का भारतीय संस्कृति से समन्वय करके एक विश्वव्यापी या मानवी संस्कृति का निर्माण करने का काम हमें करना है, जिससे विश्व में विद्वेष की भावना नष्ट हो कर शान्ति और विश्वबन्धुत्व की भावना सर्वत्र प्रचलित हो।

—पटना से प्रसारित



योग्य माता-पिता

हमारे सामाजिक तरीके कुदरत के आधार पर नहीं हैं। योग्यता पैसे से मापी जाती है। धनी का बेटा मूर्ख हो, कुष्टी हो, छोटी आयु का हो, सुन्दर कन्या के लिये योग्य वर समझा जाता है। परन्तु देखिये, कुदरत ऐसे जोड़ों को कैसे विफल बनाती है। यह बात रोज़ देखने में आती है कि धनी लोग औलाद के दुख से बिलबिलाते ही रहते है, क्योंकि होती ही नहीं, और जब होती है तो निकम्मी। दूसरी ओर निर्धनों के बच्चे बहुत होते हैं। परन्तु हमें कभी ख़याल नहीं आता कि अयोग्य जोड़ों के फलस्वरूप हमारी नस्ल कमज़ोर होती जा रही है। शरीर बलहीन हैं, बीमारियों का मुकाबला नहीं कर सकते। मन उत्साहरहित होते जा रहे हैं। इस बात को अनुभव तो जरूर करते हैं कि दुर्बलता हर पीढ़ी में बढ़ती जा रही है, परन्तु उपाय को प्रयोग में लाने का हीया नहीं पड़ता। जब तक लड़का अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो जाता, उसे शादी नहीं करनी चाहिये। लड़कियों के लिये शिशु-पालन और दम्पत्ति सम्बन्ध की शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिये। जनसंख्या को काबू में रखने के लिये ३० वर्ष से कम आयु वाले को पिता बनने का अधिकार न दिया जाये। ऐसी कई और बातें सोची जा सकती हैं। परन्तु पहले तो हमारा निश्चय दृढ़ होना चाहिये कि संतानोत्पत्ति का अधिकार सिर्फ़ योग्य माता-पिता को ही दिया जाये।

(शमशेर बी० सिंह—जालंधर)

वेद :

इतिहास या साहित्य ?

सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी

भाषाशास्त्रियों का यह सर्वमान्य मत है कि विश्व में आज जितना भी लिखित साहित्य हमें मिलता है, उसमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। प्राचीनता, विषय-व्यापकता और काव्य-सौन्दर्य सभी दृष्टियों से समस्त सभ्य साहित्य में ऋग्वेद अग्रगण्य है।

ऋग्वेद किसी एक काल-विशेष, स्थान-विशेष, व्यक्ति-विशेष, कुल-विशेष की रचना नहीं है। बल्कि संकलन-समय के पूर्व के अति विस्तृत कालखण्ड में, विभिन्न स्थानों में, विभिन्न कुलों में, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा, समय-समय पर स्वयं स्फूर्ति से नानाविध विषयों पर जो रचनाएँ की गई थीं, उनमें से कुछ का—ध्यान रहे कुछ ही का—जो संकलनकर्ता की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय और अविस्मरणीय थे, संकलन आज के ऋग्वेद में पाया जाता है।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक ग्रन्थ अपने युग का प्रतिबिम्ब होता है। ऋग्वेद इस नियम का अपवाद नहीं है। इसकी ऋचाओं में भी तत्कालीन समाज और उसके इतिहास की विश्वसनीय सामग्री निहित है। उसके आधार पर ऋग्वेदकालीन समाज और इतिहास का चित्र खींचा जा सकता है। ऋग्वेद में हम आर्यों को दस्यु, दास, असुर आदि अनार्य जातियों के विजेता के रूप में देखते हैं। वे अभी तक समस्त भारत में नहीं फैल पाये थे। उनके सप्तसिंधु प्रदेश में गंगा नदी पूर्वी छोर पर थी। वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि कुलगुरुओं की अध्यक्षता में आर्यों के अनेक वंश इस प्रदेश में प्रतिष्ठापित हो चुके थे। यह सब कार्य बिना युद्ध या रक्तपात के हुआ हो, यह बात नहीं। इसके लिये दीर्घकालीन संघर्ष हुए थे। दिवोदास के पुत्र सुदास के 'दाशराज्ञ युद्ध' का हृदयग्राही वर्णन ऋग्वेद में आया है। पाँच आर्यवंशी और पाँच अनार्यवंशी राजाओं के एक सम्मिलित संघ ने सुदास पर आक्रमण किया था किन्तु वशिष्ठ के प्रभाव से सुदास विजयी हुआ। साठ हजार द्रुह्यु और ६ सौ अनु-इस युद्ध में खेत रहे। इसी प्रकार वेदों की सहायता से सामाजिक स्थिति का भी चित्रण किया जा सकता है। आर्य लोग रथों पर चढ़ते थे। गोपालन और कृषि उनके मुख्य व्यवसाय थे। सोम और सुरा का पान, एक धार्मिक विधि के रूप में अनुमत था। पश्चिमीय देशों से समुद्र द्वारा उनका व्यापारिक सम्बन्ध था। ऋग्वेद में समुद्र शब्द अनेक बार आया है। आर्यों का सप्तसिंधु प्रदेश एक उपजाऊ भूमि

में था। इसी से लोग सुखी और समृद्ध थे। सत्य और व्यवस्था का आदर किया जाता था। व्यभिचार, चोरी और डाका, बुरे व्यसन माने जाते थे। ऋग्वेद काल में स्त्रियाँ, उत्तर काल की अपेक्षा, अधिक आदरपात्र और स्वतंत्र मानी जाती थीं। वे न केवल यज्ञ कर्म में भाग लेती थीं, बल्कि वैदिक मंत्रों की रचना भी करती थीं। मंत्रपाठ या अग्नि में आहुति के द्वारा देवताओं की आराधना की जाती थी। आर्य लोग वेदों से वीर पुत्र, पशु और सुवर्ण का आशीर्वाद चाहते थे। जीवन में आनन्द का अनुभव और रुचि होने के कारण वे पलायनवाद या वैराग्य मार्ग को नहीं मानते थे। उनके मनोरंजनों में रथ दौड़ाना, द्यूत, नृत्य, संगीत आदि को प्रमुख स्थान था।

अब वेदों के साहित्यिक पक्ष को देखना चाहिए। सृष्टि के आदिम युग के समान, ऋग्वेद की काव्यकला सीधी सादी और अकृत्रिम है। उसमें शब्दों की बनावट नहीं। अर्थ का छल नहीं। ऋग्वेद का कवि सीधे सादे शब्दों में अपने हृदय को सामने रखता है। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में कवि अग्निदेव से प्रार्थना करता है।

स नः पितेव सूनवे ऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ १-१-९

यदिन्द्राऽहं यथा त्वमीशीय वस्व एकइत्।
स्तोता मे गोषखा स्यात्। ८-१४-१

यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो
अमर्त्यः। सहसः सूनवाहुत ॥८-१९-२५

न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पा
पत्वाय सन्त्य। न मे स्तोतामतीवा
न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया॥८-१९-२६

"हे अग्नि, तुम मेरे पिता के समान हो, इसलिए मैं जब चाहूँ तुम्हारे पास एक पुत्र की तरह सीधे आ सकूं, ऐसी कृपा करो। मेरे कल्याण के लिए तुम सदैव तैयार रहो।" ऋग्वेद का कवि देवता को अपने निकट की वस्तु समझता है, ऊँच-नीच या सेव्य-सेवक का भाव नहीं मानता। तभी तो वह कहता है—"हे इन्द्र, यदि मैं तुम्हारे समान धनी होता, तो अपने भक्तों को पशुओं की कमी न होने देता।" (ऋ.८.१४.१) "यदि मैं अमर होता और तुम मर्त्य होते, तो हे अग्निदेव, तुम देखते कि तुम और अन्य भक्तगण शाप, गरीबी, अभाव, बीमारी के कष्ट को कभी न झेलने पाते।" (८.१९.२५) उषाकाल के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन कितना सजीव और कवित्वमय है, देखिए—

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती
दृशये नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो
दुहिता ज्योतिषागात् ॥ ५-८०-५
एषा प्रतीची दुहिता दिवो नॄन्योषेव
भद्रानि रिणीते अप्सः।
व्यूर्णवती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतियुवतिः
पूर्वथाकः ॥ ५-८०-६

"स्वर्ग की कन्या, उषा रात्रि के अंधकार को दूर करती हुई हमारे सामने आ खड़ी है। सद्यस्नाता वधू के समान अपने अंग-प्रत्यंगों के सौंदर्य को वह समझती है! इसी से तो वह सीधे तनकर खड़ी है, ताकि हम उसका पूर्ण दर्शन कर सकें।" दूसरी ऋचा में कवि कहता है— "शुभ्रशीला वधू के समान, स्वर्गकन्या उषा, लोगों के सामने सर झुकाये अपना सौन्दर्य दिखा रही है। अपने भक्तों को वरदान देती हुई, उषा आज भी हमेशा की तरह प्रकाश लेकर आई है।" वास्तव में उषा के वर्णन में काव्यकल्प का मनोरम चित्रण मिलता है। ओजस्वी तथा ज़ोरदार वर्णन के लिए इन्द्र अपूर्व है। सोमपायी, वज्रबाहु और वज्रधारी इन्द्र को कौन नहीं जानता? वरुण देव के सूक्तों में एक दूसरा ही वातावरण है। वहाँ नैतिक आधार के प्रति निष्ठा है। ऋत और सत्य के प्रतिष्ठापक वरुण देव के सम्मुख कवि का हृदय भयभीत

और पश्चात्तापपूर्ण है। मानवसुलभ कमज़ोरियों का हृदयग्राही वर्णन है। कवि कहता है—

अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद्भ्रातरं वां।
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत् ।। ५-८५-७
न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता ।। ७-८६-६

"हे वरुण। यदि अपने किसी भाई, मित्र, साथी, पड़ोसी या परदेशी के प्रति हमने पाप कार्य किया हो तो हे वरुण देव! क्षमा कीजिये तथा अपने दण्ड से बचाइये। मैं अपने मन ही मन विचारता हूँ कि देव वरुण, कब मुझे अपने हृदय में स्थान देंगे? वह दिन कब आयेगा जब मैं वरुण देव की क्षमा प्राप्त कर अपने को प्रसन्न मन पाऊँगा। हे देव! यह अपराध मैंने जानबूझ कर नहीं किया है। इसके पीछे धोखे बाजी, मदिरा-प्रभाव, क्रोध, जुवा खेलने की लत या असावधानी भी हो सकती है। शायद बड़ों के प्रभाव में पड़ कर मैंने यह दुष्कृत्य किया है। यह भी हो सकता है कि इसकी प्रेरणा मुझे स्वप्नावस्था में मिली हो।"

यहां यह भी जान लेना चाहिये कि ऋग्वेद में देवतास्तुति के अतिरिक्त अन्य उनके मनोरंजक विषयों पर भी सूक्त मिलते हैं। इनमें यम-यमी-संवाद और उर्वशी-पुरूरवस संवाद विशेष रूप से आकर्षक हैं। भाषा सौंदय के साथ साथ कल्पना माधुर्य भी इनमें दृष्टिगोचर होता है। यम के तिरस्कार से निराश होकर यमी कहती है :—

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयंचाविदाम।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ।। १०-१०-१३

"यम तुम दुर्बल हृदय हो, तुममें सहृदयता और दाक्षिण्य का पूर्ण अभाव है। तुम सदा ऐसे ही न रहोगे। कभी न कभी तो कोई दूसरी आकर लता के समान तुम्हें अपने बाहुपाश में बांधेगी।" अब पुरूरवस को समझाती हुई उर्वशी के सान्त्वनापूर्ण शब्द सुनिये :—

पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ।। १०-९५-१५

"हे पुरूरवस! दुखी न हो तथा आत्मघात की न सोचो। क्या तुम यह नहीं जानते कि स्त्रियों से मैत्री स्थायी नहीं हो सकती? स्त्रियों का हृदय भेड़िये के हृदय के समान कठोर और निर्दय होता है।" एक सूक्त में एक जुआरी कहता है—

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दत मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम् १०-३४-३

"जुआरी का जीवन सचमुच दुःखी जीवन है। उसकी सास उससे घिनाती है। पत्नी दूर भगाती है। कोई भी उसे आश्रय देने को तैयार नहीं होता। जैसे बूढ़े घोड़े को कोई नहीं पूछता, उसी प्रकार जुआरी का जीवन भी दूभर हो जाता है।" आध्यात्मिक दर्शन की दृष्टि से नारदीय सूक्त का महत्व आज भी महत्वपूर्ण है। सृष्टि के आरम्भ के विषय में जिज्ञासा करता हुआ कवि कहता है—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद ।। १०-१२९-७

"यह सृष्टि कहाँ से आई? जिससे यह उत्पन्न हुई, क्या उसने जान बूझ कर सृष्टि बनाई थी? सर्वोच्च आकाश में जो इसका सदैव निरीक्षण किया करता है, वह भी इस प्रश्न का उत्तर

जानता है या नहीं—इसमें सन्देह है।" दार्शनिक क्षेत्र में स्वतन्त्र विचारप्रगल्भता और विशुद्ध तर्कानुराग का ऐसा उदाहरण शायद ही कहीं मिले।

हम ऊपर वेदों के आध्यात्मिक पक्ष का निर्देश कर चुके हैं। क्षण भर के लिये रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक पक्ष को छोड़ भी दिया जाय तो भी यह कहना कठिन है कि वेद साहित्य की वस्तु हैं या इतिहास की। भारतीय वाङ्मय परंपरा में इतिहास का अर्थ केवल राजनीतिक घटनाओं का निर्देश नहीं है। इतिहास जीवन के सभी अंगों को छूता है। वेदों में जीवन के विविध अनुभवों और रूपों का निर्देश है, और इस अर्थ में वेद इतिहास-ग्रन्थ हैं। साथ ही कविता कला के अनुपम उदाहरणों से वेदों का साहित्य पक्ष भी सर्वथा पुष्ट है। अतः यदि यह प्रश्न पूछा जाय कि "वेद साहित्य हैं या इतिहास ?" तो इस प्रश्न का समुचित उत्तर होगा कि वेद, साहित्य और इतिहास, दोनों हैं, एवं साथ ही कुछ और भी।

—नागपुर से प्रसारित

धर्म क्या है ?

मनु के अनुसार धर्म का अर्थ वे नियम हैं जिन पर चलने से सभी प्राणी सुखपूर्वक रह सकते हैं: "धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः" कणाद ऋषि के अनुसार धर्म वे नियम हैं जिनके अनुसार चलने से उन्नति और निःश्रेयस की प्राप्ति होती हो। 'यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः" अर्थात् जिससे उन्नति और सर्वश्रेष्ठ पद की प्राप्ति होती हो वह धर्म है। वे नियम कौन से हैं ? मनु महाराज ने ऐसे दस साधारण नियम बताये हैं जिनके ऊपर चलने से मानवमात्र का कल्याण और सब प्राणियों की रक्षा हो सकती है। वे ये हैं : धैर्य, क्षमा, मन को वश में रखना, चोरी न करना, स्वच्छता, इंद्रिय दमन, बुद्धि से काम लेना, विद्या प्राप्त करना, सत्य बोलना और क्रोध न करना। व्यास जी ने महाभारत में धर्म का सार यह बतलाया है कि "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"

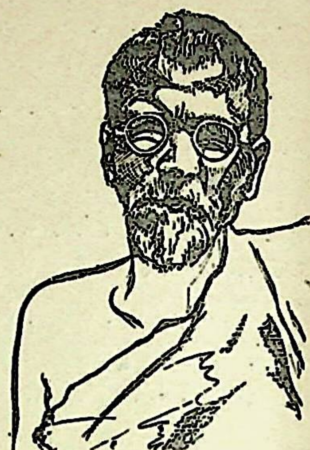
यद्यदात्मानि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥"

अर्थात् जो व्यवहार अपने प्रतिकूल मालूम पड़े वह व्यवहार दूसरों के प्रति नहीं करना चाहिये और जो बातें दूसर से हम अपने प्रति चाहते हैं वे बातें हमको दूसरों के प्रति करनी चाहियें।

मानव सभ्यता कभी और कहीं मोक्ष प्रधान, कभी और कहीं धर्म प्रधान, कभी और कहीं काम प्रधान और कभी और कहीं अर्थ प्रधान रहा है।

भारतीय सभ्यता के प्रमुख नेता राजर्षि मनु ने इन चारों पुरुषार्थों का पारस्परिक तारतम्य और स्वतंत्र मूल्य निर्धारित करते समय धर्म को ही जीवन में सर्वोच्च स्थान दिया है। उन्होंने कहा है: "धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः" अर्थात् धर्म के नियमों के पालन करने से मानव की सब प्रकार से रक्षा होती है। और उनका उल्लंघन तथा उनकी अवहेलना करने से मानव का सर्वनाश होता है। यह बात व्यक्ति और समाज दोनों पर ही लागू होती है। इसलिये मनु ने अपने समाज को ही नहीं, बल्कि मनुष्य मात्र को यह शिक्षा दी है कि धर्म की अवहेलना कभी नहीं करनी चाहिये···'तस्माद् धर्मों न हन्तव्यः'। हमारे प्राचीन ऋषि लोग इस निर्णय पर पहुंचे थे कि धर्म के नियमों पर चलने से ही स्थायी सम्पत्ति और जीवन में सच्चे सुख और भोगों की प्राप्ति हो सकती है। (बी० एल० अत्रेय—इलाहाबाद)

भूमिदान



भगवद्दत्त

महाभारत अनुशासन पर्व में भूमिदान प्रशंसा का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है। उसमें युधिष्ठिर भीष्म से कहते हैं—

इदं देय मिदं देयं इतीयं इति चोदनात्।
बहु देयाश्च राजानः किस्विद्धेयम् अनुत्तमम् ॥

यह दान दो, यह दान दो, वेद में दान की बड़ी महिमा गाई है, राजा अथवा धनी लोग बहुत दान देते हैं, परन्तु हे भीष्म, यह बतायें कि दानों में कौन-सा दान सबसे उत्तम है।

इस प्रश्न के उत्तर में सम्पूर्ण धर्मशास्त्रों के जानने वाले श्री भीष्म पितामह कहते हैं—

अति दानानि सर्वाणि पृथ्वीदानमुच्यते।
अचला ह्यक्षया भूमिर्दोग्ध्री कामानिहोत्तमान् ॥

संसार में वस्त्रदान, भोजनदान, जलदान, वासदान, धनदान, आरोग्यदान, आदि बहुत प्रसिद्ध हैं, पृथ्वीदान इन सब में से बड़ा है। कारण यह है कि वस्त्रों का कुछ काल के पश्चात् नाश हो जाता है, पृथ्वी अचला है, और इधर-उधर नष्ट नहीं होती, पृथ्वी अक्षया है, इसका क्षय नहीं होता, इनसे बढ़ कर भूमि दोग्ध्री है, इसको दोहने से सारी कामनाएं प्राप्त होती हैं, भोजन, औषध, फल-फूल, वस्त्र, रत्न, सब पृथ्वी से प्राप्त होते हैं, पृथ्वी का दान देना इन सबका दान है। इसीलिये भूमिदान को इन सब दानों से बढ़कर माना है। पृथ्वी से ही पशु पलते हैं, इसलिये भूमिदान में पशुदान का महत्त्व भी गिना गया है।

विद्वान् को, जो लालची नहीं, जो नौकरी नहीं करता, जो सदा विद्या के पढ़ने-पढ़ाने में लगा रहता है, जो धोखा देकर, झूठ बोल कर लोगों को लूटता नहीं, ऐसे धर्मात्मा को भूमि देनी चाहिये। जब राष्ट्र ऐसे निर्लोभी विद्वान् को भूमिदान करता है तो राष्ट्र की अति वृद्धि होती है।

आगे कहा है, भूमि साधु पुरुष को, भले को, नेक को देनी चाहिये। जो पुरुष भूमि प्राप्त करके उससे पैदा होने वाले धन को शराब में, इन्द्रियों की वासनाओं को पूरा करने में, दुखियों को दबाने में व्यय करता है, उसके पास भूमि कदापि नहीं रहनी चाहिये।

हमारे शास्त्रों के अनुसार भूमि राजा अथवा राष्ट्र की है, व्यक्ति का इस पर अधिकार नहीं है, इसलिये भीष्म कहते हैं—

नाभूमिपतिना भूमिरधिष्ठेया कथंचन।

भूमिपति अथवा भूपति राजा है, दूसरे अर्थों में कह सकते हैं कि भूमि राष्ट्र की है, दूसरे किसी का इस पर अधिकार नहीं, वह राष्ट्र भूमि नष्ट कर बैठता है जो धर्म नियम पर नहीं चलता, जो साधु मार्ग से परे चला जाता है। न्याय पथ पर चलने वाला राष्ट्र दुष्ट लोगों से भूमि छीन कर भले पुरुषों को, आर्य पुरुषों को भूमि देता है। इसीलिये वेद में कहा है—

भूमिं ददामि आर्याय।

भूमि आर्य के, श्रेष्ठ पुरुष के पास रहनी चाहिये। इसलिये राष्ट्र को उन पुरुषों में भूमि

बाँटनी चाहिये जो श्रेष्ठ अथवा भले पुरुष हैं। मुकद्दमा करने वाले के पास अथवा जो श्रेष्ठ पुरुष को मुकद्दमे की ओर घसीटता है, भूमि कदापि नहीं रहनी चाहिये।

जो भूखा है, जिसको बाल-बच्चे पालने हैं, और जो एक श्रेष्ठ मार्ग का परित्याग नहीं करता, उसे भूमि मिलनी चाहिये। अतः भीष्म कहते हैं—

कृशाय म्रियमाणाम वृत्तिग्लानाय सीदते,
भूमिं वृत्तिकरीं दत्वा सत्री भवति मानवः

जो भूख के कारण निर्बल हो गया है, जो शरीर यात्रा में असमर्थ है, जो मौत के समीप जा रहा है, जो ढूँढने पर भी गुज़ारा नहीं ढूँढ सकता, जिसकी वृत्ति के मार्ग बन्द हो गये हैं, जो दिन-दिन दुःख में गिर रहा है ऐसे पुरुष को भूमि देकर जिसके द्वारा उसका गुज़ारा हो जाये, उसके प्राण बच जायें, उसके बच्चे बिलखें नहीं, वह मनुष्य एक महान् यज्ञ करता है। जो फल बड़े बड़े यज्ञों के करने से होते हैं वे सब फल गुज़ारे के निमित्त भूमि देने वाले को मिलते हैं।

भूमिदान के विषय में एक पुरानी गाथा चली आ रही है। जब जमदग्नि के पुत्र श्री परशुराम इक्कीस बार क्षत्रियों को पराजित कर चुके तो भारत का बहुत भूभाग उनके अधिकार में चला गया। उस समय उन्होंने एक यज्ञ रचा। उस यज्ञ में पुरोहित महर्षि कश्यप थे। यज्ञ की समाप्ति पर दक्षिणा का समय आया। उस समय परशुराम ने सारी भूमि कश्यप को दे दी, और यज्ञ के पश्चात् आप हिमालय पर चले गये। गाथा में अलंकार रूप से पृथ्वी कहती है—

मामेवादत्त माँ दत्त दत्वा माम वाप्स्यथ।
अस्मिंल्लोके परे चैव तद्‌दृत्तं जायते पुनः॥

मुझे लो, अर्थात् राष्ट्र से खरीदो और लेकर अर्थी के लिये मुझे दे दो, इस प्रकार मुझे देकर तुम अधिक भूमि प्राप्त करोगे, इस लोक में और परलोक में तुम्हें भूमि पुनः प्राप्त होगी।

भूमिदान के साथ यह ध्यान रखना चाहिये कि उपजाऊ अच्छी भूमि दान की जाय।

हल कृष्टां महीं दत्वा सबीजां सफलामपि।
सोदकं वापि शरणं तथा भवति कामदः॥

जिस भूमि पर हल चलाया जा सके तथा ऐसी भूमि जिसमें हल चलाने के पश्चात् बीज बोया जा चुका है, और जिस भूमि पर फल लगे हैं, और जिस भूमि में पानी का प्रबंध है, ऐसी भूमि दान करके मनुष्य की कामनाओं की पूर्ति आसानी से होती है।

पुराने काल में जब इन्द्र सौ यज्ञ कर चुका, जिस कारण वह शतक्रतु कहलाया, तो उसने देव गुरु बृहस्पति से पूछा कि महान् सुख में रहने वाले हम लोग किस प्रकार अधिक तथा अक्षय सुख को प्राप्त कर सकते हैं। तब महान् तेजवाले श्री बृहस्पति जी ने भी अक्षय सुख के साधन भूमिदान की प्रशंसा की।

बृहस्पति ने कहा, भूमिदान से अधिक कोई दान नहीं है। जब शूर लोग युद्ध में मृत्यु प्राप्त करके स्वर्ग लोक को जीतते हैं तो उनको जो सुख मिलता है, भूमिदाता को उससे अधिक सुख मिलता है। जो भूदान करता है, उसे दूध और शहद की नदियाँ मिलती हैं, वह सदा तृप्त रहता है। भूमिदान से राजा अनेक पापों से मुक्त हो जाता है, बड़े बड़े तालाब लगाने का जो फल है, कुयें और प्याऊ लगवाने से जो फल होता है, बाग लगवाने से जो फल मिलता है, और अग्निष्टोम आदि यज्ञों का जो फल होता है विधिवत् भूदान से वैसा ही फल मिलता है। राजा भूदान से लाखों कर्जों से मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार पानी के ऊपर गिर कर तेल की बूँद फैलती है उसी प्रकार भूदाता की कीर्ति बढ़ती है, भूदान की यह प्रशंसा सुन कर इन्द्र ने भूदान किये। आज भी सैकड़ों गुणयुक्त लोग दुःख में हैं, भूदान से उनका कल्याण करने से देश सुखी होगा।

—दिल्ली से प्रसारित

हिन्दी - उर्दू काव्य की समानताएं

स्वामी कृष्णानन्द सोख्ता

हिन्दी और उर्दू का रिश्ता दो बहनों का-सा है, जो अलग-अलग घर ब्याही गई हैं। चूँकि वे बहिनें हैं, इसलिये उनके रूप गुण समान हैं, सिवाय इसके कि जिस घर वे ब्याही गई हैं, उसका प्रभाव उन पर पड़ा है। हमने सजा-सँवार कर भाषा को हिन्दी बनाया, दूसरों ने बाहर से लाई हुई आरायश की चीज़ों से आरास्ता करके उसी ज़बान को उर्दू लक़ब दे दिया। नामों के इस भेद के बावजूद साँचे-ढाँचे के ख़ालिस स्वदेशीपन को ज़क न पहुँचे, इस एहतियात को मद्देनज़र रखते हुए उर्दू के मशहूर शायर उस्ताद दाग़ ने ज़बान की व्याख्या करते हुए ग़ज़ल कही है—

अब दिल हैं मुक़ाम बेकसी का।
यों घर न तबाह हो किसी का॥
इतनी ही तो बस कसर है तुम में।
कहना नहीं मानते किसी का॥
कहते हैं उसे ज़बाने उर्दू।
जिसमें न हो रंग फ़ारसी का।,

इस बरायनाम भेद के होते हुए भी बनावट, अदायगी और ज़ोर के लिहाज़ से उर्दू हिन्दी की न मिटने वाली मुशाहबत, समानता ज़्यादा तफ़सील की मोहताज नहीं।

दृष्टि की व्यापकता (नज़र की वसअत) शायर के मिज़ाज का एक वस्फ़ यानी गुण है। एक ज़बान के शायर ने दूसरी ज़बान के शायर की ख़ूबियों की झूम-झूम कर दाद दी है, जिस बोली से उसे वास्ता पड़ा उसके लफ़्ज़ों की माहियत (शब्दों की आत्मा) को जानकर उन लफ़्ज़ों के इस्तैमाल से उसने अपनी तसनीफ़ों (कृतियों) को रचा। हिन्दुस्तान के सांस्कृतिक इतिहास में इस ज़हनियत का ऐलान सबसे पहले मलिक मोहम्मद जायसी ने किया था—

तुर्की अर्बी हिन्दवी,
भाषा जेतीं आहि।
जामें मारग प्रेम का,
सबै सराहहिं ताहि॥



कबीर

उर्दू भाषा और साहित्य के विकास का इतिहास लिखनेवाले विद्वान्—अमीर ख़ुसरो, कबीर, रहीम ख़ानख़ाना, तुलसीदास, बिहारी आदि सबकी गिनती उर्दू की भावी रूपरेखा की नींव रखने वालों में करते हैं, और यह स्वाभाविक भी है। भारतीय इतिहास के मध्यकाल में हिन्दुओं और मुसलमानों का जो सम्मेलन हुआ उसके फलस्वरूप हमारे यहाँ सूफ़ीमत, योग, भक्ति आदि धार्मिक विचार-धाराएँ भी आपस में मिलीं-जुलीं और एकाकार हो गईं। कबीर की यह उक्ति कौन नहीं जानता—

हमन हैं इश्क मस्ताना,
हमन को होशियारी क्या
रहे आज़ाद या जग में,
हमन दुनिया से यारी क्या॥
कबीरा इश्क का नाता,
दुई को दूर कर दिल से
जो चलना राह लाजम है,
हमन सिर बोझ भारी क्या॥

कबीर की इस उक्ति से यह बात भी साबित हो जाती है कि खड़ी बोली की एक शैली उर्दू का विकास आगे चलकर इसी ढर्रे पर होने वाला था।

हिन्दी में प्रेम-गाथाएं प्रसिद्ध ही हैं। मलिक मोहम्मद जायसी की पद्मावत इसमें सर्वश्रेष्ठ है। इस शैली की प्रेम कहानियाँ मुसलमानों द्वारा ही लिखी गई हैं। इन भावुक और उदार मुसलमानों ने हिन्दुओं के जीवन के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की और फ़ारसी की मसनवी शैली को भारतीय दृष्टि से परिष्कृत करके जनता की ज़बान में प्रेम की पीर का वर्णन किया। मज़ेदार बात यह है कि इन गाथाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ मुसलमानों के ही घर में पाई जाती हैं। बात यह है कि मध्यकाल में सूफ़ीमत, भक्ति समुदाय, योग और तांत्रिक-मत सिद्धान्त एक दूसरे में घुलमिल गये थे। गिरधर की उपासिका मीरा इश्क़ का प्याला पीती थी और हाल आते-आते बेसुध होकर नाच उठती थी, तो उधर जायसी प्रेम की पीर के साथ ही, योगियों के अनुसार सिर पर करवत लेने की बात भी करते थे। फलतः मिली-जुली विचार-धारा, भावधारा और काव्य उपादान का विस्तार और प्रसार होता था। यही वह भूमि है जिसके सबब पुराने ज़माने से हिन्दी के भाव-विचार और उर्दू में हिन्दी के भाव-विचार और शैलियाँ प्रकट होती रहीं। जैसे—

उठ मेरे काली कमली वाले।
रात चली है जोगिन बनकर,
ओस से अपने मुँह को धोकर,
लट छटकाये बाल सँभाले। उठ मेरे काली—
रोके हमारा नाम जो लेगा,
नालये दिल से काम जो लेगा,
टूट पड़ेंगे अर्श से तारे। उठ मेरे—

उर्दू की यह एक मशहूर कविता है जिसका अभिप्राय यह है कि रात का पिछला पहर है और उस वक्त ईश्वर इस्लाम के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद को जगा रहा है कि उठो नमाज़ का वक्त आ गया। ध्यान रहे कि क़ुरान शरीफ़ में मुहम्मद साहब को एक जगह काली कमली वाले कहा है। स्पष्ट है कि उपर्युक्त उर्दू कविता में हिन्दी की भाव-शैली तो है ही, हिन्दी के उपादान भी हैं। इस सिलसिले में 'जागिये गोपाल लाल' वाला पद एकदम याद आ जाता है। हिन्दी के लोक गीतों में काली कमली का ज़िक्र आता है। भगवान् कृष्ण को भी काली कमरिया वाले कहा गया है।

किस प्रकार उर्दू में हिन्दी-उपादान, प्रतीक और भाव-शैली प्रकट हुई है ठीक उसी तरह हिन्दी में उर्दू का सूफ़ियाना रंग भी निखरा है। यह रंग ख़ास उर्दू रंग है। मलूकदासजी कहते हैं—

दर्द दिवाने बावरे अलमस्त फ़क़ीरा।
एक अक़ीदा लै रहे ऐसे मन धीरा॥
प्रेम प्याला पीवते बिसरे सब साथी।
आठ पहर यूं झूमते ज्यों माता हाथी॥

एक उदाहरण और लीजिये—

इश्क़ चमन महबूब का जहाँ न जावे कोय।
जावै सो जीवे नहीं जिये सो बौरा होय॥
ऐ तबीब उठ जाय घर अबस छुयेगा हाथ।
चढ़ी इश्क़ की कैफ़ यह उतरै सिर के साथ॥

इसी प्रकार उर्दू वालों ने भी हिन्दी के प्राचीन भावों को बहुत भावुकतापूर्वक अपनाया हैं। इसके लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त है। गोस्वामी तुलसीदास की एक उक्ति है—

कबहुँक अम्ब अवसर पाय।
मेरियै सुधि ध्याइबी कछु करुण कथा सुनाय॥

इसी भाव को उर्दू-शायर उस्ताद ज़ौक़ ने यों बयान किया है—

वो कब सुनने लगे कासिद मगर हाँ यूँ सुना देना
मिलाकर दूसरों की दास्ताँ में दास्ताँ मेरी॥

चूँकि तुलसीदास राम से आत्मनिवेदन करना चाहते हैं, इसलिये उनका तर्ज़ेबयान दूसरा ही है। लेकिन भाव, जज़्बा एक ही है और उस जज़्बे के इज़हार के लिये दूसरों की दास्तान के इस्तेमाल की तरकीब भी बिलकुल एक है। मतलब यह है कि एक चीज़ है जिसे हम भाव-परंपरा कह सकते हैं इसी भाव-परम्परा के

साथ कथन-शैली भी जुड़ी हुई है। हिन्दी-उर्दू की अभ्यन्तर समानता का मूलाधार निश्चय ही यह सर्वसामान्य भाव-परम्परा है जो मध्य-युगीन हिन्दी-उर्दू की मूलाधार है।

सिंधु में बिंदु के समा जाते, जीव के परमात्म तत्व में लीन हो जाने वाली भाव-परम्परा से जो परिचित हैं, उनके लिये यह काव्य-पंक्ति नई नहीं है—

"इशरते कतरा है दरिया में फ़ना हो जाना"

ग़ालिब ने इसी भाव को मीठा घुमाव देकर एक जीवन-व्याख्या कर दी है।



ग़ालिब

इशरते क़तरा है दरिया में फ़ना हो जाना।
दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना॥

इस जीवन-व्याख्या के कारण हीं ग़ालिब का यह शेर बहुत श्रेष्ठकोटि का है।

गोस्वामी तुलसीदास की एक उक्ति है—
जित देखूं तित तोय।
कंकर पत्थर ठीकरी, भई आरसी मोय॥

अर्थात् परब्रह्म की व्यक्त सत्ता में उसकी अव्यक्त सत्ता का सौन्दर्य प्रकट हो रहा है। इसी बात को एक उर्दू कवि इस प्रकार कहता है—

निगह मेरी हक़ीक़त आशना मालूम होती है।
नज़र जिस शै पे पड़ती है ख़ुदा मालुम होती है।

हिन्दी के पुराने प्रतीक आधुनिक उर्दू-शायरों ने, और आधुनिक हिन्दी-कवियों ने उर्दू की कहन को बेरोकटोक अपना लिया है

यह तो केवल भाव-परम्परा की बात हुई। मध्यकालीन हिन्दी काव्य में चन्दबरदायी से लेकर आगे तक फ़ारसी-अरबी शब्द आये हैं। किसी में कम, तो किसी में ज़्यादा। जहाँ काव्य अधिक शुद्ध धार्मिक धरातल पर रहा फारसी-अरबी के शब्दों का प्रयोग कम हुआ, जहाँ यह धार्मिक धरातल पार्श्वभूमि में चला गया फ़ारसी-अरबी का बेखटके प्रयोग होने लगा। गोस्वामी तुलसीदास ने स्वयं अपनी कवितावली के सुन्दरकांड में फ़ारसी शब्दों का बख़ूबी इस्तेमाल किया है। यह इस बात का सूचक है कि आम बोलचाल की भाषा में उन दिनों फ़ारसी-अरबी शब्दों का बहुतायत से उपयोग होता था। मुसलमान राजत्वकाल में ऐसा होना स्वाभाविक भी है। कबीर से लगाकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक ऐसे अनेक पद्य गिनाये जा सकते हैं जिनमें हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों ने उर्दू-शब्दों को बहुत नफ़ासत और सलीक़े के साथ इस्तेमाल किया है।

आधुनिक कविता के क्षेत्र में हम पर ऊर्दू का ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा है। छायावाद-पूर्वकाल में अयोध्यासिंह उपाध्याय के चोखे चौपदे इस बात का स्पष्ट उदाहरण हैं। हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थियों को यह मालूम है कि 'प्रसाद' जी का छायावादी काव्य 'आँसू' अनेक स्थलों पर उर्दू के प्रतीकों और भावों को लेकर चला है—

मादकता से आये तुम
संज्ञा से चले गये थे
हम व्याकुल पड़े बिलखते थे
उतरे हुए नशे से।

इस पद्य को पढ़कर उतरे हुए नशे के मुहावरे का इस्तेमाल ज़फ़र की उस मशहूर ग़ज़ल की याद दिलाता है—

"न किसी की चश्म का नूर हूँ, न किसी के दिल का क़रार हूँ।

जिसका एक मिस्रा है—

"जो बिगड़ गया वो नसीब हूँ, जो उतर गया वो ख़ुमार हूँ।"

छायावाद के बाद हिन्दी में जो अन्य धाराएं चलीं, जैसे माखनलाल चतुर्वेदी, भगवती चरण वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, नवीन की कविताएं,

उनमें उर्दू की विशेषता लिये भावों की प्रचुरता दृष्टिगोचर होगी। साक़ी, प्याला, शमाँ, पतंग आदि प्रतीक तो अब तक चले आ रहे हैं। 'बच्चन' की 'मधुशाला' तो प्रसिद्ध ही है। उमर ख़य्याम के प्रभाव से हिन्दी में न मालूम कितने ही उर्दू, फ़ारसी के रोमान्टिक भावों को प्रश्रय मिला है। इस प्रकार हिन्दी-उर्दू के भावसाम्य के अगणित उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। महादेवी वर्मा की यह उक्ति लीजिये—

एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ।

और इसकी तुलना कीजिये—

आग थे इब्तदाये इश्क़ में हम।
अब जो हैं खाक इन्तहा यह है॥

अथवा दिनकर की यह उक्ति लीजिये—

जब गीतकार मर गया चाँद रोने आया।
चांदनी मचलने लगी कफ़न बन जाने को।

चाँदनी के कफ़न बन जाने की बात ठीक उर्दू में भी इसी तरह कही गई है। सुनिये उस्ताद ज़ौक़ का एक शेर है—

अफ़सुरदा दिल के वास्ते क्या चाँदनी का लुत्फ़।
लिपटा पड़ा है जिस तरह मुर्दा कफ़न के साथ॥

और बच्चन ने तो अपनी प्रेरणा उर्दू के मयख़ाने से ही ग्रहण की है। उनका एक वाक्य लीजिये—

बजी नफ़ीरी और नमाज़ी भूल गया अल्ला ताला

और उसकी तुलना कीजिये इस शेर से और देखिये कौन-सा ज़्यादा बुलन्द है—

नमाज़ कैसी कहाँ का रोज़ा,
अभी तो शग़ले शराब में हूँ।
खुदा की याद आये किस तरह से
बुतों के कहरे हवाब में हूँ।

या यह लीजिये बच्चन की एक कविता—

"नीड़ का निर्माण फिर-फिर"

अपना घोंसला बनाने, नीड़ का निर्माण करने की बात मुख्यतः उर्दू से ही आई है। चमन, आशियाँ, आशियाँ पर बिजली गिरना आदि प्रतीक ठीक उर्दू के हैं। फिर से सुनिये—

"नीड़ का निर्माण फिर फिर।"

अर्थात् एक नीड़ नष्ट हो जाने पर दूसरा नीड़ फिर से बनाया जा सकता है। एक अज्ञात उर्दू कवि की यह उक्ति देखिये—

चार तिनके आशियाँ के जल गये तो जल गये।
फिर भी हो सकती हैं शाखे गुलपे तामीरें बहुत॥

कितना अधिक भाव-साम्य है। इस भाव साम्य को निश्चय ही आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। हमारे प्रगतिशील कवि शिवमंगलसिंह 'सुमन' की एक उक्ति बहुत प्रसिद्ध है—

मैं नहीं आया तुम्हारे द्वार, पथ ही मुड़ गया था।

प्रेमी प्रेमिका के घर जान बूझ कर नहीं गया, वरन् जिस रास्ते पर चल रहा था वह खुद ही उधर मुड़ गया। अब उर्दू का एक शेर ग़ौर फरमाइये—

मुश्किलों से लाये थे समझा-बुझा के दिलको हम।
दिल हमें समझा-बुझा कर कूये जानां ले चला॥

कविता की गहराई तक पहुँचिये, कानों में यह पंक्ति गूँजती है—

दिल हमें समझा-बुझा कर कूये जानां ले चला।

हिन्दी में नरेन्द्र शर्मा की एक पंक्ति पर विचार कीजिये—

"फिर एक बार साकार बनो मेरे
युग युग के आकर्षण।"

इसके मुकाबले में डा० इकबाल की बहुत मशहूर ग़ज़ल है, उसका एक शेर मुलाहिज़ा हो—

कभी ए हक़ीक़ते मुन्तज़िर,
नज़र आ लिबासे मजाज़ में।
कि हज़ारों सिजदे तड़प रहे हैं
तेरी जबीने नियाज़ में॥


इक़बाल

हिन्दी के किन-किन नौजवान कवियों ने उर्दू के, और उर्दू के किन किन शायरों ने हिन्दी के कौन-कौन-से भाव निःसंकोच अपना

लिये हैं, अगर इसकी खोज की जावे तो उसका पूरा गोशवारा तैयार करना पड़ेगा। हिन्दी और उर्दू के भावों से या उर्दू में हिन्दी के भावों से प्रेरणा लेना गुनाह नहीं, किन्तु उस पर 'मौलिकता का दावा नहीं करना चाहिये।

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि मध्यकाल में हिन्दी और उर्दू की पृष्ठभूमि में दो बातें समान थीं : (१) एक राज दरबार तथा (२) सूफ़ियाना भक्तिप्रधान सांस्कृतिक भावधारा। ठीक उसी तरह आधुनिक काल के प्रारम्भ में राष्ट्रीय भाव दोनों भाषाओं में समान रूप से पाये जाते हैं। हाली का मुसद्दस और मैथिलीशरण की भारत-भारती एक ही राष्ट्रीय सामाजिक आदर्श से अनुप्राणित हैं। साहित्य का जागरूक विद्यार्थी यह निश्चयपूर्वक कह सकता है कि भारत-भारती मुसद्दस से प्रभावित हुई है। डा० इक़बाल, चकबस्त आदि उर्दू के राष्ट्रीय कवि हिन्दी में बहुत लोकप्रिय हुए हैं। 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला', महादेवी वर्मा जैसे पक्के छायावादी कवियों को एक ओर रख—माखनलाल चतुर्वेदी से लेकर 'बच्चन', 'अंचल' तक के काव्यों में हमें उर्दू शैली और भाव यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। उर्दू की नई रोमानी कविता ने निस्सन्देह हिन्दी-कवियों की कहन पर प्रभाव डाला है।

—नागपुर से प्रसारित

मैं नीर भरी दुख की बदली!

महादेवी वर्मा

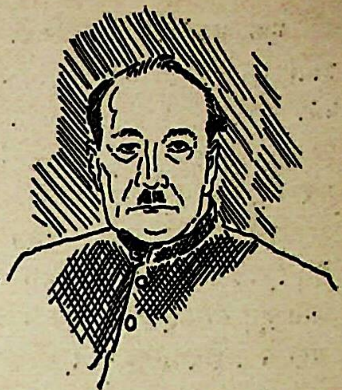
मैं नीर भरी दुख की बदली!
स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा
क्रन्दन में आहत विश्व हंसा
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली!!

पथ को न मलिन करता आना,
पद चिन्ह न दे जाता जाना,
सुधि मेरे आगम की जग में
सुख की सिहरन हो अन्त खली!!!

विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली
मैं नीर भरी दुख की बदली!!!!

—इलाहाबाद से प्रसारित

जीने का सलीक़ा



जोश मलीहाबादी

ज़िन्दगी क्योंकर बसर की जाये, यह उन लोगों से पूछा नहीं जा सकता जिन्हें जीने के लाले पड़े हों। वह लोग, फाक़ों से जिनका जिस्म दुबला और जहालत से जिनकी अक़्ल मोटी है, ज़िन्दगी बसर करने के सलीके से क्योंकर वाकिफ़ हो सकते हैं। अलबत्ता यह मसला उन लोगों का है जिन्हें मुआशी फ़रा-ग़त (आर्थिक निश्चिंतता) और ज़ेहनी बेदारी (मानसिक विकास) हासिल है।

इंसान दौड़ता, धूपता, सर खपाता और पसीना बहाता है, महज़ इसलिये कि ज़िन्दा रहने के वास्ते जिन चीज़ों की ज़रूरत है उन्हें मुहय्या कर ले। लेकिन कोई अल्लाह का बन्दा एक लमहे के वास्ते भी इस बात पर ग़ौर नहीं करता कि मैं यह जो कुछ खून-पानी एक कर रहा हूँ वह तो महज़ इसलिये है कि मैं ज़िन्दा रह सकूँ। लेकिन, ज़िन्दा रहने का मक़सद क्या है, किसी को ख़्वाब में भी उसका ख़याल नहीं आता।

एक तबका ज़िन्दगी के बाब (बारे) में इस तरह सोचता है कि अपनी तमाम तमन्नाओं, तमाम ख़्वाहिशों, गरज़े कि अपनी तमाम हस्ती को, अपने पैदा करने वाले की मर्ज़ी के सुपुर्द कर देना ही ज़िन्दगी का वाहिद मक़सद है।

लेकिन, एक तबक़ा ऐसा है, और यह बहुत ही बड़ा तबक़ा है, जो ख़याल करता है कि भाड़ में जाये नेकी-बदी और अच्छाई-बुराई, यारों को तो अपने हलवे मांडे से काम। आप भले तो जग भला। जिस तरह और जिस ज़रिये से भी बन पड़े कमाओ, कमाओ, नौकरी करके कमाओ – चोरी-डकैती कर के कमाओ – मिलें और कारख़ाने खोल कर कमाओ, अमीर बन कर कमाओ, औरत-फ़रोश बन कर कमाओ, ठेके लेकर कमाओ – लीडर बन कर कमाओ – पैग़म्बर बन कर कमाओ – अलग़रज़ हर तरीके और हर सूरत से कमाओ, खूब जी भरकर पूरे ख़ुलूस के साथ कमाओ – कमाते-कमाते मर जाओ और अगर आवागमन हो तो जब और जितनी बार पैदा हो फिर कमाओ, फिर कमाओ।

यह तबक़ा समझता है कि इस क़ायनात की उमर को देखते हुए, जो शायद करोड़ों-अरबों साल से भी ज़ायद हो, हमारी यह बूंद-भर साठ-सत्तर साल की ज़िन्दगी भी कोई ऐसी चीज़ है जिस पर निगाह पड़ सके। इस हक़ीर पोच और लचर वाहिमों पर ग़ौर करना एक अहमक़ाना वक्त की बरबादी के सिवा और कुछ नहीं। इसलिये, बस खाओ-पियो, मज़े उड़ाओ और मर जाओ।

एक तबक़ा है इनक़्लाबी। यह तबक़ा माज़ी (भूत) से मुकम्मिल तौर पर मुँह फेर कर सोसाइटी को मुस्तक़बिल (भविष्य) के साँचे में ढालने की कोशिश करता रहता है।

एक तबक़ा है फ़ल्सफ़ियों और साइंसदानों का – यह तबका हर शै को फ़ल्सफ़े और साइंस की ऐनक से देखता है और अक़ली ज़िन्दगी बसर करने का रास्ता साफ़ करता है।

इस तबके के नज़दीक ख़ुदा एक फ़र्ज़ी चीज़ है। इख़लाक़ सिर्फ़ एक इज़ाफ़ी और अहद बदलती हुई सोसाइटी के साथ बदलता और नेकी-बदी के ज़दीद तसवुर्रात (आधुनिक मान्यताएं) पैदा करता है। इस तबके की इनतेहाई कोशिश यह है कि इंसान एक मुकम्मल अक्ली ज़िन्दगी बसर करके एक ऐसी दिमाग़ी कैफ़ियत पैदा कर ले जो जिस्मानी सेहत, क़ल्बी राहत और ज़हनी आसूदगी (आराम) के साज़ो-सामान पैदा कर दे।

मुख़्तसर यह कि इल्लते ज़िन्दगी, (ज़िन्दगी का लक्ष्य) मक़सदे ज़िन्दगी और सलीकये ज़िन्दगी का मसला इस क़दर हैरतनाक तौर पर पेचीदा और इस क़दर बेअंत फैलाव रखता है कि इंसान, जो अभी तक तिफ़्ले मकतब से ज़्यादा हैसियत हासिल नहीं कर सकता है, सरेदस्त ज़िन्दगी की कोई मुकम्मल शरीयत पेश करने से क़तई माज़ूर व क़ासिर (असहाय) है।

लेकिन यह भी कोई आक़िलाना बात न होगी कि अपनी इस मजबूरी के सामने हम हाथ-पाँव ढीले कर दें और ख़ामोश होकर बैठ जायें।

बहरहाल मुनासिब यह मालूम होता है कि हम न तो बढ़ई के रंदे की तरह काम करें जो सब कुछ दूसरी ही तरफ़ फेंकता रहता है, और न बसूले ही की मानिन्द अमल करें जो सब कुछ अपनी ही तरफ़ खींचता रहता है, बल्कि हमें चाहिये कि हम आरी की सूरत से काम करें जो दूसरी तरफ़ भी कुछ फेंकती है और अपनी तरफ़ भी।

हर नारमल आदमी का यह फ़र्ज़ है कि वह जिस्मानी और ज़ेहनी तौर पर तन्दुरुस्त और क़वी (पुष्ट) रहे। जिस्मानी सेहत को बरक़रार बनाने के जो उसूल हैं उनसे हर पढ़ा-लिखा आदमी वाक़िफ़ है, लेकिन ज़ेहनी तन्दुरुस्ती के उसूल अच्छे-अच्छे तालीमयाफ़्ता लोगों को भी मालूम नहीं।

फ़ासिद ख़्यालात, नस्ली, मज़हबी और क़ौमी तास्सुबात और इसके साथ ही ख़ौफ़, ग़ुस्सा, ग़म और नफ़रत इंसान के ज़ेहन को बीमार कर देते हैं। इसलिये हर साहिबे नज़र का फ़र्ज़ है कि वह ठंडे दिल से अपने बातिन का जायज़ा ले और देखे कि इन अमराज़ में से कोई मर्ज़ इसके ज़ेहन को दबोचे तो नहीं हुए है।

बीमार जिस्म आसानी से दुरुस्त हो जाता है, लेकिन बीमार ज़ेहन का इलाज मुश्किल है और ज़ेहनी अमराज़ से सिर्फ़ वही लोग नजात हासिल कर सकते हैं जिन्हें इल्मो हिक़मत की दौलत हासिल है। और इसके साथ साथ इन का दिल इस कदर मसर्रतों से भर जाता है कि उसमें ग़म दाख़िल ही नहीं हो सकता। मिर्ज़ा ग़ालिब ने कहा है :—

ग़म नहीं होता है आज़ादों को बेशअज़ यक नफ़स,
बरक़ से करते हैं रौशन शमाए मातमख़ाना हम।

इसलिये मेरे नज़दीक तो ज़िन्दगी बसर करने का बेहतरीन सलीक़ा सिर्फ़ उसे हासिल है जो इस दुनिया में अक्ली ज़िन्दगी बसर करता है। जो दूसरों और अपने को नुक़सान या तकलीफ़ पहुँचाये बग़ैर इस ज़िन्दगी की तमाम ज़ेहनी व जिस्मानी लज़्ज़तों से इस तरह लुत्फ़ उठाता है जैसे भीगे हुए कपड़े को सख़्ती से निचोड़ दिया जाता है। ऐसा आदमी दूसरों के भी काम आता है और अपने काम भी आता है। दूसरे को भी हत्तुलवसा ख़ुश रखता है। सोसाइटी को भी आगे बढ़ाता है और ख़ुद भी आगे बढ़ता है। ख़ुद भी जीता है और दूसरों को भी जीने में सहारा देता है। और इसके साथ-साथ, न ख़ुदा से डरता है और न बन्दे से, बल्कि इस के नज़दीक जो चीज़ अक़्लन दुरुस्त होती है, डंके की चोट उसका ऐलान करता है और परवाह नहीं करता कि दुनिया इसकी दुश्मन हो जायेगी। बेशक, ऐसा इंसान इस ज़मीन की ऐसी दौलत है कि उसके कदमों की ख़ाक पर आसमान के सितारों को भी निछावर किया जा सकता है, और उसके वजूद के दरवाज़े पर चाँद-सूरज रौशनी की भीख मांगने जा सकते हैं।

लगे हाथों कुछ अपने मुताल्लिक़ भी कह दूं। यह सही है कि मैं भटक कर जल्द राहे-रास्त पर आ जाता या जल्द आ जाने की कोशिश ज़रूर करता हूँ, लेकिन तजुर्बा व अक़्ल के बावजूद अब भी बार-बार भटक जाता हूँ।

कौन कह सकता है कि उस क़बीले के हक में जिसका मैं एक फ़र्द हूँ शायद यह बार बार का भटक जाना ही मुनासिब व मुफ़ीद हो! किसे मालूम कि जब हम भटक जाते हैं। उस वक्त राहे-रास्त पर होते हैं, या जिस वक्त हम राहे-रास्त पर होते हैं, उस वक्त भटके हुए होते हैं।

मुख़्तसर यह कि हम लोगों पर बड़े अफ़सोस या बड़ी खुशी के साथ यह चस्पां किया जा सकता है—

अब भी इक उम्र पै जीने का न अन्दाज़ आया,
ज़िन्दगी छोड़ दे पीछा मेरा, मैं बाज़ आया।

—दिल्ली से प्रसारित



हिन्दी में विभिन्न भाषाओं के अनुवाद

रामचन्द्र वर्मा

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में ईसवी उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशक और बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक तीन दशक 'अनुवाद प्रधान युग' के नाम से अभिहित होंगे। इन ५० वर्षों में हिन्दी में अधिकतर अनुवाद ही हुए थे। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। आधुनिक हिन्दी ने अपने बाल्यकाल में अंग्रेज़ी, उर्दू और बंगला का सहारा लिया था। उसके बाद मराठी, गुजराती आदि की बारी आई थी।

हम कह सकते हैं कि अनुवाद प्रायः साहित्य-वृक्ष की जड़ का काम देते हैं। इसी जड़ से वह उन्नत मौलिक साहित्य बनता है, जो उस वृक्ष के तने और डालियों के रूप में विस्तृत और विशाल होकर लोक को शीतल छाया, शुभ फल और मनोहर सुगन्ध प्रदान करता है। अनुवादों की यह आवश्यकता यहीं समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि बराबर बनी रहती है और उत्तरोत्तर बढ़ती चलती है। अंग्रेज़ी साहित्य का बहुत कुछ प्राधान्य और महत्त्व इसलिये भी है कि उसमें संसार भर की भाषाओं के प्रायः सभी प्रकार के उच्चकोटि के ग्रन्थों के अनुवाद भरे पड़े हैं। अतः हमें अनुवादों को कभी उपेक्ष्य या तुच्छ नहीं समझना चाहिये।

आरम्भिक हिन्दी-साहित्य पर अंग्रेज़ी और बंगला के सिवा इसलिये उर्दू की भी अधिक

छाया पड़ने लगी थी कि उर्दू तात्विक दृष्टि से हिन्दी से कोई भिन्न भाषा नहीं थी। हिन्दी में उर्दू की कृपा से पहले तो 'इन्दर सभा,' 'हातिम-ताई' और 'सहस्र रजनी' सरीखे किस्से और कहानियाँ आईं, और तब ऐयारी तथा तिलस्मी उपन्यास। इनके कुछ आगे बढ़ने पर स्व० रामकृष्ण वर्मा ने काज़ी अज़ीज़उद्दीन अहमद के एक उपन्यास का हिन्दी में 'संसार दर्पण' के नाम से अनुवाद किया। उनके 'अमला वृत्तान्त माला', 'ठग वृत्तान्त माला', 'पुलिस वृत्तान्त माला' आदि ग्रन्थ भी उर्दू से ही लिये गये थे। उन दिनों पारसी नाटकों की धूम थी, और भाषा पूर्णतः उर्दू होती थी। साधारण जनता के मनोरंजन के लिए आग़ा हश्र काश्मीरी के उर्दू नाटकों तथा उन्हीं की तरह के कुछ और नाटककारों के नाटकों के हिन्दी-अनुवाद कुछ दिनों तक खूब हुए और चले। इसके बाद कुछ उच्चकोटि के साहित्य की बारी आई। ऐसे साहित्य में मुख्य स्थान स्व० प्रेमचन्द कृत 'आज़ाद कथा' का है जो उर्दू के सुप्रसिद्ध लेखक रतननाथ सरशार कृत 'फ़सान्ये आज़ाद' का छायानुवाद था। तब से सरशार की और भी कई अच्छी रचनाएँ हिन्दी में आ गईं। 'मिर्ज़ा रुसवा','कामिनी', 'पी कहां' आदि। इसी समय के लगभग ख़्वाजा हसन निज़ामी तथा मिर्ज़ा अज़ीमबेग चग़ताई सरीखे उच्चकोटि के उर्दू-लेखकों की कृतियों से भी हिन्दी वालों का परिचय कराया जाने लगा। हसन निज़ामी की कई कृतियां हिन्दी में बहुत चाव से पढ़ी गईं, जिनमें 'ग़दर के पत्र', 'मुग़लों के अन्तिम दिन','बेचारे अंग्रेज़ों की विपदा' आदि मुख्य हैं। चग़ताई साहब हास्य रस के उच्च-कोटि के लेखक थे, अतः उनके अनेक उपन्यासों तथा कहानी-संग्रहों का हिन्दी में बहुत आदर हुआ। उनके उपन्यासों में 'शरीकी बीबी' और 'फ़ुल बूट' प्रसिद्ध हैं। 'मिर्ज़ा जंगी' उनके प्रहसनों का और 'कोलतार' कहानियों का अच्छा संग्रह है। इनके सिवा कुछ गम्भीर विषयों का भी थोड़ा बहुत साहित्य उर्दू से आया है, जिसमें मौलाना मुहम्मद हुसेन आज़ाद कृत 'दरबारे अकबरी' का हिन्दी अनुवाद 'अकबरी दरबार' उल्लेखनीय है।

उर्दू-कविताओं की ओर भी हिन्दी वाले बहुत पहले प्रवृत्त हुए थे। इस शती के आरम्भ में 'चमनिस्तान हमेशा बहार' नाम की एक पुस्तक चार भागों में छपी थी, जिसमें उर्दू के प्रसिद्ध शायरों की ग़ज़लें देवनागरी लिपि में थीं। बीच में कुछ दिनों यह क्षेत्र बिलकुल सूना रहा। पर अब इस ओर भी हिन्दी वालों का ध्यान जाने लगा है, और ग़ालिब, नज़ीर, अकबर, बिसमिल सरीखे उच्च-कोटि के उर्दू-कवियों की रचनाएं भी हिन्दी में आने लगी हैं। यह रास्ता 'कविता कौमुदी' के चौथे भाग ने दिखलाया था, जिसमें उर्दू के श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं का संग्रह था। इधर हाल में इस ढंग की दो बहुत ही सुन्दर पुस्तकें निकली हैं जिनके नाम हैं 'शेरो सख़ुन' और 'शेरो शायरी'। इनके सम्पादक श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय हैं।

स्वर्गीय प्रेमचन्द ने उर्दू से हिन्दी में आकर बहुत अधिक आदर और यश पाया था। इसके सिवा हिन्दी का प्रचार भी दिन दूना और रात चौगुना हो रहा था। इसलिये हिन्दी ने अनेक उर्दू लेखकों को अपनी ओर खींचा है। ऐसे लेखकों में उपेन्द्रनाथ अश्क़, सुदर्शन, फ़िराक़, रहबर आदि मुख्य हैं, जिनके आने से हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि में विशेष सहायता मिली है।

उर्दू के साथ ही फ़ारसी और अरबी भी लगी है इसलिये इनकी भी कुछ चर्चा करना आवश्यक है। यों तो आधुनिक युग से पहले ही 'गुलिस्तां', 'बोस्तां', 'करीमा', 'मामु की मां', 'बहार दानिश' आदि के गद्य और पद्य में कुछ अविकल और कुछ छायारूप में अनुवाद हो चुके थे पर इधर हाल में फारसी से हिन्दी में बहुत ही थोड़ा साहित्य आया है। जोधपुर के स्व० देवीप्रसाद मुन्सिफ ने इस शती के आरम्भ में फ़ारसी के अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर 'बाबरनामा', 'हुमायूंनामा',

'जहाँगीरनामा' आदि लिखे थे। उनके बाद काशी के व्रजरत्नदास जी ने गुल वदन बेगम का 'हुमायूं नामा' और मुआसिर-उल्-उमरा का हिन्दी अनुवाद किया। फ़ारसी के सुप्रसिद्ध कवि मौलाना जलालउद्दीन रूमी की मसनवी का भी हिन्दी गद्य में सारांश मिलता है।

मूल अरबी से अभी तक कदाचित् एक ही पुस्तक हिन्दी में आई है और वह है स्व० मुं० महेशप्रसाद कृत 'सुलेमान सौदागर का यात्रा विवरण'। इसके बहुत पहले क़ुरान के कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ था। अरबी के सुप्रसिद्ध लेखक ख़लील जिब्रान की भी कुछ कृतियाँ हिन्दी में आ गई हैं, पर वे अरबी से नहीं बल्कि अँगरेज़ी से अनूदित हैं। इनमें 'जीवन-सन्देश', 'पगला' और 'बटोही' विशेष महत्त्व के हैं।

उर्दू के बाद हिन्दी के आस-पास की उन्नत भावाओं में पहले गुजराती आती है। बंगला से हिन्दी का जैसा सामीप्य है बहुत कुछ वैसा ही गुजराती से भी है। इसके सिवा बंगालियों की ही तरह गुजराती भी वैष्णव धर्म की घनी छाया में रहने के कारण अधिक धर्म-निष्ठ, कोमल वृत्तियों वाले और भावुक होते हैं। ऐसे लोगों का दूसरों पर प्रायः जल्दी और अच्छा प्रभाव पड़ता है। इसीलिये आरम्भ में ही हिन्दी पर गुजराती की भी छाया पड़ने लगी थी। गुजराती से पहले-पहल हिन्दी में अनुवाद करने वालों में मुख्य स्थान संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का है, जिन्होंने 'प्रेमकुंज', 'जया जयन्त', 'उषा', 'युग पलटा', 'राई का पर्वत' आदि नाटकों का अनुवाद किया था। इसी समय या इसके कुछ ही बाद वैद्य अमृतलाल सुन्दर पढ़ियार की कई नैतिक और धार्मिक पुस्तकों का अनुवाद स्व० महावीर गहमरी ने 'स्त्रियों का स्वर्ग' 'स्वर्ग की सीढ़ी', 'स्वर्ग के रतन' 'भाग्य फेरने की कुंजी' आदि नामों से किया था। कमला-शंकर त्रिवेदी कृत 'नीति विवेचन' मनसुख राम त्रिपाठी कृत 'अस्तोदय' और 'स्वावलम्बन' और शिवप्रसाद वलवंतराम पंडित कृत पुस्तक का अनुवाद 'भारत के स्त्री रत्न' इसी वर्ग में है। श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई कृत 'चन्द्रकान्त' का भी हिन्दी अनुवाद हुआ है जो वेदान्त का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जब सारे देश का ध्यान महात्मा गांधी की ओर खिंचने लगा तो उनकी गुजराती कृतियों के अनुवाद हिन्दी में होने लगे। गुजराती में अच्छे-अच्छे ग्रन्थ निकलने लगे तो काका कालेलकर, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', शंकरदेव विद्यालंकार, वंशीधर विद्यालंकार, नागार्जुन आदि ने अनेक अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद हिन्दी को भेंट किये। स्व० महादेव देसाई की पुस्तकों के अनुवाद हिन्दी में 'एक धर्म युद्ध' और इंग्लैंड में 'महात्माजी' के नाम से वर्तमान हैं। इनके सिवा 'नसीब और उद्योग' 'इतना तो जानो' 'खादी मीमांसा' 'शिक्षा में नई सृष्टि' 'ग्राम-सेवा के दस कार्यक्रम' आदि पुस्तकें भी विशेष उपादेय हैं।

गुजराती के अनेक अच्छे उपन्यासों के अनुवाद भी हिन्दी में आ गये हैं। इनमें सुप्रसिद्ध साहित्यकार और उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के उपन्यासों का स्थान मुख्य है। इनमें 'पाटन का प्रभुत्व', 'पृथ्वी वल्लभ', 'जयसोमनाथ', 'गुजरात के नाथ', 'प्रतिशोध', 'परदे की आड़ में', 'राजाधिराज लोमहर्षिणी', 'अतीत के स्वप्न', 'शम्बर कन्या', 'स्वप्नद्रष्टा', 'और सीधी चढ़ान' मुख्य हैं। रमणलाल वसन्तलाल देसाई के उपन्यासों में से 'स्नेह यज्ञ', 'कोकिला' और 'पैसा' भी हिन्दी में आ चुके हैं।

मराठी की ओर हिन्दी वालों का ध्यान अपेक्षाकृत बाद में गया था। आधुनिक साहित्यिक क्षेत्र में स्व० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी से 'प्रणयी माधव' नामक उपन्यास और विष्णु-शास्त्री चिपलूणकर कृत 'निबन्धमालादर्श' तथा 'इतिहास' नामक निबन्ध का हिन्दी अनुवाद किया। उसी समय के लगभग दत्तात्रेय

बलवन्त पारसनीस कृत मराठी ग्रन्थ के आधार पर 'झाँसी की रानी' निकली थी और स्व० नृसिंह चिन्तामणि केलकर कृत ग्रंथों के अनुवाद 'सुभाषित और विनोद' तथा 'आयरलैंड का इतिहास' छपे थे। लोकमान्य तिलक के गीता रहस्य का हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित होने पर अनेक विषयों के मराठी ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद निकलने लगे। 'दासबोध' और 'ज्ञानेश्वरी' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के तो हिन्दी में दो-दो अनुवाद हुए। मराठी के सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक हरिनारायण आप्टे के अनेक उपन्यासों के भी अनुवाद हुए जिनमें 'अजेय तारा,' 'उषा-काल,' 'रागिणी,' 'चाणक्य और चन्द्रगुप्त,' 'रूपनगर की राजकुमारी,' 'वज्राघात,' 'सम्राट् चन्द्रगुप्त' आदि मुख्य हैं। गजानन अम्बक के 'उपेक्षिता' और 'कान्ता' नामक उपन्यास भी हिन्दी में आ गये हैं। बालचन्द नानचन्द शाह का 'छत्रसाल' का अनुवाद भी विशेष लोकप्रिय हुआ है। हास्यरस की अनेक मराठी कहानियों के संग्रह भी हिन्दी में निकले हैं, जिनमें 'एप्रिल फूल,' 'विकट प्रश्न' और 'चेयरमैन का चुनाव' प्रसिद्ध हैं।

गम्भीर विषयों की पुस्तकों में भी विनायक दामोदर सावरकर कृत 'भारतीय स्वातन्त्र्य समर' और 'काला पानी,' जी० एस० खेर कृत, 'संसार की समाज क्रान्ति' और 'हिन्दुस्थान' और रामचन्द्र विनायक कुलकर्णी के 'स्वप्न विज्ञान' के हिन्दी अनुवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इधर काका कालेलकर के 'लोक जीवन साहित्य' 'ज़िन्दा बनो', 'स्वदेशी धर्म' आदि और आचार्य विनोवा भावे के 'स्वराज्य शास्त्र' और 'खादी और गादी की लड़ाई' के नाम से जो अनुवाद हुए हैं, वे विशेष महत्त्व के हैं। इनके अतिरिक्त मराठी से अनुवादित पुस्तकों में 'गृह लक्ष्मी,' 'दम्पत्ति शिक्षक,' 'सन्तति रत्न,' आदि पुस्तकें भी अच्छी हैं।

खेद है कि दक्षिण भारत की कन्नड़, तमिल, तेलगू आदि उन्नत भाषाओं के अनुवाद अभी तक हिन्दी में नहीं आ सके हैं। अभी तक हम दक्षिण भारत के साहित्यों से सम्पर्क स्थापित करने में असमर्थ रहे हैं। कारण यही है कि उन साहित्यों की लिपियों का स्वरूप हमारे लिये बहुत कुछ परकीय है। उनकी भाषा हमारे लिये उतनी दुरूह नहीं है जितनी उनकी लिपि। नाम लेने को तमिल के सुप्रसिद्ध कवि तिरुवल्लुवर कृत 'चिवकुरल्न' ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद 'तमिल-वेद' के नाम से है, पर वह अँग्रेज़ी के द्वारा आया है। हाँ, तेलगू नाटककार मुद्दू कृष्ण के दो एकांकी नाटकों के हिंदी में 'अशोक वन' और 'अनारकली' के नाम से जो अनुवाद हैं वे मूल से हुए हैं। दक्षिण भारत की भाषाओं का साहित्य-भंडार ऐसे सैकड़ों ग्रन्थ रत्नों से भरा पड़ा है जिनका हिन्दी में उल्था होना बहुत आवश्यक है।

—इलाहाबाद से प्रसारित



गाँव की विरहन

केदारनाथ सिंह

रात पिया, पिछवारे पहरू ठनका किया।
कँप-कँप कर दिया जला
बुझ-बुझ कर यह जिया,
मेरा अँग-अँग जैसे
पछुये ने छू दिया,
बड़ी रात गये कहीं पपिहा पिहका किया।
आंखड़ियां पगली की
नींद हुई चोर की,
आ-आ कर बार-बार
बाढ़ रुकी लोर की,
रह-रह कर खिड़की का पल्ला उढ़का किया।
पथराये तारों की
ज्योति डबडबा गई,
मन की अनकही सभी
आंखों में छा गई,
सुना क्या न तुमने, यह दिल जो धड़का किया ?

—इलाहाबाद से प्रसारित



मेरी माँ

इंदिरा गांधी

'मेरी माँ', इस विषय पर लड़की का बोलना कितना कठिन है। मन में हज़ारों तस्वीरें आती हैं। कौन-सी आपके सामने रखूँ, अपने रंज को भूलने के लिये उन सबको बरसों से छुपाने की कोशिश कर रही थी, लेकिन आपके लिये उनका पर्दा खोलती हूँ। कुछ ख़ास बात तो बतला नहीं सकती क्योंकि हमारी ज़िन्दगी जनता के सामने खुली किताब पड़ी है और आप उससे परिचित होंगे।

जो पहली बात मुझे याद है वह उस ज़माने की है जब गाँधी जी कुछ बरसों से हिन्दुस्तान में आये थे और सत्याग्रह, स्वदेशी और खादी जैसे इन्क़लाबी ख़्याल पैदा हुए थे। इनका असर मेरे पिता और दादा पर ज़ोरों से पड़ा। दावतें बन्द हुईं। मख़मल, साटिन इत्यादि उतारे गये और चौराहे पर ख़ूब चमकती रंग-बिरंगी गड्डी बना कर धूमधाम से जला दिये गये। खादी पहनना शुरू हुआ और वह कैसा खादी था। खुरदरा, टाट जैसा मोटा। माँ का सारा शरीर छिल जाता था। लेकिन इस लिबास में भी उनकी ख़ूबसूरती और नज़ाकत फूल जैसी खिलती थी।

गहने कपड़े का उनको बिलकुल शौक नहीं था। अपने छुटपन में अपने भाइयों के साथ खेलती घूमती थीं, क्योंकि उनकी बहन उनसे बहुत छोटी थी। इस आदत से उनको एक दफ़े काफ़ी परेशानी उठानी पड़ी। जब वह नौ या दस साल की थीं तो कुछ समय के लिये सारा परिवार जयपुर गया। वहाँ सख़्त पर्दा था और कमला जी से कहा गया कि वह केवल डोली में बैठ कर बाहर जा सकेंगी। रोने-पीटने से कुछ नहीं बना। लेकिन जिसको अभी तक पूरी आज़ादी थी वह इस कैद में कैसे रहे। जब देखा कि उनका चेहरा उतरता जा रहा है और दिन पर दिन वज़न घट रहा है, तो मेरी नानी घबराईं और एक तरकीब सोची। उस दिन से रोज़ सुबह वह अपने भाई के कपड़े पहन, बालों को पगड़ी में छिपा कर भाइयों के साथ घूमने जाती थीं। किसी को पता भी नहीं चला। लेकिन उनके सचेतन दिमाग़ पर इस घटना का भारी असर पड़ा और वह सदा परदे के विरुद्ध प्रचार करती रहीं।

एक दफ़े और भी उन्होंने मर्दों का लिबास पहना, सन् १९३० में जब वह कांग्रेस वालंटियर बनी थीं। मुझे भी बचपन से अक्सर लड़कों के कपड़े पहनाती थीं। इससे जनता को बड़ी हैरानी होती थी। अक्सर मुझ से लोग पूछते थे तुम्हारा भाई कहाँ है। मैं जवाब देती कि मेरा कोई भाई नहीं है, तो कहते वाह हमने अपनी आँख से देखा है। १७ वर्ष की उम्र में जब वह अपने माता पिता के घर को छोड़ कर आनन्द भवन की झलकती दुनिया में आईं तो उनको क्या मालूम था कि किस लम्बे और दुख-भरे मार्ग पर चलना होगा।

इस वक्त तो मेरे दादा की वकालत खूब चल रही थी और वह प्रान्त के सबसे बड़े आदमियों में गिने जाते थे। बड़े दिमाग़ और बड़े दिल के आदमी थे, शौक़ीन तबियत के। ख़ूब कमाते थे और ख़ूब ख़रचते थे। हमारा घर हमेशा मेहमानों से भरा रहता — तरह-तरह के लोग, बड़े अफ़सर, लेखक, कवि, अंग्रेज़, हिन्दुस्तानी, आदि। रोज़ दावतें होतीं और दादा जी की खुशी से घर गूँज उठता। घर के दो हिस्से थे। एक तरफ अंग्रेज़ी तरीके के बैठने और खाने के कमरे और दूसरे तरफ देसी तरीके के। रोज़ दोनों तरह के खाने बनते। मेरी फूफी की मैट्रन अंग्रेज़ थी और हमारा मोटर चलाने वाला भी एक मिस्टर डिक्सन था। काश्मीरी घरों में औरतें पर्दा नहीं करतीं और मेरी दादी विलायत घूम आई थीं। तब भी घर की सम्भाल और मेहमानदारी का बोझ अधिकतर माँ पर पड़ा। नये तरीके सीख ही रही थीं कि ज़िन्दगी पलट गई और सारा परिवार बहुत ज़ोरों से कांग्रेस के आन्दोलन में भाग लेने लगा। जेल की यात्राएँ तथा अनेक कठिनाइयाँ शुरू हुईं लेकिन अपने उत्साह और हिम्मत से उन्होंने गांधी जी पर कुछ असर डाला होगा। क्योंकि गांधी जी ने ख़ास तौर पर स्त्रियों को पुकार दी कि वह भी बाहर निकलें और काम का बोझ उठाने में अपने भाइयों को सहायता दें। माँ अपने बचपन का प्रण नहीं भूली थीं। जीवन भर गांधी जी जहाँ जाते, औरतों को परदे से निकालने का प्रयत्न करते और समझाते कि अपने अधिकारों के लिये वे किस तरह लड़ें। उनके कहने से हज़ारों औरतें कांग्रेस का काम करने निकलीं। माँ को अब बीमारी घेर रही थी, तब भी वह कांग्रेस की वालंटियर बनीं और लोगों में काम करती रहीं। बाद में जब नेता लोग गिरफ़्तार होने लगे तो वह और ज़ोरों से काम में पड़ीं और इलाहाबाद शहर तथा ज़िले का संगठन अपने ऊपर इस बल और दृढ़ता के साथ उठाया कि सब दंग रह गये। चारों ओर से उनकी योग्यता की प्रशंसा हुई। उनके पति जवाहरलाल जी और ससुर मोतीलाल जी तो फूले नहीं समाये। लेकिन सबके मन में चिन्ता भी थी, क्योंकि उनकी सेहत आहिस्ता-आहिस्ता टूट रही थी। मगर वह किसी की भी न सुनतीं। सन् १९३० में आख़िर में वह वर्किंग कमेटी की सदस्या बनाई गईं और थोड़े दिन बाद ही गिरफ़्तार कर ली गईं। गिरफ़्तारी की ख़बर रात ही को मिल गई थी। उस रात भर हम लोग जगे रहे। ऐसे मौके पर भी उनको दूसरों का ख़याल होता। जो भी काम अधूरे रह गये थे उन्हें पूरा करने की कोशिश की जिसमें उनके जाने के बाद किसी को कठिनाई न हो।

कहते हैं कि जब दुख और पीड़ा इंसान पर पड़ती है तब ही उसका असली चेहरा दिखाई देता है। जो कमज़ोर होते हैं उनको दुख तोड़ कर दबा देता है। लेकिन जो बहादुर होते हैं वह उस दुख से सीख कर और बढ़ सकते हैं और उनमें से छिपी हुई ताक़त और स्वाभाविक सौन्दर्य चमक उठता है। कमला जी ऐसी ही थीं।

डाँटती तो वह कभी भी नहीं थीं, न ऊँची आवाज़ से बोलतीं थीं, लेकिन उनका प्रभाव ऐसा था कि जो कहती थीं वही होता था। हमारे यहाँ पंडित मदनमोहन मालवीय के भतीजे संस्कृत पढ़ाने आते थे। वह माँ का बहुत आदर करते और उनसे डरते भी थे। मुझे बड़ा आश्चर्य होता था कि इतनी मधुर, दुबली-पतली औरत से डर कैसा? पंडित जी कहते, 'अरे, तुम्हें नहीं मालूम? यह बड़ी शक्ति की देवी हैं, जो चाहे कर सकती हैं।' इस पर माँ हमेशा हँसती थीं। परन्तु कुछ शक्ति उनमें ज़रूर थी; जो भी उनसे मिलता उस पर गहरा प्रभाव पड़ता। मैं तो मानती हूँ कि मेरे पिता जी पर भी उनके विचारों का गहरा असर पड़ा। अक्सर उनके पास साधू-महात्मा भी आकर बैठते थे।

जैसे पूजा-पाठ आम तौर से होता है उससे वह बहुत बिगड़ती थीं। कहती थीं कि जो लोग ऊपर से ईश्वर का नाम लेते हैं लेकिन विचारों की उधेड़-बुन में पड़े रहते हैं, उन्हें

दिखावटी धर्म की ज़रूरत होती है। मन्दिर जाना भी इस वजह से पसन्द नहीं करती थीं। लेकिन माँ की भक्ति बहुत गहरी थी। रोज़ हम लोगों को गीता तथा रामायण का पाठ करवाती थीं। जैसे उसकी उम्र बढ़ती गई, उनकी यह भक्ति और एक अन्दरूनी शक्ति भी बढ़ती गई। बाद में वह अक्सर नदी के किनारे समाधि में घंटों बैठी रहती थीं।

सेवा-भाव तो उनमें था ही। ग़रीबों की पढ़ाई और बहतरी में ख़ास तौर पर दिलचस्पी लेतीं। जब १६२८ में मेरे दादा ने अपने बड़े घर को कांग्रेस को दान किया और उसका नाम "स्वराज्य भवन" रख दिया, तो माँ ने उसके एक हिस्से में अस्पताल खोला।

३६ वर्ष की उम्र में अपने घर और प्यारे देश से हज़ारों मील दूर उनका देहान्त हुआ। आख़िर तक वह मुस्कराती रहीं और उल्टे हम लोगों को साहस देती रहीं। उनकी आख़िरी इच्छा थी कि उनका अस्पताल बन्द न होने पावे। इस इच्छा को पूरा करने के लिये महात्मा गांधी, पंडित मदनमोहन मालवीय और दूसरे सराहने वालों ने उस स्मारक के नाम से इलाहाबाद में स्त्रियों के लिये अस्पताल खोल दिया। गांधी जी के हाथों उसका उद्घाटन हुआ। सैकड़ों मील से मरीज़ आते हैं। मुझे खुशी है कि जैसी सेवा वे अपने जीवन में करती थीं वैसी ही उनके नाम से अब भी हो रही है।

—दिल्ली से प्रसारित

श्रमदान

श्रमदान की तदबीर से बेहतर देहात की तरक्की के लिये और कोई तदबीर मालूम नहीं होती क्योंकि इतने बड़े काम के लिये बहुत ज्यादा रुपये की जरूरत है। सरकार जो कुछ इस काम पर ख़र्च कर रही है, वह काबिले तारीफ़ है। मगर सरकार जो करना चाहती है वह इतने बड़े पैमाने पर है कि यह रक़म उसके लिहाज़ से बहुत ही कम है।

यह बात जनता को पूरी तौर से समझ लेनी चाहिये कि कोई भी सरकार देश की दशा सुधार नहीं सकेगी, जब तक कि लोग अपनी मदद को आप तैयार नहीं हों। हुकूमत तो मौजूदा हालात में इतना कर सकती है कि वह जनता की ऐसी मदद करे कि वह अपनी मदद आप कर सके। मसल मशहूर है कि परमेश्वर उन्हीं की मदद करता है जो अपनी मदद आप करते हैं। ज़रा सोचिये तो, अगर किसी गाँव की जनता ने मिल-जुल कर अपने गाँव में पहुँचने वाले रास्ते को ठीक कर लिया तो वहाँ के लोगों को ही हर तरह की आसानी होगी। अगर पंचायतघर या गाँव का स्कूल जनता ने बना लिया तो उन्हीं के फ़ायदे की बात है। गाँव में ऐसी जगह हो जायेगी जहाँ दोस्त और दुश्मन दोनों को एक जगह मिलने का मौक़ा हो जायेगा।

अगर गाँव के लोगों ने तालाब, कुआँ और बाँध बना लिये, तो उन्हीं के लिये सींचने को पानी ज्यादा मिलेगा। इससे उनकी पैदावार ज्यादा होगी और उसके साथ ही साथ उनकी हैसियत बढ़ेगी। इस से साफ़ ज़ाहिर है कि श्रमदान के ज़रिये जो काम किये जावेंगे वह महज़ जनता के फ़ायदे के होंगे।

हमारे प्रधान मंत्री श्री नेहरू ने इस सम्बन्ध में यह कहा है कि अधिकारियों को किसानों के पास जाना चाहिये और उनके मामलात समझने चाहियें। हमें उनके साथ रहना चाहिये और उनकी ज़बान में उन से बातचीत करनी चाहिये और उनसे कुछ सीखना चाहिये। खेती के कामों में उन्हें हज़ारों वर्षों का तजर्बा है, और बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनको वे ज़्यादा जानते हैं। इन बातों को उनसे पहले सीखें और तब उनको सिखलाने का ख़याल करें, वरना उन पर असर कुछ न होगा ....

(बिशनमान सिंह—दिल्ली)

पंच वर्षीय योजना
पिछड़ी जातियों की समस्या

काका कालेलकर

पिछड़े हुए लोगों का सवाल समूची दुनियां को सता रहा है। हमारे देश में प्राचीन काल से पिछड़ी हुई जातियों का प्रश्न है ही। आर्यों ने औरों को अनार्य और दस्यु कहा। आर्यों ने वर्ण व्यवस्था चलाकर शिक्षा में एकांगिता दाख़िल की। विरोधियों को दबा के रखा और ऊँच-नीच के भेद की बुनियाद पर एक संस्कृति कायम की। चार वर्ण की जगह पर अनेकानेक जातियाँ बन गईं और समाज की एकता शिथिल होकर समाज छिन्न-भिन्न-सा हो गया। स्त्री जाति का विकास एकांगी होकर रुक गया। क्षत्रियों की बहादुरी असाधारण होते हुए भी देश की रक्षा वे न कर सके। बनियों ने कल्पनातीत धन इकट्ठा किया। लेकिन वे राष्ट्रीय अर्थशास्त्र नहीं रच सके। ब्राह्मणों की विद्या लोकोत्तर होते हुए भी वह सामाजिक अवनति के लक्षण न पहचान सकी, न रोक सकी, और जो लोग राष्ट्र का सामर्थ्य बढ़ा सकते थे, वे हमारी ग़लत समाज नीति के कारण सामाजिक बोझ बन गये। हिन्दू जाति के सामने सबसे बड़ा सवाल खड़ा हो गया पिछड़ी जातियों का। लेकिन वे उस सवाल को समझ तक न सके।

इसके बाद हमारे देश में बाहर से नये-नये धर्म आये। उन्होंने हमारी पिछड़ी जातियों को कहा कि तुम हमारे दल में आजाओ तभी तुम्हारा उद्धार होगा। कइयों ने अनेकों कारणों से वह सलाह मानली, धर्मान्तर किया, लेकिन उनको कड़ुआ अनुभव हुआ कि धर्मान्तर करने पर भी उनका पिछड़ापन तो क़ायम ही रहा। हमारे यहाँ सब धर्मों का एक स्थायी सम्मेलन स्थापित हुआ, लेकिन पिछड़ी हुई जातियों का पिछड़ापन दूर न हो सका।

जिन क्षत्रियों ने लड़ाई में हारने के बाद शरण जाने की अपेक्षा जंगलों में जा रहना पसंद किया उनकी भी पिछड़ी जातियाँ बन गईं। वन्य जातियाँ विराट समाज में घुल-मिल न सकने के कारण पिछड़ गईं। देश के असंख्य कारीगर लोग शिक्षा के अभाव में और धंधे छूट जाने से पिछड़ गये। जिस देश का कारीगर वर्ग पिछड़ जाता है उसके लिये उन्नति के सब रास्ते बन्द हो जाते हैं।

सबसे आश्चर्य और चिन्ता की बात यह है कि भारत के स्वतंत्र होने पर भी और देश में एक भी आदमी पिछड़ा न रहे, ऐसा राष्ट्र का दृढ़ संकल्प होते हुए भी, पिछड़ापन हटाने का रास्ता ठीक दिखाई नहीं दे रहा है। पिछड़े हुए लोगों में से जितने भी हरिजन हैं और गिरिजन हैं और इनके अलावा बाकी के जितने जन हैं उन सबको हम अच्छी तरह से शिक्षा दें, उनको राजनैतिक अधिकार दें, हर तरह का ज़रूरी पक्षपात भी उनकी तरफ़ बतावें तो भी हम वर्गविहीन और जातिविहीन समाज की स्थापना करने में कठिनाइयाँ पाते हैं। पिछड़ापन दूर करने की कोशिश में ही जातिभेद और ऊंच-नीच का भेद मज़बूत होता है।

जो लोग रूढ़ीवादी हैं, व्यक्तिगत या जातिगत स्वार्थ को ही समझ सकते हैं, वे देखते नहीं कि सामाजिक प्रगति का विरोध करके वे अपना ही नुक़सान कर रहे हैं। ऊंच-नीच के भेद को दिल से न हटाने के कारण और समाज सुधार का छुपा विरोध कर वे राष्ट्र के और अपने सिर पर बहुत ही बड़ा आर्थिक बोझा उठा रहे हैं। रूढ़ीवादी लोग या तंग दिल से अपनी-अपनी जाति का स्वार्थ देखने वाले लोग राष्ट्र की एकता नष्ट करते हैं और स्वयं पिछड़ जाते हैं।

यह सारी राष्ट्रीय कमज़ोरी अगर सफलता से दूर करनी है तो हमें मनोरचना ही बदलनी चाहिये। सामाजिक आदर्श में ही क्रान्ति करनी चाहिये। विवाह के बंधन बदलने चाहियें। सब जातियों को, सब धर्मों को और सब वंशों को समानता की नज़र से देखना चाहिये।

हिन्दू समाज में अछूत जातियाँ कौन-कौन सी हैं, इसकी परिगणना हो चुकी है। इन हरिजनों के लिये विशेष शिक्षा का प्रबन्ध राष्ट्र ने किया है। विराट समाज से अलग रहने वाली वन्य जातियों की परिगणना भी हो



चुकी है। इन दोनों की फ़हरिस्त में जो कुछ भी भूलें रह गई हैं वे सुधार दी जायेंगी।

इसके अलावा जो बाकी की पिछड़ी हुई जातियाँ हैं — चाहे वे हिन्दू समाज की हों, मुसलमानों की हों या ईसाइयों की हों, इन सबकी परिगणना की जायेगी। उनकी शिक्षा आदि का विशेष प्रबन्ध किया जायेगा। जिन जातियों के प्रति समाज ने बड़ा अन्याय करके उन्हें जरायमपेशा करार दिया था, और जो अभी-अभी इस अभिशाप से विमोचित हुई हैं, उन सबका विचार करना है। स्वराज का आनन्द और स्वराज का नूर हर एक चेहरे पर प्रकट हो, यह हमारा मक़सद है।

भारत के नेताओं ने स्वराज्य पाते ही हिम्मत-पूर्वक एक महान् सार्वभौम और आस्तिक संकल्प किया और इस संकल्प के द्वारा उन्होंने इतनी बड़ी विशाल क्रांति आसानी से कर डाली कि अब छोटी-मोटी विस्फोटक क्रांतियां होने की सम्भावना टूट गई। भारत के नेताओं ने एक ऐसा विधान बनाया जिस के द्वारा देश के सब के सब पुख़्ता उमर लोगों को वोट का अधिकार मिल गया। मानव जाति की सज्जनता पर इतना विश्वास और किसी भी राष्ट्र ने नहीं किया था। जिन लोगों को हम पिछड़ी हुई जातियाँ कहते आये हैं और जिन्हें मैं उपेक्षित जातियाँ कहता हूँ, उनकी कुल तादाद करीब १५ करोड़ गिनी जाती है। इन लोगों को वोट देने के अधिकार मिल चुके हैं। इन लोगों को स्वराज्य का अर्थ समझाकर इनकी रज़ामन्दी से ही हिन्दुस्तान का राज्य चल सकता है।

जहाँ लोकतन्त्र के अनुसार राज्य चलता है वहाँ पर वोट देने वाले लोग ही देश के मालिक होते हैं। उनकी अज्ञानता और उनकी तंगदिली देश को नुकसान पहुँचायेगी और स्वराज्य को तोड़ देगी। आत्मरक्षा के लिए भी अब इन सब लोगों को उत्तम शिक्षा देकर स्वराज्य के आदर्श समझाने चाहियें। इनकी कमज़ोरी देश की कमज़ोरी

होगी। इनका सामर्थ्य देश का सामर्थ्य होगा। यह है पिछड़ी हुई जातियों की समस्या का रहस्य। स्वराज्य का उग्र आन्दोलन चलाते समय महात्मा गाँधी ने देश की इस आंतरिक कमज़ोरी की ओर हमारा ध्यान खींचा। तब से यह सारा सवाल हमारे सामने नया रूप धारण करके खड़ा हुआ है। और यही कारण है कि हमारे राष्ट्र ने अपने विधान में इस सवाल को महत्त्व का स्थान देकर उसका कायमी हल सुझाया है। हमारी पंच-वर्षीय योजना में इस समस्या को योग्य रूप से हल करने की कोशिश की गई है, और यही कारण है कि हमारे राष्ट्र ने पिछड़ी हुई जातियों की समस्या का हल सुझाने के लिये एक ख़ास कमीशन नियुक्त किया है।

अगर हम अपने देश की पिछड़ी हुई जातियों की समस्या का सच्चा और स्थायी हल ढूंढ सकें तो उस अनुभव के ज़ोर पर हम सारी दुनिया की विशाल समस्या को जिसे अन्तर्जातीय सम्बन्ध (Racial relations) कह सकते हैं, हल करने की शक्ति पा सकेंगे।

—दिल्ली से प्रसारित

आदिवासियों के जीवन की झाँकी

आदिवासी बड़े घुमक्कड़ और स्वतंत्रताप्रिय होते हैं। जंगलों में भ्रमण करना, तीर चलाना, नदी-नालों में मछली मारना, नदी किनारे और चट्टानों पर बैठ कर बांसुरी बजाना आदिवासी बहुत पसंद करते हैं, और यही कारण है कि आज के हिन्दुस्तान में गंगा, यमुना और सिंध की तराइयों में ही नहीं, किन्तु ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों पर, छोटा नागपुर के प्लेटों पर और विशेषकर जंगलों में वास करते हैं।

आदिवासी बहुत सीधे-सादे, स्वच्छन्द और बड़े प्रेमी होते हैं। संत विनोबा भावे भी कहते हैं कि इनकी ज़िन्दगी में प्रेम ही प्रेम है। इन्हें सत्य बोलना प्रिय है।

हाल ही में हमारे प्रधान मंत्री श्री नेहरू मध्यभारत तथा आसाम के आदिवासी क्षेत्रों में दौरा करने गये थे। आदिवासियों की एक सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा कि दूसरी जातियाँ आदिवासियों के रहन-सहन के ढंग, उनकी भाषा और उनके रिवाजों को समझने का यत्न करें। वे उनकी इच्छा के विरुद्ध उन पर कोई चीज न लादें और न उनकी किसी संस्था को बदलने का यत्न करें, क्योंकि इससे उनकी भावनाओं को ठेस लगेगी। प्रगति धीरे-धीरे होती है और आदिवासियों की अवस्था भी निरन्तर प्रयत्न से ही सुधरेगी। उनकी स्थिति सुधारने के लिये सरकार दृढ़ है............

(हरमन लकरा—पटना)

मैं उनकी तबीयत से परेशान हूँ



मिर्ज़ा महमूद बेग

यह तो सच है कि मैं उनकी तबियत से परेशान हूँ, मगर आज जो कुछ कहूँगा, वह शिकायत नहीं है, उनकी बुराई नहीं है। वह न कभी बुरी थीं, न बुरी हैं, न बुरी हो सकती हैं, और उनकी शिकायत, तोबा-तोबा, मेरी यह मजाल कहाँ, बात सिर्फ इतनी है कि बुराई मेरी अपनी ही हैं, उनमें एक नहीं। बहुत-सी ख़ूबियाँ हैं। अगर उनको अपने लायक पति मिलता तो दोनों के नसीब जाग जाते। मगर दुनियां में भला ऐसा कब और कहाँ होता है? शादी के वक्त ख़ानदान, तालीम, दौलत, नाक नक़्शा, रंग, क़द सब कुछ देख लेते हैं, मगर तबीयत न देखी जाती है, न देखी जा सकती है। इसका हाल तो बरतने से खुलता है, मगर उस वक्त जब कदम लौटाये नहीं जा सकते। क़हरे दरवेश बर जाने दरवेश, सब कुछ अपनी जान पर ही झेलना पड़ता है। सो मैं झेल रहा हूँ।

आप इससे यह अन्दाज़ा न लगा लें कि घर में हमारे हर वक्त रंजिश या क्लेश रहता है। बिल्कुल नहीं। क्योंकि निहायत ख़ामोशी से सब परेशानियां मैं खुद उठाता हूँ। उनको न तो परेशान होने देता हूँ, न परेशान देखना चाहता हूँ, और खुद वह इतनी भोली हैं कि मेरी परेशानी उनको मालूम ही नहीं हो सकती। अगर कभी दबे लफ़्ज़ों में मैंने एक-आध बात का ज़िक्र भी किया तो कह दिया करती हैं—तो फ़िर क्या हुआ। और कुछ इस तरह कहती हैं कि मैं दस गुनी परेशानियों को आराम समझने लगता हूँ।

उनकी एक खूबी हो तो ज़िक्र करूँ। सबसे बड़ी ख़ूबी तो यही है कि वह मेरा बहुत ज़्यादा ख़्याल रखती हैं। उनको हर वक्त ख़्याल रहता है कि मेरी सेहत खराब न हो जाये। इसलिये पहनने-ओढ़ने, उठने-बैठने, खाने-पीने, सबका ध्यान रखती हैं। उनको यह यक़ीन है कि ऊन सर्दी रोकने के लिए काफ़ी नहीं, इसलिये उनको खुश करने के लिये मुझे रुई की सदरी पहननी पड़ती है। चूंकि दोस्तों और दफ़्तर वालों का भी ख़्याल है, इसलिये सदरी कमीज़ के नीचे पहनता हूँ और ऊपर स्वेटर और कोट। इसकी वजह से जिस्म मुख़्तलिफ़ जगह से फूला-फूला लगता है। लोग समझते हैं कि या तो मैंने दौलत बहुत जमा करली है या मैं घी-दूध बहुत इस्तेमाल करता हूँ। अब मैं उनको क्या बताऊँ कि हकीकत क्या है, अपनी रुई की सदरी तो दिखाने से रहा।

खाने-पीने में भी हर बात का ख़्याल रक्खा जाता है। स्कूल में शायद Domestic Science की किताब में कुछ पढ़ा होगा। उसमें विटामिन्ज़ का भी ज़िक्र आया होगा। बस अब हर खाना गोया डाक्टरी नुसख़ा है। मुझे हुक्म है कि दिन में एक सेब खाऊँ और एक टमाटर ज़रूर खाऊँ। चीज़ें दोनों अच्छी हैं। अगर मुझे अपनी मर्ज़ी पर छोड़ दिया जाय तो शायद कभी-कभी एक से ज़्यादा भी खालूँ। मगर डाक्टरी नुसख़े के तौर पर इन दोनों चीज़ों की शक्ल देखते ही रही सही भूख ख़त्म हो जाती है। खाता हूँ, मगर उगल-उगल कर, और वह सामने बैठी रहती हैं। मैंने कई दफ़ा कहा कि लाओ दफ़्तर ले जाऊँ, वहाँ खा लूंगा। मगर मेरा एतबार कौन करे?

मुझे दूध और अंडे दोनों पसन्द हैं। मगर हुक्म है कि दूध में कच्चे अंडे डालकर

पियो। अंडे को तलने से या उबालने से उसके विटामिन्ज़ ख़त्म हो जाते हैं। और साहब, मैं इस ही तरह पीता हूँ, हाँ नाक बन्द कर लेता हूँ। क्योंकि ज़ायका और महक कुछ काड लिवर आयल की सी हो जाती है।

इसी तरह उठने-बैठने पर पाबन्दियाँ हैं। इस वक्त उठो, इस वक्त सैर को जाओ, इस वक्त नहाओ, इस वक्त नाश्ता करो, इस वक्त खाना खाओ। खाने के बाद इतनी देर दायें करवट लेटो, इतनी देर बायें करवट और इतनी देर चित्त—और मैं करता हूँ, बिल्कुल घड़ी देखकर। मजाल है एक मिनट इधर, एक मिनट उधर हो जाये। क्योंकि अगर कभी मुझे ज़ुकाम हो जाये या मामूली खाँसी हो या एक वक्त भूख न लगे तो मेरी बीवी को फ़ौरन याद आ जाता है कि मैंने सुस्ती की वजह से फलां वक्त फलां हिदायत पर अमल नहीं किया था, और चूँकि मैं बहस से बहुत घबराता हूँ और जब से बीवी ने मुझ पर ऐतबार करना कम कर दिया, ख़ुद मुझे अपने ऊपर ऐतबार कम है, इसलिये तसलीम कर लेता हूँ कि हाँ साहब, चूक हो गई। अगली दफ़ा अगर भूलें तो...बस क्या बताऊँ, घर क्या है, फ़ौजी कैम्प है।

सबसे ज़्यादा ख़याल उनको घर के बजट का है। मेरी आमदनी महदूद, न ऊपर से अल्ला का फ़ज़ल, न बाप दादा का विर्सा, बस जो है तनख़्वाह पर ही दारोमदार है। मगर मेरे ख़्याल में तनख़्वाह इतनी ज़रूर है कि मामूली एहतियात से महीना बग़ैर कर्ज़ लिये गुज़ारा जा सकता है और शायद दस-पाँच की बचत भी हो जाये। मगर मेरी बीवी को अपनी दसवीं जमायत के डॉमेस्टिक साइंस के जहाँ विटामिन्ज़ याद हैं वहाँ उस का बजट भी याद है, और दूसरे आजकल के अख़बारों से भी उनको deficit और surplus और control सब कुछ मालूम है। इसलिये खाने-पीने, किराया, इन्श्यौरेंस से जो कुछ बचता है, उसके चार हिस्से किये जाते हैं। एक हिस्सा बैंक में, दूसरा हिस्सा ज़ेवर के लिये जमा, तीसरा हिस्सा बीवी के कपड़ों के लिये वक्फ़, चौथा हिस्सा मेहमानदारी और नागहानी ज़रूरतों के लिये। आप शायद तक़सीम के असूल से वाक़िफ़ नहीं। लाइये, मैं बता दूँ जो कुछ बीवी ने बताया है। सुनिये।

बैंक में रुपया जमा करना ज़रूरी है: क़ौमी ख़िदमत के लिहाज़ से भी, अपनी हैसियत को बढ़ाने के ख़्याल से भी और बुढ़ापे के ख़्याल से भी। आपने च्यूंटियाँ तो देखी होंगी। जमा करती हैं, आराम से रहती हैं। झींगुर और टिड्डे सब लँगोटी में फाग खेलते हैं और जाड़े में मर जाते हैं। मैं च्यूंटी और टिड्डे की कहानी महीने में एक दफ़ा ज़रूर सुन लेता हूँ।

ज़ेवर बनाना ज़रूरी है। एक तो रिश्तेदारों में नाक बनी रहती है, दूसरे बैंक वग़ैरा, सुना है, कभी-कभी फ़ेल हो जाते हैं। ऐसी हालत में ज़ेवर काम आता है। तीसरे बीवी पहनती हैं तो अच्छी लगती हैं। मगर याद रखिये कि ज़ेवर ख़ालिस सोने का हो। जड़ाऊ न हो, इससे कीमत आधी रह जाती है। यही वजह है कि मेरी बीवी को सिर्फ़ डायमण्ड की चूड़ियाँ, कड़े और बाज़ूबन्द पसन्द हैं।

बीवी के कपड़ों के लिये भी एक रकम अलग कर देनी ज़रूरी है, क्योंकि आप जानते हैं इसका ताल्लुक भी घर की इज़्ज़त और हैसियत से है। बार-बार खरीदने की ज़रूरत इस वास्ते पेश आती है कि नये-नये फ़ैशन निकल आते हैं। मेरी बीवी को फ़ैशन पसन्द नहीं हैं। मगर आप जानिये, ज़माने का साथ देना पड़ता है इसलिये यह ख़र्च भी बिल्कुल मजबूरी का है। रहा मेरे कपड़ों का सवाल, सो इनका ज़िक्र बेकार है। क्योंकि मिल वाले गर्मियों के लिये ख़ाकी ज़ीन और जाड़ों के लिये ख़ाकी गेबरडीन इतनी अच्छी और मज़बूत बनाते हैं कि सालों चलती हैं। और यह ग़नीमत है कि मरदाने कपड़ों में फ़ैशन जल्दी-जल्दी नहीं बदलते।

रह गये मेहमानदारी के अख़राजात, सो इनमें भी मेरा हर तरह का ख़्याल रखा जाता है। यानी मेरे दोस्तों को कम मौका दिया जाता है कि वह मेरे पास आयें। मेरी बीवी का ख़्याल है कि मैं बहुत भोला हूँ, बहुत दोस्तनवाज़ हूँ। दोस्त बहुत होशियार हैं। वह सिर्फ़ खाने-पीने और अपना काम निकालने के दोस्त हैं। और ऐसे

दोस्तों से मुझे बचाना उस बीवी का फ़र्ज़ है, जिसने मेरी देखभाल का बीड़ा उठाया है। और इस फ़र्ज़ को मेरी बीवी पूरी तरह से अदा करती है! अब ज़्यादा तफ़सील से तो क्या बताऊँ, घर की बात है। मगर इतना ज़रूर बता देता हूँ कि जो दोस्त एक दफ़ा हमारे यहाँ मेहमान आ जाता है, या मिलने आ जाता है, वह दोबारा फिर नज़र नहीं आता। अकसर दोस्त मुझसे शिकायत करते हैं, मगर उनको अब मैं कैसे यकीन दिलाऊँ कि यह सब कुछ मेरी बीवी की उस दिलचस्पी का नतीजा है जो उन को मुझसे और मेरे आराम और सेहत से है।

इसी दिलचस्पी के एक दो नतीजे और भी हैं। वह भी सुन लीजिये। अव्वल तो यह कि मुझे अपने वक्त का पूरा-पूरा हिसाब देना पड़ता है। मुझे सिर्फ़ दफ़्तर जाने की इजाज़त है, कहीं और जाना हो तो बग़ैर बीवी के नहीं जा सकता। इसलिये मैंने घर में यह बता रखा है कि दफ़्तर में इतना काम है कि शाम को बहुत देर तक बैठना पड़ता है। इससे दो फ़ायदे हैं। एक तो अपने लिये कुछ वक्त गुज़ारा जाये। दूसरे बीवी पर अपनी मेहनत का रोब पड़ता है।

दूसरा असर इस दिलचस्पी का यह है कि घर में मुलाज़िम हर महीने दो महीने के बाद बदले जाते हैं। वजह ज़ाहिर है कि बीवी जब नौकर को तनख़्वाह देती हैं तो काम भी पूरा लेंगी। आजकल मुलाज़िम जिनको इतवार की पूरी छुट्टी, हफ़्ते की आधी छुट्टी और दिन में सिर्फ़ चार घण्टे काम चाहिये, भला महज़ तनख़्वाह के बदले बराबर काम क्यों करने लगे? यहाँ काम सीख लेते हैं, जब दूसरी जगह मिल जाती है चले जाते हैं। और हमारे यहाँ दूसरा मुलाज़िम आ जाता है। बार-बार मुलाज़िम को सुधारने की बजाय अब मैंने अपने ज़ाती काम खुद करने शुरू कर दिये हैं। मुझे यह फ़ायदा है कि नौकरों को सिधाने और सिखाने से छूटा। बीवी को यह फ़ायदा है कि अब रोज़ की मेहनत से मेरी सेहत ठीक रहती है।

जैसा कि मैंने अर्ज़ किया था, मेरी बीवी में खूबियाँ ही खूबियाँ हैं। उनकी बेगर्ज़ मुहब्बत, उनकी मेहनत, उनकी किफ़ायतशारी, उनका घरदारी का सलीक़ा और सबसे ज़्यादा उनकी मुझमें दिलचस्पी, ऐसी खूबियाँ नहीं जिनकी शिकायत की जाये। मगर क्या करूँ, मेरी परेशानी में भी शुबह नहीं।

—दिल्ली से प्रसारित

राजदूत कौन हो ?

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इङ्गिताकार चेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम्।। (मनु)

जो सर्व शास्त्रों का पूर्ण ज्ञाता हो, सूरत, शकल, चेष्टा आदि से दूसरे के हृदय को भाँप ले, शुद्ध हस्त हो, चतुर हो और कुलीन हो। वही दूत होने योग्य है।

(परमेश्वरानंद—जालंधर)

एवरेस्ट पर विजय



तेनज़िंग नोरके

नेहरू जी ने अपनी "पुत्री के नाम लिखे पत्र" और "विश्व इतिहास की झाँकियाँ" पुस्तकों में बताया है कि प्रकृति की अन्धी शक्तियों के विरुद्ध मानव जाति का संघर्ष ही उसकी सभ्यता के क्रमागत विकास का इतिहास है। मानव जाति के इस विजय-अभियान में शेरपा तेनज़िंग नोरके और न्यूज़ीलैंड निवासी एडमंड हिलेरी ने एवरेस्ट-विजय करके मनुष्य की अपराजेयता का, शक्ति का, उत्साह का, दृढ़ता का, स्वाभाविक अहं का, और प्रकृति की अन्धी शक्तियों के दर्प को चूर-चूर कर डालने वाली क्षमता का अन्यतम प्रमाण और उदाहरण पेश किया है। आज संसार तेनज़िंग को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है, और भारत तथा नेपाल की जनता उनको अपनाकर फूली नहीं समाती। तेनज़िंग इस समय उन्तालीस वर्ष के हैं और बौद्ध हैं। किशोरावस्था से ही इनको पर्वतारोहण का शौक था। इसीलिये वह अपने घर से भाग निकले और सैंकड़ों मील दूर दार्जिलिंग में एक पर्वतारोही दल के साथ कुली बन गये। तेनज़िंग की इस स्वाभाविक इच्छा का विकास होता रहा। पर्वतारोही दल के साथ जाना उनका पेशा हो गया। धीरे-धीरे यह कार्य उनके जीवन का सबसे महत्वपूर्ण अंग बन गया। अपनी पीठ पर से कुली का बोझ उतार फेंकने के लिये तेनज़िंग को अनेक विरोधों, कठिनाइयों और विपत्तियों का सामना करना पड़ा। और अब? अब तो तेनज़िंग का माथा एवरेस्ट से भी अधिक ऊँचा उठा हुआ है!

(श्री कृष्णदास—इलाहाबाद)

कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रति

सुमित्रानन्दन पन्त

अभिवादन स्वीकार करें कविगुरु जन गण का
विश्रुत जन्म-दिवस के सुख स्वर्णिम अवसर पर
श्रद्धा-स्मृति से प्रीति सरल लोचन बरसाते
स्नेह-द्रवित आनन्द-अश्रु पावन चरणों पर
मौन स्वप्न-पथ से बढ़ते जो चरण हृदय में.......

युग-द्रष्टा बन आये आप यहाँ नव गायक
देश काल का तमस चीर निज सूक्ष्म दृष्टि से
पैठे जन जीवन के निश्चल अन्तस्तल में
धरती के अवसाद भरे जनगण को देने
उद्बोधन का गान, जागरण-मंत्र, मनोबल
मानव की चेतना-रश्मि को अतल गुहा से
बाहर ला मन में अभिनव आलोक भर गये
रंग-रंग की आभा-पंखड़ियों को बिखरा
नव-जीवन, सौन्दर्य गये बरसा धरती पर
गीतों से, छंदों से, भावों से, स्वप्नों से........

एक बार फिर आओ, कवि, इस विधुर देश को
अपनी अमर गिरा से नव आश्वासन देने
आज और भी लोक-प्रतीक्षा यहाँ आपकी
वाणी के वर पुत्र, धरा की महा मृत्यु को
अमर स्वरों से जगा, विश्व को दो जीवन-वर........
आओ, हे, फिर अपने भारत के मानस से
मध्य युगों का घृणित जाल-जंजाल हटाकर
ज्वलित स्वर्ण दर्पण-सी उसकी चेतनता को
लाओ फिर जग के समक्ष, जिसमें नव जीवन
नव मानव-पन का उज्ज्वल मुख प्रतिबिम्बित हो
आज धरा के अन्धकार में उसका जगमग
कांचन दो फिर से उंडेल जीवन प्रभात में ....
आओ, हे कवि, आओ, फिर निज अमृत स्पर्श से
आदर्शों की छायाओं को नव-जीवन दो।........
आओ, तुम जीवन वसन्त के अभिनव पिक बन
धरा-चेतना हँसे सांस्कृतिक स्वर्णोदय में।



—इलाहाबाद से प्रसारित

कवि के उद्गार

विद्यापति के प्रति

'बच्चन'

मिथिला के रसमय मधुवन के हे अमृतमय बोल सुहावन !
नित राजारानी को तुमने
रच-रच कर नव गीत सुनाए,
है उनका अस्तित्व कहाँ पर
अब इसको इतिहास बताए,
पर उर पुर शासक तुम तब थे,
अब हो, और रहोगे आगे,
शरण भूप शिवसिंह लखिमा के आज तुम्हारे ही पद पावन
मिथिला के रसमय मधुवन के हे अमृतमय बोल सुहावन ।

थे न कबीर, न सूर, न तुलसी
और न थी जब बावरि मीरा,
तब तुमने ही मुखरित की थी
मानव के मानस की पीड़ा,
कौन गया था कर, कवि शेखर,
आकुल कातर प्राण तुम्हारा ?...
लुटा चुकी थी अपना सब धन-
वैभव जब देवों की वाणी,
देसिल बयनों की क्षमता थी
तुमने, कवि-रंजन, पहिचानी,
अश्रु - लकीर तुम्हारे गालों
पर की अब गम्भीर नदी है,
बाल चंद मिथिला की छत का भारत के नभ का शशि पूरन,
मिथिला के रसमय मधुवन के हे अमृतमय बोल सुहावन ।

निर्माता, तुमने नव कविता
का तन-मन इस भांति सँवारा,
दूर सुदूर भविष्य तुम्हारे
ही शब्दों का खोज सहारा,
'जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल' कहेगा,
लाख-लाख युग हिय-हिय बसकर होगा ही वह तिल-तिल नूतन
मिथिला के रसयय मधुवन के हे अमृतमय बोल सुहावन ।

—इलाहाबाद से प्रसारित





हिन्दी साहित्य की समस्याएँ

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

हिन्दी–साहित्य ही क्यों, सम्पूर्ण विश्व-साहित्य आज के युग में समस्याओं का रंग-स्थल बना हुआ है। यह ऊहापोह का युग जो ठहरा। इस कारण हमारी भाषा के साहित्य में यदि हमें आज अनेक प्रकार के प्रश्न-चिह्न उभरे हुए मिलें तो इसमें आश्चर्य की क्या बात ?

निस्सन्देह हमारे सामने समस्याएँ हैं। ये समस्याएँ हमारे साहित्यिकों की सजगता, ऊर्ध्व-गति, जनकल्याण कारिता एवं सन्निर्माण-वृत्ति की द्योतिकाएँ हैं। हमारी जो यह अकुलाहट है, यह झुँझलाहट है, वह भी हमारी जीवनी-शक्ति की परिचायिका है।

अभी तीन-चार दिवस पूर्व ही, रूस के 'प्रावदा' पत्र में रूसी साहित्य और रूसी साहित्यिकों तथा प्रकाशकों की एक बड़ी तीक्ष्ण, स्पष्ट और झुँझलाहट भरी आलोचना निकल चुकी है : रूसी साहित्यकार कुछ नहीं हैं, प्रकाशक असावधान हैं, साहित्य में जीवनी-शक्ति नहीं है, इत्यादि-इत्यादि बातें 'प्रावदा' कह चुका है। अर्थ यह कि जो राष्ट्र आज के इस बहु-प्रशंसित, मार्क्स-आविष्कृत, एंगेल्स-भाष्यकृत, लेनिन-समर्थित, स्टालिन-संवर्धित साहित्य-निर्माण-सिद्धान्त को लेकर चला था, वह भी आज दिग्भ्रमित-सा, क्षिप्तचित्त-सा, असन्तुष्ट, अपूर्ण काम, इधर अधर कुछ टटोलता-सा दिखाई पड़ रहा है। कृषक-श्रमिक-कल्याण साधक समझा जाने वाला रूस, उत्पादन-साधनों को समाजीकृत करने वाला रूस, वर्गविहीनता का आदर्श रूस, वास्तविक जगत, अर्थात् इन्द्रिय गम्य वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण से साहित्य एवं कला को सम्बद्ध करने वाला रूस आज झुँझला रहा है। उसके साहित्य में गतिरोध है। प्रगति-वाद का पुजारी क्या, उसका तथाकथित् प्राण-प्रतिष्ठापक आज का रूस जब यह देखता है कि समस्त प्रकार के पतंग-उड्डीयन के उपरान्त भी वह पुराने प्रगति-गर्त-मग्न रूस के एक भी टाल-स्टाय, एक भी डोस्तोवेस्की, एक भी पुश्किन, एक भी गोगोल को उत्पन्न न कर सका, इतने ढोल-धमाके के उपरान्त भी वह पुरातन महामानव साहित्यकारों में से एक की भी पुनरावृत्ति न कर सका, तो 'प्रावदा' के स्तम्भों का कंपित होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है।

मैं इस थोड़े से समय में किन-किन समस्याओं की ओर संकेत करूँ ? अनेक समस्याएँ हमारे सम्मुख हैं। पर समस्याओं से उकताने की कोई आवश्यकता नहीं।

हमारे साहित्य की जो सबसे आक्रान्तक समस्या है वह यह है कि हमारे कुछ विद्यानिधि आलोचकों ने तोलने के लिये एक बनी-बनाई तुला और कुछ घिसे-घिसाये बाट उधार ले लिये हैं और उन्हें अपना कह कर तोल-नाप करने लगे हैं। जहाँ मानव-आत्मा वादों के बन्धनों में जकड़ दी जाएगी, वहाँ वह मानो कुण्ठित हो जायगी, या फिर वह प्रतिवादि भयंकर हो कर उभर उठेगी। इसलिये भारतीय साहित्यकारों और आलोचकों को सावधानी बरतनी होगी। हमें अत्यधिक चीं-चपड़, तू-तू-मैं-मैं, टाँग घसीटन, दंड-मुँड सम्मेलन और कफ़न-खसोटन में नहीं पड़ना है। आशय यह है कि आलोचना-साहित्य-निर्माण को ही हमें साहित्य-सृजन नहीं मान बैठना है।

भारतीय साहित्य-आलोचना के चीर का गठ-बन्धन पूर्व काल से लगाकर आज तक नाना प्रकार के सिद्धान्तों के उत्तरीय के साथ हुआ है। रस-सिद्धान्त, अलंकार-सिद्धान्त, रीति-सिद्धान्त, ध्वनि-सिद्धान्त आदि सिद्धान्तों ने अपने-अपने समय में साहित्य-निर्माण को विश्लेषित, आलोचित एवं प्रभावित किया। आज हमारी साहित्य-आलोचना उत्पादन-संबंधों की क्रिया-प्रक्रिया से अपना गठ-बन्धन कर रही है। आज के झुकाव का यह अर्थ कदापि नहीं है कि पुरातन रस-अलंकार-रीति-ध्वनि-सिद्धान्त अयथार्थ हैं। वास्तविक सत्य तो यह है कि—

प्रति युग में पुराण बोला है,
नव शैली, नव शब्दों में,
किन्तु वाक्य आधार वही, जो
संचित शत-शत अब्दों में···
वर्तमान की जननी तो है,
प्रतिगत की झुटपुट संध्या,
कब अतीत घटिकाओं की वह
उर्वर कोख हुई वंध्या ?
वर्तमान की किलकारी में,
यदि न साम्य गत के स्वर का,
तो वह वर्तमान है केवल,
पुत्र वर्ण के संकर का····

मेरे कथन का अर्थ केवल इतना है कि आज की हमारी साहित्य-आलोचना का झुकाव प्राचीन मान-दंडों को झुठलाता नहीं है।

वर्तमान साहित्य, विशेषकर कविता की भाषा के सम्बन्ध में बहुधा प्रश्न उठता है : भाषा कैसी हो ? सर्वसाधारण समझें, समझ सकें, वैसी हो, या संस्कृत शब्दों द्वारा दबोची हुई बोझिल भाषा हो ? इसके विषय में मेरा अपना मत यह है कि भाषा के सम्बन्ध में साहित्य-स्रष्टाओं को आदेश देना प्रथम श्रेणी की मूर्खता है। ज्ञानदेव, तुकाराम, समर्थ, तुलसी, सूर, जायसी आदि को यदि इस प्रकार का आदेश देने वाले गुरु मिले होते तो 'सिर धुनि गिरा लागि पछताना' के सदृश वे भी बिचारे अपना सिर धुनते और पछताते। बात यह है कि सर्वसाधारण की दुहाई देते समय हम यह मान बैठते हैं कि सर्व-साधारण तो सदा मूर्ख रहेंगे ही, न उनका शब्दकोष बढ़ेगा, न उनका मानस-दिङ्मंडल विस्तृत होगा और न उनमें कभी ऊहापोह शक्ति का आविर्भाव ही होगा। भाई, जो यह नव समाज-निर्माण का प्रयत्न हो रहा है, वयस प्राप्त जन-शिक्षण के प्रसार की जो यह योजना चल रही है, प्रारम्भिक शिक्षा की अनिवार्यता की जो यह सज्जा है, यह सब क्या सर्व-साधारण के सांस्कृतिक, भाषा-विषयक स्तर को ऊँचा नहीं करेगी ?

आप कहेंगे—जब यह सब होगा तब देखा जायगा। आज हम कैसी भाषा लिखें ? मैं पूछता हूँ—क्या आपने शेक्सपियर के नाटक पढ़े हैं ? क्या आप समझते हैं कि एक साधारण पढ़ा-लिखा शेक्सपियर का देशवासी अँग्रेज़ उन नाटकों को बिना शब्द-कोष की सहायता के समझ सकता है ? यदि नहीं, तो आप शेक्सपियर को उनके नाटकों, उनके सौनेट्स, उनकी अन्य कविताओं के लिये किस प्रकार की भाषा लिखने का आदेश देते हैं ? निवेदन है कि यह भाषा-सम्बन्धी आदेश वाला प्रयास ही मेरी दृष्टि में दूषित, व्यर्थ, अहितकर, अव्यवहार्य है।

जिस प्रकार "प्रकृतिं यान्ति भूतानि, निग्रहः किंकरिष्यति", जिस प्रकार प्राणी अपनी प्रकृति को प्राप्त करता है, निग्रह विचारा क्या करेगा, उसी प्रकार 'स्वभाषा यान्ति कवयः प्रतिबन्धो निरर्थकः', कवि अपनी भाषा आप पा लेते हैं, प्रतिबन्ध निरर्थक है। हाँ इतना अवश्य इस सम्बन्ध में मोटे रूप में कहा जा सकता है कि कवि और साहित्यकार भाषा ऐसी लिखें जो देश भर में अधिक सरलता से समझी जा सके।

इस देश में अधिक सरलता से अन्य भाषा-भाषियों द्वारा भी जो भाषा समझी जा सकती है और समझी जाती है, वह है संस्कृत-शब्द-प्रधान भाषा। आप आश्चर्य न करें। हिन्दी के साहित्यकार भी यह बात सुनकर न

चौंकें—मेरा आशय उन साहित्यकारों से है, जो सरलता का अर्थ फ़ारसी-उर्दू मिश्रित शब्दावली मान बैठे हैं। जिनकी दृष्टि उत्तर प्रदेश के पश्चिम के कुछ थोड़े से भाग, दिल्ली और पंजाब तक ही सीमित है, वे सरलता का अर्थ फ़ारसी मिश्रित उर्दू मान बैठे हैं।

पर देश की भाषाओं को देखिये। आर्य भाषा-भाषी प्रदेशों—जैसे मैथिल, भोजपुर, बंगाल, असम, उत्कल, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मालव, मध्यप्रदेश आदि की भाषाएँ संस्कृत की दौहित्रियाँ हैं और संस्कृत-बहुलता ही उन प्रदेशों की भाषा की सरलता है। अब चलिए आगे। कन्नड़, मलयालम, तेलुगु और तमिल-इन चार द्रविड़ भाषाओं में प्रथम तीन, अर्थात् कन्नड़, मलयालम और तेलुगु में ६० प्रतिशत से भी अधिक शब्द संस्कृत के हैं और तमिल में, जो बड़ी पुरातन और समृद्ध भाषा है, प्रायः ४० प्रतिशत संस्कृत शब्द हैं। अतः परिणाम यह निकला कि यदि हिन्दी के कवि तथा अन्य प्रकार के हिन्दी साहित्यिक देशव्यापी सुगम भाषा लिखना चाहते हैं तो उन्हें निश्चय ही अपनी भाषा को संस्कृत-निष्ठ बनाना पड़ेगा।

—दिल्ली से प्रसारित

भारतीय प्रजातन्त्र में मध्यवर्ग का स्थान

'ब्रिटिश सत्ताशाही के विकास के साथ भारत में मध्यवर्ग कुछ अंश तक विकसित हुआ। सन् १९०५ के स्वदेशी आन्दोलन के साथ इस वर्ग को कुछ प्रश्रय मिला। ब्रिटिश सत्ताशाही जब नौकरियों का भारतीयकरण करने लगी तब कुछ वेतनभोगी मध्यवर्ग यहाँ सामने आया। पूंजीवाद के विकास के साथ बड़े-बड़े शहरों में वेतनभोगी मध्यवर्ग कुछ पनपने लगा। स्वभाव से डरपोक और अपनी वर्त्तमान आर्थिक स्थिति के थोड़े-थोड़े सुधार से संतुष्ट रहने की अपनी मनोवृत्ति के कारण यह मध्यवर्ग प्रजातंत्र का समर्थक है। क्रान्ति की भीषण विभीषिका के नाम और दृश्य से ही यह वर्ग काँप जाता है। पूंजीपतियों के काले कारनामे पर 'काफ़ी हाउस' में या, अपने परिवार के बीच कुछ हल्की आलोचना से ही इसे संतोष हो जाता है। समाज की वर्त्तमान स्थिति क़ायम रहे, यही मध्यवर्ग का मुख्य लक्ष्य है। प्रजातंत्र और मध्यवर्ग दोनों हिंसात्मक क्रांति का विरोध करते हैं। समन्वय और समझौता दोनों का लक्ष्य है। मिलजुल कर कार्य आगे बढ़ाना, यही इस वर्ग की तथा प्रजातंत्र की पद्धति है। इस प्रकार प्रजातंत्रीय पद्धति को कायम रखने में मध्यवर्ग की सहायता की बड़ी आवश्यकता है। किन्तु आधुनिक भारत में १९४७ से वर्त्तमान आर्थिक परिस्थितियों ने इस वर्ग की कमर तोड़ दी है। सामाजिक कुप्रथाओं से यह वर्ग इतना जकड़ा हुआ है कि अपनी वर्त्तमान आय से यह बिल्कुल असंतुष्ट है। सन् १८५७ की भारतीय स्वतंत्रता के बाद इसकी आर्थिक स्थिति बिल्कुल डाँवाडोल हो गई है। अतएव मेरा विचार है कि भारतीय प्रजातंत्र को इस मध्यवर्ग की रक्षा अवश्य और शीघ्र करनी चाहिये।

(विश्वनाथ प्रसाद वर्मा—पटना)

शेर का शिकार



मनोहरदास चतुर्वेदी

पंजाब व राजस्थान के रेगिस्तान को छोड़ कर, शेर हमारे देश में प्रायः सभी जंगलों में मिलता है। हिमालय की तराई, मध्य भारत, मध्यप्रदेश, विन्ध्यप्रदेश, उड़ीसा व आसाम शेरों के मुख्य केन्द्र हैं। दक्षिण के वनों में भी शेर की कोई कमी नहीं है।

हमारे मुल्क में शेर के नाम से लोगों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। वैसे तो शेर के बारे में बहुतेरी दन्त-कथाएँ गाँव-गाँव सुनने में आयेंगी, मगर शेर की शक्ल-सूरत तक कोई सही-सही न बता सकेगा। देहातियों की तो कहे कौन, पढ़े लिखे लोग भी शेर को पहचान तक नहीं सकते। कुछ दिनों की बात है कि मेरी एक शेर की कहानी छापते हुए हमारे देश के एक प्रसिद्ध पत्रकार ने तसवीर गुलदार की लगादी! यही नहीं, इस कहानी के हज़ारों पढ़ने वालों में से किसी का ध्यान तक ऐसी भारी भूल पर न गया!!

वैसे तो बिल्ली मौसी के परिवार में कई प्रकार के जानवर हैं, मगर इनमें तीन मुख्य हैं :—(१) सिंह, जिसकी खाल का रंग ऊँट से मिलता है। इसको लोग कहीं-कहीं इसी कारण ऊंटिया बाघ भी कहते हैं। केसरी, केहरी, बबर, नाहर, नरसिंह इत्यादि सिंह के ही नाम हैं। प्राचीन काल में यह सिंह भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में प्रायः सभी जगह होता था। मगर पिछले १०० वर्षों में सिंह की नसल ही मिट गई। अब सौ-दो-सौ सिंह केवल जूनागढ़ के गीर बन में रह गये हैं। (२) गुलदार, यह छोटा जानवर है। इसकी खाल पर बूटे होते हैं। इसको लोग तेंदुआ, गुलबघा व बघटा भी कहते हैं। गुलदार एक उठाईगीर, उचक्का, तेज़, चालाक जानवर है। गाँव-गाँव बकरी, कुत्ते, बन्दर, जानवरों के बच्चे आदि उसके मुख्य शिकार हैं। (३) शेर, सिंह की तरह बड़ा होता है और इसकी खाल पर काली धारी पड़ी होती है। इसको पूर्वी भाषाओं में लोग बाघ भी कहते हैं।

मैं आज आपको शेर के बारे में कुछ बातें बताऊँगा। डीलडौल में तो नहीं, परन्तु और सब बातों में शेर बहुत कुछ अपनी मौसी बिल्ली से मिलता है। घर-घर घूमने वाली बिल्ली, शेर की छोटे पैमाने पर सही, सच्ची जीती-जागती नकल है। शरीर की बनावट, इकहरा, छरीरा जिस्म, नज़ाकत, अय्यारी, गोश्त खोरी, बेआहट चाल, दिन में सोना, रात में घूमना, उस्तरे के समान तेज़ ज़ुबान, गद्दीदार हाथ-पैर, मुँह पर मूँछ, तेज़ आँख, सावधानी, स्वाधीनता, ओझल रहन-सहन और आन पड़े पर बिजली की तरह झपट, यह सब बातें ऐसी हैं जो बिल्ली मौसी ही ने शेर को सिखाई जान पड़ती हैं। कहावत है कि बिल्ली ने शेर को सब बातें सिखाईं, केवल पेड़ पर चढ़ना नहीं सिखाया। यह बात ग़लत है। वैसे तो शेर

पेड़ पर कम चढ़ता है मगर मौका पड़ने पर चूकता भी नहीं। सिम्सन साहब ने पूर्णिया ज़िले में सैलाब के समय शेरों को पेड़ों पर चढ़े अक्सर देखा। पेड़ों पर चढ़े शेर अक्सर मारे भी गये। ज्वाला साल (हलद्वानी) उत्तर प्रदेश में एक ज़ख़्मी शेरनी ने एक मेमसाहब पर, जो ज़मीन से १९ फ़ुट ऊँचे मचान पर बैठी थीं, पेड़ पर कूद कर हमला किया। मेमसाहब मचान से ज़मीन पर गिर गई और अगर उनके ख़ाविन्द ने वक्त पर पहुँच कर शेर को गोली से न मार दिया होता, तो मेम साहब की जान चली गई होती। हाँ, इतना ज़रूर है कि शेर बिला वजह पेड़ पर नहीं चढ़ता।

बिल्ली का सारा कुन्बा, जिसमें शेर भी शामिल है, सफाई व सुथरेपन के लिये मशहूर है। शेर खाने के साथ-साथ व खाने के बाद अपने को घण्टों चाटता है। शेर को पानी का बड़ा शौक है। गर्मी में अक्सर शेर पानी के गड्ढों में पड़ जाते हैं। लेकिन, बिल्ली व गुलदार दोनों पानी की बूँद तक से घबड़ाते हैं।

शेर कान का कच्चा नहीं बल्कि बड़ा पक्का होता है। हल्की से हल्की आवाज़ का खटका ले लेता है। दौली (उत्तर प्रदेश) में एक शेर शिकारी के मचान पर बैठे किताब के वर्क़ पलटना दूर से बैठा सुना करता था और कभी पास नहीं फटकता था। जहाँ हवा भर भी खटका हुआ और वह खिसका। अपना मारा हुआ, अपना छुपाया हुआ शिकार छोड़कर शेर भूखा चला जायेगा पर खटके के बाद उसके पास न जायेगा।

शेर की आँख दिन में मिची रहती हैं और शेर दिन भर सोता है। शाम को सूर्य डूबने पर शेर शिकार को निकलता है। शेर के मुड़ने का समय तब होता है, जब हाथों की लकीर दिखाई न दे। बिल्ली की बिरादरी के जानवरों की नाक चपटी होती है और कुत्ते, लोमड़ी, भेड़ियों के समान लम्बी व तेज़ नहीं होती। यदि कान व आँख की तरह शेर की नाक भी तेज़ होती, तो किसी जानवर की ख़ैर न थी।

शेर क्योंकि दाव-पेच से मौका पाकर हमला करता है, खुले मैदान में जंगली जानवर इसकी परवाह नहीं करते। छोटे चीतलों के बच्चे इसकी खोपड़ी पर टौंकते हैं। शेर के आते ही जंगल में कोहराम मच जाता है। बन्दर, लंगूर, मुर्गी, मोर, चीतल, काकड़, गीदड़ सभी शेर को देखकर शोर मचाते हैं और डर से इनकी आवाज़ भी बदल जाती है। सुअर तो कभी-कभी शेर का मुकाबला भी कर बैठता है।

शेर के शिकार में सबसे पहला काम है शेर को ढूँढना, दूसरा काम है शेर को रोकना। शेर चलता फिरता जानवर है, यह एक जगह नहीं रुकता। इसका शिकार आसान इसलिये नहीं है कि शिकारी के औसान ख़ता हो जाते हैं। शेर बिला छेड़े किसी को कुछ नहीं कहता। हाँ, ज़ख़्मी शेर व बच्चे वाली शेरनी की बात और रही, जो आवाज़ पर तीर की तरह आते हैं।

एक दफ़े की बात है कि एक शेर के पीछे मैं कई रोज़ तक पड़ा रहा। इसने इतने मवेशी मारे थे कि कोहराम मच गया था। इस शेर के आने जाने के रास्ते में एक भैंस का कटरा बाँध दिया गया। इस शेर ने इस कटरे को अगली रात ही में मार लिया। कटरे की लाश को खींच कर झाड़ी में छुपा दिया। शेर अपने खाने की दिन भर रखवाली करता है और आस पास ही बैठा रहता है। मैं जब करीब ३ बजे शाम को हाथी पर गया तो लाश तो कटरे की मिल गई, पर शेर न मिला। बहुत ढूँढा, एक एक झाड़ी देख डाली, बहुतेरा तलाश किया, पर कहीं पता तक न लगा, आख़िर यह राय तै पाई कि लाश के पास के पेड़ पर मचान बाँधा जाय और उस पर बैठा जाय। जब अंधेरा होने पर शेर आयेगा तो बड़ा अच्छा मौका देगा।

जिस वक्त शिकारी मेरे लिये मचान बाँध रहे थे, मैं हाथी पर बैठा घूम रहा था। मगर शेर का कहीं शुब्हा तक न था। जब मचान बंध चुका और मैं हाथी से मचान पर चढ़ने लगा तो एकाएकी पहाड़ी पर साँभर बोला। साँभर ने शेर को देख कर ही आवाज़ दी थी। अभी मैं मचान पर बैठ भी न पाया था कि शेर आ गया।

शेर ने मुझे मचान पर बैठते देखा। बड़े इतमीनान से हाथी वापिस जाते देखा। शेर को

हमारे सारे षडयन्त्र का पता लग गया। जो सच पूछो तो शेर एक ऊँची पहाड़ी से बैठा हमारी सारी हरकतें घण्टों से देख रहा था। फिर हमारे खटके पर नीचे वाली पहाड़ी पर उतर आया था।

जब हाथी चला गया तो मैं खामोश मचान पर करीब करीब दो घण्टा बैठा रहा। शेर की छुपाई कटरे की लाश मेरे सामने पड़ी थी। मगर भला शेर कब आता था।

शेर भी मेरी तरह एक नीची पहाड़ी पर बाँस की झाड़ी में बैठा खटका ले रहा था। कभी-कभी जब वह हिलता था तो झाड़ी से सूखे बाँस चटकते थे। मैं इन्तज़ार में था कि शेर लाश पर आय तो गोली चलाऊँ। शेर इस इन्तज़ार में था कि जब मैं मचान से उतर कर जाऊँ तो लाश पर आय, इस कशमकश में अंधेरा होने लगा। लाचार मैंने हाथी को कुकुआ देकर बुलाया। जंगल में शिकारी जानवरों की तरह आवाज़ कर एक दूसरे को बुलाते हैं। हाथीवान ने बहुत कुछ कहा भी कि अभी मचान से न उतरा जाये। शेर के आने की उम्मीद काफी है। मगर देर हो रही थी। मैं मचान से उतरा और हाथी पर सवार हो वहाँ से चल दिया। मगर कैम्प की तरफ नहीं, बल्कि नदी की ओर। शेर ने दूर से मुझे देख लिया। थोड़ी दूर चल कर हम लोगों ने नदी छोड़ पहाड़ी की जड़ पकड़ ली। धीरे धीरे पहाड़ी की जड़ में हाथी पर हम लोग फिर शेर की तरफ लौट पड़े। शेर मेरे मचान से उतरने पर बेफ़िक्र हो गया था और उसी बाँस की झाड़ी में बैठा था। जब मेरा हाथी पहाड़ी के नीचे पहुँचा, तो शेर ने चुप्पी साध ली, और मेरी तरफ सर उठा कर देखा। ऐसा अच्छा मौका भला किस शिकारी को मिलता है। मैंने राईफल की जस्त ली, लबलबी दबाई, शेर ने एक आवाज़ की, और गिर गया। शेर तो मचान के पास नहीं आया, मैं ही उसके पास पहुँच गया।

जब कभी मैं शेरों की कहानी सुनाता हूँ तो हमेशा यही बात ध्यान में आती है कि क्या ही अच्छा होता कि कभी शेर की कहानी शेर की ही ज़ुबानी सुनने में आती। हमेशा मेरे कान में यही आवाज़ आती है।

मज़ा जब था जो यह सुनते
मुझ ही से दास्तां मेरी
कहाँ से लायेगा कासिद
वयाँ मेरा ज़बां मेरी।

—दिल्ली से प्रसारित

भारतीय स्नातक

भारत में तीन प्रकार के स्नातक होते थे: विद्या-स्नातक, व्रत-स्नातक, विद्याव्रत-स्नातक। विद्या की परिसमाप्ति पर जो स्नान करता और गुरुकुल से घर लौट आता, उसे विद्या-स्नातक, केवल व्रत की समाप्ति पर जो लौटता, चाहे अध्ययन परिसमाप्त न भी हुआ हो, उसे व्रत-स्नातक और विद्या और व्रत दोनों की परिसमाप्ति पर जो स्नान करता उसे विद्याव्रत-स्नातक कहा जाता था। यहाँ यह विचार के योग्य है कि जो ब्रह्मचारी सत्रह-अठारह वर्ष गुरुकुल में रहता, गुरु की चरण शुश्रूषा द्वारा अनेक विद्याओं और कलाओं को सीखता और नाना लौकिक और वैदिक कर्मों को करता उसे विद्या की परिसमाप्ति के उपलक्ष में उपाधि क्या मिलती थी; "स्नातक"। आर्यों को इससे अच्छा नाम न मिल सका। लौटते समय होने वाली एक स्नान-क्रिया से ही ब्रह्मचारी को "स्नातक" नाम मिल जाता है जो आजीवन उसके साथ रहता है और जिससे उसका सर्वत्र संबोधन होता है। क्या यह स्नान की मुख्यता और सर्वप्रियता को नहीं बताती ?

(चारुदेव शास्त्री—जालंधर)

हिन्दी में अन्योक्ति

मैथिलीशरण गुप्त

क्या आप लोगों ने कभी सुना है कोई पति अपनी पत्नी से कुवाच्य कहे और विरोध करना तो दूर, पत्नी उलटी हँसे ? इसका रहस्य सुनिये। घटना सच्ची है।

एक थे ज़मींदार। उनकी ज़मींदारी तो तीन चारपाई की ही थी। परन्तु लड़ाका प्रकृति होने के कारण उन्होंने गाँव के किसान और श्रमजीवियों पर पूरा आतंक छा रक्खा था। संयोग से उनकी पत्नी भी वैसी ही थीं। उनका एक निरीह पड़ौसी उनके गर्जन-तर्जन के मारे दुःखी रहता था। जब उस से सहा न जाता तब वह अपने घर के भीतर आँगन में जाता और अपनी घरवाली को दो चार खरी-खोटी सुनाकर अपना जी जुड़ाता। घरवाली सुनकर हँसती। वह जानती थी उनका लक्ष्य कौन है। इसी प्रकार कभी कभी उसके सुग्गे को भी जली-कटी सुननी पड़ती। दुष्ट दिन भर टेंटें किया करता है। कभी राम का नाम भी नहीं लेता और सेंतमेंत का दूध भात नष्ट करता रहता है। पापी कहीं का, इत्यादि, इत्यादि।

इसी को अन्योक्ति कहते हैं, अर्थात् एक से कह कर दूसरे को सुनाना। औरों के मिस अपने मनोगत भावों और विचारों को प्रगट करने का यह अच्छा साधन है।

कहते हैं बिहारी सतसई के कवि एक अन्योक्ति के ही कारण सफल मनोरथ हुए। जब वे राजाश्रय के अर्थ जयपुर पहुँचे, तब उन्होंने सुना महाराज इन दिनों अन्तःपुर में ही रहते हैं। एक मुग्धारानी के रूप ने उन्हें मुग्ध कर रखा है। यह सुन कर कवि ने एक दोहा लिखा और किसी प्रकार राजा के पास पहुँचाया :

नहिं पराग नहिं मधुर रस, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बंध्यो, आगे कौन हवाल॥

इसे पढ़ कर महाराज बाहर आये और उन्होंने कवि से मिलकर उन्हें पुरस्कृत किया। फलतः बिहारी सतसई जैसी अपूर्व कलाकृति की रचना हुई।

लोकमान्य तिलक ने अपने केसरी पत्र के लिये जो आदर्श वाक्य चुना था, वह भी संस्कृत की एक अन्योक्ति ही है। उसका अर्थ इस प्रकार है :

अरे मदान्ध हाथी ! क्या तू नहीं जानता तेरे धोखे विशाल शिलाओं को अपने नखों से विदीर्ण कर के केसरी गिरि गर्भ में शयन कर रहा है। उसके जाग उठने के पहले ही तू इस वन से बच निकल।

इस अन्योक्ति का चुनाव लोकमान्य के ही अनुरूप था। निरंकुश विदेशी शासन के लिये उनकी यह एक ललकार थी। इसमें हमारा देश ही वन में परिणत हो गया था, जहाँ किसी की कोई सुनवाई न थी और हमारा स्वाभिमान ही सिंह था जो सुप्त अवस्था में पड़ा था। ठीक ही हुआ जो अब यह परिवर्तित कर दिया गया है।

मैं भूलता नहीं हूँ तो काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के प्रमुख प्रतिष्ठाता स्व० श्याम सुन्दर दास ने अपने लिये जो सर्वाधिक प्रिय पद्य चुना था वह भी एक अन्योक्ति के ही रूप में था। उसका अर्थ इस प्रकार है :

हे मेरे मित्र चातक ! मेरी एक बात सुन। आकाश में अनेक मेघ आते जाते हैं। उनमें कुछ बरसने वाले होते हैं और कुछ केवल गरजने वाले, तू जिसे देखे उसके आगे दीन वचन न कह।

इस उपदेश की सार्थकता स्वयंसिद्ध है। परन्तु एक सर्वोत्तम अथवा सर्वाधिक प्रिय पद्य का चुन लेना बड़ी विषम समस्या है। अपने

लिये तो मैं बिहारी के शब्दों में यही कह सकता हूँ :—

को सुरझ्यौ यहि जाल परि कत कुरंग ग्रकुलात।
ज्यों-ज्यों सुरभि भज्यो चहत त्यों-त्यों ग्ररुझत जात।

इस अवसर पर हठात् घनानन्द कवि का एक पद्य स्मरण आ रहा है, जो मुझे बहुत भाता है। मेघ को सम्बोधन करके वियोगिनी गोप बाला कहती है :—

पर कारज देह को धारे फिरौ,
परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ;
निधि नीर सुधा के समान करौ,
मत्र ही विधि सज्जनता सरसौ;
घनग्रानँद ग्रानँददायक हौ,
कबौ मेरियौ पीर हिये परसौ;
कबहूँ वा बिसासी सुजान के ग्राँगन,
मो अँसुवान को लै बरसौ।

कालिदास के मेघदूत में भी मेघ के प्रति ऐसी उक्ति स्मरण नहीं आती। 'सन्तप्तानां त्वमसि शरणम्' की तुलना इससे कैसे करूं? यद्यपि कालिदास के साथ घनानन्द की भी क्या तुलना?

अपने पूर्वजों का धन सभी पाते हैं। परन्तु जो सपूत होते हैं वे उसकी और भी वृद्धि करते हैं। बिहारी ने अपनी एक अन्योक्ति में ऐसा ही किया है। एक प्राचीन गाथा में उस कुत्ते की भर्त्सना की गई है जो दूसरे के अधीन हो कर मृगों को पकड़ता फिरता है। यही बात बिहारी ने इस प्रकार कही है :

स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा देखु विहंग विचारि।
बाज पराये पानि परि तू पंछीहि न मारि॥

संस्कृत के समान हिन्दी के भी अनेक कवियों ने अन्योक्तियाँ लिखी हैं।

दीनदयाल कवि ने अन्योक्तियों पर एक पूरी पुस्तक ही लिख डाली है। बहुत दिन हुये तब मैंने उसे पढ़ा था :—

बरनै दीनदयालु हमें लखि होत अचम्भा।
एक जन्म के काज कहा झुकि झूमत रम्भा॥

कदली एक ही बार फल देती है फिर काट दी जाती है। इसी से कवि ने एक जन्म की चेतावनी दी है।

अनीस कवि की अन्योक्ति भी मुझे बहुत अच्छी लगती है :—

सुनिए विटप प्रभु पुहुप तिहारे हम,
राखि हौ हमें तो छवि रावरी बढ़ावेंगे;
तजि हौ कदाचित् तो बिलग न मानें कछू,
जहाँ-जहाँ जैहैं तहाँ दूनों जस छावेंगे;
सुरन चढ़ेंगे नर सिरन चढ़ेंगे सदा,
सुकवि अनीस हाट बाटनि बिकावेंगे;
देस में रहेंगे परदेस में रहेंगे काहू,
भेस में रहेंगे तऊ रावरे कहावेंगे।

इस अन्योक्ति का प्रयोग द्विवेदी जी ने एक बार बड़ी विदग्धता से किया था।

राय देवीप्रसाद पूर्ण की भी दो करुणा-भरी पंक्तियाँ सुनने योग्य हैं :

तारापति पेखन की चरचा चलाई कहा,
करत न तारा इहाँ एकहू प्रकास है।
पावस की ऋतु है अमावस की राति तापै,
दुखिया चकोर काहे ताकत अकास है।

बोलचाल की भाषा की कविता में अन्योक्तियों का क्रम टूट-सा गया है। जान पड़ता है अब अन्य का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं रह गई है। परन्तु खड़ी बोली को चले अभी दिन ही कितने हुए हैं?

अब से पचास वर्ष पूर्व मैंने प्रायः अन्योक्तियों से ही अपने पद्यमय जीवन का आरम्भ किया था। उन दिनों हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं की संख्या थोड़ी ही थी और लेखक भी बहुत न थे। इस कारण मेरी अन्योक्तियाँ भी छप जाती थीं। बुन्देलखंड का एक लोकगीत लेंद कहलाता है। कभी-कभी मैंने भी इस का प्रयोग किया है। इस में कही गई एक अन्योक्ति इस प्रकार है :

चपक जा उनके मुँह लग मान तू,
जो चिन्तन से थक जायें।
धधकता भभका मुझ को जान तू,
तुझ जैसे सौ छक जायें।

आगे चल कर वे दो तीन बार छपीं। उन में से एक इस प्रकार है :

हिम की ऋतु में हिम खंड बनें।
तप में तनुदाहक दंड बनें।

कुछ भी सुविचार किया न, अरे,
तुम आखिर पत्थर ही ठहरे।

अभी इसे कहते कहते एक उक्ति और सूझ गई है और दोहा बन गया है :—

समदर्शी है पवन तू, या अविवेकी अन्ध,
जो सुगन्ध की भाँति ही लेता है दुर्गन्ध।

यह मेरी सब से नई रचना हुई और इस के लिए मैं आकाशवाणी का आभार मानता हूँ।

एक बार विपत्ति में पड़ कर भी मैंने एक अन्योक्ति लिखी थी। मैं खुली बैलगाड़ी पर बैठा कहीं जा रहा था। गाँव दूर था और वन ही वन दिखाई पड़ता था। सहसा एक ओर से घटा उठी और देखते-देखते चारों ओर छा गई। गुड्डुम-गुड्डुम के साथ गोलियाँ सी बरसने लगीं। शीत, चीता और ओले पड़ने का भय था। इधर-उधर कोई ठिकाना न देख कर हम लोग घबराये।

ऐसे में राम नाम जपना चाहिये था। मैं छन्दोरचना करने लगा :

तड़क भड़क और कड़क मिटेगी सब,
गर्व और गौरव सभी ये गुड़ जायेंगे;
गाज न गिराओ, ओ घमंडी घनो, मानो कहा,
काले मुँह आप ही तुम्हारे मुड़ जायेंगे;
मातृमूर्ति मेदिनी को सीधे जलदान करो,
झोंके झूम झंझा के जहाँ वे जुड़ जायेंगे;
पत्ते उड़ जायेंगे तुम्हारे घटाडम्बर के,
जान रक्खो अम्बर के लत्ते उड़ जायेंगे।

प्रभु की कृपा से हम लोग बच गये। कुछ बूँदें ही गिर कर रह गईं।

अन्त में एक और घटना या दुर्घटना जो मुझ पर घटी थी, सुना कर समाप्त करूँगा। प्रारम्भिक दिनों की ही बात है। मैंने एक अन्योक्ति लिखी। अब वह भूल गई अथवा भुला दी गई है। केवल चौथा चरण ही कारणवश स्मरण रह गया है। आशय यह था....कमल के तुम्हारे जैसे मित्र अर्थात् सूर्य विद्यमान हैं :

हा हा उसे तदपि तुच्छ तुषार दाहै।

यह पद्य लिखकर मुझे हर्ष ही हुआ था। दो चार दिन पीछे मेरे बाल्यबन्धु स्व० मुंशी अजमेरी कई महीनों का पर्यटन करके घर लौटे। मैंने ललक कर वह पद्य उन्हें सुनाया। उन्होंने कहा, "पद्य तो ठीक है परन्तु इसी यात्रा में मैंने जो छन्द सुने हैं उनमें से एक इसी आशय का है। इतना ही नहीं, तुम्हारा तुच्छ तुषार भी उसमें वैसा का वैसा पहले से ही आ चुका है।"

यह कह कर उन्होंने एक सवैया पढ़ा। जहाँ मेरे पद्य में केवल सूर्य ही था वहाँ इसमें कमल के और भी अनेक समर्थ आत्मीय गिनाये गये थे। चौथे चरण का तो कहना ही क्या, उत्तरार्द्ध ही मुझे स्मरण रह गया है,

तुच्छ तुषार हतौ परिवार पै,
हाय सहाय भयो नहिं सोऊ;
कौन को को है विपत्ति परे पर,
सम्पत्ति में सब को सब कोऊ।

इसे सुन कर मैं सन्न रह गया, और मैंने अपना पद्य फाड़ कर फेंक दिया। उसी समय संस्कृत के एक आशुकवि मेरे यहाँ पधारे। मैंने उन्हें सारी घटना सुनाई। बोले—"भैया! कवियों ने पहले ही सरस्वती का भंडार समाप्त कर दिया है। हमारे लिये अब क्या बचा है?" उनकी यह बात तो मैं नहीं मान सका। कारण, सरस्वती का भंडार सदैव अक्षय है। तथापि मेरे जैसे परवर्त्ती पत्रकारों के आगे यह कैसी विडम्बना है!

—दिल्ली से प्रसारित



जापान का सामाजिक जीवन

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

किसी भी व्यक्ति के परिचय के लिये उस के साथ दीर्घकालीन सहवास आवश्यक है, और किसी भी देश के परिचय के लिये वहाँ दीर्घकालीन निवास।

अपना जापान में न दीर्घकालीन निवास ही रहा और न कुछ कहने सुनने लायक सामाजिक जीवन ही। तो भी दो चार बातें सुनिये।

जापान में बच्चे का नामकरण उसके पैदा होने के सातवें दिन किया जाता है। जापानियों की धारणा है कि जैसा नाम वैसा भविष्य। इसलिये आजकल विशेषज्ञ लोग बच्चों के नाम खूब अच्छे-अच्छे और खूब चुन-चुन कर रखते हैं। कभी कभी तो वे इतने दुरूह हो जाते हैं कि उनका उच्चारण और लेखन स्वयं बच्चों के लिये मुसीबत हो उठता है।

घर में बच्चा न हो तो 'गोद' ले लिया जाता है। कभी कभी घर में बच्चा रहने पर भी बच्चा गोद लिया जाता है। पिता चाहता है कि उसकी बिटिया घर में ही रहें। वह किसी बच्चे को गोद ले कर उसी से उसकी शादी कर देता है।

जीवन की परिभाषा:—आजकल लोग कुर्सी और मेज़ को सामाजिक मूर्ति मानते हैं। जापान में सामाजिक जीवन की देवी है ततभी अर्थात् चटाई। ततभी का जापानियों के घरेलू जीवन पर बड़ा ही प्रभाव है। उनके उठने-बैठने से लेकर उनके घर की सजावट तक। लोग ततभी पर बैठते हैं तो हिन्दुओं की तरह पालथी मार कर नहीं, बल्कि कुछ कुछ वैसे ही जैसे मुसलमान भाई नमाज़ पढ़ते समय। नई ततभी बड़ी मनोरम, सुन्दर और भीनी भीनी खुशबू देती है। जापानियों की कहावत भी है कि पत्नि और ततभी दोनों नई ही अच्छी लगती हैं।

जापान में बच्चे के जन्म के एक सौ बीस दिन बाद उस के मुंह में कुछ खाद्य डाला जाता है। इसे आप जापानी बच्चों का अन्नप्राशन संस्कार कह सकते हैं। जापानियों

का विश्वास है कि इस संस्कार के प्रभाव से बच्चा स्वस्थ रहेगा, मोटा ताज़ा रहेगा और उसे कभी भी भोजन का अभाव न होगा।

जापानी बच्चे जब स्कूल जाने लगते हैं तब चिल्ला चिल्ला कर कहते हैं—इत्तेयैरिमसू, अर्थात् मैं जा रहा हूँ। वापिस लौटने पर तैदम्मा पैयि, अर्थात् अभी आया हूँ।

बच्चों की बात चल रही है, लगे हाथ उनके सबसे बड़े आकर्षण की बात कह दूं। वह है कमिशीबाई। कमिशीबाई किसी स्त्री का नाम नहीं है। कमिशीबाई आया नहीं कि बच्चे अपने अपने घरों से निकल कर चौरस्ते पर इकट्ठे हुए नहीं। कमिशीबाई अपनी साइकिल पर एक लकड़ी का चौखटा लगा लेता है। उसके पास एक बक्स भी रहता है जिसमें खट्टी मीठी मिठाई रहती है। मिठाई खरीदने वाले बच्चे तमाशा देखने के समय प्रथम पंक्ति में खड़े रहने के अधिकारी होते हैं। कमिशीबाई एक के बाद दूसरी तसवीर उस चौखटे में लगाता जाता है और दूसरी ओर से निकालता जाता है। यह तसवीरें जो कहानी कहती हैं, वही कहानी वह कमिशीबाई भी सुनाता जाता है। इसे बच्चों का चलता-फिरता बोलता सिनेमा ही समझिये। बच्चों को अज़हद पसन्द। माता पिता को प्रायः उतना ही नापसन्द। कारण स्पष्ट है। कमिशीबाई के आने पर बच्चे माता पिता को पैसों के लिये जो हैरान करते हैं!

पुलिस तक इन कमिशीबाईयों पर नज़र रखती है, न जाने कब कैसी क्या कहानी सुना जायें। अद्‌भुत प्रचारक होते हैं ये। मिठाई और शिक्षण साथ साथ!

प्रत्येक जापानी घर में देव-स्थान जैसा एक स्थान रहता है जो धार्मिक न होने पर भी आइत होता है। अतिथियों में प्रधान अतिथि को सदैव इसी आइत स्थान के ठीक सामने उसी की ओर पीठ करके बैठना होता है।

दो आदमी खड़े हों तो जो दर्जे में नीचा हो, उसे बाईं ओर खड़ा होना होता ह। जापान में दाईं ओर ही सम्मान का स्थान है। जब पुरुष और स्त्री साथ-साथ बैठते हैं तो स्त्री को सदैव पति के बाईं ओर बठना होता है। घर के मालिक को आदर का पहला स्थान मिलना ही चाहिये।

उठने-बैठने की यह व्यवस्था पर्याप्त प्राचीन है। राजा हमेशा दक्षिण की ओर मुँह करके बैठता है, क्योंकि दक्षिण दिशा सम्माननीय है। अधिकांश जापानी महलों और मन्दिरों का मुँह दक्षिण दिशा सम्माननीय है।

बहुत देशों और वहाँ के लोगों के बारे में कहा जाता है कि जैसा देश वैसे लोग। लेकिन यह कहावत जापानियों पर सबसे ज़्यादा घटती है। लगता है कि वे अपने देश के लिये ही बने हैं और उनका देश भी ठीक उन्हीं के लिये। जापान में एक फ्यूजी पर्वत-को छोड़ शायद सभी चीज़ें छोटे आकार की हैं। स्वयं जापानी तो हैं ही।

विदेशी यात्री को जापान से जो चीज़ सबसे पहले खटकती है, वह है जापानियों की बौनी रुचि। रेल में सोने की जगह इतना छोटी कि कोई ज़रा भी लम्बा आदमी पैर फैलाकर न सो सके। हाथ मुँह धोने का बरतन इतने नीचे कि हर किसी को दुहरा होना ही पड़े।

जापानी घरों में मेज़, कुर्सी तो होती ही नहीं। खाने की चौकी चार इंच ऊँची। आइत स्थान में रखा हुआ बौना पेड़ नीचे से ऊपर ज़्यादा से ज़्यादा अठारह इंच ऊँचा।

घर में जिस पिछवाड़े को हम निकम्मा समझकर छोड़ देंगे उसी छोटी-सी-छोटी जगह में जापानी एक छोटा-सा बाग़ लगा लेंगे जिसमें तालाब होंगे, नदियाँ होंगी, पुल होंगे। लैम्प लगे होंगे और बौने पेड़ों का एक जंगल होगा।

आदमी को लगने लगता है कि प्रसिद्ध अँग्रेज़ी कथा 'गुलिवर्ज़ वाएज' का गुलिवर लिलिपुत में पहुँच गया।

सातवीं शताब्दी के मध्य से जापान निहोन कहलाता है. जिसका मतलब है सूर्योदय का देश। कौनसा देश सूर्योदय का देश नहीं है? जो देश हमसे कुछ पश्चिम में हैं उनके लिये भारत भी सूर्योदय का ही देश है।

हाँ तो इस सूर्योदय के देश में आदमी के लिये जो सबसे अधिक लज्जा की बात है वह है म्युसक्योनो रह जाना, जिसका मतलब होता

है, रजिस्टर्ड न होना। इस तरह का व्यक्ति न किसी स्कूल में प्रवेश पा सकता है और न उसे कोई नौकरी ही मिल सकती है।

जापान में रजिस्ट्रेशन की पद्धति अत्यन्त विकसित है। सभी जापानियों को शहर, नगर अथवा गाँव के आफ़िस में रजिस्टर्ड होना ही होता है। जब तक रजिस्ट्री न हो तब तक न किसी के जन्म का कोई कानूनी मूल्य है, न शादी का, न तलाक का, न मृत्यु का और न स्थान परिवर्तन का। यदि किसी को अदालत में कोई सज़ा मिलती है, तो वह भी रजिस्टर में दर्ज होती है।

पहले प्रत्येक सामरी अथवा सामरिक जाति का मुखिया किसी न किसी बौद्ध सम्प्रदाय में रजिस्टर्ड रहता था और प्रत्येक परिवार किसी न किसी बौद्ध मन्दिर में। जो परिवार रजिस्टर्ड रहे हैं उनके सदस्यों का यह अधिकार रहा है कि उन उन मन्दिरों के पुजारी आ कर उनका श्राद्ध करायें और उनके शव को मन्दिर की श्मशान भूमि में स्थान मिले।

रजिस्टर्ड सदस्यों से भी यह आशा रही है कि वे भी मन्दिर के खर्च में सहायक सिद्ध हों।

किसी के विवाह संस्कार से तो बौद्ध पुजारियों को प्रायः कुछ लेना देना नहीं रहा। इधर वे भी मन्दिरों में होने लगे हैं। हाँ किसी के घर में शोक हो जाय तो मृत व्यक्ति के दाहकरण के संस्कार के समय सूत्रपाठ किया जाता है।

जापान में बौद्धों का, जो जापान की जनसंख्या के ७० प्रतिशत कहे जाते हैं, अग्नि संस्कार ही होता है। उनकी भस्म का कुछ हिस्सा दाहक्रिया की जगह पर ही रहता है, लेकिन कुछ हिस्सा मन्दिर में भी लाकर रख दिया जाता है।

प्रति वर्ष १५ जुलाई को जापान भर में मृत व्यक्तियों का श्राद्ध मनाया जाता है। मृत-पूर्वजों, सम्बन्धियों, मित्रों और विशेष रूप से पहले एक वर्ष में ही जो अपने सन्बन्धियों को छोड़ कर चले गये हैं, ऐसे लोगों के लिये घरों तथा मन्दिरों में दोनों जगह सूत्रपाठ किये जाते हैं। पूर्वजों को अर्पित किये गये फल-फूल दूसरे दिन किसी समीप की नदी अथवा समुद्र की भेंट चढ़ा दिये जाते हैं।

परस्पर एक दूसरे की सहायता के लिये जापान में एक प्रथा प्रचलित है जो *म्युजिन* कहलाती है। मंडली के प्रत्येक सभासद् का कर्तव्य है कि हर महीने मंडली के सामूहिक कोष में एक निश्चित रकम डाले। यह मियाद दस महीने से तीस महीने तक की हो सकती है। जिस समय सभी सदस्य अपना अपना हिस्सा डालने के लिये एक जगह एकत्र होते हैं उसी समय पर्ची भी डाली जाती है। जिस भाग्यवान् के नाम की पर्ची निकल आती है उसी को वह सारी इकट्ठी रकम एक साथ मिल जाती है। यदि किसी को अधिक आवश्यकता हुई तो वह भाग्यवान् सदस्य को कुछ देकर उससे वह अधिकार खरीद लेता है। बारी बारी से सभी सदस्यों को बराबर रकम मिल जाने के बाद यह क्रम फिर चालू कर दिया जाता है। यह आपसी सहयोग-क्रम अनंत काल तक चालू रह सकता है।

जापानियों में आपस में भेंट का बड़ा ही रिवाज है। भेंट लेने-देने के मुआमले में शायद ही कोई उनका मुकाबला कर सकता है। शादी विवाह जैसे महत्त्वपूर्ण अवसरों पर तो सभी देशवासी प्रायः एक दूसरे को भेंट देते ही हैं, परन्तु, जापानी तो ऐसे अवसरों पर भी भेंट देते हैं, जैसे नये मकान के बनने पर, नया पता बदलने पर, नई नौकरी लगने पर! काम से तो नहीं, किन्तु यदि यूँ ही किसी के यहाँ जाना हो तो खाली हाथ जाना न होगा और उसका भी धर्म है कि खाली हाथ न लौटने दे।

अध्यापक, गुरू और वैद्य इन तीनों पर यह पाबन्दी लागू नहीं। वे बिना बदले में कुछ भी दिये कोई भी भेंट स्वीकार कर ही सकते हैं।

कुछ न कुछ भेंट देते रहना जापानियों की प्रकृति का एक अंग बन गया है। अपरिचित लोगों तक को कभी कभी काफ़ी मूल्यवान चीज़ें भेंट में दे दी जाती हैं। दाताओं का आनन्दित होना ही एकमात्र कारण समझ में

आता है। जापान जाते समय मेरे अपने पास कुल ६० पौंड सामान था। लौटा तो १५० पौंड हो गया! जापानी मित्रों की इसी प्रवृत्ति की कृपा से।

जापानियों में एक प्रथा है जो एक दृष्टि से अच्छी भी लगती है। जब कोई परिवार देखता है कि वह कर्ज़े के भार से इतना ऊब गया कि अब उसके चुका सकने की कोई आशा नहीं, अथवा परिवार के सदस्य से कोइ ऐसी ग़लती हो गई जिससे परिवार की इज़्ज़त में स्थायी रूप से बट्टा लग सकता है, तो उस परिवार के सदस्य रातों रात अपना सब सामान समेटेंगे और किसी को भी बिना कुछ पता लगने दिये किसी अज्ञात स्थान के लिये निकल पड़ेंगे। यह प्रथा योनिगे कहलाती है, जिसका अर्थ है रात्रि निष्क्रमण।

निराश प्रेम युगलों की आत्म हत्याएं अतीत की मनोरम कथाएं बन गई हैं। अब कोई हर-किरिं, पेट फाड़ कर आत्म हत्या भी नहीं करता। किसी समय ये दोनों बात भी जापानी जीवन की ख़ासियतें थीं।

एक ख़ास पारिवारिक और सामाजिक संस्था है जो कदाचित् जापान में ही है। यह ठीक ठीक भारतीय आश्रम व्यवस्था का बानप्रस्थ आश्रम भी नहीं है। कोई भी आदमी स्वेच्छा से परिवार के मुखियापन और समस्त कार्यभार से मुक्त हो जाता है। वह और उसकी भार्या दोनों *इंक्यो* कहलाते हैं।

जापानियों का सामान्य पेय है चाय, जिसमें न चीनी और न तिब्बतियों की तरह नमक ही। इसके बाद दूसरे नम्बर पर है साके, चावल की सुरा।

जापान में पीकर ग़र्क़ हो जाने में कोई बुराई नहीं मानी जाती। यहाँ तक कि यदि आप किसी ख़ास अवसर पर किसी के मेहमान हैं और पीकर ग़र्क़ नहीं होते तो मेज़बान को अच्छा नहीं लगता।

एक ओर तो जापानियों की चाय बिना चीनी के होती है। और वे विशेष मिठाई प्रिय भी नहीं होते। तो भी आश्चर्य है कि उनकी काफ़ी सब्ज़ियाँ क्यों चीनी में पगी होती हैं। प्याज़, चीनी में पगा हुआ, यह चीज़ जापान में ही खाने को मिलेगी।

जापानियों का मानस अनेक सुन्दर सुकोमल कथाओं के झीने झीने तारों से बुना हुआ है। एक लघु कथा इस प्रकार है :—

एक आदमी था, जिसके दो ही काम थे, या तो मां की सेवा करना या बाग़ के फूलों की। समय पाकर उसकी माता का देहान्त हो गया। उसका दिल भारी हो गया। वह बाग़ में घूम रहा था। उसने देखा, बाग़ के फूल, उनकी भी पंखड़ियाँ बिखर बिखर कर ज़मीन पर आ रही हैं। वह साधू हो गया....और भी एकाकी। एक रात उसकी कुटी के दरवाज़े पर टक टक हुई। दरवाज़ा खोला। एक स्त्री खड़ी थी। बड़े संकोच और भय के साथ उसने उसे अन्दर आने दिया।

बुढ़िया एक भिक्षुणी थी, सफ़ेद वस्त्र पहने। उसके बाद तरुणियाँ आईं। एक से एक बढ़ कर सुन्दर लिबास पहने।

साधक ने सभी को बौद्ध धर्म का उपदेश दिया। वे प्रभावित हुईं। उनकी आँखें सजल हो आईं। वे जाने को हुईं।

साधक ने पूछा, "अपना परिचय तो देती जाओ।"

"हम उन्ही फूलों की पंखुड़ियाँ हैं, जिन्हें तुम इतने दिन अपने बाग़ में प्रेमपूर्वक सींचते रहे।"

मैं जापान में महीना भर रहा। दो तीन चीज़ें नहीं देखीं : रोते हुए बच्चे नहीं देखे, झगड़ती हुई स्त्रियाँ नहीं देखीं, मांस मछली की दुकानों पर भी मक्खियाँ नहीं देखीं।

—दिल्ली से प्रसारित

प्राचीन भारत के गणतन्त्र

वालकृष्ण

संस्कृति के लगभग हर क्षेत्र में भारतीयों की देन इतनी महत्त्वपूर्ण है कि जिस के लिए कोई जाति औचित्यपूर्वक गर्व कर सकती है। किन्तु अबतक यह समझा जाता है कि लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं के विकास में भारतीयों का कोई योग-दान नहीं है। सम्भवतः यह विचार इसलिए फैल गया है कि उपलब्ध भारतीय इतिहास में साम्राज्य परम्परा की ही प्रमुखता दिखाई पड़ती है। किन्तु हमारे अपने और अन्य देशों के राज-नैतिक और सामाजिक जीवन पर जो छाप हमारे गणतन्त्रों की पड़ी है वह सम्भवतः हमारे साम्राज्यों की नहीं पड़ी है। हमारे साम्राज्य तो हमारे देश के कुछ प्रतिभा सम्पन्न विजेताओं की कृति थे और उनके जीवन काल के कुछ ही दिनों पश्चात् वह शून्य में विलीन हो गये। किन्तु हमारे गणतन्त्र स्वयं हमारी जातीय प्रतिभा की अभिव्यक्ति थे।

अतः यह प्रश्न होता है कि इतिहास के किस युग में ऐसे राज्य का हमारे देश में जन्म हुआ? हमारे लिखित साहित्य में सर्वप्रथम ऐतरेय ब्राह्मण में गणराज्य का ज़िक्र है। उससे प्रकट होता है कि आर्यावर्त में उत्तर, पश्चिम और दक्षिण में गणराज्य थे और केवल मध्यदेश और प्राची, राजाओं अथवा साम्राज्यों के आधीन थे। पाणिनी की अष्टाध्यायी के गणपाठ में पश्चिमोत्तर और उत्तर पूर्व के अनेक गणराज्यों के नाम मिलते हैं और इसी प्रकार महाभारत में भी अनेक गणराज्यों के नाम दिए गए हैं।

बौद्ध और जैन साहित्य में तो गणराज्यों का ज़िक्र भरा पड़ा है। यह सब संकेत ऐसे गणराज्यों के हैं जो उस युग में पूर्णतया विकसित और चरमोत्कर्ष पर थे। अतः यह निष्कर्ष स्वाभाविक ही है कि इन गणराज्यों का जन्म ऐतरेय ब्राह्मण से पर्याप्त पूर्व हुआ होगा। हो सकता है कि उन का विकास वैदिक कालीन राजाओं के आधीन राज्यों, राजाओं और उनकी सभाओं के मध्य राज्य सत्ता के लिए पैदा हुए संघर्ष से हुआ हो। यह भी हो सकता है कि वर्तमान हिन्दू संस्कृति की शैव परम्परा के समान ही गणतन्त्रात्मक प्रणाली भी सिन्धु नदी-घाटी की सभ्यता से हमारी ऐतिहासिक संस्कृति में आई हो। यह सम्भावना इसलिये और बलवती हो जाती है कि गणों का शिव से कुछ सम्बन्ध अवश्य प्रतीत होता है। आज भी शिव सहायक और पार्श्व-वर्तियों को गण की संज्ञा दी जाती है। शिव के पुत्र गणपति अथवा गणेश कहलाते हैं। शिव के दूसरे पुत्र कार्तिकेय का चित्र यौधेयों के प्रसिद्ध गणतन्त्र के सिक्कों पर मिलता है। अधिकतर गणतन्त्र हिमाचल के अंचल में थे अथवा वाहीक प्रदेश में। दो और बातों से इस विचार को समर्थन मिलता है। मोहंजोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृति व्यापार प्रधान थी। व्यापार प्रधान संस्कृति प्रमुखतया गणतान्त्रिक संस्कृति होती है। दूसरी बात यह है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की नगर रचना और गृह रचना साधारण जनों की समान सुविधा और सुख की दृष्टि से की हुई प्रतीत होती है। किन्तु निरंकुशशाही में साधारण जनों की सुविधा का विशिष्ट ध्यान रखा जाता ही नहीं। उस पर तो गणतन्त्र ही विशेष बल देते हैं। जो हो इतना तो स्पष्ट है ही कि हमारे देश में गणतान्त्रिक प्रणाली ईसा पूर्व १००० शती से भी अधिक पुरानी है। प्राचीनकाल में कुछ इनेगिने देश ही थे जिनमें गणतान्त्रिक प्रणाली वर्तमान थी। यूनान, रोम, कर्थिज के

नाम इस सम्बन्ध में विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इनमें से किसी देश में भी ईसा पूर्व सातवीं आठवीं शती से पहिले गणतन्त्रों के विकास का तो प्रश्न ही क्या, जन्म तक न हुआ था। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इनमें से किसी देश में गणतान्त्रिक प्रणाली अधिक स्थायी सिद्ध न हुई। भारत में गणतन्त्र प्रणाली ईसा पश्चात् पांचवीं शती तक बनी रही। निश्चय ही भारतीय गणतन्त्र प्रणाली में कुछ ऐसी विशेषता थी जिससे वह इतनी शताब्दियों तक बनी रही। महा परिनिव्वाण सुत्त में यह कथा है कि सम्राट् अजातशत्रु ने वज्जी गणतन्त्र के विनाश करने के विचार से अपने मन्त्री वर्षकार को भगवान् बुद्ध के पास उनकी सम्मति जानने के लिये भेजा। भगवान् बुद्ध ने उत्तर दिया कि जब तक वज्जी अपने संविधान के प्रति भक्तिभाव रखेंगे तब तक उनको जीता नहीं जा सकता। महाभारतकार का भी यही मत है कि गणराज्यों में जो निहित गुण हैं उनके कारण वे अत्यन्त शक्तिशाली और समृद्ध होते हैं।

इन गणराज्यों के सांविधानिक संगठन के बारे में जो कुछ संकेत मिलते हैं उनसे ज्ञात होता है कि राज्य की नीति निर्धारित करने के लिये और महत्वपूर्ण राज्य निश्चयों के लिये इन के समस्त नागरिकों की एक सभा थी, जिस में वे सब भाग ले सकते थे।

इस सभा की बैठक के लिये एक विशेष संथागार होता था। इस की बैठक बुलाने के लिये नगर में घड़ियाल बजाया जाता था और उसकी ध्वनि सुनते ही नागरिक उस में एकत्रित हो जाते थे।

सभा का एक अध्यक्ष होता था जिसे सभापति कहते थे। सभापति के अतिरिक्त कुछ अन्य राजनैतिक अधिकारी भी होते थे जिन्हें सम्भवतः मन्त्रधर कहा जाता था। इन अधिकारियों की सेवा की शर्तें क्या थीं, वैतनिक अथवा अवैतनिक, निर्वाचित अथवा अनिर्वाचित निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

मन्त्रधरों को सभा में बैठने, उसकी कार्यवाही में भाग लेने और उस के सामने प्रस्ताव रखने तथा उसका दिग्दर्शन करने का अधिकार प्राप्त था। साथ ही समस्त सभा का कार्य दो प्रकार का होता था। राज्य के सामने जो समस्याएं आती थीं उन के सम्बन्ध में क्या किया जाए, इस को तय करना, और दूसरा न्याय करना। इन सभाओं को यह अधिकार प्राप्त न था कि वह सामूहिक जीवन संबन्धी किसी प्रकार का महत्वपूर्ण कानून बनायें। जहाँ तक ऐसे कानून का प्रश्न था वह सब तो संहिताओं या स्मृतियों में दिया हुआ था। और उस के अनुकूल सब मामलों को तय करना होता था। बौद्ध संघ की कार्यप्रणाली से प्रकट है कि संथागार में सदस्यों के बैठने के लिये अलग अलग आसन होते थे। ज्येष्ठता के क्रम से उन आसनों पर सदस्य बैठते थे। प्रत्येक सदस्य को उचित आसन बताने और उन पर बैठाने वाला एक विशेष अधिकारी होता था जिसे आसन प्रज्ञापक कहते थे।

सभा की कार्यवाही प्रारम्भ करने के लिए यह आवश्यक था कि सभा समग्र हो अर्थात् वहाँ सदस्य विहित, न्यूनतम संख्या में उपस्थित हों। अन्यथा उसे व्यग्र मान कर उस की कार्यवाही अवैध ठहराई जाती थी। किसी बात के निश्चय करने के लिये सभा में प्रस्ताव रखा जाता था जिसे प्रज्ञप्ति कहते थे। विहित रीति से इस प्रज्ञप्ति को सभा के समक्ष रखना आवश्यक था। इसे पेश करने को स्थापनम् कहते थे। तत्पश्चात् अनुस्सावनम् होता था, अर्थात् यह इस प्रकार सुनाई जाती थी कि सब लोग सुन लें। जिस प्रज्ञप्ति के सम्बन्ध में कोई मतभेद न होता था वह तो एक बार के ही रखे जाने के पश्चात् स्वीकृत हो जाती थी, किन्तु जिन प्रज्ञप्तियों के सम्बन्ध में मतभेद होता था उन को तीन बार सभा में रखा जाता था। इन विभिन्न वचनों को प्रज्ञप्ति द्वितीय, प्रज्ञप्ति,

चतुर्थ कहा जाता था। जब विहित बार रखे जाने के पश्चात् प्रज्ञाप्ति सभा द्वारा स्वीकृत हो जाती थी तो उसे सभाकर्म कहते थे। प्रज्ञाप्ति के अधिकृत पाठ को कर्म वाचा कहा जाता था। सदस्य अपना मत शलाकाओं द्वारा व्यक्त करते थे। यह शलाकायें लकड़ी की और विभिन्न रंगों की होती थीं। सदस्यों के मताधिकार को छन्द कहते थे और प्रत्येक सदस्य को अधिकार होता था कि वह किसी पक्ष में भी मत दें।

सभापति सदस्यों से कहता था कि यदि वे प्रज्ञाप्ति से सहमत हों तो न बोलें और असहमत हों तो बोलें। यदि सदस्यों में से कुछ बोलते थे तो पहले तो प्रस्तुत विषय पर उनके विचार सुने जाते थे और तत्पश्चात् छन्द लेने के लिए शलाकाओं का वितरण किया जाता था। शलाकाओं को पुनः इकट्ठा करने के लिए और प्रत्येक पक्ष में डाले गये शलाकाओं की गिनती करने के लिए एक राजकर्मचारी होता था जिसे शलाकाग्राहक कहते थे। शलाकाग्राहक वही व्यक्ति निर्वाचित होता था जो अपनी निष्पक्षता और द्वेषहीनता, सद्बुद्धि निर्भयता और शलाका गणना के लिए प्रख्यात होता था। सब निश्चय बहुतर मत अथवा पद् भूपासिका क्रिया के नियम के अनुसार होते थे अर्थात् जिस कर्म के लिए सदस्यों की अधिक संख्या के मत पड़ते थे वही सभा द्वारा स्वीकृत माना जाता था। सभा में विवाद के लिये भी नियम थे और कोई सदस्य अनर्गल बातें न कर सकता था। कभी-कभी खुली सभाओं में वाद विवाद के समाप्त न होने पर प्रस्तुत प्रश्न के निबटारे के लिए सदस्यों की एक छोटी सी समिति इस हेतु बनादी जाती थी कि वह विचार करके किसी सर्व सम्मत निश्चय तक पहुँचने में सभा की सहायता करें।

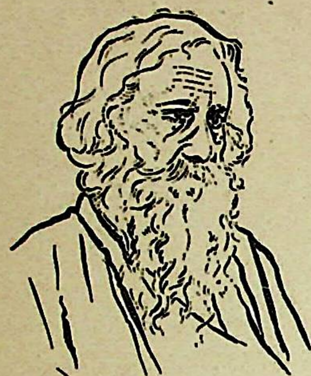
प्रश्न होता है कि जब यह गण राज्य इतने सबल और शक्तिशाली थे, तो भारतीय इतिहास के रंग मंच से यह लुप्त क्यों हो गये? इसके कई कारण हैं। यह गणतन्त्र एक सीमित राज्य क्षेत्र में ही सफलता से कार्य कर सकते थे। यद्यपि गणतन्त्रों ने मिलकर अपनी रक्षा के लिए संघ भी बनाये थे किन्तु उन दिनों के यातायात साधनों की कमज़ोरी के कारण यह संघ अधिक दिनों तक जीवित न रह सके थे। क्योंकि विस्तृत राज्यक्षेत्र में दूरी के कारण गणराज्यों के नागरिक इनकी सभा में एकत्रित न हो सकते थे।

दूसरी बात यह थी कि गणतन्त्रों की आय और अन्य साधन इतने न होते थे कि वे शताब्दियों तक आक्रान्ताओं का मुक़ाबला करते रहते। अधिकतर भारतीय गणतन्त्र भारत की उत्तर-पश्चिमी और उत्तरी सीमाओं पर थे। इन्हें निरन्तर विदेशी आक्रान्ताओं का सामना करना पड़ा। अतः शताब्दियों तक संघर्ष के कारण वे दुर्बल हो गये, अनेकों को अपनी भूमि छोड़कर कम उपजाऊ प्रदेशों में शरण लेनी पड़ी और इस प्रकार वे शनैः शनैः निस्तेज हो गये। कुछ सीमा तक अपने आन्तरिक विद्वेषों और वर्गद्वन्दों के कारण भी वे दुर्बल हो गये।

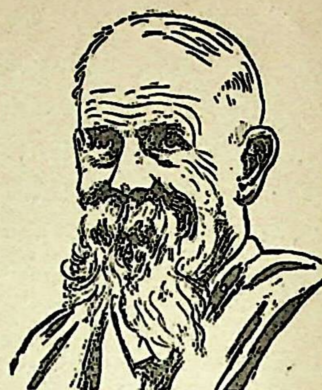
किन्तु भारतीय रंगमंच से ओझल हो जाने पर भी उनकी राजनैतिक छाप हमारे समाज पर बनी रही है। अंग्रेज़ों के राज्य से पूर्व हमारी ग्राम्य व्यवस्था बहुत कुछ गण-तांत्रिक प्रणाली के आधार पर ही चलती थी।

—दिल्ली से प्रसारित





दीनबन्धू एंड्रूज़ के संस्मरण



बनारसीदास चतुर्वेदी

पन्द्रह जुलाई सन् १९२१ के पत्र में कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने दीनबन्धु सी० एफ० एंड्रूज़ को लिखा था—

"As a letter-writer, you are incomparable! Your letters come down like showers of rain upon the thirsty land. Writing letters is as easy to you as it is easy for our Sal Avenue to put forth its leaves in the beginning of the spring month."

अर्थात्—पत्र लेखक की हैसियत से आप अनुपम हैं। आपके पत्रों की धारा उसी प्रकार आती है जैसे प्यासी भूमि पर वर्षा की धाराएँ, और आपके लिये पत्र लिखना उतना ही आसान है जितना वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में हमारी शाल कुंज के लिये नवीन पत्र धारण करना।

लगभग पच्चीस वर्ष तक दीनबन्धु एंड्रूज़ से पत्र-व्यवहार करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि वे पत्र लेखन कला में अनुपम थे। भाषा सौन्दर्य की दृष्टि से उनके पत्र भले ही गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और माननीय श्रीनिवास शास्त्री के पत्रों से घटकर हों, पर स्वाभाविक सहृदयता तथा निश्छल प्रेम में वे उनसे बाज़ी मार ले जाते थे।

महात्मा गाँधी प्रायः मज़ाक में कहा करते थे, एंड्रूज़ तो तार के द्वारा प्रेम भेजता है। मुझे भी इस प्रकार के कई तार मिले थे। एक बार मेरे जीवन में कुछ निराशा आ गई थी और परिणामस्वरूप लेखों में कुछ कटुता। उन्होंने मुझे लिखा था—

तुम्हारे लिये मेरा परामर्श यही है कि तुम मुख्यतया साहित्य-सेवा में ही संलग्न रहो और व्यक्तिगत तौर पर प्रवासी भारतीयों के लिये जो कुछ बन सके करो, संस्था अथवा कांग्रेस की चिन्ता न करो, उसमें तो तुम्हारी अमूल्य शक्ति का अपव्यय ही होगा........मैं कांग्रेस पर या किसी दूसरे पर आक्षेप नहीं करूँगा, बल्कि शान्तिपूर्वक यथासंभव सेवा करने की सलाह तुम्हें देता हूँ, ज्यों-ज्यों मेरी उम्र बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों दूसरों पर आक्षेप करने की प्रवृत्ति कम होती जाती है और रचनात्मक कार्य करने तथा सहानुभूति तथा प्रेम प्रदान करने की इच्छा बढ़ती जाती है।

दीनबन्धु एंड्रूज के सर्वोत्तम पत्र तो वे हैं जो उन्होंने भारत में आने पर अपने माता-पिता को लिखे थे, प्रति पक्ष में विलायती डाक से वे एक चिट्ठी अपनी पूज्य माताजी को भेजा करते थे और इसमें वे कभी नाग़ा नहीं करते थे। एक बार ऐसा हुआ कि ब्रिटिश सरकार की ख़ुफ़िया पुलिस ने उनके पत्रों को बीच में ही रोकना शुरू कर दिया, इससे वे अत्यन्त उद्विग्न हो उठे थे।

दीनबन्धु एंड्रूज़ का कार्य आसान नहीं था, बहुत वर्षों तक अनेक भारतीय उन्हे अँग्रेज़ों को ख़ुफ़िया पुलिस का आदमी समझते रहे, यहाँ तक कि प्रारम्भ में स्वयं शान्तिनिकेतन के कितने ही निवासी उन्हें शक की निगाह से देखते थे। इधर तो भारतीयों के वे आशंका पात्र थे और उधर अँग्रेज़ों के घृणा पात्र।

१२ जनवरी सन् १९३० के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था—

"It is Difficult indeed to be a peace

maker ! But we were never told that 'it would be easy'."

अर्थात् पारस्परिक मेल कराने का काम दर असल बहुत मुश्किल है। पर यह कहा किसने था कि यह काम आसान होगा।

एक पत्र में मि० एंड्रूज़ ने मुझे लिखा था—

"At Kanchanpara I was attacked in a very violent speech by a *Swami* who said in Hindi :'You are one of those English Sahebs, who live in luxury and fill their stomachs out of the sufferings of the poor of India !" Is that not amusing description of me ?"

अर्थात्—'कंचनपाड़ा की एक मीटिंग में एक स्वामीजी ने मुझ पर घोर आक्षेप किया। उन्होंने हिन्दी में मेरे बारे में कहा: आप जनाब, उन अँग्रेज़ साहबों में से हैं जो भोग-विलास की ज़िन्दगी बिताते है और ग़रीब हिन्दुस्तानियों का पेट काटकर अपना पेट भरते हैं। क्या यह मेरे चरित्र का हास्योत्पादक वर्णन नहीं है ?

पर इस प्रकार के आक्षेपों से कभी-कभी दीनबन्धु एंड्रूज़ को मर्मान्तक चोट पहुँचती थी। एक बार पूर्व अफ्रीका के एक भारतीय पत्र ने, जिसके सम्पादक भारतीय ही थे, दीनबन्धु एंड्रूज़ के बारे में लिखा था—

"We have another kind of enemy, the insidious, bowing, cringing, *khaddar*-wearing, barefooted, white *sadhus*, who take our side to help us lose the game."

अर्थात—हमारे एक अन्य प्रकार के भी दुश्मन हैं। हमारे यहाँ ऐसे गोरे साधु आते हैं, जो खूब विनम्र बनते हैं। लल्लो-चप्पो की बातें बनाते हैं, खद्दर पहनते हैं, नंगे पाँव रहते हैं, पर जो दरअसल विश्वासघातक हैं। ये लोग हमारे पक्ष में शामिल होकर हमारी हार कराने में मदद देते हैं।

इस आक्षेप से तो दीनबन्धु एंड्रूज़ तिलमिला गये, और उन्होंने श्री राजगोपालाचारी को लिखा था—

"The attack makes me at once wish to retire into obscurity and find shelter with my God, who knows how false such things are. I cannot be the same as before after such a thing has happened."

अर्थात्—अपने ऊपर किये गए इस आक्रमण से मेरे मन में तुरन्त ही यह इच्छा होती है कि मैं एकान्त में अपने ईश्वर की शरण ग्रहण करूं जो कि जानता है कि मेरे ऊपर किये गये ये आक्षेप कितने असत्य हैं। इस प्रकार की घटना के बाद मेरी मनोवृत्ति वैसी नहीं रह सकती, जैसी कि पहिले थी।

भारतीयों की ओर से ही नहीं, उनके देशवासी अंग्रेज़ों की ओर से भी उन पर घोर आक्रमण होते थे। पर वे धीरे-धीरे शान्त हो जाते थे, और अपने दार्शनिक दृष्टिकोण से अपने को स्वयं ही समझा लेते थे। अपने एक पत्र में मुझे उन्होंने लिखा था:

"But I am by no means in despair. For the history of all subject and depressed people is the same. It makes a vicious circle out of which it is impossible to get except by a sacrifice, which means the sacrifice of our all. We must go on and on until we win and we must not get angry with any one but love them all the more because they are weak."

अर्थात—लेकिन मैं हर्गिज़ निराश नहीं हूँ, क्योंकि तमाम पराधीन और पददलित जातियों के इतिहास में समानता है, उस से हम एक कुचक्र में फंस जाते हैं, जिसमें से निकलना असंभव है जब तक कि बलिदान न किया जाय, अपने सर्वस्व का बलिदान। हमें निरन्तर आगे ही बढ़ते रहना चाहिये, जब तक कि हमें विजय प्राप्त न हो जाय, और हमें किसी से भी नाराज़ न होना चाहिये, बल्कि सब से प्रेम करना चाहिये, इसलिये और भी ज़्यादा कि वे निर्बल हैं।

दीनबन्धु एंड्रूज़ का समस्त शरीर प्रेम के परमाणुओं से बना हुआ था। महात्मा

गाँधी तो कहा करते थे, एंड्रूज़ तो पुरुष के वेष में स्त्री हैं।

दीनबन्धु एंड्रूज़ के जीवन में निरन्तर अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता था। वे बड़े विद्वान् थे, उन की साहित्यिक रुचि खूब विकसित थी, और वे कविता मर्मज्ञ ही नहीं स्वयं अच्छे कवि भी थे। उनकी सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति यही रहती थी कि कहीं एकान्तवास करके अच्छे ग्रन्थों की रचना करें। अपने अत्यन्त व्यस्त जीवन में से किसी प्रकार समय निकाल कर उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे भी थे, पर परिस्थितियों के कारण उन्हें बार-बार राजनैतिक कार्यों में उलझ जाना पड़ता था। अपने ६ नवम्बर १९२२ के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था:

"मुझे यह जान कर बहुत खुशी हुई कि तुम राजनैतिक संघर्ष में शामिल नहीं हो रहे। तुम, मैं और तोताराम सनाढ्य राजनैतिक क्षेत्र के लिये उपयुक्त हैं ही नहीं, निश्चय-पूर्वक बार-बार हम दोनों को यह सबक सीखना पड़ा है, कि हम लोगों का कर्तव्य केवल ग़रीबों की सेवा करना ही है।"

दीनबन्धु एंड्रूज़ संस्थाओं में विश्वास नहीं रखते थे, उन्होंने कई बार मुझे कहा था कि संस्थाओं के चक्कर में न पड़ो। उनका विश्वास व्यक्तिगत ढंग पर किये गये कार्यों पर था। ६ अक्टूबर, सन् १९२६ के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था—

"If you have learnt anything from me, it is this that each individual counts and we each of us can do an immense amount of good by quietly carrying on our individual work. But when we have an office and staff, etc., on this work, the personal work suffers."

अर्थात्—यदि तुमने मुझ से कुछ भी सबक सीखा हो तो वह यही है कि प्रत्येक व्यक्ति का महत्व है, और हममें से प्रत्येक अत्यन्त हित कर सकता है, यदि वह शान्तिपूर्वक व्यक्तिगत तौर पर अपना कार्य करता रहे। लेकिन जब हम एक आफ़िस बनाते हैं, और उस के संचालनार्थ कार्यकर्ता इत्यादि रखते हैं तो निजी तौर पर किये गये कार्य को हानि ही पहुँचती है।

दीनबन्धु एंड्रूज़ के कम से कम छै सौ मूलपत्र मेरे संग्रहालय में हैं। उन का अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद है। उनमें उनके कोमल हृदय का प्रतिबिम्ब भली-भाँति प्रदर्शित हो जाता है। भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में दीनबन्धु एंड्रूज़ के पत्रों का कुछ महत्व अवश्य है, क्योंकि उन का जीवन हमारे देश के दो महापुरुषों, महात्मा गाँधी तथा कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कार्यों से सम्बद्ध था, लेकिन दीनबन्धु एंड्रूज़ के जीवन की यह खूबी थी कि उन की निगाह में छोटे से छोटे व्यक्ति का महत्व था, और इस दृष्टि से भी उन के पत्र महत्वपूर्ण हैं।

—दिल्ली से प्रसारित

मृतास्त एवात्र यशो न येषां
अन्धास्त एव श्रुति-वर्जिता ये।
ये दानशीला न नपुंसकास्ते
ये कर्म-शीला न त एव शोच्याः॥

जिन्होंने यश पाने का कोई काम नहीं किया, वे मरे हुए हैं। जिन्होंने विद्या प्राप्त नहीं की, उनके नेत्र बन्द रहते हैं। जो किसी को कुछ नहीं देते, वे नपुंसक है और जो कर्म शील नहीं हैं, उनकी दशा विचारणीय है।

महात्मा विदुर

ग्राम जीवन में उल्लास

रामनरेश त्रिपाठी

गाँव वालों ने अपने जीवन में उल्लास या ख़ुशियां कितनी भर रक्खी हैं, आज मैं इसी विषय में बोलने जा रहा हूँ। शहर वाला बे-मतलब कभी नहीं हंसता। वह ख़ुशी के हर एक काम को सभ्यता नाम के बंधन में बंधा रह कर करता है। पर गांव वाले के लिये कोई बंधन नहीं। वह हंसने की बात पर खुल कर हंसता है और हर एक हौसले के मौक़े पर अपना पूरा हृदय खोल देता है। वह जीवन के उल्लास या ख़ुशी को स्वतंत्र रूप से मनाता है, उसमें घरेलू झगड़ों के दुःख, ग़रीबी की चिन्ता या कपड़ों के मैलेपन की छाया पड़ने नहीं देता। पर शहर वालों के उल्लास में आस-पास की बहुत-सी बातों का असर पड़ा हुआ रहता है। और प्रायः वे अपनी ख़ुशियों में ऐसे ही चुने हुए लोगों को शामिल करते हैं जो उन्हीं की सी रहन-सहन और हैसियत के होते हैं। पर गाँव वालों की ज़्यादातर ख़ुशियां सार्वजनिक होती हैं, उनमें ग़रीब-अमीर, छोटे-बड़े और ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं होता। जीवन के उल्लास में सब अपनी इच्छा भर भाग लेते हैं।

पर उल्लास को प्रकट करने के लिये हंसने के सिवा क्या और भी कोई साधन उनके पास है? हाँ, है। उन्होंने अपनी रोज़मर्रा की बोल-चाल में, जाने-पहचाने हुए शब्दों में, मन को हुलसाने वाले रागों में, ख़ुशी के हर एक मौके के लिये गीत बना रक्खे हैं, कहावतें और पहेलियां बना रक्खी हैं; वे न सूरदास के मुहताज हैं, न तुलसी दास के। उनके बाजे भी मामूली चमड़े, लकड़ी, लौकी और तार के बने होते हैं, जिनमें उनको बहुत ही कम ख़र्च करना पड़ता है। शहर वालों के पास सिर्फ़ ग़ज़लें एक नई चीज़ है, बाकी तो संगीत का सारा धन गांव वालों ही का है, जिससे वे भी अपने मन के हौसले निकालते हैं। गाँव के हर एक पेशे वाले ने अपने गीत और बाजे और उनके राग और ताल अलग कर रक्खे हैं, जिनसे वे दूर से ही पहचाने जा सकते हैं।

ग्राम-जीवन के कुछ ऐसे उल्लास हैं जो हर एक घर के अलग-अलग होते हुए भी सब में एक से हैं, और सभी एक साथ मिलकर उसका आनन्द लेते हैं। जैसे सब से पहला उल्लास पुत्र-जन्म का है, जिसमें बारह दिनों तक लगातार सोहर गाया जाता है, और मुहल्ले की सब स्त्रियां मिलकर गाती हैं। छठे दिन छोटा उत्सव, जिसे छट्ठी कहते हैं, और बारहवें दिन बड़ा उत्सव, जिसे बरही कहते हैं, किया जाता है। इसी प्रकार मुंडन, कर्ण-छेदन, जनेऊ, विवाह और बेटी की विदा आदि भी एक घर के कहे जाकर प्रायः सार्वजनिक होते हैं। ऋतुओं के उल्लास भी सार्वजनिक होते हैं, जैसे कजली, दशहरा, दीवाली और होली आदि। गांवों में देवी, देवता, मठ और सती के चौरे के नाम पर मेले भी काफ़ी तादाद में लगा करते हैं जिसके गीत भी अलग-अलग होते हैं। रामलीला तो करीब-करीब हर एक गाँव वाले को देखने को मिल ही जाती है, जिसमें तुलसीदास जी का रामायण ढोलक और मज़ीरे के साथ बीसों प्रकार के स्वरों में ज़ोर-ज़ोर से गाया जाता है और बहुत-से आदमी मिल कर गाते हैं।

सब से विलक्षण बात यह है कि वे अपने जीवन के उल्लासों में संसार के पशु-पक्षी, लता-पेड़, यहाँ तक कि पृथ्वी और नदी में भी अपनी ही जैसी आत्मा का अनुभव करते हैं, और अपनी ही बोली में उनसे संवाद भी करते-

कराते हैं। यह एकात्मता कवियों की कविता में नहीं पाई जाती। जैसे, एक बांझ स्त्री जी बहलाने के लिये बढ़ई से काठ का एक बालक गढ़वाकर उसे आंगन में रखकर कहती है :—

बाबुल मोरे अंगने रोइ सुनावउ में बांझिनि कहावउं।

इस पर काठ का बालक बोलता है :

देव गढ़ल जौ मैं होतउं त रोइ सुनउतेउं।
रानी बढ़ई क गढ़ल होरिलवा रोवन नहिं जानइ।।

एक बांझ स्त्री धरती से कहती है :

धरती तुमही सरन अब देहु बंझिनि नाम छुटइहो।

इस पर धरती जवाब देती है :

तोहंका जो हम राखि लेई हमहुं होव ऊसर हो।

एक स्त्री अपने रूठे हुए पति को मनाने के लिए श्यामा चिड़िया को कहती है :

अरे अरे श्यामा चिरइया झरोखवै पति बोलहु।
मोरी चिरई, अरी मोरी चिरई, सिरकी भितर।
बनिजरवा जगाइ लइ आवउ, मनाइ लइ लावहु।

इस पर श्यामा चिड़िया पूछती है :

कवने बरन उनकै सिरकी कवन रंग बरदी।
बहिनी, कवने बरन बनिजरवा जगाइ लइ आई मनाई लइआई।

एक स्त्री अपने आंगन में लगे हुए चंदन के पेड़ पर बैठे हुए कौवे से पूछती है :

की कागा नैहरे से आवा कि हरिजी पठावा।
कागा कौन संदेशा तुम लायो त बोलिया सुहावन।।

इस पर कौवा जवाब देता है :

नाहीं हम नैहरे आवा न हरिजी पठावा।
आजु के नवयें महीना होरिल तोरे होइ हैं।।

रानी रुक्मिणी का मोतियों का हार टूटकर जमना के जल में गिर पड़ा था। रानी ने चकई से कहा, "बहन! ज़रा मेरे मोती निकाल दे।" चकई खुद अपने चकवे की खोज में थी। उसने झुंझला कर कहा :

अगिया लगावों तोर हरवा बजर परै मोतिन हो।
बहिनी संझवै से चकवा हैरान ढूंढ़त नहिं पावउं

एक बहू कोयल को बुलाकर न्योता देने भेजती है :

अरी अरी कारी कोइलिया आंगन मोरे आवहु।
आज मोरे पहिला बिआइ नेवत दइ आवहु।

एक नव-विवाहिता बहू सोहाग-रात में सूर्य, चन्द्रमा और मुर्गे को कुछ कह रही है :

आजु सुहाग के राति चंदा तुम उइहो सुरुज मति उइहो।
मोर हिरदा बिरस जनि किहेउ मुरुग मति बोलेउ
मोर छतिया बिहरि जनि जाइ तु यह जिनि फाटेउ।।
आजु करहु बड़ि राति चंदा तुम उइहौ।
धिरे धीरे चहि मोरा सुरुज बिलम करि अइहो।

मोरा सुरुज में कितनी प्रेम-वेदना भरी है। इसे कोई सोहाग-रात वाली ही बता सकती है।

उल्लास को जीवन के दुःखों से ऐसा अलग रक्खा गया है कि जिन स्त्रियों ने सास की झिड़की और पति की डांट फटकार या ननद की चुगली से खिन्न होकर कुछ खाया-पिया नहीं, पेट खाली और मुंह सूखा हुआ है, वे भी बड़े उमंग के साथ गा रही हैं। जिन पुरुषों को कल रात में आधा पेट खाना मिला था, और आज का ठिकाना नहीं है वे भी जी खोलकर गा रहे हैं, और नाचने वाले नाच रहे हैं। ऐसा स्वाभाविक उत्साह शहर में देखने को शायद ही मिले।

अब पुत्र जन्म का एक गीत सुनिये। बहू जब पहली बार माता बनती है, और पुत्र के लिये उसके हृदय में जो प्रेम पैदा होता है, उससे उसका परिचय होता है जिसमें वह अपनापन खो देती है, तब उसकी क्या दशा होती है, गीत में उसी का चित्र खींचा गया है :

कमर में सोहै करधनिया पांव पैंजनिया हो,
ललन दूरि खेलन जनि जाओ ढुंढन हम न अउबै।।
सात बिरन की बहिनिया बाप धिया एकै।
अपने हरिजी क परम पिआरि ढुंढन कैसे अउबै।।
भोर भये भिनुसखा कलेवना की जुनिया।
होइगै कलेवना की बेर ललन नहिं आये।।
अंगिया तो फाटै बंदे बंद अंचरा करै कर।
छतिया उठी बहराय ढुंढन हम आइनि।।

के रूप में प्रकट हुआ है। अतएव, एकै।
बातपर गांधीजी के वचन और श आइउ॥
उनकी क्रियाएं भी प्रमाण हैं। यही न हिर।
उन्होंने किसे कहाँ तक छूट दी, यह रिया ढुंढन
णीय माना जाना चाहिये। गांधी जी आइनि॥
रूप मानवता का महान् आ कि रहै।
कायरता और हिंसात्मक प्रतिरोध धकि रहै॥
कायरता से ही घिनाते थे। ड था कि
में उन्होंने अधीर बंगाली बाप की
कहा था, "मैं इसलिये नहीं आ रम प्यारी
तुम्हें अपनी ढंग की वीरता की शि कैसे दौड़ी
जा सकती है। पुत्र-प्रेम कैसा होता है, इसका उसे पता नहीं था। पर जब पुत्र खेलने निकल गया और कलेवे के समय तक नहीं लौटा, तब पुत्र-प्रेम के आगे वहू का सारा घमण्ड चूर-चूर हो गया और उसे कलेजे की थपक और धधक मालूम हुई। बच्चे ने पुत्र-प्रेम पर माँ को ताना भी मारा था। वह कैसा चुभता हुआ है।

ऋतुओं के उल्लास ऋतु के अनुकूल होते हैं। सावन में हिंडोले पड़ जाते हैं। उनके गीत बड़े सुहावने और रसीले होते हैं, जिनमें रात में घर के काम काज से फुरसत पाकर लड़के-लड़कियाँ और बहुएं झूलती और गाती हैं। हिंडोले का एक गीत मुग़लों के ज़माने का है। जब मुग़ल ही बड़े वीर गिने जाते थे। ताज़े दूध में से भाप निकलती देखकर एक बहिन सोचती है :

छोटी-मोटी दुहनी दूध के
विनारे आगिनि बाफ लेई। बलैया लेउ वीस।
इहै दूध पियई बीरन मोरा,
विरना लड़इ मुगलवा के साथ।

उत्तर भारत में बरसात में आल्हा गाया जाता है जिसमें बड़ी भीड़ रहती है। जैसे पंजाब में हीर-रांझा, मारवाड़ में ढोला-मारु, बिहार में लौरिक और छत्तीसगढ़ में ढोला और रसालू बहुत लोकप्रिय गीत हैं, वैसे ही उत्तर भारत में आल्हा, चनैती सरवन, सीता बनवास, कृष्ण सुदामा, गोपीचंद भरथरी, शिवपार्वती का विवाह और राजा ढोलन आदि बड़े-छोटे सैकड़ों गीत गाये जाते हैं जिनमें सर्वसाधारण खूब रस लेते हैं। जाड़ों में रामलीला होती है। रात में चक्की और कोल्हू के गीत गाये जाते हैं।

फागुन में फाग की और चैत में चैती की बहार आती है।

खेत के गीत निराते समय गाये जाते हैं। इस तरह देखा जाय तो गाँव वालों का सारा जीवन बारहों महीने उल्लास से भरा हुआ मिलेगा।

—इलाहाबाद से प्रसारित

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान्-रिपुः।
आलस्य मनुष्य के शरीर में रहने वाला सब से बड़ा शत्रु है।

* * *

कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

हे पार्थ! कर्म अकर्म का क्या भेद है, यह जान लो। कर्म की गति गहन और महान् है।

ी कोइलिया आंगन मोरे आवहु।
इला बिआइ नेवत दइ आवहु।
वाहिता बहू सोहाग-रात में सूर्य,
मुर्गे को कुछ कह रही है :
के राति चंदा तुम उइहो सुरुज
मति डइहो।
रस जनि किहेउ मुरुग मति बोलेउ
वहरि जनि जाइ तु यह जिनि फाटेउ।।
ड़ि राति चंदा तुम उइहौ।
ह मोरा सुरुज विलम करि अइहो।

कवि दिनकर से तीन प्रश्न

प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'

(१) मुक्त—क्या आप इससे सहमत हैं कि 'रसवन्ती' में ही आपका सच्चा कवि रूप प्रकट हुआ है ?

दिनकर—'रसवन्ती' की जो बार-बार यह कह कर प्रशंसा की जाती है कि वह मेरी सर्वश्रेष्ठ रचना है, इससे जान पड़ता है कि हमारे साहित्य से अभी यह रूढ़ि दूर नहीं हुई है कि श्रेष्ठ कविता वही हो सकती है जो फूल, नदी, प्रेम, नारीरूप अथवा आध्यात्मिक सौन्दर्य को लक्ष्य करके लिखी गई हो। इनसे भिन्न विषयों पर कविताएं रची ही नहीं जा सकतीं। फिर भी इक़बाल ने नारी-सौन्दर्य को छुआ तक नहीं और ईलियट परम्परावादी होते हुए भी परम्परागत उपकरणों को काव्य में महत्व नहीं देते। वस्तुतः इनके सिवा और भी विषय और भाव हैं जिन पर अच्छी रचनाएँ की जा सकती हैं, बल्कि, समर्थ कवियों के द्वारा की जा रही हैं।

(२) मुक्त—कुछ आलोचकों का कथन है कि आप पर उर्दू के इक़बाल और जोश तथा बंगला के क़ाजी नज़रुल इस्लाम का प्रभाव पड़ा है। इससे आप कहां तक सहमत हैं ?

दिनकर—तीन ही नहीं, मुझ पर अन्य भी कई कवियों और दार्शनिकों का प्रभाव है। जो कवि या दार्शनिक मुझे प्रेरित कर सकता है, जिसके साथ टकराने पर मेरे भीतर स्फुलिंग पैदा होते हैं, मैं समझता हूँ, वह मुझे प्रभावित भी करता होगा। आरंभ में इक़बाल जब पढ़ता था, तब मेरा सारा अस्तित्व कंपायमान हो उठता था और मैं महसूस करता था, मानो कोई मुझे उठाये हुए ऊपर जा रहा है। जोश और नज़रुल का असर ऐसा नहीं रहा। फिर भी नज़रुल की चीज़ मुझे बेहद प्यारी लगती थी। चीख़ने का असर तभी होता है, जब आदमी धीरे-धीरे बोलते-बोलते कलात्मक ढंग से गर्जन के स्तर पर पहुँचे। जोश ने मुझे किस प्रकार प्रभावित किया है, यह प्रक्रिया मैं नहीं सोच पाता, किन्तु, उनकी कविताओं का मैं भी प्रशंसक हूँ।

(३) मुक्त—यद्यपि आपकी कविताओं में राष्ट्रीयता तथा अतीत गौरव के प्रति एक प्रबल मोह अभिव्यक्त हुआ है, किन्तु साधारणतः ऐसा नहीं जान पड़ता कि आपके विचार गांधीवाद से प्रभावित हैं। इसके विपरीत 'बापू' नामक खण्ड-काव्य में गांधीवाद के प्रति आपकी जिस वैयक्तिक आस्था की अभिव्यंजना दीख पड़ती है, उसकी प्रेरणा आपको कब और कैसे मिली ?

दिनकर—क्या आज कोई ऐसा भी जाग्रत भारतीय है जो यह कह सके कि गांधी जी ने उस पर कोई प्रभाव नहीं डाला है ? अगर कोई ऐसा दावा करता है तो मैं यह कहूँगा कि वह कारण-विशेष से गांधी के असर से इनकार कर रहा है। मगर, आपका यह समझना ठीक है कि गांधीजी की सारी बातों को मैं ज़ज़्ब नहीं कर सका हूँ। कुछ ऐसी बातें भी हैं जिन्हें मैंने अपने ही ढंग पर लिया है। उदाहरणार्थ, गांधीवाद में हिंसा के लिये कहीं भी स्थान नहीं है, इसे मैं नहीं मानता। गांधीजी ने मार्क्स की तरह जीवन का कोई दर्शन नहीं लिखा। उनका सारा ज्ञान उनके कर्म और प्रयोग से छिटकी हुई चिनगारी

के रूप में प्रकट हुआ है। अतएव, किसी ख़ास बातपर गांधीजी के वचन और शब्द ही नहीं, उनकी क्रियाएं भी प्रमाण हैं। यही नहीं, बल्कि, उन्होंने किसे कहाँ तक छूट दी, यह भी विचारणीय माना जाना चाहिये। गांधी जी का चरम-रूप मानवता का महान् आदर्श है। कायरता और हिंसात्मक प्रतिरोध में गांधीजी कायरता से ही घिनाते थे। नोआखाली में उन्होंने अधीर बंगाली युवकों से कहा था, "मैं इसलिये नहीं आया हूं कि तुम्हें अपनी ढंग की वीरता की शिक्षा दूं, तुम परम्परागत वीरताका भी अनुसरण कर सकते हो, मगर हां, मैं यहां तलवार बांटने भी नहीं आया हूं।" अगर मेरी यह व्याख्या आपको स्वीकार हो तो आप शायद यह भी मान लेंगे कि कुरुक्षेत्र का रचयिता भी एक गांधीवादी ही था। श्रद्धा तो गांधीजी पर मेरी आरम्भ से ही अटूट थी और १५-१६ वर्षों से मैं उन पर कविता लिखने की कोशिश कर रहा था। किन्तु, तब मैं उनकी छाया भी नहीं छू पाता था और मेरी तुकबंदियां प्रायः लंगड़ा कर रह जाती थीं। मगर, जब वे अकेले नोआखाली चले गये तब मेरी कल्पना एकदम भभक उठी। उन्हीं दिनों मैंने 'बापू' नामी वह लम्बी-सी कविता लिखी जिसमें कुरुक्षेत्र के एकाह भाव को काटकर मुझे आत्मबल के सामने अपनी भक्ति अर्पित करनी पड़ी।

—पटना से प्रसारित

अन्नहीन आहार

अन्नहीन भोजन से मेरा मतलब यह नहीं कि हम शाकाहारी हो जायें, बल्कि ऐसे भोजन स है जिसमें आटा और चावल न हों। वैसे देखा जाय तो आटे की रोटी की जगह बेसन की रोटी, बाजरे की रोटी, उरद, मूंग की दाल के चीले भी बड़े चाव से खाये जा सकते हैं। और इन सब में उतनी ही ताक़त होती है जितनी कि आटे में। अन्न रहित आहार खाना खाने से अन्न की बचत होती है और यही बचा हुआ नाज अगर हम किसी भूखे को दे दें तो उसकी जान बच जायगी।

अन्न हीन आहार में मूंग की दाल के, उरद की दाल के परांठे या चीले, बाजरे की खिचड़ी या रोटी,ज्वार मक्की की रोटी या पूरी—जाने कितनी ही प्रकार की चीजें बन सकती हैं। अगर इनसे भी मन भर जाय तो आलू की टिकियां, आलू की चाट, बेसन की पकौड़ी दही में, दही बड़े, छोले या मटर, केले की चाट, पकौड़े, टमाटर, खीरा, प्याज, मूली का सलाद—न जाने कितनी ही चीज़ें ऐसी हैं जो बिना गेहूं के आटे के या चावल के खाई जा सकती हैं।

हलका अन्न हीन आहार भी बन सकता है। बन्द गोभी के पत्ते उबाल कर उसका शोर्वा या रसा मलाई या क्रीम मिला कर दें। सकरकन्दी क' टिकियां, आलू भर कर टमाटर। उबले प्याज में थोड़ा सिरका और मक्खन मिला लें। थोड़ा दूध मिला कर थोड़ी देर आग पर रख दें। जब थोड़ा गाढ़ा हो जाय तो क्रीम मिला कर खायें। बहुत सवाद लगेगा। इसमें विटामिन की बहुतायत है।

बेसन की पूरी, ककड़ी का रायता. आलू मटर की रसदार सब्जी, खस खस का हलुआ। उबले बाजरे की खिचड़ी। उबली बन्द गोभी में कतरे हुए तले आलू भर कर खाइये तो बहुत स्वादिष्ट मालूम होते हैं।

हां जो केवल दूध—फल खा सकते हों, उनके लिये इससे बढ़ कर खुराक कोई नहीं—अवश्य खायें।

(अनिला मिश्र—लखनऊ)



हवाई द्वीप में भारतीय संस्कृति

श्रीकृष्ण सक्सेना

हवाई सात ऐसे द्वीपों का देश है जो कि बीच प्रशान्त महासागर में करीब २,००० मील अमेरिका से पश्चिम और करीब ३,००० मील जापान के पूर्व की ओर है। यह सब द्वीप ज्वालामुखी पहाड़ों से उत्पन्न हुए हैं और ज्वालामुखी पहाड़ों को जलते और बुझे हुए देखने की यह अनुपम जगह है। राजनैतिक दृष्टि से यह देश अमेरिका का एक बहुत महत्त्वपूर्ण हिस्सा है, जो उस के हाथ १८९८ में आया। अब शायद इसी वर्ष यह अमेरिका का ४९वां राज्य होने वाला है। अमेरिका से हवाई जहाज़ यहाँ नौ घन्टों में आते-जाते रहते हैं। आजकल हवाई अमरीकी नौ-सैनिक प्रशासन का केन्द्र है। और यहीं पर्ल-हार्बर है जिसका नाम आपने द्वितीय विश्व-युद्ध में सुना होगा। इन द्वीपों की कुल आबादी छः लाख से कम है। यहाँ के निवासी करीब-करीब कुल अमेरिका के नागरिक हैं। यहाँ की नागरिकता मिलीजुली जातियों की नागरिकता है जो इस देश की एक बहुत बड़ी विशेषता है। इनमें से करीब ३५ फ़ीसदी जापानी हैं, ३० फ़ीसदी यूरोपियन, १५ फ़ीसदी मिश्रित रक्त के हवायन, १० फ़ीसदी फिलिपीनो, ६ फ़ीसदी चीनी, २ फ़ीसदी शुद्ध हवायन और इससे भी कम कुछ कोरियन इत्यादि हैं। ये सारी भिन्न-भिन्न जातियाँ अपनी-अपनी संस्कृति के अनुसार आपस में मिल-जुल कर रहती हैं और इस दृष्टि से इसे हम आज कल एक आदर्श देश कह सकते हैं।

मैं जब हवाई गया तो मुझे यह जान कर बड़ी खुशी हुई कि अब भी वहाँ बहुत से ऐसे लोग हैं जिन्होंने स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर का वहाँ स्वागत किया था। जब मैंने वहाँ कुछ घरों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और गाँधीजी की तस्वीरें देखीं तो पहले तो मैं यह समझा कि साधारण सम्मान के कारण ही ऐसा है। पर बाद को पूछने से पता लगा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को तो उन लोगों ने स्वयं बुलाया था, और वह एक दिन वहाँ ठहरे थे। इसी तरह से अन्य प्रसिद्ध भारतीय भी वहाँ जा चुके हैं। पर वहाँ भारतीय हैं नहीं, केवल एक कुटुम्ब जे० जी० वाटुमल का वहाँ करीब ४० साल से है और उन्होंने देश और देश की संस्कृति की काफी सेवा की है। हवाई विद्यालय में भारतीय संस्कृति के ज्ञान और शिक्षा की वृद्धि का भार भी इन्हीं पर है।

हवाई की आदिम जातियों को आप देखिये तो उनके-करीब करीब हिन्दुस्तानी होने का धोका होता है। उनकी, सूरत, शक्ल, शरीर का ढाँचा, खानपान और रहने का ढंग बिल्कुल भारतीय जैसा है। यह जानते हुए भी कि वहाँ कोई हिन्दुस्तानी नहीं है एक दिन एक क्लब में मैंने एक महाशय से यह पूछ ही तो लिया कि आप भारत के किस भाग से आये हैं, पर पूछते पूछते ही ज्ञात हो गया कि वह तो भारतीय न थे। जैसा कि कुछ लोगों का मत है, हो सकता है कि वहाँ के आदिमवासी भारत से गये हों। हाँ, एक बात अवश्य है वह यह कि सभ्य जातियों में भारतीयों को छोड़ कर सिवाय हवायन के और कोई पूर्वी जाति भी बिना कांटे-छुरी या किसी

और इस तरह के साधन के बग़ैर भोजन नहीं करती।

हवाई भारत से कई बातों में मिलता-जुलता है। मुझे वहाँ आम देखने की आशा नहीं थी, पर जाकर देखा तो सारा द्वीप आम के वृक्षों से भरा था। उनमें से कुछ बहुत अच्छे थे। पपीता और नारियल तो वहाँ आवश्यकता से अधिक होते हैं। हिन्दुस्तानी मसाले वहाँ पैदा तो नहीं होते पर मिलते सब हैं। ईख और अनन्नास की खेती वहाँ सर्वश्रेष्ठ और देखने लायक है। भारत के एक सज्जन जो यहाँ से ईख के अनुसन्धान के लिये वहाँ गये थे, उन्होंने इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की, वह वहाँ ही बस गये और वहाँ ही उनकी मृत्यु हुई। इस नाते भी भारत और हवाई का ईख द्वारा सम्बन्ध है। गन्ने की खेती के अनुसंधान के लिये गर्म देशों के विद्यार्थियों के लिये हवाई सर्वोत्तम स्थान है। गत वर्ष पाकिस्तान के एक महोदय इसी कार्य के लिये वहाँ थे। आज भी एक भारतीय विद्यार्थी वहाँ यही काम कर रहे हैं।

हवाई अपनी सुन्दर आबोहवा, आकाश के सौंदर्य और फूलों तथा पत्तों की मोहकता के कारण प्रशान्त महासागर का स्वर्ग कहलाता है। यहाँ के प्राचीन निवासी (केलोनीशियन्स्) भी यह जानते थे कि वह इस पृथ्वी के एक बहुत ही सुन्दर स्थान पर बसते हैं। आज तो इसका महत्व इस कारण और भी बढ़ गया है कि प्रशान्त महासागर में जितने भी जहाज़ या हवाई जहाज़ आते-जाते हैं, उनके लिये यह एक अनिवार्य स्टेशन है। हवाई इलाके की राजधानी का नाम होनोलूलू है।

हवाई से मेरा संबंध सबसे पहले सन् १९४७ में हुआ जबकि मैंने सुना कि हवाई विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के प्रोफ़ेसर काशी विश्वविद्यालय में डाक्टर राधाकृष्णन की अध्यक्षता में भारतीय दर्शन का अध्ययन तथा भारतीय दर्शन पर एक सन्दर्भ पुस्तक लिखने की तैयारी करने आये हैं। दो-तीन वर्ष बाद उन्होंने मुझे वहाँ एक पूर्व-पश्चिम दार्शनिकों की कान्फ्रेंस में बुलाया और फिर मुझे वहाँ भारतीय दर्शन तथा संस्कृति पढ़ाने के लिये भी निमन्त्रित किया।

यहाँ की राजधानी होनोलुलू में हवाई विश्वविद्यालय है जो कि दो हज़ार मील के घेरे में उच्च शिक्षा की एकमात्र संस्था है। इस विश्वविद्यालय में इतनी जातियों तथा संस्कृतियों का सम्पर्क होता है कि समाज-संबंधी विज्ञानों, मानव-सम्बन्धी ज्ञान तथा जातियों के आदान-प्रदान और समन्वय के संबंध में यह एक बहुत सुन्दर अध्ययन केन्द्र है। विश्वविद्यालय एक सुन्दर घाटी में स्थित है। इस विश्वविद्यालय का वास्तविक महत्व पूर्वीय या ओरियन्टल विषयों के संबंध में है। इस विश्वविद्यालय में पिछले ३० वर्षों से एशियाई विषयों की शिक्षा दी जाती रही है। विश्वविद्यालय का नाटक समाज समय-समय पर पूर्वीय नाटकों के अंग्रेज़ी अनुवादों का अभिनय करता रहता है। पिछले वर्ष विश्वविद्यालय के नाटक समाज ने 'क्लेकार्ट' नाम से मशहूर संस्कृत नाटक 'मृच्छकटिकम्' का अभिनय किया था।

इस विश्वविद्यालय में ओरियण्टल विषयों और दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन का बहुत अच्छा प्रबन्ध रहा है और प्रायः हर साल ही पूर्वी देशों के विद्यार्थी वहां इस काम के लिये आते रहते हैं।

हवाई विश्वविद्यालय अब इस बात की सम्भावनाओं पर भी विचार कर रहा है कि पूर्वीय दर्शन तथा पूर्व और पश्चिम के तुलनात्मक अध्ययन पर डाक्टरेट की डिग्री दी जा सके। इसके लिये भारतीय, चीनी तथा जापानी दार्शनिकों को स्थायी रूप से विश्वविद्यालय के स्टाफ़ में रखने की आवश्यकता होगी। यदि यह विचार कार्यरूप में परिणत हो गया तो इस दृष्टि से हवाई विश्वविद्यालय अमेरिका का अनूठा विश्वविद्यालय बन जायेगा।

इसी कार्य का श्रीगणेश करते हुए हवाई विश्वविद्यालय ने डिग्री कोर्स के लिये भारतीय दर्शन और संस्कृति में भी नियमित पाठ्यक्रम आरम्भ किया और १९५०-५१ में इन पाठ्यक्रमों की शिक्षा देने के लिए मुझे निमन्त्रित किया। विश्वविद्यालय का विचार इन पाठ्यक्रमों को

जारी रखने का है और आशा है कि शीघ्र ही ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता और उपनिषद् जैसे मौलिक भारतीय ग्रंथ भी पाठ्यग्रंथों में आ जायेंगे।

पुस्तकालय में संस्कृत और अंग्रेज़ी की ऐसी किताबों का जो भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के बारे में लिखी गई हैं, काफ़ी अच्छा संग्रह है। हर साल ऐसी किताबों में बढ़ती होती जा रही है जिनकी ज़रूरत अनुसन्धान के लिये या शिक्षा के लिये पड़ती है। यहाँ परमहंस रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द घोष, महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री नेहरू की सभी किताबें पाई जाती हैं।

यहाँ के प्रेज़ीडेंट को भारत और भारतीय सभ्यता और संस्कृति से विशेष प्रेम है और वह पाँच बार भारत आये हैं।

यूनिवर्सिटी की गर्मी की छुट्टियों के कोर्स में वह प्रायः हर साल किसी न किसी भारतीय को भारत सम्बन्धी विषयों पर शिक्षा के लिये बुलाते हैं।

हवाई में भारतीय संस्कृति के प्रति आकर्षण का एक और कारण यह भी है कि वहाँ की अच्छी ख़ासी आबादी बौद्ध है और यह भारत को अपने धर्म और संस्कृति का जन्मस्थान मानते हैं। बौद्धों के अतिरिक्त वहाँ श्री रामकृष्ण मिशन और अद्वैत वेदान्त के दो एक प्रसिद्ध संचालक हैं जिनके कारण भी भारत की चर्चा बनी रहती है।

—दिल्ली से प्रसारित

सुमन तुम कली बने रह जाओ



स्व० जयशंकर 'प्रसाद'

सुमन तुम कली बने रह जाओ।
ये भौंरे केवल रस लोभी, इन्हें न पास बुलाओ।
हवा लगी बस, झटपट अपना हृदय खोल दिखलाते।
फूले जाते किस आशा पर, कहो न क्या फल पाते।
मधुर गन्धमय स्वच्छ कुसुम रस क्यों बरबसही खोते।
कितनों ही को देखा तुम सा, हंसते हैं फिर रोते।
सूखी पंखड़ियों को देखो, इन्हें भूल मत जाओ।
मिला विकसने का प्रसाद यह, सोचो मन में लाओ।

—दिल्ली से प्रसारित

सेवा धर्म

जैन साधुओं को आदेश देते हुए भगवान महावीर कहते हैं—यदि कोई साधू किसी रोगी या संकटापन्न व्यक्ति को छोड़कर तपश्चरण करने लगता है, शास्त्र-चिन्तन में संलग्न हो जाता है, तो वह अपराधी है और संघ में रहने योग्य नहीं है। सेवा स्वयं बड़ा भारी तप है। सेवा करने के लिये सदा आर्त्तों की, दीन-दुःखियों की, पतितों एवं दलितों की खोज में रहना चाहिये।

एक बार मोहम्मद साहब से किसी ने पूछा कि ईमान क्या है? उन्होंने जवाब दिया—सब्र करना और दूसरों की भलाई और सेवा करना। एक हदीस में लिखा है कि मोहम्मद साहब ने कहा कि "सब इंसानी समाज अल्लाह का कुन्बा है और उन सब में अल्लाह का सब से प्यारा वह है जो अल्लाह के इस कुन्बे की भलाई और सेवा करता है।"

सेवा का महत्व दर्शाते हुए गीता कहती है—

"मोक्ष केवल उन्हीं को प्राप्त हो सकता है और उन्हीं के पाप धुल सकते हैं जिनकी दुविधा मिट गई है और जिन्होंने अपनी कामनाओं को जीत लिया है और जो सदा सबके कल्याण और सबकी सेवा में लगे रहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण में लिखा है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई,
परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

शेख़ सादी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'करीमा' में लिखा है—

सच्ची दौलत सेवा ही से मिलती है।

सेवा से सौभाग्य प्राप्त होता है।

यदि तू सेवा के लिये कमर कस ले तो कभी नष्ट न होने वाली दौलत का दरवाजा तेरे लिए खुल जावे।

सेवा से भीतर की आत्मा रोशन होती है।

चीन के प्रसिद्ध महात्मा लाओत्ज़े हजरत ईसा से ६०४ वर्ष पहले हुए थे। उनके उपदेश का चीन पर बड़ा गहरा असर पड़ा। लाओत्ज़े अपने उपदेश में कहते हैं—

मनुष्य को चाहिये कि अपना सब काम स्वार्थ को अलग रखकर एक सरल स्वाभाविक ढंग से करे। उसके किसी भी काम में खुदी या अहंकार न हो, न घमंड हो, न अपने-पराये और मेरे-तेरे का भेद हो। मानव-मात्र की सेवा, उसकी पूजा हो। यही मनुष्य का 'ताओ' अर्थात् धर्म है।

हज़रत ईसा ने इसी तरह का उपदेश देते हुए कहा था—

"देखो, व्रत के दिन भी तुम स्वयं तो सुख भोगते हो और दूसरों को कष्ट देते हो। तुम सब तरह की बुराई करते रहते हो। क्या मैंने ऐसे ही व्रत की आज्ञा दी थी? क्या यह व्रत ईश्वर को मंजूर हो सकता है? जिस व्रत की मैंने आज्ञा दी थी वह यह है—जिन बुराइयों ने तुम्हें बाँध रखा है उनका बंधन तोड़ डालो, दुःखियों को आजाद करो, भूखे को अपनी रोटी में से रोटी दो, जो बेघरबार हैं उन्हें अपने घर में जगह दो, जो नंगे हैं उन्हें कपड़े पहनाओ। सब दुःखी इंसानों की सेवा में अपने को खपा डालो, यही सबसे बड़ा व्रत है।

बुद्ध भगवान जब धर्म प्रचार करते हुए निकले तो जहाँ भी दुखियों और बीमारों को पाते वहाँ अवश्य उन की सेवा करने के लिये ठहर जाते। उन्होंने अपने भक्तों को उपदेश दिया कि—

"भिक्षुओ। निष्काम सेवा ही परम धर्म है। सेवा का धर्म जात-पाँत व धर्म के भेद भाव को नहीं मानता। भिक्षु नर के रूप में नारायण को देखता है और जन के रूप में जनार्दन का दर्शन करता है। वह स्वयं दुःख और कष्टों का स्वागत करता है और अपनी सेवा द्वारा इस धरती में स्वर्ग की रचना करता है।

सिक्खों के चौथे गुरु के एक शिष्य जब संगत में शामिल हुए तो उन्होंने अपने सुपुर्द जूठे बरतन माँजने का काम लिया। सुबह उठते ही बरतन मांजना शुरू करते थे और काम समाप्त करते-करते आधी रात बीत जाती थी। गुरु के चरणों में बैठकर सत्संग सुनने का भी उन्हें अवसर नहीं मिलता था, जबकि उनके दूसरे गुरु भाई सुबह से लेकर रात तक भजन और सत्संग में ही अपना समय बिताते थे। जब गुरु ने समाधि ली तो जनता समझती थी कि गुरु के जो चेले दिन रात भजन गाया करते थे उन्हीं में से किसी को गुरु अपना उतराधिकारी बनायेंगे। लेकिन जब गुरु का आदेशपत्र खोला गया तो उसमें से उस जूठे बरतन माँजने वाले का नाम निकला जिसे एक दिन भी भजन गाने और संगत में बैठने का अवकाश नहीं मिला था। और यही बरतन माँजने वाला गुरु अर्जुनदेव के नाम से सिक्खों का प्रसिद्ध गुरु हुआ।

(विश्वम्भरनाथ पाँडे—इलाहाबाद)

अपने नाटकों के सम्बन्ध में

अपनी यात्रा के मोड़ पर बने पेड़ों की शीतल छाया में विश्राम लेते हुए किसी यात्री के मन में यह बात उठती है कि आज सुबह जब मैं चला तो सामने जो कुछ दीख रहा था, उसकी लताएं बड़ी सुहावनी जान पड़ती थीं, लेकिन जब मैं पास आया तो उसी लता की कोमल पत्तियों के बीच मैंने कांटे भी देखे। और वह पेड़ जो नृत्य की भंगिमा में खड़ा था पास आने पर अष्टावक्र की भांति दीख पड़ा। उसी तरह साहित्य क्षेत्र के दर्शन दूर से तो बड़े सुहावने जान पड़ते हैं, लेकिन समीप आने पर उसमें साधना की कठिन चट्टानें हैं, सहयोगी साहित्यिकों की ईर्ष्या और द्वेष की कंटीली झाड़ियाँ हैं। अर दलबन्दियों के दूर तक फले हुए दल दल हैं।

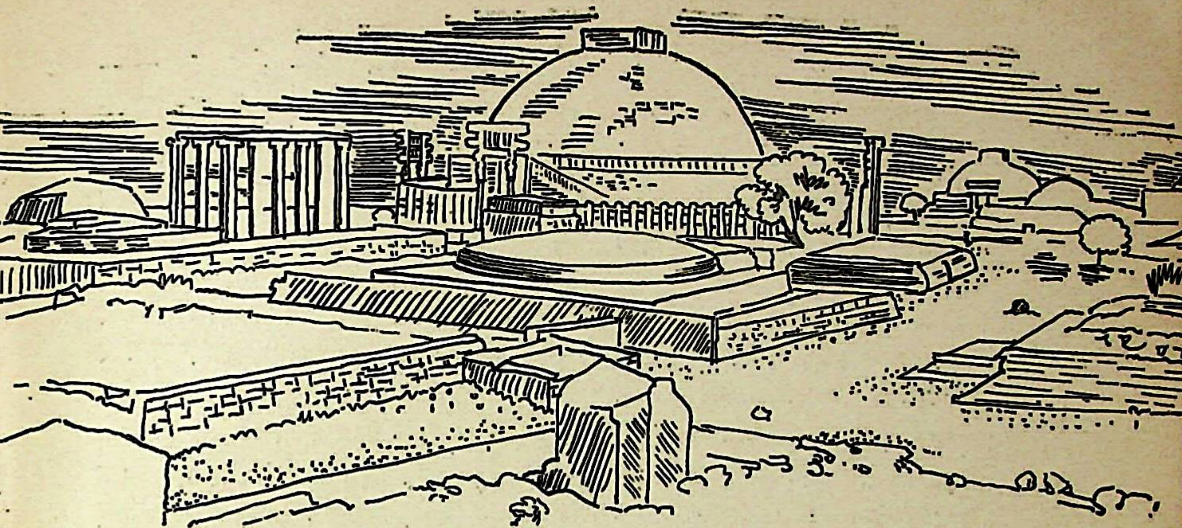
अपने अनुभव से ये बातें कह रहा हूं। जब नाटक लिखने की भावना मेरे हृदय में पहले पहल जागी तो लोगों ने उसका परिहास किया। मेरे पात्रों के संभाषणों को विकृत स्वरों में पढ़ कर मेरे मित्रों ने मेरे उत्साह के अंकुरों को अपनी असभ्य आलोचना के तेज नाखूनों से नौंचा और ज़मीन पर सूखने के लिये छोड़ दिया, लेकिन वे अंकुर सूखे नहीं क्योंकि उनकी नसों में संस्कारों का जो रस था वह शक्ति शालिनी जड़ों से खींचा गया था।

मैं पूरे नाटक क्यों नहीं लिखता? एकांकी ही क्यों लिखा करता हूं? मैं पूरे नाटक लिख सकता हूं या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता, क्योंकि पूरे नाटक लिखने का अवसर मेरे मन में कभी नहीं आया। मैंने किसी कथावस्तु को एक विशिष्ट दृष्टिकोण से देखा है। मेरी दृष्टि जीवन का संकेत खोजने की चेष्टा में रहती है। कोई ऐसा भाव बिन्दु में आँक सकूं, जिस में आकाश का प्रतिबिम्ब झलक जावे। कोई ऐसी गागर भर लूं जिसमें सागर का अस्तित्व समा जावे। मेरे हाथ में ऐसा अंकुश आ जावे जिस के वश में जीवन का एरावत उठने बैठने लगे। मेरी लेखनी से ऐसा मंत्र निकले जिस के वश में विधि हरि हर सुर सर्व हों, अथवा मेरे हाथों काम का ऐसा कुसुम धनु हो जिस से सकल भुवन अपने वश में हो जायं। एकांकी ऐसा ही भाव बिन्दु है, ऐसी ही गागर है, ऐसा ही अंकुश है, ऐसा ही मंत्र और ऐसा ही काम का कुसुम धनु।

नाटक में कैसे लिखता हूं, इस प्रश्न के लिये एक चतुर्मुखी उत्तर की आवश्यकता है। पढ़ कर लिखता हूं, पहिले से सोची हुई बात पर लिखता हूं, सुबह लिखता हूं, या शाम को लिखता हूं, लिखने के पहिले या बाद क्या मनोदशा होती है ऐसी बहुत सी बातें हैं। ये उत्तर तो किसी और समय दूंगा, किन्तु इतनी बात अवश्य है कि सामाजिक विषयों पर नाटक एक बैठक में ही पूरे लिखे जाते हैं। समस्या सामने आती है, हृदय में चुभती है। पात्र अपने मनोविज्ञान की समस्त संभावनाओं में आगे बढ़ आते हैं और एक निश्चित तथ्य का निरुपण सुखान्त या दुखान्त में कर देते हैं। लेकिन ऐतिहासिक नाटकों की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों के अध्ययन की सारी सामग्री पर अधिकार कर तब पात्रों के स्वाभाविक मनोभावों की सृष्टि करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक नाटक की रचना एक बैठक में कभी समाप्त नहीं होती, इस के लिये कम से कम तीन दिन या अधिक से अधिक एक सप्ताह लग जाया करता है।

रस सिद्धान्त को मैं संस्कृत नाट्य साहित्य की सब से बड़ी देन समझता हूं। इसे अनुभव कर मैं मनोविज्ञान और ऐतिहासिक तथ्य का समन्वय करने के बाद ही नाटक की रचना करता हूं। मैं इस विषय में कितनी दूर बढ़ सकूंगा, यह भविष्य के हाथ में है……

(रामकुमार वर्मा—इलाहाबाद)



बुद्ध का कला और संस्कृति पर प्रभाव

विश्वनाथ एस० नरवने

बौद्धधर्म का भारत से क़रीब-क़रीब ग़ायब हो जाना इतिहास की विचित्र घटनाओं में से है। लेकिन कभी-कभी हम यह भूल जाते हैं कि एक संघठित धर्मसंस्था के रूप से चाहे बौद्धधर्म का स्थान हमारे देश में कम हो और उसके अनुयायियों की संख्या कितनी ही अल्प हो, लेकिन भारतीय जीवन और संस्कृति पर बौद्ध विचारों और परम्पराओं का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। बुद्ध का व्यक्तित्व इतना असाधारण था कि बुद्ध जीवन-और बुद्ध चरित्र ने भारत के इतिहास में अमर स्थान प्राप्त किया।

संस्कृति शब्द बड़ा व्यापक है। रहन-सहन के तरीक़े, विचारधारा, जागतिक दृष्टिकोण, साहित्य, कला और दर्शन, धार्मिक तथा सामाजिक आदर्श, इन सभी का समावेश संस्कृति में होता है। और इन सभी क्षेत्रों में आज ढाई हज़ार वर्ष बाद भी बुद्ध का प्रभाव साफ़-साफ़ हम देख सकते हैं।

गौतम बुद्ध का दृष्टिकोण मानववादी और बुद्धिवादी था। जीवन में जो कुछ श्रेष्ठ और महान् है, जो कुछ मानवता के उच्चतम आदर्श को आगे बढ़ाता है, उस पर उन्होंने ज़ोर दिया। और जो कुछ कठोर या पाशविक है उसकी निन्दा की। प्रायः लोग समझते हैं कि बुद्ध निराशावादी थे। लेकिन सच तो यह है कि दुख से अधिक महत्व उन्होंने दुःख-निरोध को दिया। संसार में दुःख है, लेकिन इसके कुछ कारण हैं, और इन कारणों को दूर करते हुए आदमी दुःख से छुटकारा पा सकता है। इस विचार को निराशावादी नहीं कहा जा सकता, भले ही हम इस बात पर सहमत न हों कि वे कारण क्या हैं और उनको कैसे दूर किया जा सकता है।

युग की परिस्थिति देखते हुए बुद्ध का दृष्टिकोण हर तरह से प्रजातान्त्रिक भी था। समाज के दलित वर्गों के दुखों को उन्होंने पहचाना और अपने जीवन-भर सामाजिक विषमता और असहिष्णुता के विरुद्ध प्रचार किया। जातिभेद, स्त्रियों का हीन स्थान, और रूढ़िवाद का विरोध किया और इस तरह जीवन को स्वस्थ और न्याय-पूर्ण बनाने की कोशिश की।

जहाँ तक बौद्ध दर्शन का संबंध है, यह तो सभी मानते हैं कि वैभाषिक और सान्त्रान्तिक दर्शन भारतीय विचारधारा के श्रेष्ठतम सफलताओं में से हैं। बसुबन्धु,

नागार्जुन, अश्वघोष और दिंगनाग संसार के बड़े से बड़े दार्शनिकों से कम नहीं। इन बौद्ध विचारकों का भारतीय दर्शन पर कितना प्रभाव पड़ा है—इसका अन्दाज़ इसी से लगाया जा सकता है कि स्वयं शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया है।

भारतीय साहित्य पर, न सिर्फ़ संस्कृत बल्कि प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य, पर भी बुद्ध के जीवन और विचारों का लगातार असर पड़ा है। बुद्ध जीवन की घटनाओं के आधार पर सहस्रों कविताएं, कहानियाँ और नाटक लिखे गये हैं। लेकिन सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है भारतीय कला पर। हमारे देश की मूर्तिकला, चित्रकला और निर्माण-कला के इतिहास में यदि हम बौद्ध कलाकारों की अनुपम कृतियों को अलग कर दें तो फिर हमारे पास रह ही क्या जाता है।

गौतम ने अपना सारा जीवन कठोर ज्ञानार्जन, मनन और साधना में बिताया। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि जीवन के सौन्दर्यमय और कलात्मक अनुभवों की ओर से वह उदासीन थे। संभुन्त निकाय के अनुसार भिक्षु आनन्द ने एक बार बुद्धदेव से कहा, "भगवन्, मेरे विचार से अच्छे जीवन का आधा भाग सौन्दर्य से मैत्री, सौन्दर्य से लगन होने पर निर्भर है।" तथागत ने उत्तर दिया, "आनन्द, तुम भूल कर रहे हो। अच्छे जीवन का आधा भाग नहीं बल्कि समस्त अच्छा जीवन सौन्दर्य से मैत्री और लगन होने पर निर्भर है।" बुद्ध के कला की ओर उदासीन न होने का एक और सबूत यह है कि जीवन के अन्तिम वर्षों में उन्होंने अपने साथियों से कई बार इस बात की चर्चा की कि मृत्यु के बाद उनकी अस्थियों के लिये जो स्तूप बनाये जायें, वे किस प्रकार के हों और उनके डिज़ाइन कैसे हों।

इस तरह हम देखते हैं कि बुद्ध के जीवन-काल में ही बौद्ध-कला का आरम्भ हुआ। उनके महाप्रस्थान के बाद स्तूप बने। धीरे-धीरे स्तूपों के साथ चैत्य या मन्दिर बने। निर्माण कला में एक ख़ास बौद्ध शैली ने अपना प्रभुत्व जमाया। आगे चलकर बड़े-बड़े विहार बने। इन विहारों के स्तम्भों, छतों, और दरवाज़ों पर जातक की कहानियाँ और बुद्ध के जीवन की घटनाएं खोदी गईं। स्वयं बुद्ध की प्रतिमा अभी प्रचलित न हुई थी।

सम्राट अशोक के समय सैकड़ों संगमरमर के स्तम्भ बनाये गये। साँची, सारनाथ और अमरावती के स्तूप भी इसी समय के हैं। पहली शताब्दी तक गुफ़ाओं की कला काफ़ी आगे बढ़ चुकी थी। कार्ली और एलिफ़ैन्टा इसकी सुन्दर मिसालें हैं। इसके बाद गान्धार और कुशान कला में ग्रीक और बौद्ध विचार-धारा का सुन्दर समन्वय हुआ। पौर्वात्य और पाश्चात्य सांस्कृतिक धाराओं का यह मिलन, जिसकी आवश्यकता हजारों वर्षों बाद आज हम फिर अनुभव करते हैं, बौद्ध कलाकारों के प्रयास से प्राचीन काल में हुआ और विश्व-इतिहास में इसका बड़ा महत्व है।

लेकिन यदि किसी एक स्थान पर बौद्ध कला का पूरा इतिहास देखा जा सकता है तो वह है अजन्ता। भारत के ही नहीं वरन् सारे संसार के कला-प्रेमियों के लिये अजन्ता एक तीर्थस्थान है। वहाँ के छब्बीस विहारों और चैत्यों में ईसापूर्व पहली शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक की कला के नमूने हैं। मानवहृदय की गूढ़तम और सरलतम भावनाएं यहाँ प्रतिबिंबित हैं।

भारत के बाहर की कला पर भी बौद्ध प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि बर्मा और सिंहल, जावा और कांबोदिया, मलाया और श्याम, तिब्बत, चीन, जापान और कोरिया की कला के हर पहलू में उसका आभास है।

आज जब कि संसार भर में युद्ध के बादल गरज रहे हैं और मानव संस्कृति और कला ख़तरे में है, हम बड़े अभिमान के साथ अपने देश के सांस्कृतिक इतिहास के पन्ने उलट सकते हैं और बुद्ध के जीवन और संदेश से तथा बौद्ध कलाकारों और दार्शनिकों की प्रतिभा से प्रेरणा ले सकते हैं।

—लखनऊ से प्रसारित

आधुनिक भारतीय साहित्य

[यह भारतीय भाषाओं की इस वर्ष की गतिविधि का विहंगावलोकन मात्र है]

प्रभाकर माचवे

बंगला :

भिक्षु शीलभद्र द्वारा सम्पादित-अनुवादित 'थेरीगाथा' विजयचन्द्र मजूमदार के इसी प्रकार के प्राचीन कार्य का पुनर्वतार समझिये। पाली बौद्ध साहित्य की यह बहुत भावपूर्ण काव्यरचना है।

इसी तरह का एक और खोज-ग्रंथ है। सोलहवीं शती तीसरे चरणक के कवि द्विजमाधव का 'मंगला चंडीर गीत'। यह ग्रंथ इक्कीस हस्तलिखित ग्रंथों की छानबीन के बाद शुद्धपाठ निर्णीत करके लिखा गया है।

आख्यान-साहित्य के क्षेत्र में 'सवार उपरे' पूर्वी पश्चिमी बंग या हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के आठ तरुण गल्पलेखकों की कहानियों का संग्रह है। कहानी-लेखकों के नाम हैं मिहिरसेन, संदीपन चट्टोपाध्याय, शचीन भौमिक, मिराजुल इसलाम, अलाउद्दीन-आल-आज़ाद, नूरुल इसलाम, समरेश बसु और सलिल चौधुरी। इस प्रकार के मिले-जुले प्रकाशन हमारे और पड़ौसी देश के मैत्री संबंध के सूचक हैं।

सोमनाथ लाहिरी का गल्पसंग्रह 'कलियुगेर गल्प' उपन्यासों में रमेशचंद्र सेन का 'गौरीग्राम', गुलाम कुद्दूस का 'बाँदी', सुनील जाना का 'महानगरी', वरेन बसु का 'महानायक' एक दिशा की ओर सशक्त संकेत हैं। परंतु मुज्तबा अली का 'मयूर कंठी' भिन्न प्रकार का ग्रंथ है। उसमें इतिहास, दर्शन और कल्पना एकरंग हो गई हैं। इन ग्रंथों में वर्तमान बंगला-भाषी प्रदेश के सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण अधिकतर पाया जाता है। गाँव के लोग, उनके आपसी झगड़े, मध्यवृत्त लोगों की बौनी आत्माएं, दमित इच्छाएं, विकृतियाँ, रोमाँस की नयी भावना, यात्रा आदि के ये चित्र हैं, जिनके पीछे आर्थिक अभावों और संघर्षों की साग्निकता दुर्दान्त भाव से झलकती है।

नाटक के क्षेत्र में बहुरूपी, गणनाट्य संघ नाट्यचक्र तथा उत्तरसारथी आदि संस्थाएँ बंगाल के लोकनाट्य का वैज्ञानिक ढंग से पुनः अध्ययन कर रही हैं। उनकी ओर से कुछ मासिक पत्र केवल इसी विषय पर निकाले जाते हैं। निवारण पंडित नामक कृषक कवि और अमलकान्त नामक श्रमिक कवि की रचनाएं उसमें छपी हैं।

कविता के क्षेत्र में रवींद्रोत्तर-युग के बुद्धदेव बसु तथा प्रेमेन्द्र मित्र के काव्यविषय और कल्पना चित्रों में जहाँ एक प्रकार की विवश पुनरावृत्ति सी हो रही है, वहाँ जीवनानंद दास तथा दिनेशदास ने 'कल्लोल-युग' निर्माण किया है। 'वनलता सेन' (जीवनानंद दास के कविता-संग्रह) ने काव्यक्षेत्र में युगान्तर सा निर्माण किया। ब्रह्मांड जगत की, नक्षत्र लोक की विराट और भव्य उपमाएं जीवनानंद ने दीं, और एक नई काव्यभाषा का प्रणयन किया, जिसमें शब्दों में नये आशयों की छटा व्यक्त होती है। बौद्धिक-खंडित मानव की चिंताधारा का विदेशी प्रभाव और भूमिज संस्कारों की सशक्त जन-काव्योक्ति का समन्वय बंगला में हो रहा है।

मराठी :

खोज-ग्रंथों में डाक्टर ना. ग. जोशी के प्रबंध 'छंदोरचनेंतील लयतत्व' में फ्राँसीसी भाषा से लगा कर मराठी की बोलियों के जनगीतों तक सर्वत्र सूक्ष्मता से संव्याप्त 'आँदोलन' तत्व की वैज्ञानिक मीमाँसा है। साने गुरुजी के स्वप्न 'आँतर-भारती' के प्रथम प्रकाशन 'मन्हाटी संस्कृतिःकाही समस्या' में शं. बा. जोशी ने आर्यपूर्व भारत और आर्योत्तर भारत की साँस्कृतिक विचार-सरणि का नया पता दिया है। आर्य

पूर्व 'हट्ट' संस्कृति का अध्ययन 'पड्डु' नामक तमिल धातु के पट्टि> हट्टि> वादी निर्वचन से किया गया है। वेद और महाभारत कालीन यदु-तुर्वसु; अशोक कालीन रिष्टिक-भुजक, रामायण-कालीन ऋषिक-भोजक और मूल हट्टजन, करण-जन मरहट्टे की परंपरा की समाज वैज्ञानिक खोज जो लेखक ने की है, उसकी प्रशंसा विनोवा भावे ने भी की है।

संत-साहित्य के अध्ययन में न. र. फाटक के 'ज्ञानेश्वर' और अ. का. प्रयोलकर के 'मुक्तेश्वर ने नया प्रकाश डाला है। कृ. के. कोल्हटकर के 'पातंजल योगदर्शन अर्थात् भारतीय मानस शास्त्र' ग्रंथ को सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ का पुरस्कार मिला है।

उपन्यास के क्षेत्र में श्री ना. पेंडसे के 'गारंबीचा बापू' की बड़ी चर्चा है। यह उपन्यास कोंकण की ग्रामीण पार्श्वभूमि पर आधारित किसान जीवन की, उनके पारिवारिक कलह की सीधी-सहज कहानी है जिसमें प्रादेशिक रंग बहुत गहरा है। कविता के क्षेत्र में कुसुमाग्रज का नया संग्रह, 'किनारा', पु. शि. रेगे का 'गंध-रेखा', भ. श्री. पंडित का 'उन्मेष आणि उद्रेक' संग्रह अच्छे हैं, परंतु एक बारगी हृदय को झकझोर देने वाले नहीं। 'तापी-तीर नाम से खानदेश के कवियों का एक संग्रह निकला, जिस में अत्रे की भूमिका ने नवकाव्य के विषय में अपने पुराने मताग्रह को दुबारा जांचा है। तर्क-तीर्थ लक्ष्मण शास्त्री जोशी का शारदोपासक सम्मेलन में भाषण सौंदर्य-शास्त्र-विषयक नई विचार-दिशा प्रस्तुत करता है।

नाटक के क्षेत्र में मुक्ताबाई दीक्षित के 'जुगार' के बाद, मामा वरेरकर का 'अपूर्व-बंगाल' जोकि नोआखाली की पार्श्वभूमि पर लिखा गया, बहुत मर्मस्पर्शी था। 'जुगार' का अनुवाद 'जुआ' महादेवी वर्मा की भूमिका के साथ हिंदी में प्रकाशित हुआ। मामा वरेरकर का नाटक 'राजरानी सीता' प्रथमतः हिन्दी में हुआ। राँगणेकर के नाटक 'वहिनी' का अनुवाद भी हिंदी में छपा है।

गुजराती :

मराठी साहित्य के बाद गुजराती साहित्य की अधुनातम प्रवृत्तियाँ और प्रकाशनों का उल्लेख करना चाहता हूँ: अनवर आवान की 'गोरखवाणी' और 'वैताल कहे', वामनराव पटेल के 'ज्ञानेश्वर अने चाँगदेव', हरिप्रसाद गंगाशंकर शास्त्री का 'सांख्यसार तथा योगसार', कुछ नये प्रकाशन हैं। ये छोटी-छोटी पुस्तकें होने पर भी इनका मूल्य प्रभाव की दृष्टि से बहुत अधिक है। मनसुखलाल झवेरी और मगन वकील ने 'नयी कविता' नाम से गत बीस बरस की पचास चुनी हुई कविताओं का संग्रह प्रकाशित किया है। काव्य के क्षेत्र में अपद्यागद्य शैली में ईश्वरलाल व्यास ने 'अग्निज्वाला' काव्य लिखा है। रतन वेहेन फ़ौजदार ने अपने ५३ भक्तिरसपूरित गीतों का संग्रह 'गंगाधारा' प्रकाशित किया है। राजेन्द्र शाह की कविताओं ने गुजराती में अपना एक स्वतंत्र स्थान बना लिया है। उनके गीतों में ग्रामगीतों की मिठास जैसे नये आशय से घुलमिलकर प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त होती है।

गुजराती के गद्य प्रकाशनों में रमणलाल बसन्तलाल देसाई ने राणा प्रताप की गाथा को लेकर, शौर्यंगतार्पण' नाम से एक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा है। इसके लिए सामग्री जुटाने में उपन्यासकार ने बड़ी मिहनत की है। सामाजिक क्षेत्र में 'सरीजती रेती' के लेखक के उपन्यास का दूसरा भाग प्रकाशित हो जाने से उस पुस्तक के संबंध में जो धूल उठी थी, वह बहुत कुछ अब दब गई है। रवीन्द्र ठाकोर ने 'फाल्गुन' नाम से अपनी छोटी कहानियों का संग्रह और रामायण के उपेक्षित पात्र उर्मिला के आधार पर लिखा 'विस्मृता' नाम का नाटक प्रकाशित किया है। गंभीर ग्रंथों में मोहनलाल गाँधी तथा जेठालाल शाह ने वल्लभाचार्य की जीवनी प्रकाशित की है। 'सोमनाथ' पर एक सचित्र परिचय पुस्तिका रुक्मिणिराव भीमराव ने लिखी है। किशनसिंह चावड़ा की पुस्तक 'जिप्सीना आँखों' निबंध और रेखा चित्र के बीच की एक प्रयोगात्मक रचना है। प्रो० हीरालाल कापड़ियाने 'आगमोनु-

दर्शन' नाम से जैनदर्शन पर एक खोजपूर्ण ग्रंथ लिखा है और जीवनी साहित्य में अमूल्य रतिलाल मोहनलाल त्रिवेदी ने 'आचार्य आनंद-शंकर भाई : जीवन रेखा : संस्मरण' पुस्तक लिखी है।

तमिल :

तमिल भाषा में हास्यरस से भरे साप्ताहिक जितने लोकप्रिय हैं उतने शायद ही और कोई पत्र होंगे। कि० वा० जगन्नाथन् की कहानियाँ और देवन् के यात्रा-संस्मरण लोकप्रिय हैं। मराठी उपन्यासकार खांडेकर के अनुवाद तमिल में कई संस्करणों में छपे हैं। हिंदी से प्रेमचंद, जैनेन्द्र कुमार, सुदर्शन इत्यादि के जैसे अनुवाद तमिल में हुए उसी तरह से कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी के गुजराती ऐतिहासिक उपन्यास जैसे 'जय सोमनाथ' के अनुवाद तमिल में हुए हैं। कल्कि का चोल काल पर 'पार्थिवम् कनिव' (पार्थिव का स्वप्न) ऐतिहासिक उपन्यास है। कल्कि के उपन्यास 'कलविन् कादलि' का अनुवाद हिंदी में 'चोर की प्रेमिका' नाम से हुआ है। इसमें कहानी मनोवेधक है और जिसे सारा संसार चोर या डाकू समझता है, उसके हृदय की विशालता, उदारता और गहरे प्रेम का परिचय लेखक ने दिया है। इस पुस्तक के अनुवाद में मूल के चित्र भी ज्यों-के-त्यों दिये गये हैं, जो हिन्दी पाठक के लिए ज़रा विचित्र सी बात है। क्योंकि हिन्दी उपन्यास सचित्र शायद ही छपते हैं। वे चित्रों के बिना यानी विचित्र छपते हैं। एम. आर. जम्बुनाथन ने गतवर्ष के तमिल साहित्य के विषय में लिखा है कि पाठक व्यंग और मनोविनोद की रचनाएं अधिक पसंद करते हैं। सामाजिक नीतिमूल्य बराबर अदलते-बदलते जा रहे हैं और पश्चिम के लेखकों का प्रभाव, जैसे कहानियों में चमत्कारिक अंत करना आदि टेकनीक विषयक दृष्टि-भेद बराबर बढ़ता जा रहा है।

तमिल काव्य साहित्य में व्योत्तमंगलम् सुब्बु का गाँधीजी की जीवन-कथा पर आधारित 'गाँधी महानकदै' बहुत लोकप्रिय हुआ है। और कंबदासन् का 'गीत समाप्त होने से पहिले' या 'मुदीयु मुन्ये' बहुत अच्छी साहित्य-कृति मानी गयी है।

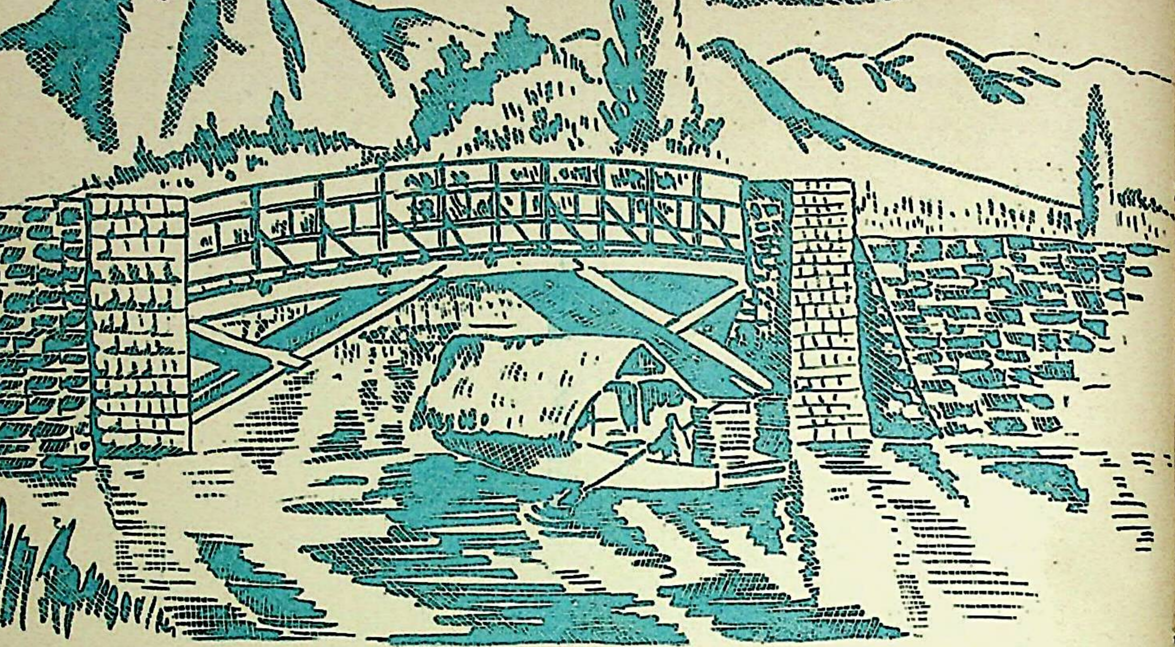
पंजाबी :

पंजाबी में इधर खोजपूर्ण ग्रंथों मे पंजाब यूनिवर्सिटी ने जी० बी० सिंह की 'गुरुमुखी लिपि' एक महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित की है। पंजाबी विभाग, पटियाला ने पंजाब के एक विशेष किस्सा-लेखक पर पुस्तक प्रकाशित की है।

इधर सबसे लोकप्रिय पुस्तक प्रिंसिपल तेजासिंह ने 'आरती' नाम से अपनी आत्मकथा लिखी है, जिसमें अकाली लहर तथा संत-सभा लहर के बड़े सूक्ष्म और व्यक्तिगत चित्र दिये हैं। यह पंजाबी गद्य की महत्वपूर्ण पुस्तक है।

पंजाबी कविता में देवेन्द्र सत्यार्थी की पुस्तक 'बुड्ढी नहीं धरती' और आख्यायिका साहित्य में करतार सिंह दुग्गल का 'नवा आदमी' मध्यवित्त वर्ग की मानसिक विकृतियों का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। उपन्यासकार नानकसिंह के 'आदमखोर' में शोषण की तस्वीर खींची गई है। बलवन्त गार्गी ने एक अच्छा नाटक लिखा जिसका नाम है 'कैसरो'। जी० एस० खोसला ने बहुत से एकांगी लिखे हैं।

—दिल्ली से प्रसारित



काश्मीर के संस्कृत कवि : कल्हण

आर० एल० शर्मा

कल्हण संस्कृत-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार माना जाता है। इतिहास के विषय पर एक ही काव्य लिख कर यह लेखक अमर हो गया। इस काव्य का नाम 'राजतरंगिणी' है, जो आठ खंडों में विभाजित है। इस ऐतिहासिक काव्य में कुल सात हज़ार आठ सौ छब्बीस श्लोक हैं। समूचे संस्कृत-साहित्य में इस ग्रंथ की टक्कर का इतिहास पर अन्य कोई ग्रंथ नहीं है।

कल्हण के पिता चंपक काश्मीर नरेश हर्ष के मंत्री थे। वह ईस्वी सन् १०७६ से लेकर ११०१ तक गद्दी पर रहे। चंपक राज्यभक्त थे। एक षड्यन्त्र के द्वारा जब महाराज हर्ष की हत्या कर दी गई तो चंपक मंत्रित्व के पद से अलग हो गये। संभवतः कल्हण का जन्म सन् ११०० के लगभग हुआ था। कल्हण के पिता की तरह उसका चाचा कनक भी महाराजा का बहुत भक्त था। हर्ष की हत्या के अनन्तर काश्मीर छोड़ कर वह काशी जा बसा। बड़े होकर कल्हण ने मंत्रित्व पद के लिये कदाचित् कोई प्रयत्न नहीं किया। वह सक्रिय राजनीति से उदासीन हो रहा पर अपनी प्रखर प्रतिभा से घटनाक्रम का अध्ययन करता रहा। यदि कल्हण अपने पिता की गद्दी पा जाता तो सम्भव था कि राज्यकार्यों में व्यस्त रहने के कारण वह 'राजतरंगिणी' जैसा उत्कृष्ठ काव्य न लिख सकता।

अपने पिता की तरह कल्हण शिवभक्त था पर शैव संप्रदाय के तांत्रिक आचारों में उसका विश्वास नहीं था। कल्हण की बौद्ध धर्म में बहुत आस्था थी और वह अहिंसा के सिद्धांत को मान्यता देता था। इसके बौद्धधर्म के वर्णन से मालूम होता है कि इस से बहुत पहले बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के अनुकूल बन चुका था। ग्यारह सौ उनचास में कल्हण ने अपने ग्रंथ को लिखना शुरू किया और एक वर्ष में उसे समाप्त कर दिया। कल्हण ने

लिखने की कला में कौशल प्राप्त करने के लिये अपने से पहले होने वाले कवियों के ग्रंथों का बड़े परिश्रम से अध्ययन किया था। कालिदास के काव्यों, बाण के हर्षचरित, बिल्हण के विक्रमदेवचरित, रामायण, महाभारत और वराहमिहिर की बृहत्संहिता की ओर कल्हण के ग्रंथ में जगह-जगह संकेत पाये जाते हैं। कल्हण ने निष्पक्ष हो कर और व्यक्तिगत भावनाओं से ऊपर उठकर जो कुछ अपनी आँखों से देखा उसे अपनी 'राजतरंगिणी' में लिखा है। कल्हण ने राज्य के योद्धाओं की कृतघ्नता और कायरता का तथा राजपुत्रों के साहस तथा भक्ति का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। उसने उन विदेशी सिपाहियों की प्रशंसा की है, जो वेतन लेकर सेना में काम करते थे और आड़े समय में राजा के काम आते थे। राजा अपने सिपाहियों की अपेक्षा इन विदेशी सिपाहियों पर अधिक विश्वास करता था। कल्हण ने नगरों में बसने वाली जनता के प्रति भी अनादर की भावना व्यक्त की है। उसका कहना है कि नागरिक आज एक राजा का स्वागत करते हैं, तो कल किसी दूसरे राजा का स्वागत करने के लिये तैयार हो जाते हैं। राज्य के अधिकारियों के लालच, भ्रष्टाचार तथा जनता के उत्पीड़न की चर्चा कल्हण ने जी खोलकर की है। पुरोहितों को भी कल्हण ने नहीं छोड़ा। ये लोग दान का पैसा पाकर बहुत समृद्ध हो रहे थे। यदि इनके कहने के अनुसार काम नहीं किया जाता था तो ये लोग आत्महत्या कर लेने की धमकी देते थे और इस तरह घटना-प्रवाह को अपनी इच्छा के अनुसार प्रभावित करना चाहते थे।

कल्हण ने लिखा है कि अपनी पुस्तक लिखने के लिये उसने बहुत-सी पुरानी पुस्तकों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों, प्राचीन सिक्कों और प्राचीन भवनों का निरीक्षण किया था। वह कश्मीर की चप्पा-चप्पा भूमि से परिचित था। अपने ग्रंथ को लिखने के लिये सब प्रकार की स्थानीय परम्पराओं का भी उसने आश्रय लिया था।

कल्हण ने कवि के रूप में यह ग्रंथ लिखा है, इसीलिये काव्य के नियम का पालन करने के लिये, जिसके अनुसार प्रत्येक काव्य में एक प्रधान रस का होना आवश्यक है, उसने इस काव्य में शान्तरस को प्रधानता दी है। वह राज्यलक्ष्मी और सांसारिक वैभव को नश्वर कहता है, तथा यश और सम्मान को अस्थायी। स्थान-स्थान पर वह उपदेशात्मक प्रवृत्ति का परिचय देता है, और प्रायः प्रत्येक घटना से कोई न कोई शिक्षा लेता है। उसकी वर्णन-शक्ति अद्भुत है। उसके काव्य में कल्पना, रस, अलंकार और भावों का सुन्दर समन्वय है। कल्हण की शैली सजीव तथा ओजपूर्ण है। बीच-बीच में नाटकीय ढंग के सुन्दर संवाद हैं। इतना अवश्य है कि कहीं-कहीं उसकी कालगणना भ्रांतिपूर्ण हो गई है। कुछ ऐसी घटनाओं का भी वह उल्लेख कर गया है, जो अंधविश्वास पर आश्रित होने के कारण असंगत प्रतीत होती हैं। कहा जाता है कि नवीं शताब्दी के पूर्व का इतिहास लिखने में उसने विवेचनात्मक बुद्धि से काम नहीं लिया। इतिहास लिखने के लिये मनुष्य को रागद्वेष से रहित होना चाहिये। इस बात का प्रतिपादन कल्हण इन शब्दों में करता है :—

श्लाध्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥

—वही लेखक प्रशंसा के योग्य समझा जा सकता है जिसकी वाणी रागद्वेष को छोड़कर जो बात जैसे हुई है, उसका वैसा ही वर्णन करे।

कल्हण की एक मार्मिक उक्ति देखिये, जिससे वह स्वामिभक्ति की भावना को पुष्टि करता है:—

क्षुत्क्षामस्तनयो वधूः परगृहप्रेष्यावसन्नः सुहृद्
दुग्धा गौरशनाद्यभावविवशा हम्वारवोद्गारिणी।
निष्पथ्यौ पितरावदूरमरणौ स्वामी द्विषन्निर्जितो-
दृष्टो येन परं न तस्य निरये भोक्तव्यमस्त्यप्रियम्॥

—जिस मनुष्य ने भूख से सूखे हुए पुत्र को, दूसरे के घर में सेवा करने वाली पत्नी को,

विपत्तिग्रस्त मित्र को, दुही हुई किन्तु चारे के अभाव में भूखी खड़ी रँभाती हुई गौ को, पथ्य के अभाव में रोगशय्या पर पड़े हुए माता-पिता को तथा बैरी से पराजित हुए अपने स्वामी को देख लिया, उसे नरक में जाकर इससे अधिक अप्रिय दृश्य और क्या देखना है ?

दुष्कर्मों का परिणाम कैसे मिलता है, इस पर कल्हण कहता है:—

यो यं जनापकरणाय सृजत्युपायम्
तेनैव तस्य नियमेन भवेद् विनाशः ।
धूमं प्रसौति नयनान्ध्यकरं यमग्नि-
र्भूत्वाम्बुदः स शमयेत् सलिलैस्तमेव ।।

—जो मनुष्य किसी के विनाश के लिये कोई उपाय सोचता है, उस उपाय से उसका ही विनाश हो जाता है। अग्नि आँखों को अन्धा करने वाले जिस धुएँ को पैदा करती है वह धुआँ बादल में परिवर्तित होकर अपने जल से उस अग्नि को ही बुझा देता है।

राजा के चाटुकारों के सम्बन्ध में कल्हण का कहना है :—

ये केचिन्नु शाठ्यमौग्ध्यनिधयस्ते भूभृतो रञ्जकाः ।।

—जो लोग धूर्तता तथा मूर्खता के भंडार हैं वे ही राजाओं को प्रसन्न कर सकते हैं।

राजाओं के सम्बन्ध में कहा हुआ कल्हण का यह पद्य सुनिये :

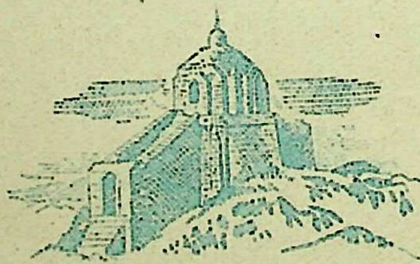
चित्रं नृपद्विपाः पूतमूर्तयः कीर्तिनिर्झरैः ।
भवन्ति व्यसनासक्तिपांसुस्नानमलीमसाः ।

—बड़ा आश्चर्य है कि जिस प्रकार हाथी झरनों में स्नान करके पवित्र होने के बाद फिर धूल में लोटकर मलिन हो जाते हैं, उसी प्रकार राजा लोग भी अपने यश में स्नान करके पवित्र होने के अनन्तर दुर्व्यसनों में आसक्त होकर फिर मलिन हो जाते हैं।

कल्हण ने लिखा है कि कश्मीर के राजाओं का इतिवृत्त लिखने के लिये उसने अपने से पहले लिखे हुए इतिहास के ग्यारह ग्रन्थों का उपयोग किया है। उसने यह भी कहा है कि राजकीय पुस्तकालय में इतिहास पर लिखे हुए कई ग्रन्थ उसने देखे थे, पर क्योंकि वे ग्रन्थ कीड़ों से खा लिये गये थे, अतः वे निकम्मे हो चुके थे।

इस बात की ओर ध्यान दिलाना अनुचित न होगा कि 'राजतरंगिणी' जैसी उत्कृष्ट पुस्तक में भी लेखक ने कल्पना का सहारा लेकर कई स्थानों पर ऐतिहासिक तत्त्व की अवहेलना की है। इसलिये जब प्रो० कीथ संस्कृत के इस सर्वश्रेष्ठ इतिहास-लेखक को यूनान के हीरोडोटस जैसे साधारण इतिहास लेखक के भी तुल्य नहीं ठहराते, तो हमें बुरा न मानना चाहिए।

—जालंधर से प्रसारित



ज़िन्दगी के आइने में रेडियो



रज़िया सज्जाद ज़हीर

कुछ ऐसे ही जाड़े होते थे जैसे आजकल हैं; हम लोग रात को अपनी दादी अम्मां (ख़ुदा उन्हें बख़्शे) के लिहाफ़ में घुस जाया करते थे, चारों तरफ़ हम लोगों के नन्हें-मुन्ने काले सर होते और बीच में दादी अम्मां की सफ़ेद भुक ज़ुल्फ़ें और फिर चलने लगतीं पहेलियाँ, कहानियाँ और जने क्या-क्या। मुझे एक पहेली बहुत पसन्द हुआ करती थी, 'जनाब आली, सर पर जाली, पसलियाँ बहुत, पेट खाली...... इस पहेली का तो जो जवाब हो सो हो, मगर हाँ एक और पहेली साइंस ने भी ईजाद की है जिससे आप इस वक्त मेरी आवाज़ भी सुन रहे हैं। सामने से देखिये तो कुछ लकड़ियाँ, तार लटों की तरह लटकते हुए, दो कान.....ज़रा गोशमाली की, इक ज़रा छेड़िये, फिर देखिये क्या होता है.....और हाँ, मकान के ऊपर एक लम्बा तड़ंगा बाँस, जैसे कबूतरों का ठाठर.......कुल जमा यह तो आप की क़ायनात और इनके ज़रिये घर बैठे दुनिया की सैर कीजिये, न अलाउदीन के चिराग़ की ज़रूरत, न उड़ने वाले क़ालीन की। बड़ी-बूढ़ियाँ जब किसी की सुरत रफ़्तारी बयान करना चाहती थीं तो कहती थीं: "नाज़ बीबी, क्या निगोड़ी सुई की चाल चलती हो," काश वह यह भी देखतीं कि एक सुई ऐसी भी होती है जिसकी चाल के साथ इंसान कभी यूरोप पहुँचता है, कभी अमरीका, कभी एशिया, तो कभी अफ़्रीका, जो दूर-दराज़ के दोस्तों की आवाज़ें, मुल्कों-मुल्कों के गाने, देश-देश की खबरें कानों तक पहुँचाती है। सुबह-सुबह रेडियो खोलिये......यह क्या है भई......यूँ उलटे लटकिये, यूँ हाथ घुमाइये, यूँ पैर फेंकिये चाहे दौड़कर आये हों मगर सांस बड़े जोरों पर लीजिये......ओह......अच्छा......वर्ज़िश के उसूल बताये जा रहे हैं, आप अपने बिस्तर पर लेटे सुन रहे हैं मगर बस, यही तो बात है आख़िर कब तक लेटे-लेटे सुनियेगा, कुछ तो आप का ज़मीर मलामत करेगा ही, ज़ाहिर है कि अगर आप के सामने कोई भला आदमी इस तरह करतब करता रहे तो आप कब तक साकित बैठे रहेंगे। दो-चार हाथ तो मारेंगे ही, बस रेडियो का मकसद पूरा हो गया, उसने आपको यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि वर्ज़िश किये बग़ैर आप तन्दुरुस्त नहीं रह सकते। यही नहीं, रेडियो अक्सर इस वक्त आपको ख़ुदा की भी याद दिला देता है, सुबह के सुहाने वक्त में रेडियो से निकलते हुए यह भजन और मार्फ़त के गीत आपको यकायक याद दिलाते हैं कि कल सोते वक्त आप दुआ माँगना भूल गये थे, चुनाँचे आप तोबा करते हैं और आइन्दा से अपने पैदा करने वाले का नाम लेने और उसके बन्दों से मुहब्बत करने का पक्का इरादा करते हैं। इतने में चाय आकर मेज़ पर लग जाती है, आप चाय उंडेलते हैं और यकायक रेडियो में से बड़े ज़ोर से किसी बाजे की आवाज़ आती है, आप उछल पड़ते हैं, चमचे से शक्कर ज़मीन पर गिर जाती है, तोबा है। इस ज़माने में शक्कर ज़ाया करना जुर्म के बराबर है। ख़ैर, क्या किया जाये। मालूम होता है सितार बज रहा है; सितार, सारंगी, दिलरुबा, तबला सब आपकी निगाहों

के सामने नाचने लगते हैं और आप गुनगुनाते हैं, "कद्दू काट मिरदंग बजाया, नीबू काट मजीरा, सात तुरइयां मंगल गावें, नाचे बालम खीरा·····" हिन्दुस्तान की अज़ीमुश्शान मौसीक़ी तारीख़ आपके ज़हन में घूमने लगती है। मौसीक़ी···रूह की गिज़ा, जो आदमी को आसमानों तक पहुँचाती है, जो इंसान में एहसासे विज्दानी पैदा करती है, और उस फ़न के बेहतरीन फ़नकार का बेहतरीन शाहकार चन्द लकड़ियों और जाली के बने हुये इन जनावआली से सुन लीजिये जिन्हें रेडियो कहते हैं। एक ऊँचे किस्म का राग जाली से निकलता है। सुबह का वक्त है, तबियत हल्की फुल्की है इसलिये आप इस बुलन्द राग का एहतराम करते हुए आहिस्तगी से सुई घुमाते हैं और खिड़की से एक खूबसूरत दर्दमन्द आवाज़ सुनाई देती है ·······"साथ हमारा छूटे ना, छूटे ना" आपका ज़हन कहीं से कहीं जा पहुँचता है। वह सूरत आपकी निगाहों में फिरने लगती है जो आपको बहुत प्यारी है जो दूर रह कर भी हमेशा नज़दीक, अलग रह कर भी हमेशा क़रीब रहती है, जिसका साथ आप कभी नहीं चाहते कि छूटे······· । लीजिए मैं भी क्या रूमानी बातें करने लगी·······बहर हाल किसी का साथ किसी से रहे या छूटे मगर आप अगर माडरन इंसान हैं तो रेडियो से आप का साथ नहीं छूट सकता। आप ऐसी महवीयत के आलम में हैं कि घड़ी ८ बजाती है, अब आप रूमानियत छोड़िये और हकीकतों की दुनियां में आ जाइये, रेडियो का यह नन्हा मुन्ना सा किवाड़ आप पर दुनियां की ख़बरों के दरवाज़े खोल देता है। हिन्दुस्तान में, पाकिस्तान में, यूरुप, एशिया, अमेरिका में और खुदा आपका भला करे, खुद आपके शहर में क्या हो रहा है, दुनियां में किसी जगह कोई हुकूमत बदले, कैसा ही इन्क़लाब हो, कितनी ही तबदीली हो, कोई मरे कोई जिये, आप सब कुछ घर बैठे ही सुन लीजिये। एक बात ज़रूर है, बड़े आदमियों का तो रेडियो से नाक में दम रहता होगा, हालांकि यह भी है कि लुत्फ़ भी खूब आता होगा। अच्छा, फ़र्ज़ कर लीजिये आप कोई बड़े आदमी थे और मर गये····· मेरा मतलब है झूटमूट, वैसे आपके बैरी दुश्मन मरें······हज़ारों लोग ऐसे हैं जो आपसे मुहब्बत करते हैं, जनाज़े को देखना चाहते हैं, अक़ीदत में आंसुओं के दो फूल भी चढ़ाना चाहते हैं·······बस बटन दबायें और देखने लगें, अब जनाज़ा यहाँ पहुँचा, अब वहाँ, अब इस तरफ से फूल बरसे अब उधर से, अब फ़ौज सलामी दे रही है, अब जहाज़ी, अब लोग मोटरों से उतर गये, पैदल जनाज़े के साथ चल रहे हैं·······तोबा·······आप कहेंगे यह सब भी क्या कोई कहने की बातें हैं····जाने दीजिये और दस बजे तक तो रेडियो भी बन्द ही हो जाता है। अब आप दफ़्तर जायेंगे·······है ना? और दफ़्तर की मेज़ से दोपहर का खाना खाने जब आप ऊठेंगे या किसी रेस्टूरेंट में जायेंगे तो सड़क पर जगह जगह लोगों के गिरोह खड़े दिखाई देंगे, ज़ाहिर है कि चूरन वहाँ बिक नहीं सकता, रीछ का तमाशा हो नहीं सकता और हाथ दिखलवाने की इस मसरूफ़ जिन्दगी में किसे फ़ुर्सत, तो फिर क्या है, भई? भीड़ चीरते हुये आप अन्दर घुसते हैं मालूम होता है ओहो! क्रिकिट पर कमेन्टरी आ रही है, वह बाल, गई, वह हिट पड़ी, वह फ़ील्डिंग, वह कैच, वह फ़लाँ दौड़ा, हाय हाय रह गया, बाल जाके विकट में लगी, विकट ज़मीन पर लेट गई जैसे आँधी का मारा दरख़्त, आपकी आँखों के सामने समाँ सा खिंच जाता है, घण्टों जमे खड़े हैं, न जी घबराता है न टाँगें थकती हैं·······और जब दफ़्तर से घर लौटते हैं तो बीवी दरवाज़े पर मुसकुराती हुई आपका इस्तक़बाल करने को मौजूद होती हैं। आप हैरान होते हैं, रोज़ तो बीवी बावरचीख़ाने में मिला करती थी, आज दरवाज़े पर, और वह भी मुसकुराती हुई, उन की त्योरियों पर जो बल रहा करता था वह क्या हुआ, चाय बिलकुल तैयार कैसे रक्खी है······· और आज वह दौड़ दौड़ कर बावरचीख़ाने से चीज़ें लाने के बजाये मेज़ पर खुद क्यों आके

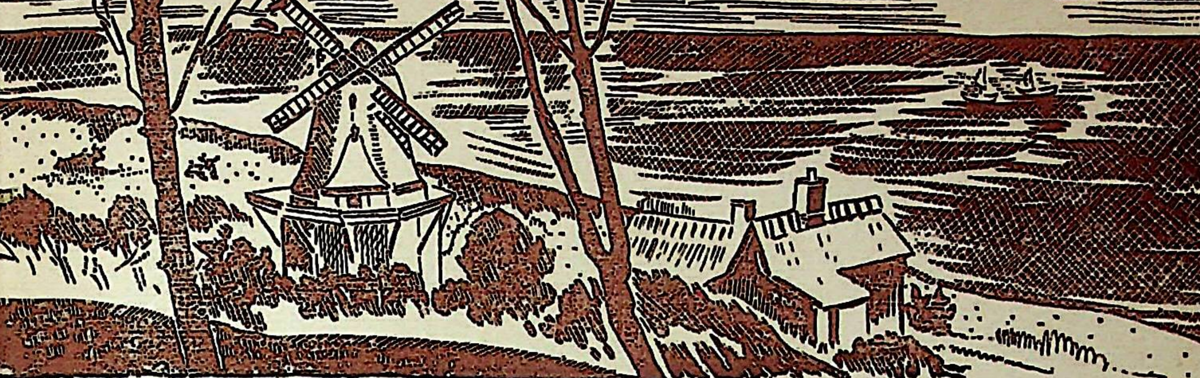
बैठ गईं और चाय बनाने लगी……आईये मैं आपको चुपके से बता दूं……आपकी बेगम आपकी ग़ैरहाज़िरी में कुछ करती रही हैं…… घबराईये नहीं, कोई ऐसी वैसी बात थोड़ा ही है, सिर्फ दोपहर को औरतों का प्रोग्राम था रेडियो में और वह सुनती रहीं। घरेलू झगड़ों के बारे में एक तकरीर थी और कुछ इसी तरह के माज़ू पर एक छोटा सा ड्रामा भी था, चुनांचे उन्होंने कान खोलकर सुना और इस नतीजे पर पहुँचीं कि शाम को अगर दिन भर के थके मांदे शौहर का मुस्कुराहट से इस्तक़बाल किया जाय तो घरेलू ज़िन्दगी की खुशगवारी पर बड़ा असर पड़ता है और यह कि शौहर की ख्वाहिश होती है कि बीबी सिर्फ उसके पेट की खबर न रक्खे, ज़हन और दिल पर भी कुछ तवज्जाह दे, कि मुहब्बत करने वाला शौहर हाकिम नहीं साथी बनना चाहता है। ख़ैर……चाय पर एक नई मिठाई नज़र आती है, एक टुकड़ा उठाइये, खाइये बहुत मज़ेदार, क्या कहना…ख़ैर……यह तो आपका ज़ाती मामला है मैं इसमें दख़ल देने, वाली कौन हूँ? मगर इस डिब्बे का शुक्रिया अदा करना न भूल जाइयेगा, मेरा मतलब है रेडियो का जिससे बेगम बग़ैर राशन वाले खाने पकाने की तरकीबें सीखती हैं…… और हां, वह नया स्वेटर जो आप कल पहने थे न, वही जिस की बड़े साहब ने भी तारीफ़ की थी तो उसकी बुनाई भी रेडियो ही से सीखी गई थी। इतवार के दिन अगर आप काफी-हाऊस न चले गये तो रेडियो से आप तरह तरह की नन्हीं मुन्नी प्यारी आवाज़ें सुनेंगे, छोटे छोटे किस्से कहानियां, पहेलियां, नज़्में, और आप सोचिये कि जो बच्चे इन प्रोग्रामों में शामिल होते हैं उनमें वाकई सिफतें पैदा हो जाती हैं। पढ़ने का शौक़, गाने का शौक, मिल जुल कर बातें करने का सलीक़ा, और सबसे बढ़ कर, बेझिझक, अपनी बात कहने की हिम्मत, गोया रेडियो में बोलने वाला बच्चा बड़ा होकर स्टेज से तकरीर करने की और फिर अपने मालूमात को दूसरों तक कामयाबी से पहुँचाने की ट्रेनिंग पा रहा है, शाम को अगर सात और आठ बजे के दरमियान आप घर में हैं तो रेडियो खोल सकते हैं। यह क्या? नई किताबों पर रिव्यू''अब कल आप जाकर ज़रूर इनमें से एक दो किताबें खरीदेंगे। और अगर इसी तरह किताबें ख़रीदते रहे और आपको इसका शौक़ पैदा हो गया तो इधर उधर जो पैसे बरबाद होते हैं वह रफ़ता रफ़ता आपके घर में एक छोटी सी लायब्रेरी की शक्ल अख़्तयार करेंगे। और फिर आपकी मालूमात कहाँ से कहाँ पहुँचेगी? इसके लिये भी आपको रेडियो का मशक़ूर होना पड़ेगा, चौबीस घण्टे में किसी ख़ास वक्त पर रेडियो हर शख़्स के लिए उसकी दिलचस्पी की चीज़ें मुहय्या करता रहता है, आपको अधिक अनाज उगाओ से दिलचस्पी हो या फ़लसफ़े से, तालीम से लगाव हो या सेहत से, इलेक्शन से दिलचस्पी हो या किताबों से, शायरी से ज़ौक़ हो या शिकार से, साएकालोज़ी से चाहत हो या विटामिन का शौक़, मनाज़िरे कुदरत से मुहब्बत हो या मशीनों से, ज़िन्दगी के किसी न किसी अहम मसले पर आप कोई तक़रीर सुन सकते हैं, कभी उर्दू में, कभी हिन्दी में, कभी अंग्रेज़ी में।……अगर ग़ैर मुल्की स्टेशनों पर सुई लगा दीजिये तो तरह तरह की ज़बानें, किस्म किस्म के गाने, रङ्ग रङ्ग की आवाज़ें, भांति भांति के साज़ आपके सामने मौजूद, अलिफ़ लैला का मज़ा आने लगे…… सिर्फ इसी पर बस नहीं। रेडियो आपके सोये हुये जज़्बात को भी झिंझोड़ कर जगा देता है, ठन्डे वलवलों में फिर से गर्मी दौड़ा देता है, अच्छा सच कहियेगा, जब योमे आज़ादी के मौके पर देहली से कमेन्ट्री आ रही थी, तो आपके दिल में जोश पैदा हुआ था कि नहीं, जब आप ने कानों से सुना था कि लाल किले पर तिरङ्गा लहराया जा रहा है तो आपके ज़हन में अपने मुल्क की अज़मत और तहरीक़े आज़ादी की अज़ीमुश्शान जिद्दो जहद का नकशा खिंचा था या नहीं, आपको यह ऐहसास हुआ था कि नहीं कि अब आज़ाद मुल्क के आज़ाद शहरी की

हैसियत से आपका फ़र्ज़ बहुत कुछ बढ़ गया है। आप को अभी बहुत कुछ करना है, और यह भी याद रहे कि जिस ज़माने में लड़ाई हो रही थी कितने दिलों को रेडियो से तसकीन पहुँचती थी, फ़ौजियों के प्रोग्राम और उनके हालात सुनने को कितने बेचैन दिल, जिनके अज़ीज़ महाज़ पर लड़ रहे थे, उम्मीद का दामन पकड़े इस नन्हें से किवाड़ का मुंह ताका करते थे...... हाँ यह सब कुछ है मगर भई एक बात हम ज़रूर कहेंगे...... कभी कभी रेडियो ज़िन्दगी में अजीब मसायल भी तो पैदा करता है—मसलन बीवी रिकार्डेड म्यूज़िक पर जान देती हैं, मियाँ क्रिकिट कमेन्ट्री पर मरते हैं, रिकार्डेड म्यूज़िक कलकत्ते से आ रही है और कमेन्ट्री लखनऊ से, रेडियो की सुई तो एक ही ठहरी। अब क्या हो ? चुनांचे अक्सर नज़ला रेडियो पर गिरता है। कभी उसका कान इधर खींचा जाता है, कभी उधर और यकायक सब कुछ बन्द कर दिया जाता है, चलिये छुट्टी। न रहे बांस न बजे बांसुरी। कभी ऐसा भी होता है कि मोहल्ले में या बिलडिंग में सिर्फ़ आप ही के पास रेडियो है। रात के दस बजे जब आप पलङ्ग पर लेटने और ख़्वाब में अपने महबूब को देखने की तैयारी करते होते हैं, दरवाज़े पर एक दस्तक होती है आप उंह कहके दरवाज़ा खोलते हैं, और आपके पड़ौसी माफ़ी मांगते हुए अन्दर आ जाते हैं, "माफ़ कीजियेगा, वह आज सागर जी का ड्रामा है,....वह मैं....सुन सकता हूं.... बात यह है कि वह.. मुझे ड्रामे से ज़रा दिलचस्पी है"....और जब वह रेडियो का कान घुमाते हैं तो आप पर यह हक़ीक़त खुलती है कि उन्हें ड्रामे से ज़रा नहीं, बहुत दिलचस्पी है अब ज़ाहिर है कि आप इख़लाकन नहीं तो कमअज़ कम इसलिये तो वहां बैठेंगे ही कि जब पड़ोसी जायेंगे तो दरवाज़ा कौन बन्द करेगा और आप बैठ जायेंगे तो बेगम काफ़ी भी बनायेंगी। चलिये बारह बजे रात तक का नुस्ख़ा हो गया, लेकिन इन सब बातों के बावजूद भी आप इस हक़ीक़त से इनकार नहीं कर सकते कि आज रेडियो के बग़ैर ज़िन्दगी का तसव्वर नहीं किया जा सकता, कि रेडियो हमारे ज़ौक़ के हर पहलू के लिए कुछ न कुछ तसक़ीन मुहय्या कराता है, बहुत से फ़ुनूने लतीफ़ा का हमको ऐहसास करता है और इस तरह ज़िंदगी पर एक गहरा असर डालता है।

—लखनऊ से प्रसारित

पुस्तकें और मैं

बाल्य-काल से ही मैं पुस्तकें पढ़ता चला आ रहा हूँ। अभी तक कितनी ही पुस्तकें पढ़ चुका हूँ। भविष्य में भी न जाने कितनी पुस्तकें मैं और पढ़ूँगा। बात यह है कि पुस्तकें पढ़ना ही मेरे लिये अब एक व्यवसाय है। उन्हीं पर मेरा जीवन निर्भर है। पुस्तकें न पढ़ूँ तो मेरा काम ही बंद हो जावेगा। एक प्रसिद्ध विज्ञ का कथन है कि पुस्तकों से बढ़कर कोई दूसरा सहचर नहीं है। पर मेरे लिये पुस्तकें ही सब कुछ हैं, वही प्रभु हैं, वही सखा हैं, वही गुरु हैं, वही अनुचर हैं, वही विद्या हैं और सम्पत्ति हैं। कहा जाता है कि ग्रीस के प्रसिद्ध कवि होमर ने एक बार एक मछुये से पूछा कि तुम्हारे पास क्या है। मछुये ने उत्तर दिया कि जो कुछ मैंने खूब परिश्रम से पकड़ा वह तो मेरे हाथ से निकल गया, और जिसे मैंने नहीं पकड़ा वही अनायास मेरे हाथ में आ गया है। मुझे भी ऐसा जान पड़ता है कि सीखने के लिये मैंने जो-जो पुस्तकें पढ़ीं, उन्हें तो मैं भूल गया हूँ। (पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी—नागपुर)



डेन्मार्क में कृषि-व्यवस्था

धर्मलाल सिंह

साधारणतः लोगों में यह धारणा है कि ठेठ किसान सीधे और शान्त होते हैं। यह धारणा किसानों के देश डेनमार्क की शान्ति और सुख-सम्पन्नता को देखने से प्रमाणित हो जाती है।

डेन्मार्क में खेती और पशुपालन दो अलग-अलग विषय नहीं हैं: वे एक ही वृक्ष की दो प्रबल शाखाएँ हैं। कृषि प्रधान भारत के गाँवों की हालत जितनी डेन्मार्क से मिलती-जुलती है, उतनी यूरोप के किसी अन्य देश से नहीं मिलती। ज़मीन की मिट्टी बहुधा काली होती है। पहाड़ नहीं के बराबर हैं। नीची-ऊँची भूमि और जगह-जगह मछलियों से भरी झीलें और पोखर हैं। इसलिये उत्तर बिहार से उसकी बहुत कुछ समानता है। मछली का व्यापार भी अच्छा है। यह देश कुशल मल्लाहों की जननी है। भारत ही के समान मछट्टे पर मल्लाहिन मछली बेचती है। संसार में डेन्मार्क ही एक ऐसा देश है जिसने खेती और पशुपालन द्वारा अपने को स्वावलम्बी बना लिया है। उस देश से विदेश में बिकने के लिये जाने वाले माल में ७५ प्रतिशत खेतों और पशुओं से उत्पन्न वस्तुएँ रहती हैं।

बिहार के गाँवों के समान ही वहाँ किसानों का घर बहुधा चौघरा रहता है। सामने के सुन्दर और सजे भाग में किसान का निवास-स्थान होता है। पिछले भाग में गाय, घोड़ा, भेड़ आदि विशेषतः जाड़े में रखे जाते हैं। सूअर, मुर्ग़ी, ख़रगोश तथा माल-असबाब बग़ल के घर में रहते हैं। यूरोप में भेड़ बहुसंख्या में, किन्तु बकरी कम पाली जाती है। घर के निकट सफ़ाई के साथ सजा हुआ कम्पोस्ट का ढेर होता है। गोबर, मूत्र और कूड़े-कचड़े का ढेर हमारे गाँवों के घरों के निकट भी रहता है, लेकिन सफ़ाई और सुघराई की दृष्टि से, दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। घर के सामने एक ओर सेब, अंगूर, नाशपाती आदि फलों से लदे हुए वृक्ष खड़े रहते हैं और दूसरी ओर, विविध तरकारियों की क्यारियाँ अपनी हरीतिमा से दर्शकों के मन को मुग्ध कर लेती हैं। खेत आयताकार होते हैं और अधिक लम्बाई के कारण घोड़े आसानी से घूम कर हल चला लेते हैं।

डेन्मार्क में खेती वैज्ञानिक ढंग से की जाती है। वहाँ यह सिद्धान्त-सा बन गया है कि पाँच एकड़ ज़मीन हो और परिवार स्वावलम्बी बन जाए। छोटे-छोटे क्षेत्र या होल्डिंग बहुत पसन्द किये जाते हैं। हमारे देश की तरह वहाँ भी

बहुत अधिक भूमि देवस्थानों याने गिरजाघरों और अमीर-उमरावों के अधीन है। सरकार उसे धीरे-धीरे ले रही है। इस प्रकार की विस्तृत भूमि में बीच से रास्ता बना कर, बिजली और नहर के साथ-साथ नमूनेदार घर बनाये जाते हैं और परिवार के कुटुम्ब की संख्या के अनुपात से, ५ से १५ एकड़ तक ज़मीन देकर किसानों को बसाया जाता है। इस तरह के नवीन बसे हुए अभी २० हज़ार परिवार हैं। भूमि और भवन के लागत मूल्य की वापसी, ६ प्रतिशत तक की वार्षिक किस्त में सरकार चौथे वर्ष से लिया करती है। खेती के लिये कर्ज़ देने के हेतु वहाँ सहकारी भूमि पर ऋण देने वाले अनेक बैंक तथा सेविंग्स बैंक हैं।

अधिक ज़मीन के क्षेत्र पसन्द न होने के कई कारण बतलाये जाते हैं। कम भूमि जोतने वाला जी लगाकर मेहनत करता है और अधिक उपजा लेता है। साथ ही परिवार पीछे दो-दो, चार-चार पशु पालने ही पड़ते हैं। इससे उस इलाके में कृषि की रीढ़, पशुपालन का धन्धा बड़े पैमाने पर फैल जाता है। किसानों का ख़याल है कि पशु बिना ज़मीन और ज़मीन बिना पशु घाटे की जड़ है। इसलिये वे अधिक ज़मीन जोतने अथवा सभी ज़मीन को एकत्रित कर बड़े-बड़े क्षेत्रों में बाँट कर मशीन द्वारा खेती करने के विरुद्ध हैं। उनकी युक्ति है कि इससे बेकारी बढ़ती है और अपनापन का भाव मिट जाने से लोग मन लगाकर मेहनत नहीं करते। मज़दूर लगाने से खेती करने का ख़र्च बहुत बढ़ जाता है। सम्हाल से अधिक भूमि जोतने वाला, छोटे किसान की अपेक्षा, कम औसत में उपजाता है और कम पशु पालता है। उनकी उपज डेढ़-गुनी और पशु की संख्या तीन-चार गुनी घट जाती है। इससे राष्ट्र को हानि होती है।

डेन्मार्क के किसान अपनी भूमि को लोहे के जाल में घेर कर छः हिस्सों में बाँटते हैं। रासायनिक खाद के साथ मिलाकर कम्पोस्ट डालते हैं। गोबर और लकड़ी नहीं जलाते। बिजली, गैस या स्टोव पर रसोई पकाते हैं। क्षेत्र के सभी भाग में अदल-बदल कर पारी-पारी से फसल लगाते हैं। पहले भाग में दलहन के साथ जौ, दूसरे और तीसरे में घास, चौथे में जई, पाँचवे में गेहूँ और छठे में कन्द लगाते हैं और प्रति वर्ष क्रमशः हर क्षेत्र की फसल को बदलते जाते हैं। हर क्षेत्र में तीन वर्ष तक फसल और चौथे वर्ष कन्द लगाते हैं और फिर उसके बाद दो वर्ष तक घास लगा कर आराम देते हैं। घास की अवस्था में भी उनके पशु, जो जाड़े के अतिरिक्त चरागाह पर दिन-रात खुले घूमते हैं, बराबर गोबर, मूत्र डालते जाते हैं। इससे खेत की उपजाऊ शक्ति बढ़ती जाती है। लेकिन किसान इसके अतिरिक्त घास के खेत में गोबर, मूत्र और रासायनिक खाद से तैयार पानी गर्मी में दो बार छिड़कते हैं। इस प्रकार परती पड़ी हुई ज़मीन, फसल बोने पर स्वभावतः अन्न उगलने लगती है। इन दोनों क्रियाओं से अर्थात् क्रमशः खेत में अन्न और घास उपजाने के कारण क्षीणित शक्ति ही वापस नहीं मिलती, बल्कि ज़मीन में नई ताकत आ जाती है। यही कारण है कि जहाँ भारतवर्ष में एकड़ पीछे औसत तीन मन तथा अमेरिका में सात मन गेहूँ पैदा होता है, वहाँ डेन्मार्क में १५ मन होता है। ज़मीन में खाद डालते रहने पर भी तीसरे वर्ष के पश्चात् उपज की औसत घटने लगती है। ज़मीन आराम खोजती है, इसलिये चौथे वर्ष कन्द उपजाते हैं और दो वर्ष घास के लिये छोड़ते हैं। इस उलट-पलट से ज़मीन की उर्वरा शक्ति प्रखर होकर फूट पड़ती है। फल यह होता है कि हिन्दुस्तान की तीन-फसला ज़मीन डेन्मार्क की एक-फसला ज़मीन से भी गई-गुज़री है।

कष्ट-सहिष्णु, बुद्धिमान् डेनिश किसान अपना समय क्षण भर भी व्यर्थ नहीं बिताते। वे स्वयं हल चलाते, निकोनी करते, फ़सल काटते और अनाज़ तैयार करते हैं।

उनकी स्त्रियाँ भी सचमुच अर्द्धांगिनी हैं। वे घर की परिचर्या के साथ-साथ पशु को खिलाती-पिलाती और चराती हैं, दूध दूहती हैं और घर में मितव्ययिता से सारा प्रबंध करती हैं। हाँ, एक सुविधा उनको है। वहाँ के विद्यालयों में फसल काटने और लगाने के समय वर्ष में दो बार लम्बी छुट्टी हुआ करती है। उस समय बच्चे घर पर उपस्थित रहते हैं और माता पिता के काम में सहायता करते हैं। खर्च की कमी और उपज की बढ़ती की रफ्तार देखकर किसी को आश्चर्य नहीं होता कि कोई देश केवल खेती और पशु-पालन से भी स्वावलम्बी बन सकता है।

संसार में सब से उन्नत दुग्धालय (डेयरी फार्म) डेन्मार्क में ही है। डेनिश गाय औसतन् बीस पौंड दूध देती है जब कि हालैंड में १८ पौंड, अमेरिका में १४ पौंड, इंगलैंड में ११ पौंड और भारत में दो पौंड का अनुपात है। वहाँ निर्यात की सबसे प्रधान वस्तु दुग्ध पदार्थ है। सन् १६२० में इन पदार्थों से डेन्मार्क को लगभग चार अरब रुपयों की आमदनी हुई थी।

अधिक भूमि के मालिक अपनी ज़मीन को या तो छोटे-छोटे किसानों को वार्षिक मालगुज़ारी पर देते हैं, अथवा मज़दूर रखकर खेती करवाते हैं। मज़दूर दो प्रकार के होते हैं। एक स्थायी और दूसरे अस्थायी। स्थायी मज़दूर को मालिक रहने के लिये घर एवं अधिक मज़दूरी देते हैं। ये सब मज़दूर असल माने में मज़दूर नहीं हैं। छोटे-छोटे किसानों के लड़के है। पिता इनको बड़े-बड़े किसानों की खेती की पद्धति, प्रयोग आदि के अनुभव प्राप्त करने के लिये भेजते हैं।

डेन्मार्क में कृषि की सफलता की सबसे बड़ी कुँजी उनका पशुपालन है। हर परिवार कम से कम एक या दो घोड़े, दो-चार गाएं, कुछ भेड़ें, कुछ सूअर, खरगोश, मुर्गियाँ और मधुमक्खियाँ अवश्य पालता है। खेत से जो कुछ उपजता है स्वयं खाता और अपने पशुओं को खिलाता है। मनुष्य और पशु के इस सम्मिलित परिवार से जो कुछ बच जाता है, वह बेच दिया जाता है। इस उदारता के कारण इतर कुटुम्ब भी प्रति उपकार में कुछ उठा नहीं रखता। गाय घड़ा-घड़ा भर दूध देती है, भीमकाय उजले सूअर से छः-छः सात-सात मन मांस निकलता है, सूअरनी बारह-बारह बच्चे तक देती है, मुर्गियाँ आध-आध पाव के दो-दो सौ अण्डे डालती हैं, मधुमक्खियाँ बोतल-बोतल भर मधु चुआती रहती हैं और फलों के भार से पेड़ों की झुकी हुई टहनियां मानों रक्षक का अभिवादन करती हैं। बेचारा किसान इतनी चीज़ों का व्यवहार कहाँ तक कर सकता है। विदेशों में भेजने के लिये इन चीज़ों को सहयोग समिति के द्वारा बेचता है। सहयोग समिति भी उसकी अन्य आवश्यकता की वस्तुएँ देती है। समिति की ख़रीद बिक्री पर साल भर में जो मुनाफ़ा उठता है, वह हर किसान को उसकी ख़रीद बिक्री के अनुपात से बटवारे में वापस मिल जाता है। कहने का तात्पर्य कि सहयोग की भावना जीवन के कण-कण में क्रियात्मक रूप में पिरोई हुई है। वहाँ सहकारिता के लिये कोई सरकारी क़ानून नहीं है। वह जनता की चीज़ है। दुनिया में डेन्मार्क ही एक ऐसा देश है जो सहकारी संस्था के मुनाफ़े पर राजकर लेता है। दूसरे देशों की सरकारें तो इसके चलाने के लिये अपने ख़ज़ाने से पर्याप्त रक़म खर्च करती है।

डेनिश किसान को इतने से भी सन्तोष नहीं है। वह अपने अवकाश में लोहारी, बढ़ई, बुनाई या इसी तरह के कोई न कोई काम करता रहता है। स्त्रियाँ सीना, पिरोना, बुनाई आदि करती हैं। किसान काम के योग्य बहुतेरे छोटे-मोटे घरेलू धन्धे करते रहते हैं जिससे उनको घाटे का भय मिट जाता है। यही कारण है कि डेन्मार्क के किसान अपनी आय का ७५ प्रतिशत राजकर के रूप में देकर भी जैसे आराम और आमोद-प्रमोद से रहते हैं वैसा यहाँ के बड़े-बड़े गृहस्थ को भी नसीब नहीं। कोपेनहेगेन के निकट ४० मील की दूरी पर स्पानार्ड गाँव के एक किसान के कारपेट बिछे हुए नाना प्रकार के

आमोद-प्रमोद के सामानों से सुसज्जित, पुस्तकों और अखबारों से भरे कमरे में गद्दीदार कुर्सी पर बैठकर, जिज्ञासा की गई कि गत वर्ष का हाल-चाल कैसा रहा। वह खिन्न होकर बोला कि अच्छा नहीं रहा, खाने-पीने, बच्चों की पढ़ाई के खर्च देने और सरकारी कर चुकाने के बाद सिर्फ़ चार ही हजार रुपया बचा। किसान के पास १२ एकड़ ज़मीन है। इस प्रगति से, बिहार के किसी एक ज़िले के क्षेत्रफल से कुछ ही छोटा बड़ा डेन्मार्क, इतना समृद्धशाली है कि उसकी सरकार के वार्षिक ख़र्चे का बजट भारत सरकार के बजट से कम नहीं है, तो फिर इसमें आश्चर्य की क्या बात हुई?

—पटना से प्रसारित

वृक्षारोपण का महात्म्य

पुराणों के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में, कारण-जल में पृथ्वी के उभरने पर सबसे पहली सृष्टि वनस्पतियों और वृक्षों की हुई और सबके अन्त में पूर्ण विकसित हो कर मनुष्य बना। सबसे पहले हमारे वैज्ञानिक ऋषियों ने ही इस सत्य को जाना कि वृक्षों में भी सुख दुःख का अनुभव करने की संवेदना है और उन्होंने यह घोषणा की है कि वे अचर प्राणी हैं। उनकी इस संवेदना का प्रमाण यह है कि वृक्ष को काटने से उसके स्नायु संकुचित हो कर पीड़ा का प्रदर्शन करते हैं और उसका वह अंग मुर्झा जाता है। इसी तरह जल सींचने से वे लहलहा उठते हैं, सजीव से हो उठते हैं। ऋषियों ने यह भी जान लिया था कि वृक्षों से मानव को प्राणवायु प्राप्त होती है और मानव शरीर से निकलने वाली दूषित साँस की भाप वृक्षों के लिये पोषक होती है। इसी सत्य को जानने के कारण हमारे पूर्वज वनों में घने वृक्षों के बीच अपने आश्रम बनाते थे। इतना ही नहीं, उन्होंने शास्त्रों में भी यह निर्देश किया कि हरे वृक्षों को निरर्थक काटना हत्या है, पाप है। उन्होंने वृक्षारोपण को एक पुण्य कार्य माना था। इसका प्रमाण यह श्लोक है:

अश्वत्थमेकं पिचुमंदमेकं न्यग्रोधमेकं दश चिंचिणीश्च।
कपित्थबिल्वामलकत्रयं च पंचांबवापी नरकं न गच्छेत॥

एक पीपल, एक पिचुमंद, एक गूलर, दश इमली, कैथ, बेल और आंवले के तीन तीन पेड़ तथा आम के पाँच वृक्ष लगाने वाला कभी नरक का मुंह नहीं देखता। यही नहीं, वे लगाये हुए वृक्ष को पुत्र के समान समझते थे।

महाकवि कालीदास के मेघदूत और रघुवंश में भी इस प्रकार का उल्लेख आया है। विरही यक्ष मेघ को दूत बनाकर प्रिया के पास भेजते समय, उसे अपने घर की पहचान करने के लिये कहता है:

द्वार प्रान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्द्धितो मे।
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः॥

"मेरे द्वार के पास छोटा सा मंदार वृक्ष है। उसे मेरी प्रिया ने पुत्र बनाकर पाला और इतना बड़ा किया है। उसमें फूलों के गुच्छे इतने लगे हैं कि डालें झुकी पड़ती हैं और उन्हें नीचे से ही हाथ बढ़ा कर तोड़ लिया जा सकता है।" रघुवंश में भी मायामय सिंह दिलीप से कहता है:

"अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।"

"यह जो सामने देवदारु का वृक्ष देखते हो, इसे भगवान शंकर ने अपना पुत्र बनाया है।" कहने का मतलब यह कि मनुष्य का और वृक्षों का पूरा स्नेह सम्बन्ध है।

—(रूपनारायण पाँडेय लखनऊ)

अचेतन मन के चमत्कार

लालजीराम शुक्ल

संसार के जिन दो महापुरुषों ने वर्तमान सभ्यता में भारी उथल पुथल की है, वे हैं कार्ल मार्क्स और डा० सिगमंड फ़ायड। कार्ल मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ने पुरानी रूढ़ियों, प्रथाओं और श्रद्धाओं के ऊपर जो कुठाराघात किया, उसके परिणामस्वरूप समाजमें चारों ओर क्रान्ति फैल गई। जो कार्य मनुष्य के वाह्य-जगत में मार्क्स ने किया, वही कार्य उसके अन्तर्जगत में फ़ायड ने किया।

मनुष्य के मन के दो भाग हैं। एक चेतन मन और दूसरा अचेतन मन। मन के दोनों भाग क्रियाशील हैं। मनुष्य का चेतन मन विचारवान् और विवेकी है और उसका अचेतन मन इच्छा-युक्त है। वह भले बुरे का विचार नहीं रखता। मनुष्य अपने अचेतन मन में पशुओं के समान है मनुष्य में नैतिकता समाज सम्पर्क से आती है और मनुष्य के चेतन मन की विशेषता है।

हम अपने अचेतन मन को स्वप्न, अनायास भूल, निरर्थक क्रियाओं, वाध्य विचार और चिन्ताओं में देखते हैं। मनुष्य को अनेक प्रकार के मानसिक रोग इसीलिये होते हैं कि वह अपने अचेतन मन की इच्छा को तृप्त नहीं होने देता, अथवा वह उसे स्वीकार करने के लिये भी तैयार नहीं होता। अचेतन मन की दबी हुई इच्छायें ही अकारण भय और चिन्ता का रूप धारण कर लेती हैं। जिन इच्छाओं का दमन किया जाता है वे साधारणतया नैतिकता की दृष्टि से निम्नकोटि की होती हैं। इन इच्छाओं का दमन मनुष्य के नैतिक भावों द्वारा उसके अनजाने ही होता रहता है। इस प्रकार मनुष्य के मन में बड़ी बड़ी उलझनें पड़ जाती हैं। दमन की क्रिया जटिल होने के कारण ही मनुष्य के मानसिक रोगों को ठीक करना बड़ा कठिन होता है।

फ़ायड महाशय ने मनुष्यों के स्वप्नों का विश्लेषण करके एक नया विज्ञान तैयार कर दिया है। यदि हम फ़ायड के विचार को मानें तो देखेंगे कि मनुष्य न तो उतना पवित्र ही हैं जितना यह अपने आप को मान बैठता है और न वह उतना उदार ही है, जितना वह अपने आप को समझता है। उसकी पवित्रता के नीचे विषय लोलुपता छिपी रहती है, और उसकी उदारता के पीछे स्वार्थीपन। मनुष्य अपने आप को धोखा देने के भी अनेक उपाय रच लेता है। यह हम मनुष्य के स्वप्नों में देखते हैं। मनुष्य की दबी हुई वासना स्वप्न में इस प्रकार प्रकाशित होती है जिससे वह नैतिक बुद्धि द्वारा पहचानी न जा सके।

अचेतन मन जिस काम को करना चाहता है उसे मनुष्य याद रखने में समर्थ होता है, जिसे वह नहीं करना चाहता उसे भूल जाता है। फ़ायड ने अपनी 'साइकोपैथालोजी ऑफ़ एवरीडे लाइफ़" नामक पुस्तक में ऐसे अनेक उदाहरण दिये हैं जिनमें अचेतन मन की इच्छा के प्रतिकूल किसी काम को करना अथवा किसी बात को याद रखना अत्यन्त कठिन बताया गया है।

फ़ायड ने अचेतन मन की खोज मानसिक रोगियों की चिकित्सा करते हुए कर ली। मनुष्य के ऐसे बहुत से मानसिक रोग होते हैं जो शारीरिक पीड़ाओं का रूप धारण कर लेते हैं, परन्तु जिनका कारण शारीरिक नहीं होता।

ये सब रोग अचेतन मन की इच्छा के दमन के परिणाम हैं। दमन से अचेतन मन क्रुद्ध हो जाता है और फिर वह मनुष्य के चेतन मन को यानी उसके स्वत्व को अनेक प्रकार की यंत्रणा देने लगता है।

फ़ायड ने अचेतन मन का जो स्वरुप हमें दिखलाया है, उसके ज्ञात होने पर हमें मनुष्य के बहुत से आचरणों का नये प्रकार से मूल्यांकन करना पड़ेगा। जो लोग अपने जीवन में धर्म के प्रति अत्याधिक लगन दिखाते हैं, यदि उनके अचेतन मन को खोल कर देखा जाय तो पता चलेगा कि यह लगन कोरा ढोंग है। समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये मनुष्य ने इसे एक उपाय बना लिया है। वह धार्मिकता और नैतिकता को वहीं तक स्वीकार करता है जहाँ तक ये उसकी भीतरी इच्छाओं के प्रतिकूल नहीं जातीं। जब ये उसकी इच्छा के प्रतिकूल जाने लगती हैं तो मनुष्य के मन में भारी संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, और यही मानसिक रोग की अवस्था है।

जब मनुष्य अपनी आंतरिक इच्छाओं को जान कर उन्हें स्वीकार कर लेता है और उनका अपनी नैतिक भावना से समन्वय स्थापित कर लेता है, तो उसे मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त हो जाता है। इस समन्वय के लिये छिपी वासनाओं की खोज की आवश्यकता होती है। इस खोज और स्वीकृति के कार्य में मानसिक चिकित्सक अथवा मनोविश्लेषक की सहायता नितांत आवश्यक है। यदि किसी मनुष्य का ऐसा कोई मित्र हो जिसके सामने वह अपने सभी हृदय के बुरे अथवा भले भावों को खोलता रहे, तो उसे कोई आंतरिक रोग न हो। जब कोई मानसिक चिकित्सक ऐसे मित्र के रुप में आता है, तभी वह रोगी का सच्चा लाभ करता है। जब रोगी को चिकित्सक के प्रति मैत्री भावना अथवा श्रद्धा नहीं रहती तो उसकी अचेतन वासना उसके सामने नहीं आती और उसका रोग भी अच्छा नहीं होता।

फ़ायड ने काम वासना का क्षेत्र बड़ा व्यापक बताया है। काम वासना न केवल मनुष्य के मानसिक रोगों, स्वप्नों और उसके असाधारण व्यवहारों का कारण है, वरन् उसके सामाजिक व्यवहारों, विशेष प्रकार के रीति रिवाजों का, धार्मिक भावों का और सभ्यता के विभिन्न प्रकार के प्रतीकों का भी कारण है। यदि मनुष्य अपनी काम वासना को उसके नग्न रुप में तृप्त करे तो समाज का ही विनाश हो जाय। मनुष्य पशु जैसा खूंख्वार जानवर बन जाये, अतएव उसने काम वासना को नियंत्रित करके ऊर्ध्वगामी बनाने की चेष्टा की है। कविता, कला, संगीत और धर्म से अचेतन मन की अनेक दबी हुई वासनाओं का शोध होता है। परन्तु कभी कभी ये सभ्यता के प्रतीक अतृप्त काम वासना के छिपे ढंग से प्रकाशित होने के रुप ही बन जाते हैं। तब ये निन्द्य होते हैं। कृष्ण-प्रेम बड़ा सुन्दर भाव है, परन्तु जब बहुत से कृष्ण प्रेम मण्डल वासनायुक्त कृष्ण प्रेम के पोषक बन जाते हैं तो वे निन्द्य हो जाते हैं। कला और संगीत-उपासना मनुष्य की शक्ति को ऊर्ध्वगामी बनाते हैं परन्तु यही धनी लोगों की बिलासिता का आवरण बन जाते हैं।

फ़ायड महाशय ने जो मन के विषय में नई खोज की है उसके आधार पर आज और अनेक खोजें हो रही हैं। फ़ायड के विचार बहुत कुछ क्रान्तिकारी और ध्वंसात्मक थे। परन्तु यदि फ़ायड मनुष्य के अचेतन मन की ओर समाज के चिन्तनशील मनुष्यों का ध्यान न ले जाते तो सभ्यता के क्षेत्र में वह रचनात्मक कार्य न होता, जो आज यूंग, ब्राऊन, हेडफील्ड आदि महाशय कर रहे हैं।

—इलाहाबाद से प्रसारित

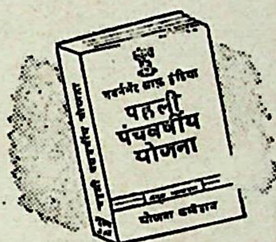
Printed at Coronation Printing Works, Delhi and published by the Director, Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting. Government of India, Old Secretariate, Delhi.

स्वतंत्र भारत उन्नति के मार्ग पर

राष्ट्रीय प्रयास का वर्णन इस क्रम की पुस्तिकाओं में पढ़िए।

- बहुतायत की योजनाएं
- धरती के वरदान
- श्रमिकों के प्रति न्याय
- गणतंत्र का अभियान
- रेलों की प्रगति
- घर के मोर्चे पर
- सुदृढ़ अर्थ-व्यवस्था का निर्माण
- श्रेष्ठतर स्वास्थ्य के लिए।

अंग्रेज़ी में भी प्राप्त
मूल्य प्रति पुस्तिका छः आना,
डाक ख़र्च अलग।



पहली पंचवर्षीय योजना

जनता संस्करण

पहली पंचवर्षीय योजना का संक्षिप्त, सचित्र और सस्ता संस्करण–२६० पृष्ठ, अनेक नक्शों तथा परिशिष्टों सहित। मूल्य २) रुपए, डाक ख़र्च अलग

अपनी प्रति सुरक्षित कराइए

मिलने का पता :— **पब्लिकेशन्स डिवीज़न**
ओल्ड सेक्रेटैरियट, दिल्ली ८

A C 432

रेडियो संग्रह

वर्ष १ | त्रैमासिक | अंक २

अक्टूबर-दिसम्बर, १९५३ | आठ आने

परिचय

मैथिलीशरण गुप्त—राष्ट्र कवि और राज्य-परिषद् के सदस्य।
भीखनलाल आत्रेय—दर्शन-शास्त्री, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय।
डा० सत्यप्रकाश—प्रसिद्ध वैज्ञानिक साहित्यकार, प्रोफ़ेसर, प्रयाग विश्वविद्यालय।
रघुपति सहाय "फ़िराक़"—उर्दू के प्रसिद्ध कवि और आलोचक।
अज्ञेय—ख्याति-प्राप्त उपन्यासकार और साहित्य स्रष्टा।
महेन्द्रप्रताप शास्त्री—संस्कृत साहित्य के पंडित, आचार्य, डी. ए. वी कालेज, लखनऊ।
रामधारीसिंह, 'दिनकर'—हिन्दी के अग्रनम कवियों में से एक, राज्य-परिषद के सदस्य।
रशीद अहमद सिद्दीक़ी—उर्दू साहित्य के प्रसिद्ध व्यंग्य लेखक।
अमृतराय—प्रेमचंद जी के पुत्र और प्रगतिवादी साहित्यिक।
बालकृष्ण राव—आई. सी. एस., सुकवि, भारत सरकार के सूचना व प्रसार मंत्रालय के उप-सचिव।
जगदम्बा प्रसाद दीक्षित—मध्य प्रदेश के तरुण साहित्य सेवी।
कृष्णदेव प्रसाद गौड़—'बेढब' नाम से विख्यात व्यंग्यकार एवं पत्रकार।
शिवशरण—फ्रेंच साधु, संगीत और योग मर्मज्ञ।
त्रिभुवननाथ—साहित्यकार और आलोचक।
बलराज साहनी—सिने-कलाकार और नाट्यविशारद।
सुमन वात्स्यायन—बौद्ध भिक्षु और लेखक।
मौलाना अबुल क़लाम आज़ाद—अर्बी, फ़ारसी और उर्दू के आलिम, केन्द्रीय शिक्षा मंत्री।
हरिभाऊ उपाध्याय—गाँधी-साहित्य निर्माता, अजमेर राज्य के मुख्य मंत्री।
डा० बाबूराम सक्सेना—साहित्य महारथी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।
कृष्णचन्द्र—उर्दू के उत्कृष्ट कहानी लेखक और उपन्यासकार।
सर्वेश्वरदयाल सक्सेना—नई पीढ़ी के कवि।
मन्मथनाथ गुप्त—भूतपूर्व क्रांतिकारी, उपन्यास लेखक, सम्पादक, पब्लिकेशन्स डिवीज़न।
ब्रजनन्दन आज़ाद—बिहार के प्रमुख साहित्यिक और पत्रकार।
नीलिमा मुकर्जी—नवोदित साहित्यिक प्रतिभा।
रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री—प्रयाग के पुराने साहित्य सेवी।
जैनेन्द्रकुमार—अग्रगण्य हिन्दी साहित्यिक, दार्शनिक और विचारक।
कैलाश चन्द्रदेव "बृहस्पति"—भारतीय सांस्कृतिक गवेषणा में रुचि रखने वाले लेखक।
सुमित्रानंदन पंत—सुविख्यात गीतकार और कवि।
नलिनविलोचन शर्मा—बिहार के मान्य आलोचक और साहित्य मनस्वी।
विष्णु प्रभाकर—उच्च कोटि के कहानी लेखक, उपन्यास और नाटककार।
कंचनलता सब्बरवाल—लखनऊ की प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्रिणी।
आर० पी० नाइक—सैनिक प्रवृत्तियों में अध्ययन शील एक सेनाधिकारी।
रामवृक्ष बेनीपुरी—प्रसिद्ध सम्पादक एवं साहित्य सेवी।
मौलाना नियाज़ फ़तहेपुरी—उर्दू साहित्य के चुटीले लेखक।

रेडियो संग्रह

अक्टूबर–दिसम्बर, १९५३

विषय-सूची



रेडियो संग्रह का उद्देश्य विशेष महत्त्व की उन उपादेय शिक्षाप्रद, मनोरंजक एवं ज्ञानवर्धक वार्ता, कविता आदि का संकलन करना है, जो भारतीय आकाशवाणी द्वारा प्रसारित की जाती हैं। इस संग्रह में वार्ता आदि पूरी तरह उसी रूप में नहीं दी गई जिस रूप में कि वे प्रसारित हुई हैं, क्योंकि भाषण और लेखन शैली में भिन्नता तथा सीमित स्थान होने के कारण उनमें थोड़ा बहुत संशोधन एवं परिवर्तन आवश्यक है।

इस संग्रह में व्यक्त किये गये विचारों की ज़िम्मेदारी प्रकाशकों पर नहीं है।

रेडियो संग्रह के वार्षिक चन्दा और विज्ञापन की दर के विषय में निम्न-लिखित पते पर पत्र-व्यवहार करें :—

डिस्ट्रिब्यूशन ऑफ़िसर पब्लिकेशन्स डिवीज़न, मिनिस्ट्री ऑफ़ इन्फ़र्मेशन एण्ड ब्रॉडकास्टिंग, ओल्ड सैक्रेटेरियेट, दिल्ली—८

सम्पादक—शंकर गौर

गूँजे भारति अम्ब

गूँजे भारति अम्ब ! अवनि में,
अभिनव ध्वनि-विस्तार ।
सुन कर जिसे सांत्वना पावे,
शंकाकुल संसार ।
गीत कवित्व चरित्र चित्र बहु,
वृत्त पवित्र विचार ।
नये रूप में, नये रंग में,
पाते रहें प्रसार ।

—मैथिलीशरण गुप्त
(नया साहित्य, दिल्ली)





हम उन्हें भूल न जायें

राष्ट्रपति

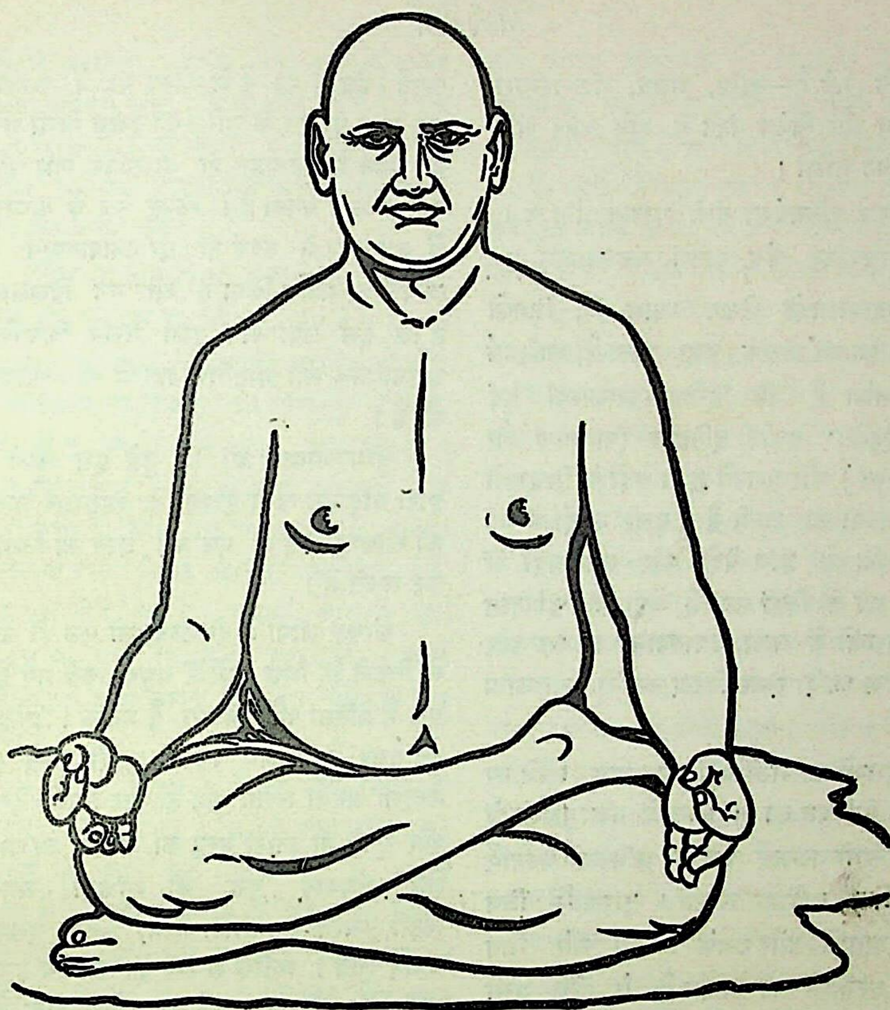
कुछ लोग गांधी जी में मेरी अन्ध-श्रद्धा की बात कहते हैं। मेरी अंध-श्रद्धा यों ही नहीं हो गई। यह तो तजुर्बे का फल है। कितने ही मरतबे उनके और मेरे विचारों में काफ़ी भेद रहा है, किन्तु पीछे चल कर मैंने महसूस किया कि उनके ही विचार ठीक थे।

गांधी जी महापुरुष थे। जिस तरह गंगा नदी हिमालय से लेकर समुद्र तक १५००-१६०० मील बराबर बहती है, उसी तरह महात्मा गांधी अपनी ८० वर्ष की अवस्था तक लोगों को सिखाते गये। गंगा तो सब जगह होकर बहती है, मगर उससे किसी को ज्यादा लाभ मिलता है और किसी को कम। गांधी जी का जीवन ऐसा ही था। जिसकी जितनी शक्ति थी वह उतना लाभ गांधी जी की जीवन-गंगा से हासिल कर सका। मैं उनके नज़दीक रहकर भी उनकी जीवन-गंगा से एक लोटा भर ही अमृत ले सका।

हमें यह न समझना चाहिये कि त्याग का समय चला गया, और भोग का समय आ गया। जब हथकड़ियों, जेलखानों, लाठियों और गोलियों के सिवाय हमें कुछ दूसरा मिल ही नहीं सका था, तो हम त्याग ही क्या कर सकते थे? आज जब हम कुछ सांसारिक अधिकारों और भोगों को प्राप्त कर सकते हैं, तो उनके त्यागने को ही त्याग कहा जा सकता है। जब वह प्राप्त नहीं थे उस समय त्याग क्या हो सकता था?

गांधी जी के जीवन से हमने लगभग कुछ नहीं सीखा। हो सकता है कि उन्होंने जो कुछ बताया उसको हम भूल गये या भूल जायें और दूसरे देश के लोग जिन्होंने उनकी शिक्षा को अपनाया हो, हमारे यहाँ आकर हमें उनकी शिक्षा का पाठ नये सिरे से पढ़ायें। भगवान् बुद्ध भारत में पैदा हुए। हमने उनसे जो कुछ सीखा था, हम उसे भूल गये। देश के बाहर के लोगों ने उनके सिखाये हुये मार्ग पर चल कर बहुत कुछ लाभ उठाया और वही लोग आज हमको उनका संदेश सुना रहे हैं ....

'गांधी जी की देन' पुस्तक से (ब. दा. चतुर्वेदी, दिल्ली)



पुराणों में प्रतीक

भीखनलाल आत्रेय

भारतवर्ष का पुराण साहित्य एक अत्यन्त अद्‌भुत और रहस्यमय साहित्य है। इसके सम्बन्ध में विद्वानों की अनेक विरुद्ध धारणायें हैं। सभी धारणाओं की पुष्टि के लिए पुराणों में प्रमाण मिल जाते हैं। एक ओर तो स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे पंडितों का यह मत है कि पुराण कपोलकल्पित, मनगढ़न्त, अनैतिहासिक, झूठी और बहुधा अश्लील कहानियों का संग्रह हैं। पाश्चात्य विद्वानों के मत में भी पुराणों में केवल असभ्य और मानवजाति के शैशवकाल के समय में प्रचलित धार्मिक काल्पनिक कहानियाँ हैं। प्रायः सभी देशों में इस प्रकार की कहानियाँ प्रचलित हैं, और वे प्राचीन काल से चली आती हैं। इन कहानियों का आधार आदिम मनुष्यों की सृष्टि, ईश्वर और परलोक आदि सम्बन्धी स्थूल विचार हैं। दूसरी ओर इन मतों के विरुद्ध भारतवर्ष में प्रचलित प्राचीन और बहुमान्य यह विचार भी कुछ विद्वानों को ग्राह्य है कि पुराण बहुत उच्च कोटि के ग्रन्थ हैं, और उनमें इन पाँच विषयों को

चर्चा की गई है—सृष्टि, प्रलय, वंश-परम्परा, मन्वन्तर और विशेष वंशों में होने वाले महा-पुरुषों का चरित्र।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

महाभारत के लेखक व्यास ने, जिनको पुराणों का भी लेखक कहा जाता है, आदिपर्व में लिखा है कि 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' अर्थात् इतिहास (रामायण और महाभारत) और पुराणों द्वारा वेदों के सिद्धान्तों की व्याख्या की जाती है। दूसरे शब्दों में यह कहिये कि जो ज्ञान वेदों और उपनिषदों में सूक्ष्म रूप से दिया गया है वही ज्ञान इतिहास और पुराणों में कथा, उपाख्यान, दृष्टान्त और उदाहरण आदि देकर विशद रूप से समझाया गया है।

पुराणों का भली भाँति अध्ययन करने पर यह तो निश्चित सा हो जाता है कि पुराणों में वर्णित सभी घटनाएँ अथवा अधिकतर घटनाएँ ऐतिहासिक नहीं हो सकतीं। पुराणों में जिन देवी-देवताओं और उनके चरित्रों और जिन महान् घटनाओं का वर्णन है, वे ठीक उसी प्रकार वास्तविक और ऐतिहासिक नहीं हो सकतीं जैसी कि वे वर्णित हैं। ऐसा जान पड़ता है कि वे आध्यात्मिक और मानसिक तत्त्वों और सूक्ष्म घटनाओं का स्थूल रूप में रूपक हैं और उनका कार्य संकेतमात्र है। उनका प्रयोजन और अर्थ मानसिक और आध्यात्मिक है। पुराण-लेखकों ने आध्यात्मिक रहस्यों और समष्टि और व्यष्टि के सूक्ष्म तत्त्वों और अव्यक्त घटनाओं को समझाने के लिये व्यक्त भौतिक, ऐतिहासिक और काल्पनिक घटनाओं, कथाओं और दृष्टान्तों का प्रयोग किया है।

इस मत का समर्थन श्रीमद्भागवत में ही, जिसकी गणना भी पुराणों में होती है, स्पष्टतया मिलता है। इस लोकप्रिय और महान् ग्रन्थ के चतुर्थ स्कंध में २५ वें से लेकर २८ वें अध्याय तक राजा पुरंजन के चरित्र का वर्णन किया गया है। पढ़ने में वह बहुत ही वास्तविक और ऐति-हासिक जान पड़ता है। किन्तु २९ वें अध्याय में ग्रन्थकार ने स्वयं ही पुरंजनोपाख्यान के तात्पर्य का वर्णन किया है और यह दिखलाया है कि इस उपाख्यान द्वारा उसने किन-किन आध्यात्मिक और मानसिक रहस्यों की व्याख्या की है।

श्रीमद्भागवत की दी हुई इस कुंजी के द्वारा यदि हम सभी पुराणों के रहस्यमय तालों को खोलना चाहें तो एक बड़े ज्ञान का निर्माण कर सकते हैं।

संस्कृत भाषा में दो शब्द, जो एक ही धातु से निकले हैं, भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किये गए हैं। एक है प्रतिमा और दूसरा है प्रतीक। प्रतिमा वह वस्तु है जिसमें किसी दूसरी वस्तु का शब्दतः अथवा रूपतः भान हो और जिसके देखते और सुनते ही दूसरी वस्तु का स्मरण आ जाए, जैसे भगवान् बुद्ध की मूर्त्तियाँ अथवा किसी व्यक्ति के फ़ोटो चित्र, अथवा देखकर बनाए चित्र। प्रतीक में रूप का सादृश्य इतना नहीं होता जितना अर्थ का संकेत होता है। अव्यक्त और अरूप विषयों की प्रतिमा नहीं हो सकती, प्रतीक ही हो सकते हैं। आध्यात्मिक तथा मानसिक तत्त्वों और घटनाओं को भाषा और चित्र द्वारा प्रकट करने का प्रयत्न प्रतीकों द्वारा ही किया जा सकता है। बड़े-बड़े सन्त महात्मा अपने आध्यात्मिक और आन्तरिक अनुभवों को प्रतीकों द्वारा ही व्यक्त करते हैं। कबीर की कुछ रचनायें इसी प्रकार की हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि पुराणों में वर्णित सभी देवी-देवता, उनके रूप और वस्त्राभूषण और उनके कार्य प्रतीक मात्र हैं।

पुराणों में अनेक देवी-देवताओं और सृष्टि सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन है। इनमें प्रधान देवता ब्रह्मा, विष्णु, और शिव हैं और प्रधान

देवियाँ सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा हैं, तथा प्रधान घटनाएँ सृष्टि, स्थिति और प्रलय हैं। इन के सम्बन्ध में किस प्रकार प्रतीकों का प्रयोग किया गया है, उसका दिग्दर्शनमात्र कराने का अब हम प्रयत्न करेंगे।

चित्र बेचनेवालों की दुकानों पर एक चित्र शेषशायी भगवान् का, जो कि पुराणों के आधार पर बनाया गया है, मिलता है। उसमें चारों ओर अन्धकार छाया हुआ है, और पानी ही पानी है, जिसको पुराणों में क्षीर सागर कहा गया है। उस पर अनन्त नामक शेषनाग कुण्डली मारे पड़ा हुआ है, और उस पर आकाश के समान नीलवर्ण वाले विष्णु अर्थात् महाविष्णु योग निद्रा में सोये हुए हैं। उनकी नाभि से एक कमल का फूल खिलते ही उसमें से रक्तवर्ण सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा उत्पन्न होता है। ब्रह्मा के चार मुख हैं।

यदि इस वर्णन पर विचार किया जाय, तो स्पष्टतया ज्ञात होता है कि यह चित्र अथवा रूप जगत् की सृष्टि की प्रतिमा नहीं है, प्रतीक मात्र है। अन्धकार प्रतीक है प्रलय का, जिसमें कि सूर्य, चन्द्रमा और तारागण, जिनसे हम को प्रकाश मिलता है, नष्ट हो जाते हैं। जल प्रतीक है अनन्त देश का जिसमें सृष्टि की उत्पत्ति होती है। शेषनाग का अर्थ है काल। वह अनन्त है और सृष्टि के न रहने पर भी रहता है। इस देश और काल के ऊपर वह विष्णु, जो कि सर्वव्यापी है, अपने एक विशेष रूप में, जिसके भीतर सारी सृष्टि बीज रूप से निहित है, शान्त रूप से स्थित है। इस बात को गाढ़ निद्रा की अवस्था के द्वारा व्यक्त किया गया है। इसी आनन्द अवस्था में एक स्फुरण होता है, जो संकल्प बनकर सृष्टि करता है। उसी को ब्रह्मा के रूप से व्यक्त किया गया है। स्फुरण रजोगुणात्मक है, इस कारण उसका रंग लाल है। विष्णु का रंग नीला है, क्योंकि वह आकाशवत् शान्त है। नाभि से ब्रह्मा की उत्पत्ति इस कारण दिखलाई है कि नाभि के नीचे मनुष्य की कुण्डलिनी शक्ति का स्थान है, अत एव नाभि प्रतीक है अनन्तशक्ति का। कमलदण्ड जो कि बच्चे की नाल का दूसरा रूप है, इस बात का प्रतीक है कि सृजित सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ईश्वर से ही अपनी शक्ति उसी प्रकार प्राप्त करता है जैसे गर्भ में बच्चा अपनी माता से। कमल प्रतीक है सृष्टि का। कमल की कली अण्डाकार होती है, और अण्डे के भीतर सब कुछ निहित होता है, इसीलिए जगत् को भी ब्रह्माण्ड कहा गया है।

पुराणों में वर्णन किए हुए विष्णु के स्वरूप में बहुत से प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। उनके हाथ में शंख, चक्र और गदा हैं। शंख प्रतीक है आकाश का, चक्र प्रतीक है चंचल मन का और कर्म के नियम का तथा गदा प्रतीक है बुद्धि और शक्ति का। ये बातें केवल हमारी ही कल्पना नहीं हैं, पुराणों में इनका पूरा संकेत मिलता है। उदाहरण के लिये विष्णुपुराण से कुछ श्लोक यहाँ पर उद्धृत करके उनका सरल भाषा में तात्पर्य दिया जाता है :

आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणममलम् ।
बिभर्ति कौस्तुभमणिस्वरूपं भगवान् हरिः ।
श्रीवत्सं स्थानधरमनन्ते च समाश्रितम ।
प्रधानं बुद्धिरप्यास्ते गदारूपेण माधवे ।
भूतादिमिन्द्रियादिं च द्विधाहंकारमीश्वरः ।
बिभर्ति शंखरूपेण शार्ङ्गरूपेण च स्थितम् ।।
बलस्वरूपमत्यन्तजवेनान्तरितानिलम् ।
चक्रस्वरूपं च मनो धत्ते विष्णुः करे स्थितम् ।
पंचरूपा तु या माला वैजयन्ती गदाभृतः ।
सा भूतहेतुसंघाता भूतमाला च वै द्विज ।
यानीन्द्रियाण्यशेषाणि बुद्धिकर्मात्मकानि वै ।
शररूपाण्यशेषाणि तानि धत्ते जनार्दनः ।।
बिभर्ति यच्चासिरत्नमच्युतोऽत्यन्तनिर्मलम ।
इत्थं पुमान् प्रधानं च बुद्ध्यहङ्कारमेव च ।
अस्त्रभूषणसंस्थानस्वरूपं रूपवर्जितः ।
बिभर्ति मायारूपोऽसौ श्रेयसे प्राणिनां हरिः ।।

अर्थात् भगवान् विष्णु का कौस्तुभ प्रतीक है जगत् के निर्लेप और शुद्ध आत्मा का, श्रीवत्स प्रतीक है प्रकृति का, गदा बुद्धि का, शंख और शार्ङ्ग दो प्रकार के अहंकारों का, चक्र मन का, वैजयन्ती माला तन्मात्राओं का, उनके बाण दश इन्द्रियों के, और तलवार ज्ञान का। इस प्रकार रूपरहित विष्णु लोककल्याण के लिये अस्त्र और भूषणों से युक्त मायामय शरीर धारण करता है।

विष्णु का वाहन गरुड़ कहा गया है, गरुड़ प्रतीक है काल की वेगवती गति का।

ब्रह्मा के चार मुख उसकी सर्वतोमुखी बुद्धि और चारों वेदों के ज्ञान के प्रतीक हैं। ब्रह्मा का वाहन हंस है, क्योंकि उसको सदा यह ज्ञान रहता है कि वह ब्रह्म ही है—सोऽहं, अहं सः, हंसः। हंस प्रतीक है विवेक का, क्योंकि यह कहा जाता है कि वह पानी से दूध को अलग करके पी लेता है।

ईश्वर परमात्मा रुद्र रूप हो कर पुरानी वस्तुओं को नष्ट करता है। इसी वास्ते उसको रुद्र कहा गया है। वह रुलाने वाला है और भयंकर है। इसी कारण शिवजी का रूप भयंकर भी बनाया गया है। उनका वास श्मशान में दिखाया गया है। शिव केवल संहारकर्त्ता ही नहीं हैं, वरन् कल्याणकर्त्ता भी हैं। इसी वास्ते उनकी जटा में गंगा बहती रहती है। शिवजी का तीसरा नेत्र उनके आन्तरिक ज्ञान का प्रतीक है। शिव का एक प्रतीक लिंग भी है। लिंग ज्योति की एक प्रतिमा है। लिंग और योनि, जिसमें वह स्थापित किया जाता है, प्रतीक हैं सृष्टि के नाद और विंदु के और उसकी शक्ति के। शिव का वाहन है नन्दी। नन्दी प्रतीक है शिव की कृपा का। योगी लोग नन्दी को प्रसन्न करके शिव जी को प्राप्त करते हैं, अतएव पहले उसकी ही पूजा होती है।

विष्णु की शक्ति लक्ष्मी के रूप में व्यक्त की गई है, क्योंकि अन्ततोगत्वा संसार की समस्त संपत्ति और विभूति भगवान् के ही अधीन है, वे ही उसके स्वामी हैं।

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचिज्जगत्यां जगत्'
यह ईशोपनिषद् में कहा गया है।

ब्रह्मा की शक्ति सरस्वती के रूप में व्यक्त की गयी है जो ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी है। वह ज्ञान, विज्ञान और कलाओं की मूर्त्ति है। उसके एक हाथ में वीणा सब कलाओं की प्रतीक, दूसरे हाथ में पुस्तक सब ज्ञान-विज्ञानों की प्रतीक और उसके श्वेत वस्त्र शुद्ध आचार व्यवहार के प्रतीक हैं।

शिव जो जगत् के संहार करने वाले हैं, उनकी शक्ति की प्रतीक दुर्गा है। दुर्गा का अर्थ ही कठोर है। वह काली है, अर्थात् भयंकर है। पार्वती है, अर्थात् पत्थर जैसे हृदय वाली है। उसके अनेक हाथों में अस्त्र-शस्त्र हैं। उसका वाहन सिंह है, जिसको दूर से देख कर ही प्राणी डर जाते हैं।

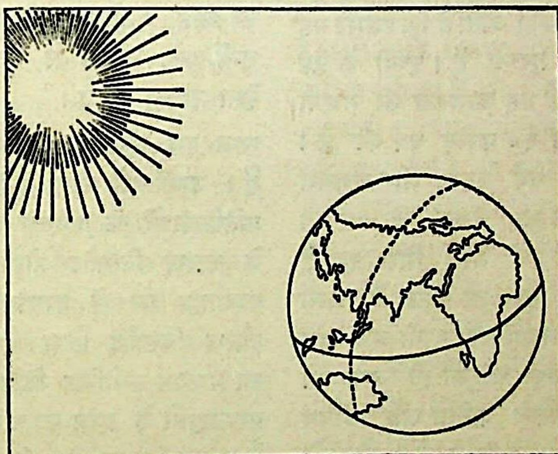
विष्णु के अवतार भी प्रतीकात्मक हैं। उनके द्वारा पुराण-लेखकों ने सृष्टि के युगों की सभ्यता और संस्कृति के विकास के क्रम का वर्णन किया है। मत्स्य—जल में रहने वाले, कूर्म—जल और थल दोनों पर रहने वाले, वाराह—पृथ्वी पर रहने वाले, नृसिंह—आधा पशु और आधा मनुष्य, परशुराम—जंगली मनुष्य, राम—मर्यादापुरुष, कृष्ण—पुरुषोत्तम, बुद्ध—ज्ञानी और कल्कि—कलियुग का अन्त करने वाला महापुरुष। क्या ये युगों के विकास के प्रतीक नहीं हैं?

—इलाहाबाद से प्रसारित

सूर्य का जीवन

सत्यप्रकाश

प्रतिदिन प्रातःकाल पूर्व दिशा में उदय होने वाला ज्योतिःपिंड सूर्य हमारे लिए बचपन से ही कौतूहल का विषय है। यह सूर्य हमारे जीवन का जीवन है। कहा जाता है कि रूस के एक दार्शनिक कुज़मा प्रुटकॉफ़ ने एक प्रश्न पूछा—'कौन अधिक उपयोगी है—सूर्य या चाँद ?' कुछ क्षण सोच कर उसने स्वयं उत्तर दिया—'चाँद' क्योंकि यह तब प्रकाश देता है जब इस धरातल पर रात होती है। सूर्य तो दिन में चमकता है जब यों ही उजियारा रहता है। पर हमारा यह चाँद भी तो सूर्य से ही प्रकाश उधार लेकर रात में हमें देता है। रेल के इंजन में जो कोयला हम जलाते हैं, या मोटर में जो पेट्रोल जलाते हैं, या अन्य किसी भी प्रकार से जो शक्ति हम प्राप्त करते हैं, वह सब सूर्य से ही उधार ली हुई शक्ति है। यदि सूर्य न होता तो हम न होते, न हमारा जीवन होता, न यह भूमि होती, और न भूमि पर जो कुछ भी हो रहा है वह होता। सूर्य के होने से ही सब कुछ है। सूर्य प्रचण्ड ताप का एक गोला है। यह कितना गर्म है, इसका अनुमान लगाना हमारे लिए कठिन है। लाल दहकते हुए अँगारे या भट्टी में तपाये लाल लोहे का तापक्रम लगभग ५००° होता है। प्रयोगशालाओं में बिजली की भट्टियों में १५००°–२५००° तापक्रम के निकट जा सकते हैं, पर सूर्य के पृष्ठतल का तापक्रम ६०००° से भी अधिक है। कार्बन या प्लैटिनम जैसी धातुएँ न केवल इस तापक्रम पर पिघलेंगी ही, बल्कि गैस बन जायेंगी। सूर्य के पृष्ठ पर जितनी धातुएँ हैं वे सब गैस रूप में ही हैं। यह तो हमने सूर्य के ऊपरी पृष्ठ की बात कही, सूर्य के भीतर तो तापक्रम और भी अधिक है। इसके केन्द्र या गर्भ का तापक्रम लगभग २ करोड़ डिग्री माना जाता है।



हमारा यह सूर्य गैसों का बना हुआ एक भीमकाय पिंड है। गैस के इतने बने पिंड से बना यह सूर्य हम से ६ करोड़ ३० लाख मील की दूरी पर है। सूर्य से चली हुई प्रकाश-किरण को धरती तक पहुँचते-पहुँचते ८ मिनट लग जाते हैं। यह किरण प्रति सैकंड १ लाख ८६ हज़ार मील की गति से चलती है। सूर्य का व्यास ८ लाख ६४ हज़ार मील है, अर्थात् पृथ्वी के व्यास से यह १०६ गुना अधिक है।

सूर्य के धरातल को काजल लगे कांच से हम देख सकते हैं। आँख से देखने पर इसके पृष्ठ पर कुछ कलंक या धब्बे दिखाई देंगे।

चन्द्रमा के कलंक से तो हम परिचित ही हैं। इनमें से कुछ धब्बे तो ५०,००० मील व्यास के हैं और भूमि के व्यास से भी ६ गुना अधिक बड़े हैं। सूर्य की अन्य चमकती हुई गैसों की अपेक्षा ही ये काले कहे जा सकते हैं, अन्यथा इस पृथ्वी पर जितनी सफ़ेद चीज़ें हैं, उनसे कहीं अधिक सफ़ेद हैं। इन कलंकों की सहायता से हम सूर्य की गति का अनुमान कर सकते हैं। सूर्य अपनी कीली पर घूमता है। इसका मध्यभाग २६ दिन में १ चक्कर पूरा कर लेता है, पर ध्रुव भाग ३४ दिन में एक चक्कर पूरा करता है। सूर्य के इन कलंकों के प्रभाव से पृथ्वी पर चुम्बकीय तूफ़ान उठते हैं और मेरु ज्योतियों की सृष्टि होती है, एवं पृथ्वी की वर्षा पर भी इन कलंकों का प्रभाव पड़ता है। सूर्य में न केवल कलंक ही है, बल्कि इसके किनारों के पास सफ़ेद धब्बे भी हैं, जैसे कोढ़ के दाग।

आप यह जानना चाहेंगे कि हमारा यह सूर्य कितनी आयु का है। कहा जाता है कि हमारी यह पृथ्वी २ अरब वर्ष पुरानी है। पृथ्वी के पृष्ठ पर जो पपड़ी बनी है वह आजकल की गणना के हिसाब से १ अरब ६० करोड़ वर्ष की है। हमारा सूर्य २ अरब वर्ष पहले भी लगभग इतनी ही गर्मी रखता था, जितनी कि आज। सूर्य से जितना ताप हमें आज मिल रहा है उसका यदि आधा ही मिले तो संसार के सभी समुद्रों, नदियों और नालों का पानी बर्फ़ बन जायगा। यदि यह ताप चौगुना हो जाय तो समुद्रों का पानी उबलने लगेगा और जीवन असम्भव हो जायगा। यदि सूर्य के ताप में थोड़ा सा भी अंतर आ जाय तो पृथ्वी के पृष्ठ से वनस्पतियां नष्ट हो जाएंगी और प्राणियों की भी प्रलय हो जायगी। हमारे सौर मंडल में ग्रहों और तारों का निर्माण लगभग २ अरब वर्ष पूर्व हुआ होगा और हमारा सूर्य कम से कम इतना पुराना तो होगा ही। सूर्य से छिटक कर जब पृथ्वी अलग हुई, उस समय सूर्य का नव-यौवन काल रहा होगा।

सूर्य से प्रति वर्ष १.२× १०४१ अर्ग गर्मी निकल रही है। प्रश्न यह है कि आखिर सूर्य में कौन सी चीज़ जल रही है। यदि सूर्य कोयले का दहकता पिंड होता तो कब का जलकर राख हो गया होता। यदि गंधक का होता तब भी यही बात होती। सूर्य के पृष्ठ पर ६०००° के तापक्रम में तो कोई भी रासायनिक यौगिक स्थिर ही नहीं रह सकता। अतः सूर्य में केवल तत्त्वों के मिश्रण के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

हेल्महोल्ट्ज़ नामक विचारवेत्ता ने एक बार कल्पना की थी कि सूर्य अपनी नव-शिशु अवस्था में किसी ठंडी गैस का भीमकाय गोला था। उस समय का यह गोला आजकल के सूर्य से कहीं अधिक बड़ा था। बाद को यह गोला धीरे-धीरे सिकुड़ने लगा। इस संकोच के कारण ही इसमें गर्मी पैदा हुई, जैसे कि मोटर साइकिल में हवा घनी करने पर गर्मी पैदा होती है। हेल्महोल्ट्ज़ का यह सिद्धान्त बड़ा मान्य है। पर आज के दो अरब से अधिक आयु के सूर्य में गर्मी अन्य प्रकारों से भी उत्पन्न हो रही है, ऐसा मानना पड़ेगा।

आज हम एटम बम के आविष्कार से परिचित हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के बमों में रासायनिक प्रतिक्रियाओं के आधार पर उद्भूत शक्ति के कारण विस्फोट होता था, पर आज के परमाणु बम में परमाणुओं के प्रभंजन के कारण विस्फोट होता है। जब परमाणुओं का प्रभंजन यथोचित विधि से होता है तो इन परमाणुओं के द्रव्य का अंश विलुप्त हो जाता है। यह विलुप्त द्रव्य ही शक्ति में परिणत हो जाता है। आज से ४८ वर्ष पूर्व आइन्स्टाइन ने यह संभावना सिद्धान्त रूप से हमारे सामने रखी थी कि द्रव्य भी शक्ति में रूपान्तरित हो सकता है, और इस प्रकार के रूपान्तर में एक निश्चित गणित का सम्बन्ध है। परमाणु-प्रभंजन के आधार पर वैज्ञानिकों ने शक्ति के एक नए अगाध स्रोत का पता लगा लिया है। जब परमाणु बम का विस्फोट होता है तो ऐसा आभास होता है मानो कोई शिशु-सूर्य विस्फुटित हो रहा हो।

सूर्य में हल्की और भारी अनेक धातुयें हैं। हज़ार और लाख डिग्री के तापक्रम पर इन धातुओं के परमाणु उस रूप में नहीं होंगे जैसे हमारी धरती पर। परमाणुओं के घनकेन्द्र के चारों ओर जो इलेक्ट्रोन चक्कर लगाते हैं वे ऊँचे तापक्रम पर परमाणुओं से टूट कर अलग छिटक गए होंगे। बहुधा धातुओं के नग्नकेन्द्र ही परमाणुओं में रह गए होंगे। धातुओं के ये केन्द्र गैस रूप में सारे पिंड में चक्कर लगा रहे हैं। ऊंचे तापक्रम के कारण और बीच-बीच में अनेक परमाणु-केन्द्रों में संघर्ष हो जाने के कारण ये केन्द्र पुनः टूटने लगते हैं। इस प्रभंजन में अत्यन्त ताप का विसर्जन होता है। यह ताप सूर्य के उस ताप की कमी की पूर्त्ति करता रहता है जो सूर्य से चलकर दूसरे ग्रहों में पहुँच रहा है। इस प्रकार की परमाणुवमवाली क्रियायें सूर्य की गर्मी को अरबों वर्षों तक स्थायी रख सकेंगी—ऐसी आशा है।

सूर्य के जीवन का रहस्य समझने का प्रयत्न सन् १९२९ में एटकिन्सन और हाउटरमेन्स ने किया। सूर्य के तापक्रम पर परमाणुओं के बाहरी परिधिवाले इलेक्ट्रोन छिटक कर अलग हो जाते हैं और परमाणुओं के नग्न केन्द्र बच रहते हैं। फिर ये नग्न केन्द्र एक-दूसरे से टकरा कर चूर-चूर होते रहते हैं और नये परमाणु-केन्द्र बनते हैं। इस प्रकार की प्रतिक्रियाओं की एक श्रृंखला बन जाती है और इन श्रृंखलाओं का एक चक्र बनता है। इस प्रकार के चक्रों द्वारा सूर्य की गर्मी स्थिर बनी रहती है। सूर्य के भीतर कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सिजन, नाइट्रोजन और हीलियम के परमाणु-केन्द्र परस्पर प्रतिक्रियाओं द्वारा सूर्य की दीप्ति को कम करने के स्थान में बढ़ाते ही रहते हैं। अनुमान है कि सूर्य अपने जीवन भर में अपना एक प्रतिशत हाईड्रोजन ही अब तक खर्च कर पाया है। अतः स्पष्ट है कि सृष्टि के प्रलय का अभी कहीं कोई डर नहीं है।

शैशव से लेकर यौवन तक का सूर्य भीमकाय आकार वाला रहा है। पर यही सूर्य ज्यों-ज्यों वृद्ध होता जायगा, इसका आकार वामन रूप धारण करता जायगा। युवा सूर्य को यदि 'लाल दैत्य' कहें, तो वृद्ध सूर्य को 'श्वेत बौना' कहना होगा। आज हमारे ब्रह्माण्ड में कई लाल दैत्य और श्वेत बौने भी हैं, जिन्हें देखकर हमें अपने सूर्य के शैशव और वृद्धावस्था का आभास मिल सकता है। अपने जीवन के अन्तिम दिवसों में सूर्य की गैसें सिकुड़ती जायेंगी और सूर्य की दीप्ति और ताप बहुत बढ़ जायगा। ऐसा होने पर सूर्य में से बहुत से पिंड टूट कर अलग होने लगेंगे। ये पिंड अलग होने पर ठंडे पड़ जायेंगे। सूर्य भी फिर धीरे-धीरे ठंडा होने लगेगा।

सूर्य का जीवन सदा एक सा ही नहीं होगा। आज भी हमारे ब्रह्माण्ड में बहुत से ऐसे पिंड हैं जिनकी चमक एकदम बढ़ जाती है मानो उनके भीतर कोई विस्फोट होगया हो। सूर्य के जीवन में भी अनेक बार ऐसे विस्फोट हुए होंगे। आजकल आकाश में नोवा और सुपर-नोवा पिंडों को देखकर हमें मानना पड़ता है कि सूर्य ने भी अपने जीवन के इतिहास में कई बार भीमकाय विस्फोट देखे होंगे। आजकल तो हमारे सूर्य में इस प्रकार कोई विस्फोट नहीं हो रहा है। कदाचित् विस्फोट हो जाय तो उसका परिणाम इस मर्त्यलोक के प्राणियों के लिए बड़ा भयंकर होगा। मान लीजिए, प्रलय के दिन हमारा सूर्य एक नोवा बन जाता है, उसके नोवा बनते ही पृथ्वी और उसके साथ के सौर-मंडल के अन्य ग्रह पतली गैस बन जायेंगे, और यह परिवर्तन इतना शीघ्र होगा कि हमें उसकी अनुभूति का भी समय न मिलेगा।

—इलाहाबाद से प्रसारित





कवि-सम्मेलन और मुशायरे

रघुपतिसहाय 'फ़िराक़'

छापेख़ानों ने करोड़ों आदमियों के लिए यह मुमकिन बना दिया है कि नस्र और नज़्म तनहाई में चुपचाप पढ़ते रहें, लेकिन अदब का एक ख़ास असर उस वक़्त भी पड़ता है जब कई लोग, जिनकी तादाद सैंकड़ों से हज़ारों तक पहुँच जाती है, एक जगह आकर मिल बैठें और अदब को बजाय चुपचाप अकेले पढ़ने के अदीब के मुँह से उसे सुनें। इस तरह पूरे मजमे में एक फ़िज़ा पैदा हो जाती है और एक समाँ बँध जाता है। इसीलिए हमारी समाजी ज़िन्दगी में अदबी कल्चर को फैलाने और सँवारने में मुशायरों और कवि-सम्मेलनों का बहुत बड़ा हिस्सा रहा है। चुपचाप कविता, ग़ज़ल या नज़्म पढ़ लेने के मुक़ाबले में उसे कानों से सुनने और आवाज़ के चढ़ाव-उतार या लबो लहजा को देखने और सुनने की बात ही और है। इस तरह जीती-जागती सूरत में हमें शायरी का दर्शन होता है। अदब उस हद तक लिखे या छपे हुये कागज़ पर आँख से देखने की चीज़ नहीं है, जिस हद तक कान से सुनने की चीज़ है। अल्फ़ाज़ को आवाज़ से अदा करके अदब का जादू जगा दिया जाता है।

मुशायरे अदब को एक ज़िन्दा शक्ल में पेश करते हैं। वह ज़िन्दा अमल हज़ारहा दिलों की धड़कनें और हज़ारहा लोगों की रगों में ख़ून की गरदिश बढ़ा देता है। अगर किसी शेर में जान हुई तो वह सुनते ही हज़ारहा आदमियों के दिलों में उतर जाता है और बरसों बल्कि कभी-कभी ज़िन्दगी भर उनकी चेतना में गूंजा करता है और उनके दिलो-दिमाग़ पर मँडराता रहता है। मुशायरा ख़त्म होते-होते सैंकड़ों आदमियों को मुशायरे के बहुत से अशआर हमेशा के लिए

याद हो जाते हैं और लोग अक्सर उन्हें गाते और गुनगुनाते हुए अपने घर जाते हैं। मुशायरे पूरे समाज में बिजली की लहर दौड़ा देते हैं; चेहरे दमक उठते हैं, आँखें चमक जाती हैं और लोग ज़ज्बात के तलातुम से झूम-झूम उठते हैं। एक आदमी का रद्दे अमल दूसरे आदमी पर असर-अन्दाज़ होता है। और हर आदमी पूरे मजमे पर जो असर पड़ रहा है उसकी लहरें अपने अन्दर जाती हुई महसूस करता है और इस तरह समाजी ज़िन्दगी की एकता और समाज के अखण्ड होने का एहसास हासिल करता है।

उर्दू के मुशायरे हिन्दुस्तान के कोने-कोने में होते आये हैं। लेकिन दिल्ली, पंजाब और उत्तर प्रदेश में मुशायरे समाजी ज़िन्दगी का एक ज़रूरी हिस्सा बन गये हैं। आज भी उत्तरी हिन्दुस्तान के पश्चिमी ज़िलों के गाँव-गाँव में उर्दू ग़ज़लें और नज़्में गाई जाती हैं। मुशायरे हर साल सैंकड़ों, हज़ारों, नहीं लाखों आदमियों को जिनमें पर्दानशीन और पर्दा न करने वाली औरतें भी शामिल हैं, अपनी तरफ़ खींचते हैं। लोग अपने जीवन के सपनों की तस्वीरें उर्दू शायरी में लिख लेते हैं। आपबीती और जग बीती सुनते हैं और सर धुनते हैं। आज से लगभग ५० साल पहले के मुशायरे क़ौमी कल्चर और शिष्टाचार के मदरसे थे। दिन भर के काम-काज से छुट्टी पाने के बाद रातों को मुशायरे होते थे। दो ही चार फ़ी सदी मुशायरे दिन को होते थे। पहले ऐसा होता था कि मुशायरों में हल्क़ा बाँध कर शायर बैठते थे। ये हल्क़े लम्बे बैज़वी शक्ल के होते थे। शायरों के पीछे चारों तरफ़ क़तार दर क़तार सुननेवाले बैठते थे। अब ऐसा कम ही होता है। शायर मिल जुल कर डाइस या स्टेज पर बैठ जाते हैं। सुननेवाले शायरों के जमघट के सामने बैठ जाते हैं। अब तो वाह-वाह के अलावा अच्छे शेर की तारीफ़ तालियाँ बजा कर भी की जाती है। मशहूर शायर का स्वागत भी तालियाँ बजा कर लोग करने लगे हैं। ज़माना बदला तो मुशायरों का रंग भी बदला। पहले बीसों हुक़्क़े फूलों के गजरों और ख़ुशबू से सजा और बसा कर मुशायरे में क़रीने से लगा दिये जाते थे। ख़ूबसूरत मिट्टी की तश्तरियों में पान की गिलोरियां और कभी कभी गर्मियों में कुल्फ़ियाँ सजा कर रखी जाती थीं और उगालदान भी। पहले निक्के शायर अपना क़लाम सुनाते थे। बड़े शायरों की बारी आख़िर में आधी रात के बाद आती थी। सुननेवालों का यह हाल था कि पूरे-पूरे ध्यान से हमातनगोश होकर शेर सुनते थे। साँचे में ढले हुये, भाव से भरे हुए, कभी सादे कभी रंगीन शेर सुन कर मुशायरा तारीफ़ के शोर से गूँज उठता था। आगे, सुभान अल्ला, जज़ाक अल्ला, वाह वाह, मुकर्रर इरशाद, फिर इनायत हो, एक बार और तकलीफ़ फरमाएँ, क्या कहना, हाय हाय, ग़ज़ब कर दिया, कितना डूब कर कहा है, कहाँ से मिसरा लगाया है, कितनी नाज़ुक बात कही है, कितना उतर कर कहा है, क्या जादू बयानी है, क्या धुँवाधार शेर कहा है, बन्दिश कितनी चुस्त है, रवानी किस ग़ज़ब की है, क्या हुस्ने क़ाफ़िया है, क्या शाने रदीफ़ है, मिसरा बोल रहा है, कितना बच के कहा है, कहाँ पहुँचा दिया है, अरे मार डाला वग़ैरा के शोर से मुशायरा गूँज उठता था। कभी कभी आवाज़े भी कस दिये जाते थे। अगर एक शेर दो बार से ज़्यादा पढ़वा दिया तो शायर खटक जाता था कि कुछ दाल में काला है। दाद देने के अल्फ़ाज़ कई लहज़ों में अदा किये जाते थे।

नासिख़ और आतश के मार्के मशहूर हैं। मशहूर था कि नासिख़ को एक सौदागर ने मोल लेकर पाला था। आतश ने सरे मुशायरा चोट कर दी। मतला पढ़ा—

'यह बज़्म वोह है कि नाचीज़ का मुक़ाम नहीं,
हमारे गंजफ़े में वाज़िए ग़ुलाम नहीं'।

नासिख़ के शागिर्द ने जवाबन् शेर पढ़ा—

'जो बंदा ख़ास है वह बंदए ग़ुलाम नहीं,
हज़ार बार जो यूसुफ़ बिके ग़ुलाम नहीं।'

मुशायरे के इतने लतीफ़े जमा हो गये हैं कि पूरी एक किताब मुरत्तब की जा सकती है। मुशायरों की कहानी एक बातचीत में ख़त्म नहीं हो सकती। बात में बात और बात से बात पैदा होने का तमाशा मुशायरों में नज़र आता है। मैं दो वाक़्ये सुनाता हूँ।

एक शायर इतना मस्त हो जाता था कि पूरा शेर पढ़ना भूल जाता था। शेर था—'तू वोह बुलबुल हैं कि हर गुल तेरा दीवाना है। आँख जिस फूल पै पड़ जाय वह पैमाना है॥' 'भई, तू वह बुलबुल है कि हर गुल तेरा दीवाना है। आँख जिस फूल पै पड़ जाय....ही....ही ....ही....'। एक साहब दाद का सलामो-शुक्रिया भी शेर में अदा कर देते थे। शेर यूँ पढ़ते थे—'जामो सुबू का ज़िक्र क्या बहता फिरे ख़ुद मैकदा। ऐ अब्रे रहमत टूट कर ऐसा बरस इतना बरस...आदाबअर्ज़॥' एक शायर साहब अपने पढ़ने को ड्रामा बना देते थे। शेर था—'दूर जाकर देखते नज़दीक आकर देखते, हमसे हो सकता तो हम उनको बराबर देखते।' इसे यूँ अदा करते थे—'दूर जाकर देखते नज़दीक आकर देखते, हमसे हो सकता तो हम उनको.... क्या कहने हैं।' कभी-कभी मुशायरे ही में बहुत अच्छी इस्लाह सूझ जाती है। मेरे एक निहायत अच्छा कहने वाले दोस्त का मतला था—'तुझको शबे फ़िराक़ पुकारा कभी-कभी, इंसाँ हूँ, ढूँढता हूँ सहारा कभी-कभी।' मैंने पास बैठे हुए दोस्तों से कहा कि यूँ कहा होता तो यह अच्छा मतला और भी चमक जाता—'तुझको भी शामे-हिज्र पुकारा कभी-कभी, इंसान ढूँढता है सहारा कभी-कभी।' उस्तादों के शेर पर बच्चों से इस्लाह हो गई है। ख़्वाजा वज़ीर का मशहूर शेर है—'इसी बाइस तो क़त्ले आशिक़ाँ से मना करते थे, अकेले फिर रहे हो यूसुफ़े बेकारवाँ होकर।' एक लड़के ने इसी 'बाइस' को बदल कर यूँ पढ़ा—'इसी दिन को तो क़त्ले आशिक़ाँ से मना करते थे, अकेले फिर रहे हो यूसुफ़े बेकारवाँ होकर।' अमीर मीनाई ने कहा था—'अच्छे-अच्छे ख़्वाब देखे सबने तावीरें कहीं, वस्ल की बनती हैं इन बातों से तदबीरें कहीं।' हसरत मोहानी ने दूसरे मिसरे को पहला मिसरा करके इलहामी मतला कर दिया,—'वस्ल की होती हैं इन बातों से तदबीरें कहीं, आरज़ूओं से फिरा करती हैं तक़दीरें कहीं।'

अब आइये कवि-सम्मेलनों की तरफ़। हमारा सूबा उत्तर प्रदेश इस मामले में बहुत ख़ुशनसीब है कि जहाँ उसने सूरदास, तुलसीदास, कबीर पैदा किये वहाँ उसने मीर, ग़ालिब, नज़ीर, अनीस, आतश, चकबस्त भी पैदा किये। उर्दू-हिन्दी हमारे कलेवर को और हमारी ज़िन्दगी को गंगा-जमुना की तरह सींच रही हैं। कल्चर का यह दौर हमारी ज़िन्दगी को ज़रख़ेज़ बना रहा है। अब चूँकि हिन्दी शायरी खड़ी बोली या पश्चिमी हिन्दी में हो रही है, इससे उर्दू-हिन्दी शायरी का एक नया संगम बहुत जल्द बन जायगा। हमारी ज़िन्दगी बहुत बड़ी ज़िन्दगी है, अगर्चे इस वक़्त वह मुसीबतों में घिरी हुई है। इस विराट-जीवन में अनगिनत पहलू हैं जिनमें कई ऐसे हैं जिनकी झलकियाँ हिन्दी के शायर दिखायेंगे। हिन्दी कवि-सम्मेलनों में अभी आहिस्ता-आहिस्ता ज़िन्दगी पैदा होगी। कवि-सम्मेलनों में फ़िज़ा अक्सर गम्भीर ज़रूर होती है, लेकिन इसका भारीपन दूर होना लाज़िमी है। हिन्दी शायरी आवाज़ों की एक नयी दुनिया बना रही है, शायरी के नये साँचे तैयार कर रही है, ज़िन्दगी के नये ख़्वाब देख रही है। ज़बानो-बयान के बने-बनाये साँचे नयी हिन्दी के शायरों के पास नहीं हैं। इन शायरों की नई पौद मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला की ज़ुबान में जिस इस्लाह की ज़रूरत थी, जिस तब्दीली की ज़रूरत थी, उस तरफ़ मायल हो रही है और हिन्दी शायरी की ज़मीन को निरा रही है। कुछ दिनों में इस ज़मीन में एक नया सोंधापन, सलोनापन, सुहावनापन पैदा हो जायगा। इधर पिछले आठ-नौ बरस के कवि-सम्मेलनों में इस तब्दीली के आसार साफ़ दिखाई देने लगे हैं। नयी हिन्दी शायरी का एक हिस्सा हमारे घरेलू जीवन, देहाती जीवन, बच्चों

और औरतों के जीवन और हमारे भोले-भाले लहज़े, हमारी बोलचाल की सादगी और बेतकल्लुफ़ी, हमारी ज़िन्दगी के वे भाव और रस जो सदियों पुराने हैं या जो सौ फ़ीसदी हिन्दुस्तानी हैं, इन तमाम चीज़ों के लिये ज़बान ढूँढ रहा है और पा भी रहा है। नयी हिन्दी शायरी कभी-कभी जब कामयाब हो जाती है तो उर्दू शायरी से कुछ मुख़्तलिफ़ होते हुये भी मन को मोह लेती है और एक नयी आवाज़ की लहरें फ़िज़ा में पैदा कर देती है। आज उर्दू और हिन्दी दोनों हमारी ज़िन्दगी और कल्चर को मालामाल कर रही हैं। दोनों में फ़र्क़ सिर्फ़ इस्टाइल का है। चूँकि नयी हिन्दी शायरी आहिस्ता-आहिस्ता बन रही है, इसलिए कवि-सम्मेलनों में ज़िन्दगी भी आहिस्ता-आहिस्ता आ रही है। नये हिन्दी शायरों को इसका एहसास हो चला है कि उर्दू के वे बहुत कुछ पास के हैं। वह दिन भी दूर नहीं कि उर्दू शायरी भी हिन्दी शायरी की तहरीक़ से मुतासिर होने लगे। मुझे तो कवि-सम्मेलनों में कभी-कभी जब अच्छी शायरी सुनने को मिल जाती है तो ऐसा मालूम होता है कि हमारी ज़िन्दगी एक नये पानी से सींची जा रही है। एक नयी उमंग, एक नया अन्दाज़े-एहसास, चेतना का नया रूप, नई रूपरेखा की तलाश कुछ नौजवान हिन्दी शायरों की कविता में मिलती है। शायद पन्द्रह-बीस बरस के अन्दर हिन्दी और उर्दू शायर एक ही सभा में अपनी-अपनी अमृतवाणी बरसायें। उस वक्त हमारी अदबी ज़िन्दगी अशोक, विक्रमादित्य, अकबर के दरबारों और जन-साधारण की ज़िन्दगी में जो इन्क़लाब आ रहा है, सबकी शानदार झलकियाँ दिखायेगी।

—इलाहाबाद से प्रसारित



अंधड़

अज्ञेय

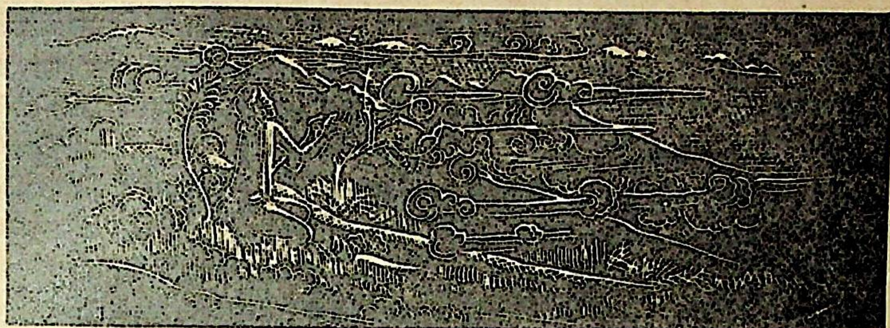
झरने दो
साँस साँस में भरने दो
धूल।
धूसरित करने दो
तन को, जो दूध की धुली तो नहीं।
सिहरने दो।
झरने दो।

तिरने दो
पौन के हिंडोलों में पत्तियों को गिरने दो
टूटने दो टहनियाँ, फूटने दो
शूल।
फिर वायु मंडल को थिरने दो
निथुरे समीर पर बिथुरे सुवास, अरे
फूल।
मधु है, सुमिरने दो।
तिरने दो।

रसने दो
आकाश का विदग्ध उर
उमसने दो, कसने दो
घुमड़ने उमड़ने दो
दुर्निवार मेघ को
रसधार बरसने दो।
स्नेह की बौछार तले धरती को
पागल सी हँसने दो
मेरा मुग्ध मानस विकसने दो
रसने दो।

आने दो
हहराती इस लहर को काट कर गिराने दो
कूल।
उसी के वक्ष पर फिर पछाड़ खाने दो
सुध विसराने दो
गल कर वत्सल हो जाने दो।
आने दो।

—दिल्ली से प्रसारित



संस्कृत के महाकाव्य

महेन्द्रप्रताप शास्त्री

संस्कृत भाषा विश्व की गौरवपूर्ण भाषाओं में है। प्राचीनता की दृष्टि से यह केवल भारतीय भाषाओं की ही नहीं अपितु बाहर की अनेक भाषाओं में भी किसी की दादी, किसी की नानी, किसी की माता और किसी की बड़ी बहिन है। यह गौरव इसी को प्राप्त है कि संसार की प्राचीनतम लिखित पुस्तक, वेद, इसी में है। आज कल सभ्य कही जाने वाली जातियाँ जब जंगली थीं, जब उनके यहाँ भाषा का विकास प्रारम्भ भी न हुआ था, उस समय संस्कृत भाषा अपने पूर्ण विकास को प्राप्त हो चुकी थी। प्राचीनता के अतिरिक्त संस्कृत का दूसरा महत्त्व उसमें प्रायः सभी लौकिक एवं पारलौकिक विषयों पर उत्कृष्ट ग्रन्थों का होना है। संस्कृत साहित्य का विषय-वैभिन्य एवं आकार उसकी तीसरी विशेषता है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि उसका एक बहुत बड़ा भाग काल की थपेड़ का शिकार हो चुका है। फिर भी जो कुछ बचा है वह बहुत है। ग्रीक और लैटिन साहित्य मिलकर भी उसके आधे से कम हैं। कुछ लोग संस्कृत को केवल धर्म की भाषा समझते हैं, यह उनका भ्रम है। सत्य यह है कि संस्कृत पारलौकिक एवं लौकिक श्रेय एवं प्रेय, और परा तथा अपरा सभी प्रकार की विद्याओं की भाषा है। जहाँ उसमें आध्यात्मिक विषयों पर अलौकिक रचनाएं हैं वहां लौकिक ग्रन्थों की भी उसमें कमी नहीं। संस्कृत के महाकाव्य इसके प्रमाण हैं। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष की रचनाओं को लेकर संस्कृत किसी भी काव्यगोष्ठी में मस्तक ऊँचा कर बैठ सकती है। डाक्टर कीथ के शब्दों में लौकिक संस्कृत संसार के बड़े बड़े साहित्यों में स्थान पाने योग्य है।

'महाकाव्य' दो शब्दों के योग से बना है। काव्य का अर्थ है 'कवेरिदं काव्यम्' अर्थात् कवि की रचना, और महा का अर्थ है बड़ा, अर्थात् किसी कवि की आकार एवं विषय की दृष्टि से बड़ी रचना। संस्कृत के प्रसिद्ध रीति-ग्रन्थकार दंडी ने महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार की है :—

महाकाव्य सर्गों में बँटा होता है। उसकी कथा ऐतिहासिक होती है अथवा किसी प्राचीन आख्यान के आधार पर होती है। उसका लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति होना चाहिए।

उसका नायक उत्तम गुणों से युक्त कोई देवता अथवा कुलीन क्षत्रिय होना चाहिए। वह चमत्कार तथा काव्य की आत्मा, रस से पूर्ण होना चाहिए। उसके सर्ग बहुत बड़े न हों पर सारी रचना संक्षिप्त भी न हो। उसके छन्द रुचिर हों। संक्षेप में उसमें लोकरंजन का सामर्थ्य होना चाहिए।

संस्कृत में इस प्रकार के अनेक महाकाव्यों की रचना हुई। रामायण एवं महाभारत को, जिन्हें साधारणतया काव्य कहा जाता है, इन महाकाव्यों की श्रेणी में न रख कर, ऐतिहासिक अथवा जातीय विकास के द्योतक महाकाव्य कहना ठीक होगा। उनमें इतिहास और पुराण का सम्मिश्रण है। इस प्रकार उन्हें पृथक् कर देने पर रघुवंश, कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध एवं नैषधीय-चरित की बारी आती है। ये संस्कृत के पाँच महाकाव्य कहे जाते हैं। इनमें से रघुवंश और कुमारसम्भव कविसम्राट् कालिदास की अमर रचनाएं हैं। कालिदास संस्कृत और भारत के ही नहीं अपितु विश्व के कवियों में अग्रगण्य हैं। भाषा, भाव, रस, अलंकार, चमत्कार जिस दृष्टि से भी देखा जाय, उनकी रचनाएं अलौकिक हैं। उनकी रचनाओं के बारे में सुन्दरता की यह परिभाषा चरितार्थ होती है कि 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'। कालिदास एक प्रतिभासम्पन्न कवि थे जो काव्य, खंडकाव्य गीतिकाव्य, मुक्तक, नाटक आदि सभी की रचना अनुपम चतुराई से कर सकते थे। जिस प्रकार कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक नाटकों में श्रेष्ठ है उसी प्रकार उनका रघुवंश महाकाव्यों में अद्वितीय है।

रघुवंश में, जैसा कि उसके नाम से प्रकट है, रघुवंश के राजाओं का वर्णन है। इसमें १९ सर्ग हैं। इस काव्य में कालिदास की प्रतिभा अपनी उत्कृष्टता को पहुँची हुई है। यूँ तो प्रारम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण ग्रन्थ रसाप्लावित हो रहा है। फिर भी दिलीप की परीक्षा, इन्दुमती का स्वयंवर, इन्दुमती की मृत्यु पर अज का विलाप, राम, लक्ष्मण तथा सीता का विमान में अयोध्या के लिए लौटना, निर्वासिता सीता का राम के लिए संदेश, अयोध्या का वर्णन आदि ऐसे स्थल हैं जो हृदय पर अमिट प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकते। स्थान स्थान पर वर्णनों की सजीवता, प्रसंगों की स्वाभाविकता, शैली की मधुरता और भाषा एवं भाव का समन्वय अपनी अनुपम छटा रखते हैं। इस महाकाव्य में प्रायः सभी रसों का परिपाक हुआ है। रघु, अज और राम के युद्ध-प्रसंगों में वीर रस, अज के विलाप एवं सीता के निष्कासन में करुण रस, अग्निवर्ण के विलास-वर्णन में शृंगार रस और वशिष्ठ एवं वाल्मीकि के आश्रमों के वर्णन में शान्त रस साक्षात् शरीर धारण किए से प्रतीत होते हैं। संक्षेप में संस्कृत के महाकाव्यों में श्रेष्ठ यह कालिदास की अमर कृति है।

कालिदास द्वारा रचित दूसरा महाकाव्य कुमारसम्भव है, जिसमें १८ सर्ग हैं। उसमें शिव और पार्वती के पुत्र एवं देवताओं के सेनानी, कुमार अथवा कार्तिकेय के जन्म का वर्णन है। मानवीय हृदय के सूक्ष्म भावों तथा बाह्य प्रकृति के विविध पदार्थों के वर्णनों की दृष्टि से कुमारसम्भव एक अद्वितीय रचना है। काव्य के प्रारम्भ में हिमालय का वर्णन पर्वतराज को नेत्रों के सामने लाकर खड़ा कर देता है। चतुर्थ सर्ग में कामदेव के भस्म हो जाने पर रति का विलाप, पंचम में पार्वती की तपस्या एवं उसका वटुवेशधारी शिव से संवाद संस्कृत साहित्य के उत्कृष्ट स्थलों में स्थान पाने योग्य है। यूं तो कालिदास एक शृंगारी कवि कहे जाते हैं पर उनकी कृतियों में मानवीय हृदय और मस्तिष्क की उदात्ततम भावनाओं ने परिपाक पाया है। उनकी रचनाएं विशेष संदेश देती हैं। तपस्या का महत्त्व, और ज्ञान के द्वारा वासना पर विजय पाना कुमारसम्भव के संदेश हैं।

तृतीय महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' अपने ढंग का एक प्रसिद्ध काव्य है, जिसमें १८ सर्ग हैं।

इसके रचयिता भारवि कवि हैं। इनका समय ईसा की सातवीं शताब्दी का मध्य है। ये दक्षिण भारत के रहने वाले थे। इन कविरत्न की यही एक रचना है, पर इसने इन्हें अमरता प्रदान कर दी है। इसमें महाभारत के उस प्रसंग का वर्णन है, जिसमें अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने जाते हैं और किरात-वेशधारी शिव से युद्ध कर पाशुपत अस्त्र प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार कालिदास के लिए कहा जाता है 'उपमा कालिदासस्य' अर्थात् कालिदास उपमालंकार के प्रयोग में अद्वितीय हैं, उसी प्रकार भारवि के लिए कहा जाता है 'भारवेरर्थ-गौरवम्' अर्थात् भारवि की रचनाओं में अर्थ गौरव है। थोड़े शब्दों में विस्तृत एवं गम्भीर भावों को भर देना अर्थगौरव कहलाता है। इसी को 'गागर में सागर' कह कर व्यक्त किया जाता है। भारवि अपनी सूक्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्हें देख कर पता लगता है कि वे एक पंडित एवं अनुभवी व्यक्ति थे। अन्य विषयों के साथ साथ राजनीति का भी उन्हें विशेष ज्ञान था। युधिष्ठिर, भीम एवं द्रौपदी की मंत्रणा इसके उदाहरण हैं। किरातार्जुनीय का द्वितीय सर्ग अर्थ-गाम्भीर्य तथा उच्च राजनीति का कोष है। पाशुपत की प्राप्ति के हेतु अर्जुन की तपस्या अप्सराओं के साथ उसका विहार, तथा किरात-वेशी शिव के साथ उसका युद्ध, काव्य के उत्तम प्रसंग हैं। इसका प्रधान रस वीर है तथा शृंगार, करुण आदि रसों का अच्छा निरूपण है।

चतुर्थ महाकाव्य 'शिशुपालवध' है। इसमें २० सर्ग तथा १६५० श्लोक हैं। इसकी कथा भी महाभारत से ली गई है। इसमें युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में आए हुए चेदिराज शिशुपाल का कृष्ण द्वारा वध दिखाया गया है। इसके रचयिता माघ कवि हैं जिनका समय ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। इनका जन्म गुजरात प्रदेश में बताया जाता है। इनकी रचना के बारे में निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम्,
दंडिनः पदलालित्यं, माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

अर्थात् कालिदास की उपमाएँ अत्यन्त हृदयग्राहिणी हैं, भारवि की रचना में अर्थगौरव है, दंडी कवि पदलालित्य में बढ़कर हैं और माघ में ये तीनों विशेषताएँ हैं। सम्भव है कि यह किसी माघ-प्रशंसक की पक्षपातपूर्ण उक्ति हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि शिशुपालवध एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। इसके मानव भावनाओं एवं प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन उच्चकोटि के हैं। इसकी रचना ओजगुण का उत्कृष्ट उदाहरण है। स्थान-स्थान पर वर्णन-सौन्दर्य, भावश्रेष्ठता एवं विचार-गाम्भीर्य की झलक है। माघ का प्रकृति-निरीक्षण बहुत सूक्ष्म था। उनके शब्द-चित्र अत्यधिक मनोहर हैं। इस महाकाव्य के संवाद भी विशेषतापूर्ण हैं।

पाँचवां महाकाव्य हर्ष द्वारा रचित 'नैषधीय-चरित' है। हर्ष कन्नौज के राजा जयचन्द्र के सभाकवि थे। इसलिये इनका समय ईस्वी बारहवीं शताब्दी ठहरता है। इस काव्य में निषध देश के राजा नल और उनकी रानी दम-यन्ती की कथा है। इसमें २२ सर्ग तथा २८३० श्लोक हैं। क्लिष्ट एवं अतिशयोक्तिपूर्ण होने के कारण यह काव्य इतनी प्रसिद्धि न पा सका, जितनी उपर्युक्त चार महाकाव्यों को मिली। फिर भी इसमें महाकाव्य के गुण प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं। नल का मृगया-विहार, हंस का पकड़ा जाना, दमयन्ती का सौन्दर्य आदि इसके सुन्दर प्रसंग हैं।

इन पाँच महाकाव्यों के अतिरिक्त संस्कृत में अन्य महाकाव्य भी हैं, जिनका संकेत किए बिना इस प्रसंग का समाप्त करना अनुचित होगा। इन ग्रन्थों में जिनकी ओर प्रथम ध्यान जाता है अश्वघोष कवि की कृतियाँ 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरानन्द' हैं। अश्वघोष ईस्वीय प्रथम शताब्दी के राजा कनिष्क के संसद्-कवि थे। इन्होंने ब्राह्मण धर्म को छोड़ बौद्धधर्म की दीक्षा ली थी। बुद्धचरित में २८ सर्ग थे, लेकिन आज कल उसके १४ सर्ग ही उपलब्ध हैं। इसका अनुवाद चीनी तथा तिब्बती भाषा में किया गया था। इससे अनुमान होता है कि उस

समय यह ग्रन्थ अवश्य जनप्रिय रहा होगा। 'सौन्दरानन्द' में १८ सर्ग हैं।

अश्वघोष की शैली कालिदास की तरह वैदर्भी थी, जो सरसता, स्वाभाविकता, सरलता एवं प्रवाह के लिए प्रख्यात है। ग्रन्थ में बौद्धधर्म के दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन विस्तार से किया गया है। परन्तु इससे कवित्व की क्षति नहीं होने पाई। अपनी सरलता एवं सरसता के कारण अश्वघोष कालिदास के अत्यन्त निकट पहुँच जाते हैं।

भट्टि कवि कृत 'भट्टिकाव्य' अथवा 'रावण-वध' संस्कृत में अपने ढंग का एक अद्भुत काव्य है। इसकी गणना शास्त्रकाव्यों में की गई है। इसमें रामचरित एवं रावण के वध का कविता में वर्णन है, पर विशेष बात यह है कि उक्त वर्णन में व्याकरण सिखाने की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। व्याकरण के सभी प्रकरण ग्रन्थ में आ जाते हैं और साहित्य के मिठास में पगने से व्याकरण की कटुता दूर हो जाती है। फिर भी व्याकरण का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, जिसके कारण रूक्षता एवं क्लिष्टता का आना स्वाभाविक है। इसमें २० सर्ग तथा लगभग २५०० श्लोक हैं।

'हरविजय' आकार एवं गुणों की दृष्टि से संस्कृत काव्यों में विशेष स्थान का अधिकारी है। इसके लेखक कश्मीर के रत्नाकर कवि हैं। ये ईस्वीय नवम शताब्दी के कश्मीरनरेश जयापीड के सभापंडित थे। इस काव्य में ५० सर्ग हैं।

कश्मीर के क्षेमेन्द्र संस्कृत के एक ख्याति-प्राप्त लेखक थे। उन्होंने कई काव्यों की रचना की। उनमें 'रामायणमंजरी', 'भारतमंजरी' एवं 'बृहत्कथामंजरी' इनके बड़े काव्य हैं, तथा 'दशावतारचरित', 'बोधिसत्वावदानकल्पलता' 'कलाविलास' आदि आठ छोटे ग्रन्थ हैं। इनकी भाषा में मिठास, सरलता, प्रवाह एवं स्वाभाविकता है। इनकी नीति सम्बन्धी उक्तियाँ चुभने वाली हैं।

मंखक कवि ने 'श्रीकंठचरित' की रचना की थी, जिसमें २५ सर्ग हैं। ये भी कश्मीर के थे और अपने काल के प्रसिद्ध कवि थे।

ईस्वीय छठी शताब्दी के कुमारदासद्वारा रचित 'जानकीहरणम्' में २० सर्गों में सीता की कथा है।

इन महाकाव्यों के अतिरिक्त कतिपय महाकाव्य जैन कवियों के बनाए हुए हैं और कुछ ऐतिहासिक महाकाव्य हैं। पिछले महाकाव्यों में बिल्हण का 'विक्रमाङ्कदेवचरित' एवं कल्हण की 'राजतरंगिणी' प्रसिद्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लगभग दो सहस्र वर्ष तक संस्कृत में महाकाव्यों की रचना होती रही। इस काल में संस्कृत के महाकवियों ने अपनी रचनाओं से देववाणी की शोभा को बढ़ाया और उसके भंडार को ऐसे अनुपम और अमूल्य रत्न दिए, जिनके कारण वह संसार की अधिक से अधिक समृद्ध भाषाओं में गिनी जाती है।

—लखनऊ से प्रसारित



समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

अर्थ—आओ, अपना निश्चय एक बनाओ। आओ, अपने हृदयों को एक करो। तुम्हारा मन (आपस में) एक हो, जिससे (तुम्हारा आपस का) पक्का मेल-जोल बना रहे।

—ऋग्वेद

जीने का सलीक़ा

रशीद अहमद सिद्दीक़ी

एक साहब पिटते भी जा रहे थे और हँसते भी जा रहे थे और जिस क़द्र बेतहाशा पिटते थे उसही क़द्र बेतहाशा हँसते थे। दर्याफ़्त हाल करने पर साहब मौसूफ़ ने बताया कि पीटनेवाला ग़लत आदमी को पीट रहा था। इसलिये उसकी हिमाक़त से लुत्फ़ अंदोज़ हो रहे थे! तो हज़रत यह तो रहा पिटने का सलीक़ा।

अब रहा जीने का सलीक़ा। इसका लतीफ़ा भी सुन लीजिए। दो आदमी एक ही कोठरी में बन्द थे। रात बड़ी तारीक और भयानक थी और तूफ़ान शिद्दत पर था। तूफ़ान थमा तो दोनों कोठरी के दरवाज़े पर आए और सलाख़ों से झाँकने लगे। एक यह कहता हुआ वापस गया—'उफ़ किस बला की तारीकी है।' दूसरा वहीं खड़ा रहा और अपने साथी से बोला—'देखना एक तारा भी चमक रहा है।' लतीफ़ा तो ख़त्म हो गया, लेकिन कहने वाले कहते हैं कि बात ख़त्म नहीं हुई, बल्कि इसमें जीने का एक सलीक़ा छुपा हुआ है। अगर इस लतीफ़े को आप पा न सकें या उसके क़ायल न हों तो मारिये गोली इस सारे क़िस्से को।

किसी काम को ख़ूबी और ख़ूबसूरती से करना सलीक़ा है। यूँ भी कह लीजिये तो कोई मुज़ायक़ा नहीं कि किसी बात को इस तरह कहना या करना कि उसका हक़ अदा हो जाये सलीक़ा है। इस बिना पर मैं कुछ ऐसा समझता हूँ कि धर्म, इख़लाक़, आर्ट, उलूम सब का बहुत कुछ मदार सलीक़े और शायस्तगी पर है। आपकी इस दिल्ली के एक मशहूर ख़ान्दानी तबीब का लतीफ़ा मशहूर है जिन से एक साहब ने दर्याफ़्त किया कि हकीम साहब, आपके इलाज से भी लोग मरते हैं और फ़लाँ अताई के इलाज से भी मरते हैं, फिर आप दोनों में फ़र्क़ क्या रहा? हकीम साहब ने फ़रमाया—'कोई फ़र्क़ नहीं। बात सिर्फ़ इतनी है कि वह भडुआ बेक़ायदा जान लेता है, मैं क़ायदे से जान लेता हूँ। यह क़ायदा भी सलीक़े ही का दूसरा नाम है।

मैं समझता रहा और समझता हूँ कि मैं दुनिया में एक महदूद हल्क़े में, एक महदूद ज़माने तक, एक महदूद ख़िदमत के लिये पैदा किया गया हूँ। इसलिये अल्लाह ने मुझे इतनी ही अक़्ल, इतना ही हौसला और इसी क़िस्म की शक्ल सूरत दी है कि मैं अपना काम चलाता रहूँ और किसी ऐसे चक्कर में न पड़ूँ जो मेरे बूते का न हो। चुनाँचे अगर किसी की बीवी अपने शौहर के दोनों कान पकड़ कर सुबह शाम झँझोड़ देती हो तो मेरे कान पर जूँ न रेंगेगी, बशर्ते कि वह शौहर मैं ही न होऊँ।

ख़िदमत करने का मेरा तसव्वुर बहुत ही मामूली और मुख़्तसर है। वह इसलिये कि मेरी यही और इतनी ही बसात है। चुनाँचे जितना बड़ा अपने नज़दीक हूँ इस से बड़ा बनने के लिये मारा-मारा फिरने, जेलख़ाने जाने, लोगों पर आफ़ियत हराम करने या शहादत पा

जाने के फेर में कभी नहीं पड़ा। मैं ख़िदमत करने को एक ऐसा क़र्ज़ उतारने के मुतरादिफ़ (समान) समझता हूँ जो बग़ैर लिये भी लोगों पर आयद रहता है। चुनाँचे मरने के बाद इस दुनिया में कोई मेमोरियल बनवाने या बहिश्त में क़सरेज़मुर्रदीं हासिल करने की तमन्ना मैंने कभी नहीं की। बहिश्त को तमन्ना मैंने अक्सर ऐसे ही लोगों को करते पाया जो दुनिया में दूसरों की ज़िन्दगी जहन्नुम बना चुके होते हैं।

मेरी राय है कि जब वाल्दैन बूढ़े और औलाद जवान हो जाए तो वाल्दैन को मैदान छोड़ देना चाहिये। यह मैदान चाहे ख़ान्दान का हो, चाहे इल्मो अदब का, चाहे हिकमतो फ़न का, चाहे इख़लाक़ो मज़हब का। बूढ़ों का नई नस्ल से अपने मनवाने की हवस में मुब्तला रहना मेरे नज़दीक ठीक नहीं है। और बूढ़ों का यह ख़याल सही नहीं कि नौजवानों को उनके हाल पर छोड़ दिया जाएगा तो दुनिया तबाह हो जाएगी। मेरी इस राय को तक़वियत पहुँचती है हिन्दुओं की इस क़दीम रिवायत से कि गृहस्थ आश्रम को ख़त्म करके दुनियावी कारोबार से किनाराकश हो जाना चाहिये। अलबत्ता मेरे पास इस बात का कोई जवाब नहीं कि एक गृहस्थ आश्रम को ख़त्म करने की बजाय कोई शख़्स दूसरा गृहस्थ आश्रम शुरू कर दे। बहर हाल यह शेर अपनी जगह पर मुसल्लम है :—

रहरवे राहे मुहब्बत (या जईफ़ी) का ख़ुदा हाफ़िज़ है।

इसमें दो चार सख़्त मुक़ाम आते हैं।

—दिल्ली से प्रसारित

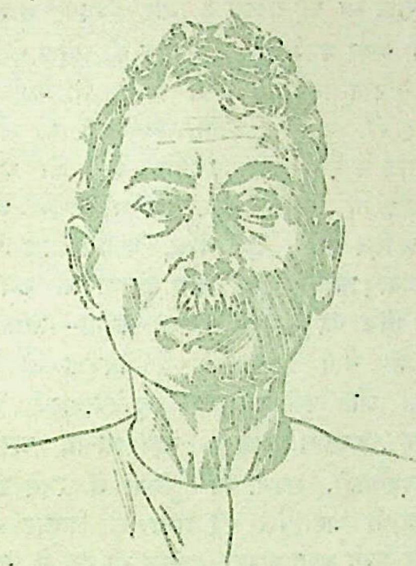


सोच रहा कुछ, गा न रहा मैं

रामधारीसिंह 'दिनकर'

सोच रहा कुछ, गा न रहा मैं !
निज सागर को थाह रहा हूं,
खोज गीत में राह रहा हूं,
पर यह तो सब कुछ अपने हित, औरों को समझा न रहा मैं !!
ग्रन्थि हृदय की खोल रहा हूं,
उन्मन सा कुछ बोल रहा हूं,
मन का अलस खेल यह गुनगुन, सचमुच गीत बना न रहा मैं !!
चरण चरण साधन का श्रम है,
गीत पथिक की शान्ति परम है,
ये मेरे संबल जीवन के, जग का मन बहला न रहा मैं !!

—दिल्ली से प्रसारित



मेरा बाप

अमृतराय

प्रेमचन्द का संस्मरण मैं क्या दूं ? मैं जान ही कितना पाया उस आदमी को ? मेरी उम्र मुश्किल से पन्द्रह की रही होगी जब वह आदमी हम से अलग हो गया। मैं तब इंटरमीजिएट के पहले साल में था। सन् ३६ को अब सत्रह बरस होते हैं, बड़ी कच्ची उम्र थी। ईमानदारी की ही बात है कि मेरे पास वैसे कोई संस्मरण नहीं हैं जो शायद आप मुझसे सुनना चाहते हैं।

छोटे रूप में कहूँ तो यही कहना होगा कि मैंने एक पिता के रूप में ही देख पाया उन्हें। और जितनी कुछ समझ थी उतना एक व्यक्ति के रूप में भी देखने की कोशिश की, यानी अब करता हूँ, स्मृतियों के सहारे।

प्रेमचन्द बहुत सीधे-सादे, बेलौस, मुहब्बती आदमी थे। जो भी लोग उनके सम्पर्क में आये उनको प्रेमचन्द का यही रूप देखने को मिला होगा। घर में भी उनका यही रूप था। घर के बाहर और घर के भीतर, अपने बाहर और अपने भीतर कहीं भी उनमें कोई दुरंगापन नहीं था। सब जगह वह एक था, झील के नीले पानी की तरह साफ़, पारदर्शक। यही उस आदमी की सबसे बड़ी महानता थी कि वह किसी तरह से महान् नहीं था। न कपड़े-लत्ते में, न तौर-तरीके में, न बोलचाल में, न रहन-सहन में। हर ओर से वह आदमी एक साधारण निम्न मध्य वर्ग का आदमी था—बाल-बच्चेदार, गृहस्थ, बाल-बच्चों में रमा हुआ। क्या तो उनका हुलिया था—घुटनों से ज़रा ही नीचे तक पहुँचने वाली मिल की धोती, उसके ऊपर गाढ़े का कुर्ता और पैर में बंददार जूता। यानी कुल मिला कर आप उसे देहक़ान ही कहते, गंवइयां भुच जो अभी गाँव से चला आ रहा है, जिसे कपड़ा पहिनने की भी तमीज़ नहीं, जिसे यह भी नहीं मालूम कि धोती-कुर्ते पर चप्पल पहनी जाती है या पम्प। आप शायद उन्हें प्रेमचन्द कहकर पहचानने से भी इन्कार कर देते। लेकिन तब भी वही प्रेमचन्द था, क्योंकि वही हिन्दुस्तान है। मुझे अच्छी तरह याद है कि बरसों उन्होंने सस्ते के ख़्याल से किरमिच का जूता पहना और रँगरोग़न की झंझट न रहे, रोज़-रोज़ उस पर सफ़ेदी पोतने की मुसीबत से नजात मिले, इसलिए वह किरमिच का जूता ब्राउन रंग का होता था जिसे आजकल तो शायद रिक्शेवाला भी नहीं पहनता और शौक़ से तो नहीं ही पहनता। और मुझे उनके दोनों पैरों की कन्नी उंगली की अच्छी तरह याद है जो जूते को चीर कर बाहर निकली रहती थी। सादगी इससे आगे नहीं जा सकती। अपने

ऊपर कम से कम ख़र्च, यह उनकी ज़िन्दगी का साधारण नियम था। घर के बाक़ी लोग भी कोई मख़मल नहीं पहनते थे, मगर उनसे सभी अच्छे थे। यों तो ख़ैर कभी इतने पैसे ही नहीं हुए कि कोई बड़ी ऐशो-इशरत से रहता और मसल भी मशहूर है कि ख़ुदा गंजे को नाख़ून नहीं देता। लेकिन जहाँ तक मैं समझता हूँ उस आदमी को ऐशो-इशरत की भूख या हविस भी नहीं थी। उनकी ज़िन्दगी में ऐसे मौक़े आये जबकि ऐशो-इशरत की राह उनके लिए खुली हुई थी। दो एक राजाओं ने भी उनको अपने यहाँ बुलाकर रखना चाहा और क़द्रदानी के ख़याल से ही ऐसा किया—मगर वह राह प्रेमचन्द की नहीं थी। उन्हें ऐशो-इशरत पसन्द होती तो जहाँ अन्तःकरण को बेचकर बहुत से लोग बम्बई की फ़िल्मी दुनिया में पड़े रहते हैं, वहाँ प्रेमचन्द भी अपने अन्तःकरण का थोड़ा बहुत सौदा करके पड़े ही रह सकते थे और बीस बरस पहले एक हज़ार रुपया महीना तो पा ही रहे थे और भी ज़्यादा पाने के, बनाने के, सिलसिले निकाल सकते थे—लेकिन नहीं, ऐशो-इशरत की सँकरी सुनहरी गली उनके लिए नहीं थी। उनके लिए खुली हवा का राजमार्ग ही बेहतर था, जहाँ वे एक बड़ के तले, कुएं के पास आराम से अपनी ज़िंदगी गुज़ार सकते थे। वहाँ खुली हवा तो है, ताज़ा, ठंडा, मीठा पानी तो है, नीला आसमान तो दिखाई देता है, राह चलते किसी आदमी का बिरहा तो सुनाई दे जाता है, आदमी आदमी के दुख-दर्द की तो एकाध बात कर लेता है। सोने की उस मायानगरी में तो यह सब कुछ भी नहीं; वहाँ तो इंसानियत भी नहीं, वहाँ तो आदमी आदमी को रौंदकर आगे बढ़ता है। वहाँ कहाँ ठंडा पानी और कहाँ ताज़ी हवा।

लिहाज़ा शुरू से ही उन्होंने उस मायानगरी की गलियाँ झाँकने का ख़याल ही छोड़ दिया और किसी क्षणिक आवेश में आकर नहीं, जीवन के एक संयत, गंभीर, सौम्य, दृढ़ निश्चय के रूप में। दुनियावी नुक़्ते से कोई चाहे तो उन्हें बेवकूफ़ भी कह सकता है और वे शायद थे भी, वर्ना अगर उनमें भी दग़ा-फ़रेब की अक़्ल होती, बहुरूपिया बनने की कला होती, गिरगिट की तरह रंग बदलना आता, अभिनेता की तरह समाज के रंगमंच का उपयोग करने की कला आती, तो निश्चय ही उन्होंने भी अपने झंडे गाड़ दिये होते; दस, बीस, पचास लाख की जायदाद कर ली होती और अख़बार में उनकी भी छींक का ख़ुलासा निकला करता—लिहाज़ा इसमें क्या शक कि वे बेवकूफ़ तो थे ही, जो दुनिया में दुनियावालों की तरह बरतना उन्होंने नहीं सीखा, अपनी आदर्शवादी, सपनों की दुनिया में रहते रहे, ज़िन्दगी भर पैसे की तंगी के शिकार रहे और मरते वक़्त अपना इलाज भी ढंग से नहीं करवा सके। मेरी आँखों के सामने बनारस में रामकटोरा बाग़ का वह घर घूम रहा है और उस घर की वह कोनेवाली कोठरी और उस कोठरी में वही चारपाई और उस पर पीली कुम्हलाई हुई पिंजराशेष आकृति, वे हड्डी-हड्डी बाहें, पेशानी की वे मोटी-मोटी झुर्रियाँ और वे पैनी, चमकती हुई, गहरी-गहरी आँखें जिनकी चमक आख़िरी वक़्त तक बुझी नहीं, मगर जितना ही वह तसवीर मेरी आँखों के सामने नुमायाँ होती है उतना ही दर्द होता है और उतना ही ग़ुस्सा मेरे अंदर जागता है कि उस दुनिया को नेस्तोनाबूद कर देना चाहिये जिसमें इंसान की इंसानियत की क़द्र नहीं, जिसमें सिर्फ़ चोर और गिरहकट और भड़ुरी और ढपोर-शंख पनपते हैं। यह बात हज़ार मुँहों से भी कही जाय तो थोड़ी है कि प्रेमचन्द से बेहतर इन्सान मुश्किल से ही मिलेंगे। घर में, उनसे अधिक प्रेमी पति और वत्सल पिता भी कम ही मिलेंगे। शुरू से ही उन्होंने हम लोगों के संग दोस्त का सा बर्ताव किया। मैं अपनी बात कहता हूँ: वे मेरे सबसे प्यारे दोस्त थे। मुझे याद ही नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी किसी बात पर एक भी कड़ा शब्द मुझे कहा हो, मारने का तो ख़ैर ज़िक्र ही बेकार है। यहाँ तक कि

पढ़ने के लिए भी उन्होंने कभी एक बार भी नहीं कहा। हाँ, अगर इस सिलसिले की कोई बात मुझे याद है तो यही कि एक बार जब मैं छुट्टी का दिन भर गुल्ली-गवाड़ी में गँवाकर शाम को कमरे में बैठा भूगोल का होमवर्क कर रहा था, जो कि अगले रोज़ मास्टर साहब को दिखलाना था, तो उन्होंने डाँट कर मुझे कमरे से बाहर किया था और कहा था–जाओ खेलने, शाम को कभी घर में मत रहा करो। यह सही बात है कि हम उनको अपनी बराबरी का और अपना सबसे बड़ा दोस्त समझते थे, सबसे प्यारा दोस्त। मुझको अच्छी तरह याद है कि हम लोग पिता के संग खाना खाने के लिये ललकते थे और किसी भी दिन उनके बग़ैर नहीं खाते थे। सुबह को तो ख़ैर खाना खाकर स्कूल भागना रहता था, मगर रात के खाने के लिए तो हम लोग दस-दस बजे रात तक उनका इंतज़ार करते थे। नींद में आँखें झँपी जाती थीं, कभी-कभी तो सो भी जाते थे, मगर तब भी उनके संग खाना खाने का लोभ संवरण न कर पाते थे। यह बात देखने में छोटी मालूम पड़ती है मगर इतनी छोटी नहीं है। बाप बेटे में इतनी सहज, गहरी मैत्री, बराबर के दोस्त की जैसी, कम ही देखने में आती है। हर छोटी बड़ी बात में यही मैत्री दिखाई देती थी। मुझे याद आता है, सन् ३५ के दिनों की बात है। मैंने तब साल डेढ़ साल पहले से लिखना शुरू ही किया था। मैं तब इलाहाबाद में रहता था, हाईस्कूल में पढ़ता था और प्रेमचन्द बम्बई से लौटकर बनारस आ गये थे। मैंने अपनी एक कहानी पिताजी के पास उनकी राय और इस्लाह के लिये भेजी। वह कहानी कुछ ऐसी थी जिसमें करुणरस की स्रोतस्विनी बहाने के उद्देश्य से मैंने अपने सभी प्रधान पात्रों को मौत के घाट उतार दिया था। मृत्यु से अधिक करुण तो कोई चीज़ होती नहीं, अगर करुणरस का पूर्ण परिपाक करना है तो कहानी में दो-चार मृत्युएं तो होनी ही चाहियें। लिहाज़ा नायक नायिका सब मर गये। पिताजी ने कहानी पढ़कर बड़े दोस्ताना अंदाज़ में मुझे लिखा कि कहानी तो अच्छी है, बस एक बात है कि इतनी मौतें न हों तो अच्छा, क्योंकि ऐसी कहानियाँ कमज़ोर मानी जाती हैं जिनमें ज़्यादा मौतें होती हैं। बाक़ी सब बहुत ठीक है। बाक़ी उसमें था ही क्या, निरी बचकानी कोशिश थी। लेकिन मैंने बहुत 'सुपीरियर' अंदाज़ में उनको जवाब लिखा कि हां, जो बात तुम लिखते हो—हम लोग पिताजी को 'तुम' कहते थे, 'आप' नहीं, आप में पता नहीं कितनी दूरी का आभास था—हाँ तो, जो बात तुम लिखते हो, वह आम तौर पर सही हो सकती है, लेकिन जहाँ तक इस ख़ास कहानी का ताल्लुक़ है इसमें तो इन मृत्युओं का होना अनिवार्य है, क्योंकि कहानी का यही तर्क है। इसी क़िस्म की कोई बात मैंने लिख दी जिसके बाद वे चुप हो रहे। बेचारे और करते भी क्या?

इस घटना का उल्लेख मैंने यह बतलाने के लिए नहीं किया कि मैं कितना गधा था या हूँ, बल्कि इसलिए कि आपको मालूम हो कि छोटे से छोटे लेखक से भी वे बराबरी की सतह पर उतर कर बात करते थे। हिमालय की ऊँचाई से बात करने की महान् अभिजात कला उनके लिए बंद अध्याय ही रही। ऊँचाई से बात करना उन्हें आता ही नहीं था। वे तो आपके होकर घुल-मिल कर ही आपसे बात कर सकते थे। इसीलिए छोटे से छोटे आदमी को भी उनसे बराबरी से बात करने की फ़ुरसत हो जाती थी और जब यह स्थिति होती है तभी आदमी सीखता भी है। भले आज उन्हीं की परिपाटी हो, मगर आशीर्वादों और प्रवचनों से कभी किसी नये लेखक को कुछ नहीं मिला। प्रेमचन्द एक गहरे दोस्त की तरह, साथी की तरह नये लेखक के हाथ में हाथ देकर उसे अच्छा लिखना, आगे बढ़ना सिखलाते थे और मुक्त हृदय से नये लेखक की प्रशंसा करते थे जिससे उसका उत्साह बढ़ता था। मेरे जीवन का तो यह कठोरतम दुर्भाग्य है कि जब मैं उनसे कुछ

सीखने के क़ाबिल हुआ तभी वे मुझ से अलग हो गये। लेकिन आज हिन्दी में जैनेन्द्र, अज्ञेय, राधाकृष्ण, जनार्दनराय नागर, जनार्दन झा, द्विज, गंगाप्रसाद मिश्र, वीरेश्वरसिंह, उपेन्द्रनाथ अश्क़, वीरेन्द्रकुमार जैन, पहाड़ी जैसे अनगिनत लेखक हैं जिनको प्रेमचन्द ने अपने हाथ से सँवारा है, जिनकी नई प्रतिभा को उन्होंने पहचाना और उजागर किया और प्रोत्साहन देकर आगे बढ़ाया। अभी उस रोज़ महादेवी जी बतला रही थीं कि अपनी पहली या दूसरी कविता पर उनको भी प्रेमचन्द का एक बहुत प्यारा सा कार्ड मिला था। वैसे ही सुभद्राकुमारी चौहान को 'बिखरे मोती' की कहानियों पर और पता नहीं, किन किनको। आज की तो यह सारी पीढ़ी ही उनके हाथ की गढ़ी हुई है। पता नहीं उस आदमी के पास स्फूर्ति का ऐसा कौनसा अक्षय स्रोत था, जो वह सबको हिन्दुस्तान के कोने कोने में, उसका दान कर सकता था और एक नया लेखक जिसने शायद दो ही चार कहानियाँ लिखी होंगी, प्रेमचन्द का ख़त जेब में डाले उसकी शराब में झूमता रहता था और साहित्य-सृष्टि के लिए अपने में अजस्र शक्ति का उद्रेक होता अनुभव करता था। इस तरह पता नहीं कितनी प्रतिभाओं को मुकुलित होने का मौक़ा मिला, जो यों शायद मर जातीं। और इस सारी चीज़ की जड़ में है उनकी वह सरल निश्छल इंसानियत जो घर और बाहर सब जगह यकसां सोना बिखेरती रहती थी।

—नागपुर से प्रसारित

बुद्ध-वाणी

अनुपवादो अनुपघातो पातिमोक्खे च संवरो।
मत्तञ्जुता च भत्तस्मिं पंतञ्च सयनासनं॥
अधिचित्ते च आयोगे एतं बुद्धानसासनं॥

अर्थात् निन्दा न करना, हिंसा न करना, आचार नियमों द्वारा अपने को संयत रखना, मित भोजन करना, एकान्त में वास करना और चित्त को सांसारिक विषय वासनाओं से अलिप्त रखना यही बुद्ध का अनुशासन है।

❀ ❀ ❀

एक दिन का सदाचार और ज्ञान पूर्वक जीना सौ वर्ष के शील रहित और असमाहित जीवन से अच्छा है।

❀ ❀ ❀

राग के समान कोई आग नहीं, द्वेष के समान कोई अमंगल नहीं, मोह के समान कोई जाल नहीं और तृष्णा के समान कोई नदी नहीं।

❀ ❀ ❀

दो ही चीज़ें मैं सिखाता हूँ: "दुःख और दुःख से मुक्ति"

—इलाहाबाद से प्रसारित

दिल और पेट

जगदम्बाप्रसाद दीक्षित

तुम्हें प्यार और मुहब्बत की कहानियाँ पसन्द आती हैं। तुम कहते हो कि मैं ऐसी कहानियां नहीं लिखता जिनमें जवानी का स्पन्दन हो, जीवन की रंगीनियाँ अँगड़ाई लेती हों, जिनमें कोई किसी का हो जाता हो। इसलिये आज मैं जो कहानी तुम्हें सुना रहा हूँ उसका आरम्भ दिल से हो रहा है, जवानी से हो रहा है। लेकिन इस कहानी की ट्रेजडी यही है कि यह दिल से शुरू होकर पेट में ख़त्म हो जाती है। मैं नहीं जानता कि यह तुम्हें कितना गुदगुदा सकेगी। मुझे यह भी नहीं मालूम कि इसमें जीवन की रंगीनियाँ अँगड़ाई लेती हैं या नहीं। लेकिन इतना कह सकता हूँ कि इसमें जवानी का स्पन्दन ज़रूर है। शायद तुम सुन सको।

गनपत को तुम नहीं जानते, उसे मैं ही जानता हूँ। यह नहीं कि तुमने उसे देखा नहीं। बहुत बार तुमने उसे देखा है, पर तुम्हारे लिये उसमें कोई दिलचस्पी नहीं। ठीक भी है, क्योंकि न उसमें जीवन की रंगीनियाँ ही अँगड़ाई लेती हैं और न उसमें जवानी का स्पन्दन ही दिखाई देता है। वह भी तुम्हारी तरह अपना बीसवाँ पार कर रहा है, पर उसके पास न तुम जैसा लम्बा क़द है, न ही खुलता हुआ रंग। तुम्हारे पास सुन्दर छरहरा शरीर है, पर उसका शरीर पतला और काला है। तुम्हारी हड्डियों पर गोश्त की मोटी परतें उभरती हैं, पर उसकी हड्डियों पर फूली हुई नीली काली नसें। वह रिक्शा चलाता है और तुम उस पर बैठते हो। तुम्हारी जवानी जब रिक्शे पर बैठकर अपने कालेज की रंगीनियों की मधुर कल्पनाओं में खो जाती है, तब उसकी जवानी उसकी पतली टाँगों में बस कर पैडिल पर ज़ोर ज़ोर से उछलती है, ताकि तुम ठीक वक़्त पर कालेज पहुँच सको। तब उसकी सूखी पिंडलियों पर उभरती हुई नसों को देखते हुए भी तुम्हारी नज़रें नहीं देख पातीं।

ख़ैर! जब तुम्हारी रगों में जवानी का ख़ून दौड़ा तो उसकी नसों में भी कुछ गरमाहट हुई। जब तुम किन्हीं रंगीन ख़यालों में खोये तो वह भी कहीं दूर उड़ गया। फ़र्क़ इतना ही था कि तुम्हारे पास केवल दिल ही दिल था, पर उसके पास पेट भी था। तुम्हारे पास भरा-पूरा घर, महकता हुआ बाग़ और चमकता हुआ कालेज था, पर उसके पास उसके साथ हँसने-रोनेवाला, उसके दुख-दर्द और आँसुओं में सहानुभूति की दुम हिलानेवाला था केवल एक कुत्ता। फ़र्क़ इतना ही था कि रात के बारह बजे जब तुम अपने नरम गुदगुदे बिस्तर पर दिन की मधुर कल्पनाओं को स्वप्नों में साकार करते, तब वह सेकेंड शो की अलसायी सवारियों को अपनी सूखी पिंडलियों पर उठाये उनके डेरों पर पहुँचाता। जीवन के सूनेपन और एकान्त की जलन से ऊबकर जब तुम लीना, डोरा या फ़्लोरा से मिलने चल पड़ते हो, तब वह शहर की सबसे घिनौनी और घनी बस्ती के बीच अपनी अँधेरी कोठरी में अपने उसी साथी कुत्ते को पुचकारता है। तुम्हारा सूनापन डोरा और फ़्लोरा के बीच खो जाता है, पर गनपत को जैसे वह खा जाना चाहता है। उसके पास कोई नहीं है जो उसकी एकान्तता को बटा सके। और जब कभी उसके दिल में कहीं इस

एकान्तता की पीड़ा का आवेग ज़ोर से हिलोरें मारता है, तब वह अपने मोती को भींच लेता है, उसे चूमता है, पुचकारता है, उसके मैले शरीर को प्रेम से थपथपाता है और कभी कभी उसकी पीठ पर सिर रखकर रोने लगता है। तुम हँसोगे कि वह कुत्ते को प्यार करता है। ठीक भी है, यह तो निरा पागलपन है। अब उसने भी महसूस कर लिया है कि मोती उसके सूनेपन को दूर नहीं कर सकता। वह नहीं समझ पाता कि ऐसा क्यों हो रहा है। फिर भी वह मोती को बहुत प्यार करता है, क्योंकि वही इस इतनी बड़ी दुनियाँ में उसका साथी है। वह जब तक उसे नहीं खिला देता, ख़ुद नहीं खाता। और मोती भी बड़ी रात बीते तक उसके लौटने की प्रतीक्षा में जागता रहता है। दिन भर की ठोकरों और उपेक्षाओं के मारे ये दोनों प्राणी जब तक रात में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति और स्नेह का मूक आदान-प्रदान नहीं कर लेते, उन्हें नींद नहीं आती।

एक दिन रात को जब तुम लीना के साथ सेकेंड शो देखकर लौटे तो गनपत ने तुम्हें अपने रिक्शे पर बिठा लिया। उसने नज़रें चुरा कर लीना को भी देखा और वह उसे बड़ी अच्छी लगी।

जब गनपत बार-बार रिक्शे के पैडिलों पर उछल रहा था, तब तुम लीना के साथ ऐसी हरकतें कर रहे थे जिन्हें तुम्हारी भाषा में 'रोमांटिक' कहा जाता है। गनपत ने सब कुछ समझा। लीना कह रही थी, 'हटिए भी।'

गनपत की फूली नसों में ख़ून की रफ़्तार तेज़ हो गई। हैन्डिल पर जमी काली पतली कलाइयों में कम्पन होने लगा। उसने महसूस किया कि तुम्हारा हाथ लीना की कमर पर है और लीना का सिर तुम्हारे सीने पर। उसकी साँस ज़ोरों से चलने लगी।

तुमने लीना से एक नशीली उन्मुक्त आवाज़ में कहा, 'हटकर कहाँ जाऊँ?' रिक्शे में हलकी सी हलचल हुई और गनपत को लगा कि जैसे कोई चूम रहा हो और कोई चूमा जा रहा हो। उसके हाथ काँपने लगे और शरीर के हज़ारों छेदों से जैसे एक साथ पसीना बहने लगा।

इस कम्पन और पसीने के बीच गनपत मोड़ की उस ओर से आती हुई मोटर का न हॉर्न सुन सका और न ही उसका प्रकाश देख सका। मोटर की तेज़ रोशनी में चौंधियाने के बाद जब उसकी आँखें खुलीं तो मोटर रिक्शे को ठोकर मार चुकी थी।

लीना को चोट आई, तुम्हें भी कुछ आई। लीना को चोट लगने से तुमने कुछ गनपत को पीटा। तुम्हें अब याद नहीं कि तुमने गनपत को कितना पीटा था। गनपत भी नहीं बता सकता, क्योंकि तुम्हारे ठीक बाद ही उस मोटरवाले ने भी गनपत को मारा। मोटरवाले को भी याद नहीं कि उसने गनपत को कितना मारा। ठीक भी था। ग़लती गनपत की थी। उसके दिल को इतना बढ़ना नहीं चाहिए था। उसकी जवानी को इस तरह उभरने की हिम्मत नहीं होनी चाहिए थी।

उस रात को कोई डेढ़-दो बजे अपने चकनाचूर रिक्शे को रख कर जब गनपत अपनी अँधेरी कोठरी में पहुँचा तो उस समय दो मज़बूत जवानों की मार से उसका शरीर बहुत कुछ बदल गया था। उसकी क़मीज़ पर ख़ून था, बालों पर ख़ून था, और गालों पर भी ख़ून बह रहा था। लेकिन जाने दो, उसकी इस हालत का चित्र खींचूंगा तो तुम कहोगे कि फिर वही रोना।

दरवाज़े पर उसका कुत्ता अपने मालिक की बिगड़ी हुई हालत देखकर शायद आश्चर्य से दुम हिला रहा था। उस रात गनपत अपने मोती को भींच बड़ी देर तक सिसकता रहा। मैं नहीं कह सकता कि वह चोटों के दर्द से रो रहा था या उसे और कोई पीड़ा थी।

अगले दो दिनों तक गनपत अपनी कोठरी से बाहर नहीं निकला। उस रात को जब वह सोया तो उसका अंग-अंग जैसे टूट रहा था। अगले दिन बहुत दिन चढ़े लीना के साथ

बितायी रात की उनींदी अलसायी याद लिये जब तुम्हारी आँखें खुलीं तो तुम्हारे शरीर में हलका मीठा दर्द था। किन्तु जब गनपत की आँखें खुलीं तो उसे बहुत तेज़ बुख़ार था। उसकी आँखें जल रही थीं और सारा बदन तप रहा था।

इस तरह सारा दिन बीत गया। मोती कई बार बाहर जाकर लौट आया और आज उसे आश्चर्य हो रहा था कि उसका मालिक अब तक कैसे सोया है। शाम को गनपत की तबियत जब कुछ हल्की हुई तो न जाने क्यों उसकी आँखें फिर भर आयीं। वह बड़ी देर तक अपने जलते हुए हाथों से मोती को थपथपाता और पुचकारता रहा। फिर चादर ओढ़ कर करवट बदल कर सो गया। दूसरे दिन बुख़ार और तेज़ रहा, किन्तु शाम को फिर काफ़ी उतर गया। तुम उस वक़्त डोरा के साथ शहर के सब से शानदार होटल में डिनर के बाद लौट रहे थे, जब दो दिनों के भूखे गनपत के लिये और अधिक भूखा रहना कठिन हो गया था। उस वक़्त रात काफ़ी हो चुकी थी और बाहर दिसम्बर महीने की सर्द हवाएँ चल रही थीं।

जब पेट में कुलबुलाती हुई अन्तड़ियों ने लेटे रहना मुश्किल कर दिया तो वह अपने काँपते क़दमों पर किसी तरह खड़ा हुआ। मैली चादर ओढ़कर जब वह बुख़ार की कमज़ोरी से लड़खड़ाता हुआ कोठरी के दरवाज़े को पार कर रहा था, तो उसका मोती भी उसके साथ था। उसके दुःख-दर्द का साथी मोती उसकी भूख का भी साथी था और उसे भी पिछले दो दिनों से शायद कुछ नहीं मिला था।

ठंडी हवा में बाहर निकलना लोगों को पसन्द नहीं, शायद इसीलिये सड़क पर कुछ रिक्शेवालों को छोड़ कर और कोई नहीं था। चौराहे के उस पारवाला होटल अब बन्द होने जा रहा था। वहीं का बैरा गनपत को जानता है। गनपत ने जब उससे अपनी भूख का हाल कहा तो वह दो रोटियाँ और थोड़ी तरकारी लाने के लिये तैयार हो गया, क्योंकि इतनी रात गये अब होटल में कुछ भी बाक़ी नहीं बचा था।

दो दिन के भूखे गनपत के लिये रोटियाँ क्या चीज़ थीं, मैं नहीं कह सकता। इतना ज़रूर कह सकता हूँ कि रोटियों को तुमने कभी उस नज़र से नहीं देखा, जिस नज़र से उस दिन गनपत देख रहा था। ईश्वर न करे तुम पर कभी ऐसा मौक़ा आए।

जब तक बैरा नहीं लौटा, गनपत की आँखें होटल के उस पिछले दरवाज़े पर सफ़ेद सुन्दर रोटियाँ लिये बैरे की तस्वीर बनाती रहीं। जब बैरा लौटा तो सचमुच उसके हाथों पर दो सफेद सुन्दर रोटियाँ रखी हुई थीं और उन पर खुशबूदार गोश्त की कुछ बोटियाँ थीं। गनपत ने जब उन्हें लिया तो उसके कमज़ोर हाथ काँप रहे थे; लेकिन, ठीक नहीं कह सकता कि पहाड़ पर से बहकर आयी हुई सर्दी के कारण या भूख की वजह से। गनपत की पतली कलाइयाँ एक बार ज़ोर से काँप उठीं और रोटियाँ गोश्त की बोटियों सहित ज़मीन पर आ गिरीं।

जब वे सफेद रोटियाँ धरती पर गिरीं, तब सितारे मुस्करा रहे थे, चाँद हँस रहा था, सर्द हवाएं पैनी हो गयी थीं, सड़क सुनसान थी, होटल बन्द हो चुका था और तुम डोरा के साथ शाम के डिनर की तारीफ़ कर रहे थे। खैर! अगर रोटियाँ ज़मीन पर गिर कर ही रह जातीं तो शायद यह कहानी मैं तुम्हें न सुनाता। लेकिन इसके बाद तो कुत्ते ने आगे बढ़ कर मालिक को ढकेल दिया; पशु ने आगे बढ़कर मनुष्य को पीछे ढकेल दिया, पेट ने आगे बढ़कर दिल को पीछे ढकेल दिया।

जब रोटियाँ ज़मीन पर गिरीं तो कहीं ठंड से दुबके हुये मोती को भूख की गरमी ने झपटने पर मजबूर कर दिया। प्रेम और स्नेह के खेल ख़त्म हो गये। और जब तक गनपत आगे बढ़कर उसे रोकता, एक रोटी मोती के पेट में जा चुकी थी और दूसरी का आधा हिस्सा भी ख़त्म हो चुका था।

पल भर में सब कुछ बदल गया। गनपत की अन्तड़ियों की आग को तेज़ कर वे रोटियाँ मोती के पेट में चली गयी थीं। लेकिन दूसरे ही क्षण अन्तड़ियों की आग जैसे गनपत की रग-रग में फैल गई और आँखों से निकलने लगी। तुम उस स्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकते। जब गनपत ने पास ही पड़ा हुआ पत्थर मोती के सिर पर दे मारा, तो कुत्ते की दर्दनाक चीखें उस सर्द रात में गूँज उठीं।

मोती बड़ी देर तक रोता रहा और गनपत उसे देखता रहा, जैसे वह खुद भी नहीं समझ पा रहा था कि क्या हो गया। इसके बाद धीरे-धीरे मोती की आवाज़ धीमी होती गयी और एक बार ज़ोर से चीख़ कर वह सदा के लिये चल बसा। गनपत का बरस-बरस का साथी चला गया। इतनी बड़ी दुनियां में केवल एक ही साथी था, वह भी चला गया।

गनपत बड़ी देर तक खड़ा रहा! और जब वह अपने इस सुख-दुःख के साथी की लाश पर झुका तो उसकी आँखों से पानी बह रहा था। उस वक़्त बरफ़ीली हवाओं के झोंके तेज़ हो गये थे, सड़क बिल्कुल सूनी थी और तुम डोरा के साथ गर्म लिहाफ़ में लिपटे हुए थे।

—नागपुर से प्रसारित



आदि ही अवसान भी है

बालकृष्ण राव

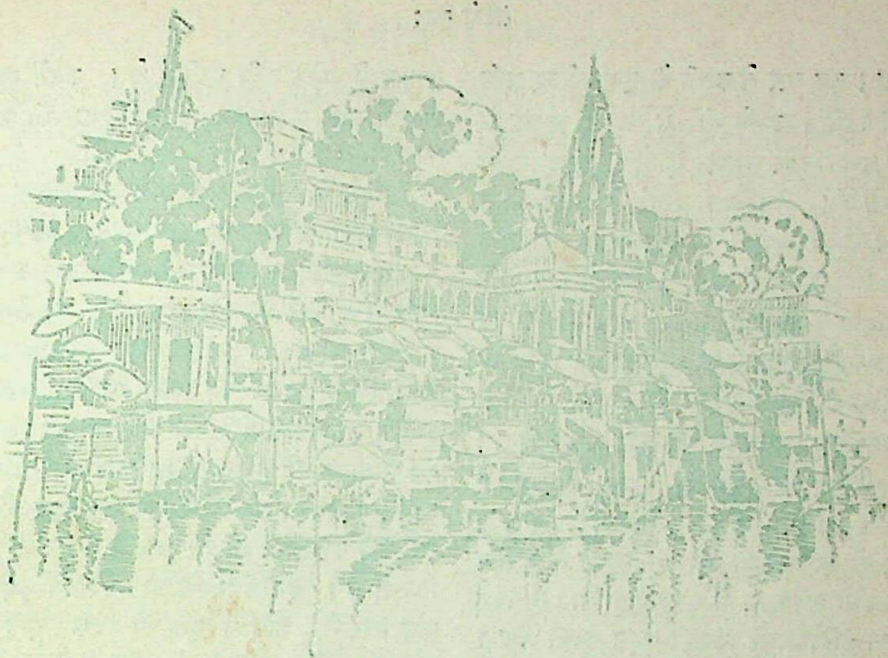
आदि ही अवसान भी है।
अरुण में अंकुर दिवस के
पर निशा-निर्वाण भी है !!!

वह जगे क्यों, नींद ही
जिसकी सजग, सुन्दर सजीली ?
स्वप्न में स्मृति की प्रतिध्वनि
कल्पना का गान भी है !!!

लक्ष्य से है कौन परिचित ?
मार्ग की ही खोज जीवन,
विफलता ही शक्ति श्रम की
शाप ही वरदान भी है !!!

नियति के आदेश को जग
मान कर ही जान पाया,
विफलता के क्षीण मुख पर
शान्ति की मुसकान भी है !!!

—दिल्ली से प्रसारित



हिन्दी का सिद्धपीठ : काशी

कृष्णदेवप्रसाद गौड़

धर्म की दृष्टि से काशी का माहात्म्य बहुत अधिक है। किन्तु हिन्दी साहित्य के निर्माण की दृष्टि से भी काशी की महत्ता अपरिमित है। जिसने यहाँ साहित्य की साधना की, महादेव की कृपा से महान् हो गया। जननी जाह्नवी के जल से जिस साहित्य स्रष्टा ने अपनी जिह्वा धोयी उसकी जीभ पर सरस्वती बैठ गई। कविता, कहानी, रहस्यवाद, छायावाद, आलोचना, गंगा की बालुका के कण हैं।

पहली ललकार हम कबीर की सुनते हैं। दिन भर ताना बाना बुनते हैं, संध्या को गीतों में ढोंगियों को फटकारते हैं। पढ़े-लिखे कुछ भी नहीं, किन्तु इस नगरी की मिट्टी का प्रभाव था कि उन्होंने नई धारा बहा दी। रैदास भी बैठे-बैठे जूते सिया करते थे और भगवान् के प्रेम में भजन बनाते रहते थे। अपनी साधना में वे यहाँ तक पक्के थे कि कह दिया, 'मन चंगा तो कठौती में गंगा'। राजपुर और सोरों, अयोध्या और चित्रकूट घूमते-घूमते गोस्वामी तुलसीदास ने काशी को ही अपना साधनास्थल बनाया। गोपाल मंदिर में आज भी वह कमरा मौजूद है जिसमें बैठ कर उन्होंने विनयपत्रिका लिखी और अस्सीघाट पर बैठ कर रामचरित मानस। तुलसीदास ने काशी में बैठ कर अपनी अमर लेखनी से रामचरितमानस का सर्जन कर काशी को हिन्दी साहित्य के लिये सिद्ध-पीठ बना दिया। जिसने यहाँ साहित्य-साधना की, कुछ न कुछ दे गया।

तुलसी के बाद भी काशी की गिरा मौन नहीं हुई। निरन्तर साहित्य की माला में मणि जोड़ती रही। कितने ही साहित्यकार सरस्वती की आराधना करते रहे और तब भारतेन्दु ने यहाँ के मंच पर प्रवेश किया। भारतेन्दु के पहले एक कवि के सम्बन्ध में कुछ जान लीजिये। आज कल लोग उन्हें भूल गये हैं। ये थे बाबा दीन-दयाल गिरि। ये फक्कड़ साधु थे। किसी को कुछ समझते न थे। कभी किसी मठ में, कभी किसी मन्दिर में पड़े रहते थे। कोई रईस उधर आया, बोल दिया—रख दे दुशाला। उसने रख दिया। दो चार दिन ओढ़ा, कोई दीन आया उसे

दे दिया। एक बार ये काशी के एक प्रसिद्ध धनी के यहाँ पहुँचे। उसने धीरे से अपने मुनीम से कहा—एक सूका लाकर दे दो। सूका चवन्नी को कहते हैं। दीनदयाल गिरि ने कहा—हम सूका न लेंगे। सेठजी ने कहा—आप को कैसे मालूम कि सूका दिया जा रहा है। उन्होंने उत्तर दिया—वह मैंने उसी समय जाना जब तुम्हारा मुँह सुअरसा बना। दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियाँ हिन्दी साहित्य की अनुपम देन हैं।

भारतेन्दु ने नवयुग में नया संदेश दिया। धनी परिवार में जनमे थे; किन्तु धन एकत्र करने के लिये नहीं, वितरित करने के लिये। दो एक सज्जन अब भी काशी में जीवित हैं, जिन्होंने लड़कपन में उन्हें देखा था। रत्नाकर जी तथा हरिऔधजी उनकी बहुत चर्चा किया करते थे। भारतेन्दु स्वयं कविता करते थे और उनके यहाँ पंडितों तथा कवियों का जमघट लगा रहता था। हरिऔधजी ने एक घटना बताई। एक बार राजा शहज़ादा बाबा सुमेरसिंह के यहाँ हरिऔधजी बैठे थे। भारतेन्दुजी वहाँ आये। एक कवि महोदय कविता सुना रहे थे। बाबा जी ने प्रसन्न होकर एक दुशाला कविजी को अर्पित किया। भारतेन्दु जी के पास जेब में उस समय कुछ न था। उन्होंने अपने हाथ से अंगूठी उतार कर दे दी। रत्नाकर जी कहते थे कि एक बार भारतेन्दु जी ने गंगा जी पर बजड़े पर तीन दिन तक अखंड कवि-सम्मेलन किया था। वहीं भोजन-पानी की व्यवस्था थी। उनका सारा समय साहित्य की रसमयी चर्चा में ही बीतता था। हिन्दी नाटक के वे सूत्रधार थे। स्वयं अभिनय भी करते थे। कवि लोग एकत्र होते थे, समस्याएँ दी जाती थीं और वे उनकी पूर्त्ति करते थे। भारतेन्दु के इस समाज में प्रायः सभी रसिकजन एकत्र होते थे। उन्होंने ऐसा जीवन इसे प्रदान किया था कि उनके बाद बहुत दिनों तक यह प्रथा चलती रही। और पं० अम्बिकादत्त व्यास, सेवक आदि कवि इस परिपाटी का निर्वाह करते रहे। काशी के महाराज ईश्वरीनारायणसिंह कवियों के प्रेमी थे। उनके दरबार में अनेक कवि आश्रित थे। उनमें मुख्य सरदार कवि थे जिनकी रचनाएँ आज भी लोग चाव से पढ़ते हैं।

बहुत से साहित्यकार जनमे दूसरे स्थान पर, किन्तु काशी के जलवायु को साहित्य शक्ति का प्रदाता समझ कर यहीं बसे और यहीं उनका साहित्यिक कार्य-क्षेत्र रहा। इन्हीं में हरिऔधजी थे। इनका जन्म निज़ामाबाद, आज़मगढ़ में हुआ, किन्तु लगभग २५ साल काशी में रहकर इन्होंने साहित्य-सेवा की। भारतेन्दु की संगति का सौभाग्य भी इन्हें हुआ था। इनका नियम था नित्य सवेरे डैस्क पर बैठ जाना। एक चौकी थी, उस पर छोटी सी डैस्क रखते थे। उसी पर लिखते थे। इनका नियम था कि नित्य कुछ न कुछ लिखेंगे, और न कुछ तो दस दोहे ही सही। इस नियम का निर्वाह मृत्यु से कुछ पहले तक इन्होंने किया। इसी से बहुत लिखा। प्रियप्रवास के रूप में खड़ी बोली के प्रबन्ध-काव्य के वे अग्रदूत थे।

इसी समय इस नगरी में एक और नक्षत्र उदय हुआ जिसने सरल भाषा में मनोरंजन कथा साहित्य की किरण फैलाई। ये थे देवकीनन्दन खत्री। चन्द्रकान्ता, चन्द्रकान्ता सन्तति, भूतनाथ जिन्होंने पढ़ा है वे ही उसकी महिमा जानते होंगे। चन्द्रकान्ता का आकर्षण इतना था कि कितने लोगों ने इसी के पढ़ने के लिये हिन्दी सीखी। कथा के आकर्षण के लिये इससे बढ़कर दूसरी पुस्तक न मिलेगी। अश्लीलता का नाम नहीं। तिलिस्म और ऐयारी ही मुख्य कथा वस्तु है। यह भी नहीं कि पहले से कोई योजना बनी हो। पृष्ठ पर पृष्ठ लिखते जा रहे हैं और प्रेस में भेजते जा रहे हैं। देवकीनन्दन जी बाग़ में बैठे हैं, प्रेस से आदमी आता है कि फ़र्मे में दो पेज की कमी है। आपने लेखनी उठाई और लिख दिया। हिन्दी संसार काशी की इस देन का भी ऋणी है।

हिन्दी के पढ़ने-पढ़ाने का भी काशी ने नेतृत्व किया है। विश्वविद्यालय में प्रातःस्मरणीय मालवीयजी के प्रयत्न से हिन्दी पहले

यहीं हुई। उन दिनों भगवानदीन यहाँ अध्यापक थे। फिर हिन्दी-शब्दसागर का सम्पादन करने लगे। फिर विश्वविद्यालय में ७५ रुपये मासिक पर प्रोफ़ेसर हुये। उन्हें हिन्दी के प्रचार की बड़ी धुन थी। नित्य साहित्य के प्राचीन ग्रन्थ पढ़ाते रहे। उत्तरप्रदेश के अनेक विद्यालयों में उनके विद्यार्थी प्रोफ़ेसर हैं। उनके ऐसा हिन्दी क्लासिक्स का पढ़ाने वाला सम्भवतः नहीं हुआ। घर पर गुड़-गुड़ी पिया करते थे और बैठे-बैठे दुरूह पुस्तकों की टीका लिखा करते थे। कवि भी थे। पढ़ाने में लीन हो जाते थे। कभी अवकाश नहीं लिया। मरने के पहले एक दिन उन्होंने कहा—तुम लोग व्यर्थ दवा करते हो, एक बृहत् कवि-सम्मेलन कराओ, कविताएँ सुनूंगा, नीरोग हो जाऊँगा। उनकी टीकाओं के बिना आज अनेक पुस्तकों का पढ़ाना कठिन हो जाता। आज का हिन्दी संसार उनका ऋणी है। वे अकेले ही संस्था थे।

ब्रजभाषा के अंतिम महान् कवि रत्नाकर जी इसी नगरी की विभूति थे। विद्वान् तो थे ही, रसिकता में भी बेजोड़ थे। पायजामा और उस पर कुरता, यह उनका साधारण वेष था। आँखों में सुरमा सदा लगाते थे। स्वभाव इतना सरल था कि जब कविसम्मेलन हो, बुला लाइये। न कभी बनते, न बहाना करते। टकसाली ब्रजभाषा लिखी है उन्होंने। उनकी सभी बातों से अमीरी टपकती थी।

प्रेमचन्द का नाम तो भारत में विदित है। बड़ी निर्धनता में पले थे। शिक्षा-विभाग में कुछ दिनों काम किया। फिर साहित्य-क्षेत्र में आये। काशी के ही निकट एक गाँव के रहने वाले थे। सादगी उनके जीवन का मूलमन्त्र था—रहने में, बात में, भोजन में—किन्तु थे आदर्शवादी। प्रातःकाल नित्य वे, प्रसादजी, इन पंक्तियों का लेखक तथा दो और मित्र सदा बेनिया बाग़ में टहलने जाया करते थे। हँसी की बातों पर बड़े ज़ोर से अट्टहास करते थे। पहले नागरी लिपि नहीं आती थी। कहानियाँ या उपन्यास फ़ारसी लिपि में लिखते थे। फिर नागरी लिपि में उतारा जाता था। पीछे नागरी लिपि में लिखने लगे। काशी की इस प्रतिभा की बराबरी करने वाला अभी नहीं जनमा।

जयशंकरप्रसाद की प्रतिभा हिन्दी जगत् में विख्यात है। काशी की जो विशेषता, मस्ती है, वह उनमें कूट-कूट कर भरी थी। गोरा चिट्टा शरीर, बढ़िया महीन कुरता पहन कर, धोती ढीले, दुपल्ली टोपी लगाये, मुँह में गिलौरी, हाथ में छड़ी लिये वे संध्या को चौक की ओर टहलने के लिये निकलते थे। घर पर नंगे बदन कमर में एक अँगोछा लपेटे बैठे रहते थे। जब मिलिये गप के लिये प्रस्तुत। रात-बिरात जब भी अवसर मिलता था, लिखते थे। जो कुछ लिखते, मित्रों को सुना दिया करते थे। जीवन में व्यावहारिकता और साहित्य में आदर्श इनका ध्येय था। छाया-वाद की रूपरेखा निखारने का कार्य इन्हीं के हाथों काशी में सम्पन्न हुआ। दर्शन और साहित्य का सामंजस्य इन्होंने कामायनी में कर दिखाया।

समालोचना के विस्तृत क्षेत्र में भी काशी का नेतृत्व रहा है। रामचन्द्र शुक्ल की लेखनी का लोहा सभी मानते हैं। बहुत सीधी प्रकृति, भाँग के प्रेमी थे। लेटे-लेटे पढ़ने में जो आनन्द आता, बैठकर लिखने में नहीं। हिन्दी साहित्य का इतिहास श्यामसुन्दरदास ने जाकर लिखाया। जब मौज आई तब लिखा, किन्तु जो लिखा वह पूर्ण और पक्का। श्यामसुन्दरदास हिन्दी के शेर थे। विद्वानों को एकत्र करना, उनसे काम लेना उनका विशेष गुण था। उन्होंने हिन्दी की सर्वमान्य संस्था, नागरी प्रचारिणी सभा स्थापित की तथा अनेक पुस्तकें लिखीं और लिखाईं।

शिवप्रसाद गुप्त हिन्दी के उन सेवकों में थे जिन्होंने तन-मन-धन हिन्दी के लिये दे दिया। 'आज' समाचारपत्र निकाल कर उन्होंने एक आदर्श स्थापित किया। पराड़कर जी ने अपनी लेखनी द्वारा उसे हिन्दी पत्रों का सिरमौर बनाया। पत्रकारिता में भी काशी अग्रणी है। इस प्रकार हिन्दी साहित्य की तीन चौथाई देन काशी की है।

—इलाहाबाद से प्रसारित

वैदिक और पौराणिक संगीत

शिवशरण

अनेक देशों के इतिहासकार अति प्राचीन समय से यह बतलाते आ रहे हैं कि संगीत कला भारत ही से अन्य देशों में फैली है। ईसा के जन्म से कई शताब्दियों पूर्व यूनान के विद्वान् लोग कहा करते थे कि 'द्योनिसोस' ने, जिनका दूसरा नाम भगवान् शिव है, अपने ही देश भारत में अवतार लेकर मनुष्य जाति को नृत्य एवं संगीत कला सिखाई।

यह बात अवश्य विलक्षण है कि सभी अति प्राचीन विदेशी इतिहासकारों ने शिव को ही संगीत एवं नृत्य का रचयिता बतलाया है। सामगान एवं वैदिक ऋषियों के नाम नहीं लिये जाते। सिकन्दर के बीस साल बाद भारत में आये 'मेगस्थनीज़' ने लिखा है कि भारतीयों के हिसाब के अनुसार ६ हज़ार वर्ष बीत गये थे जब कि शिव भगवान् ने स्वयं पृथ्वीनिवासी मनुष्य जाति को संगीत की उन्नत विद्या सिखाई। पुराणों के अनुसार भी ठीक वही समय मिलता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह कल्पना अनुचित न होगी कि प्राचीन भारतवर्ष में दो ही भिन्न मुख्य परम्परायें मिलती हैं—एक गान्धर्व वेद या वैदिक संगीत, दूसरा प्राचीन शैव संगीत। संगीत विषयक संस्कृत साहित्य के अध्ययन से एवं आधुनिक लोक संगीत के अन्वेषण से भी यही बात स्पष्ट होती है।



गान्धर्व संगीत एवं सामगान आर्य जाति में विशेष रूप से प्रचलित थे। शैव संगीत की परम्परा द्रविड़ या कर्नाटक संगीत में अधिक मिलती है। भारत की इन दोनों प्रधान जातियों की भिन्न संस्कृतियों की देन गान्धर्व संगीत एवं शैव संगीत विदित होती है। कुछ विदेशी संस्कृत विद्वानों का मत है कि साम संगीत पर देशी संगीत का किसी समय में अवश्य प्रभाव पड़ गया होगा। श्री बर्नेल ने लिखा है कि साम वेद के मन्त्र जिस स्वर से गाये जाते हैं, वे स्वर किसी दूसरे गान विशेष के लिये रचित हुये थे। बर्नेल का कहना है कि साम स्वर साम मन्त्रों पर ठीक नहीं बैठता, इसलिये मन्त्रों में इधर-उधर आ, उ, आदि लगाना पड़ता है। उनकी कल्पना है कि वैदिक आर्य लोग बाहर से आकर पंजाब में बस गये थे और वहाँ प्राचीन शैव द्राविड़ लोगों से लड़ते-लड़ते उनकी उच्च संस्कृति से प्रभावित हुये, और ऋग्वेद के मन्त्रों को शैव संगीत के स्वरों में गाने लगे। यही साम सामगान बना। यह सब कथन हिन्दुओं को मान्य

नहीं हो सकता। इतना ही मान लिया जा सकता है कि यह ऐतिहासिक समस्या है। खोज करने से एक समय आयेगा, जब इन प्रश्नों का उत्तर प्रायः मिल सकेगा।

आज का वैदिक उच्चारण एवं सामगान संसार की सबसे प्राचीन प्राप्य गायन-विधि है। वेदगायन आज वैसा ही है जैसे चार या पाँच हज़ार वर्ष पहले रहा होगा। इस गायन के स्वरूप रक्षण के लिए जो अद्‌भुत विधि बनी थी वह विकृति के नाम से प्रसिद्ध है। इस विधि में एक एक शब्द के एक एक अक्षर का गायन अनेक क्रमों से किया जाता है। इन क्रमों की कठिनाई इतनी ही होती है कि स्वर, शब्द, लय या दीर्घ-ह्रस्व के रूप में अन्तर या अशुद्धि किसी तरह से नहीं हो सकती।

हर एक वेद अलग तरह से गाया जाता है। हर एक में स्वर की संख्या भिन्न है। ऋग्वेद के गायन में तीन स्वर हैं जो कि उदात्त, अनुदात्त, स्वरित कहे जाते हैं। यजुर्वेद में भी तीन स्वर हैं, पर सामवेद में सात स्वर हैं जिनके नाम प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, क्रुष्ट, मन्द्र, अतिस्वर्य हैं। वेद की हर एक शाखा के लिये भिन्न उच्चारण और गायन के नियम हैं। शतपथ ब्राह्मण में स्वरित स्वर नहीं है। यह सिर्फ़ उदात्त और अनुदात्त स्वरों से गाया जाता है।

वैदिक शिक्षा में लिखा है कि ऋग्वेद का गायन एक स्वर से होता है। यह आर्चिक के नाम से प्रसिद्ध है। यजुर्वेद का गायन दो स्वरों से होता है, उसको गाथिक कहा जाता है। सामवेद का गायन तीन स्वरों से होता है जो सामिक कहा जाता है। यहाँ एक स्वर गायन का अर्थ स्वर की तीन अवस्थायें लेना पड़ता है अर्थात् उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित। आधुनिक हिसाब से ऋग्वेद तीन स्वरों, यजुर्वेद पाँच स्वरों, एवं सामवेद सात स्वरों से गाया जाता है।

वैदिक संगीत का उत्तम रूप साम गायन में दिखाई पड़ता है। इसके विभिन्न स्वरूप हैं जो शाखा के नाम से प्रसिद्ध हैं। आजकल कौथुमी शाखा एवं राणायनी शाखा प्राप्य हैं, अन्य शाखायें लुप्त मानी जाती हैं।

साम-गान धर्म संगीत का प्रधान स्वरूप है। इसके साथ शुद्ध मार्ग-संगीत एवं अनेक रूप के देशी संगीत भी रहे हैं। वेदों में कई वाद्यों के नाम मिलते हैं। नारदीय शिक्षा में वेद के स्वरों एवं बाँसुरी के स्वरों का पारस्परिक रूप बतलाया गया है। इससे उस समय के संगीत की एक विशेषता स्पष्ट है कि ग्राम-मूर्च्छनादि ऊँचे षड्ज से शुरू करके नीचे की ओर गाये जाते थे, न कि आज की तरह नीचे से ऊपर की ओर। आजकल इस तरह के संगीत बहुत कम मिलते हैं, फिर भी हिमालय प्रदेश के अति दूरवर्त्ती गाँवों में कुछ ऐसे लोग मिलते हैं जो आज भी वैदिक काल की विधि से वंशी बजाते हैं। आर्यावर्त में भी कुछ परम्पराप्राप्त लोकगीत मिलते हैं जिनमें अवरोह प्रधान है। बनारस में अर्वाचीन तुलसीकृत रामायण अति प्राचीन अवरोह स्वरों से गाई जाती है।

भारतवर्ष में अनेक प्राचीन जातियाँ मिलती हैं जो पौराणिक समय से अपने धर्म, संस्कृति आदि के स्वरूप को आज तक सुरक्षित रख सकी हैं। पुराण, इतिहास आदि में प्रसिद्ध प्राचीन आभीर लोग आजकल अहीर के नाम से पुकारे जाते हैं। उन लोगों का गीत एवं नृत्य आज भी प्राचीन यूनान में प्रसिद्ध भारतीय नृत्य-संगीत से बिल्कुल मिलता है। आज के अहीरों में प्रचलित बिरहा आदि गीत एवं नृत्य भारत के पौराणिक काल में प्रचलित गायन एवं नृत्य शैली का कहा जा सकता है, गीतों के शब्दमात्र अर्वाचीन हैं।

—दिल्ली से प्रसारित





रवीन्द्रनाथ का मानव प्रेम

त्रिभुवननाथ

रवीन्द्रनाथ ने कला की सामाजिक जिम्मेदारी को कभी अस्वीकार नहीं किया। सामाजिक उद्देश्य से हीन कला को उन्होंने सदा हेय समझा। 'बँगला भाषा परिचय' में उन्होंने कला के प्रति अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है कि जिस कला के मूल में सामाजिक कल्याण की भावना नहीं, वह निरर्थक है, निष्प्राण है, और उसके मोहक रूप के प्रति जिनकी आसक्ति है, वे, उन्हीं के शब्दों में, 'मानवता के शत्रु' हैं। ऐसी कला की उपमा उन्होंने पतझड़ के पत्तों से दी है, जिनमें चटकीले रंगों का आकर्षण हो सकता है, लेकिन जिन्हें मौत की ठण्डी हवा लग चुकी है और जो झरने ही वाले हैं।

अपनी 'रोमांटिक' शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है :—

लोग मुझे रोमांटिक कहते हैं,
ठीक है, मैं उनकी बात को मानता हूँ,
लेकिन इस वास्तव जगत् के सारे रास्ते
मेरे जाने-पहचाने हैं।
मैं उसके ऋण का शोध करता हूँ,
उसके आह्वान को मानता हूँ।
जहाँ दुःख है, व्याधि है, कदर्यता है,
जहाँ नारी भीत और त्रस्त है,
वहाँ मैं रोमांस की रंगीन चादर फेंक देता हूँ
और लौह-कवच धारण करता हूँ।

—नवजातक

'रोमांटिक' सन् १९२० के लगभग लिखा गया था, लेकिन उनकी कविता में यथार्थ का यह स्वर कोई नया नहीं है, यद्यपि यह ठीक है कि उनकी परवर्ती कविता में यह स्वर अधिक उभर कर आया है। सन् १८८६ की ही लिखी 'मरीचिका' की कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

यह तुम बैठी बैठी सपने कब तक चुनती रहोगी ?
अपनी कुसुम-शय्या को छोड़ कर धरती पर उतरो।
तुम्हारे पैरों के नीचे सख्त मिट्टी बज उठे,
वह देखो, दूर, आँधी उठ रही है,
तुम्हारा स्वप्न-राज्य आँसुओं की तेज धार में बह जायगा।

बिजली की तेज, लपकती ज्वाला में
तुम्हारी यह मीठी नींद भस्म हो जायगी।
आओ, हम मानवों के बीच चलें,
जहाँ वे सुख और दुःख में
अपनी इमारत बना रहे हैं।
आओ, हम हाथ में हाथ देकर
उनके हास्य और रुदन में
उनका साथ दें।

उनका यह गम्भीर मानव-प्रेम उनके काव्य में सर्वत्र व्याप्त है। यही उनकी प्रेरणा का मूल तत्त्व है। इस धरती से उन्हें असीम प्यार था। ज़िन्दगी, अपने सुख और दुःख, हँसी और आँसुओं समेत, उन्हें प्यारी थी। और अपनी कला का प्रयोजन उन्होंने यही समझा कि उसके द्वारा मनुष्य के दुःख का बोझ कुछ हल्का हो जाय, उसकी ख़ुशी बढ़ जाय।

इस पराधीन देश की जनता के दारुण दुःख ने उनके मर्म को स्पर्श किया था और उनके संवेदनशील हृदय को आलोडित किया था। उन्होंने अपने काव्य में इस दुःख को भाषा दी है। वे कहते हैं :—

कवि उठो, आओ,
बड़ा दुःख है, बड़ी व्यथा है,
सामने कष्टों का संसार है।
मुझे अन्न चाहिए, प्राण चाहिए,
प्रकाश चाहिए, उन्मुक्त वायु चाहिए,
साहस से तना हुआ सीना चाहिए।

जिस विदेशी शक्ति ने और जिस व्यवस्था ने हमारे देश को एक कठोर अंधड़ में जकड़ रखा था, उसके विकास को अवरुद्ध कर रखा था, अपने राष्ट्रीय गीतों में उन्होंने उसके प्रति एक गहरे प्रतिवाद का भाव व्यक्त किया है। इन गीतों में अपने देश के लिए एक नये भविष्य की कल्पना मुखर हो उठी है। अफ़्रीका पर लिखी उनकी कविता उनकी व्यापक साम्राज्य-वाद-विरोधी भावना का एक मर्मस्पर्शी चित्र है। अफ़्रीका की एक नारी के रूप में कल्पना करते हुए उन्होंने लिखा है :—

जब तुम्हारा सहज मानवीय रूप
उपेक्षा की मलिन दृष्टि से अपरिचित था,
वे लौह-शृंखलायें लेकर आये।
हमने उनके बर्बर लोभ
और उनकी निर्लज्ज पशुता के
नग्न रूप को देखा।
तुम्हारी भाषा के क्रन्दन से व्याकुल
अरण्य-पथ की धूल
तुम्हारे रक्त और आँसुओं से मिल कर
पंकिल हो गई
और दस्यु के लौह-बूट
तुम्हारे अपमानित इतिहास पर
अपने वीभत्स चिन्ह अंकित करते चले गए।

रवीन्द्रनाथ के काव्य पर उनके समकालीन समाज की गहरी छाप है। 'दो बीघा ज़मीन' में उन्होंने एक ग़रीब किसान की ज़िन्दगी की तसवीर खींची है, जिसकी ज़मीन को मालिक बेईमानी से हड़प लेता है और उसे दर-दर भटकने पर मजबूर करता है, और जब सालों बाद वह लौटता है तब अपने ही पेड़ के दो टपके हुए फलों को उठा लेने के कारण उस पर बेतरह डाँट-फटकार पड़ती है। उनकी अनेक कविताओं में बंगाली मध्य-वर्ग का जीवन जैसे बोल उठा है—नवजातक की कविता 'ए पारे ओ पारे' मध्यवर्गीय समाज का एक Cross-Section ही है—घनी बस्ती, एक दूसरे से रगड़ खाते मकान, बेकार की बकवास, गाली-गलौज, गन्दे मज़ाक, पुरानी झूठी ख़बरों को लेकर बहसें, सिनेमा की सुन्दरियों की रूप-तुलना, फेरीवालों से झगड़ा, ग्रामोफोन की मदद से थियेटर का गाना सीखने की कोशिश, मेज़ पर माथा पटक कर बच्चे का रोना और माँ की तेज़ धमकी। उनके गद्य काव्य 'पुनश्च' में इस किस्म के अनेक रेखा-चित्र हैं। 'साधारण मेये' में एक साधारण बंगाली लड़की की तसवीर है, जो फ्रेंच-जर्मन नहीं जानती, रोना जानती है। 'एक जन लोक' में आप एक अधेड़

हिन्दुस्तानी को देखते हैं—हाथ में टूटी हुई लाठी, बदन में मिर्जई और पाँवों में चमरौधा जूता। उसकी वह शिथिल, क्लान्त गति आँखों के सामने जैसे नाच उठती है। उनकी 'बोशि' शीर्षक कविता में एक क्लर्क का जीवन अंकित है, जो पच्चीस रुपये माहवार पाता है। एक बच्चे को पढ़ा कर दोनों जून का खाना पा लेता है। तेल बचाने की गरज से शामें स्टेशन पर काट देता है। जहाँ वह रहता है, दीवालों में नोना लगा है, ईंटें खिसक रही हैं, पलस्तर कट रहा है, दरवाज़े पर मारकीन के एक थान से निकाली हुई गणेश जी की एक तसवीर चिपकाई हुई है। साथ में एक और किरायेदार है—उसी भाड़े में—एक छिपकली। दोनों में फर्क इतना है कि छिपकली को अंडों का अभाव नहीं है।

कवि अपने पात्रों के सामाजिक परिवेश के वास्तविक चित्रण के विषय में इतना सजग और निष्ठुर है कि वह गली-कोनों में पड़े, सड़ते हुए कटहल और आम के छिलकों और गुठलियों, मछली के डैने और बिल्ली के मरे हुए बच्चे का वर्णन करने में भी नहीं हिचकता। इन कविताओं में व्यंग्य का पुट है। भाषा साधारण बोलचाल की है। छन्द का कोई बन्धन नहीं है। उपमायें और रूपक सब नये हैं। उदाहरण के तौर पर, दोपहर के भारी, थमे हुए दिन की उपमा बैंडेज बँधे लँगड़े पैर से दी गई है।

रवीन्द्रनाथ के काव्य में उनकी युद्ध-विरोधी कविताओं का एक विशेष स्थान है। उन्होंने अपने जीवन में हिंसा का अत्यन्त भीषण तांडव देखा था, अन्न की खेती को अस्त्र-शस्त्र के कांटों से बिंधते देखा था, मानव आत्मा को बंदी होते देखा था, और उन्होंने अपनी पूरी ताकत से युद्ध के ख़िलाफ़ और सामाजिक अन्याय के खिलाफ अपनी आवाज़ उठाई। जिस वीरों की शान्ति (heroic peace) की कामना उन्होंने की है, वह तभी सम्भव हो सकती है, जब यह व्यवस्था बदले। वह शास्त्रों के मन्त्र पढ़ने अथवा गिर्जाघर में प्रार्थना करने से नहीं मिलेगी।

उनकी एक कविता है 'बुद्ध भक्ति' जिसमें उन्होंने उन जापानी सैनिकों की अच्छी खबर ली है, 'जो शक्ति के बाण से चीन को मारते हैं, और भक्ति के बाण से बुद्ध को।' इतना तीखा व्यंग्य शायद ही आपको कहीं मिले। कविता लीजिए :—

मृत्यु का खाद्य संग्रह करने को
युद्ध के नगाड़े बज रहे हैं,
और वे युद्ध-लोलुप पशु
भयंकर रूप धारण कर
अपने दांत किटकिटाते हैं।
हिंसा के उन्माद से अधीर
वे करुणानिधि से
सफलता का वर चाहते हैं।

वे आत्मीय बंधनों को छिन्न-भिन्न कर देंगे,
और नगरों-ग्रामों को भस्म कर देंगे।
आकाश से उल्कापात होगा,
और शिक्षालय धूल में मिल जाएंगे।
वे छाती तान कर
दयामय बुद्ध के समीप जाते हैं।
युद्ध की भेरी बजती है
और नगाड़े गड़गड़ाते हैं,
और धरा त्रास से थर-थर काँपती है।

रवीन्द्रनाथ ने युद्ध के बर्बर और विध्वंसकारी रूप का ही चित्रण नहीं किया, उन्होंने युद्ध-लोलुप शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान भी किया। एक कविता में उन्होंने लिखा है :—

तरुण जातियो, तुम सब आओ,
अपनी दर्पपूर्ण वाणी में
मुक्ति-संग्राम की घोषणा करो,
अजेय विश्वास का केतु फहराओ।

आज जब फिर दुनिया की शान्ति खतरे में है, हमें रवीन्द्रनाथ की इन कविताओं को याद करने की ज़रूरत है। इतिहास की एक अत्यन्त संकटपूर्ण घड़ी में, जब पूरा यूरोप

फ़ासिज़्म से आतंकित था, जब कितने ही लेखकों और कलाकारों का जीवन में विश्वास टूट रहा था, रवीन्द्रनाथ ने मानवता में अपना विश्वास अक्षुण्ण रखा। युद्ध की वर्बरता और हिंसा ने उनकी दृष्टि को मलिन नहीं किया। १९३९ ई० के अन्त में लिखी 'जयध्वनि' शीर्षक कविता में उन्होंने कहा था :—

'जब मेरे जाने का समय आयेगा मैं मानव का जयगान करके जाऊंगा, यही मेरी शेष वाणी होगी। जो रुग्ण हैं, नग्न हैं, पंक में सने हैं, बार-बार की हार से जिनका मेरुदंड झुक गया है, उन्हें मैं अस्वीकार नहीं करता। विकृति के इन सहस्रों लक्षणों को देखकर भी मैंने चिरंतन मानव की महिमा का उपहास नहीं किया।'

रवीन्द्रनाथ का यह चिरंतन मानव वास्तव में निरंतर कर्मरत, अजेय और अमर्त्य जनता ही है। मृत्यु के थोड़े ही दिनों पहले लिखी कविता 'ओरा काज करे' में उन्होंने इस जनता का गीत गाया और उसे अपना अर्घ्य अर्पित किया। वे कहते हैं :—

'हमारे सुदीर्घ इतिहास में, विजेताओं के दल के दल आये और चले गये। आज उनका निशान तक बाकी नहीं है। मैं जानता हूँ, काल इसी तरह इन अंगरेज़ों को भी बहा ले जायगा और देश भर में फैला उनके साम्राज्य का जाल कहीं दिखायी तक न देगा; उनकी सेना का नाम-निशान तक न रह जायगा। मैं आँखें खोलकर देखता हूँ। यह विपुल जनता ही युगयुगान्तर से जीवन और मृत्यु की दैनंदिन आवश्यकताओं को लेकर अनेक पथों से और अनेक दलों में चलती आ रही है। वे डाँड़ खींचते हैं, हल चलाते हैं, खेतों में बीज बोते हैं, और पका हुआ धान काटते हैं। वे काम करते हैं। शत-शत साम्राज्यों के नष्ट हो जाने के बाद भी काम करते हैं। वे अमर्त्य हैं।'

रवीन्द्रनाथ ने इस अमर्त्य जनता को अपनी गहरी सहानुभूति दी और अपने को उसके निकट लाने की कोशिश की। फिर भी उनके काव्य में एक दूरी रह ही जाती है। उन्होंने जनता के जीवन को भीतर से नहीं, बाहर से ही देखा था। निश्चय ही उनके दृष्टि-कोण की एक अपनी सीमा थी।

'ऐक्य तान' में रवीन्द्रनाथ ने स्वयं अपने स्वर की अपूर्णता की बात कही है और स्वीकार किया है कि वे जनता के जीवन के भीतर पैठ नहीं सके।

एक नये लोक-कवि का उद्‌बोधन करते हुए वे कहते हैं :—

जो किसानों के जीवन में सम्मिलित है,
जिसने कर्म और वचन से उनकी आत्मीयता
पाई है,
जो धरती के निकट है—
उस कवि की वाणी के लिये मैं कान लगाये
बैठा हूँ।

—इलाहाबाद से प्रसारित



सिनेमा और स्टेज

बलराज साहनी

एक ऐसे व्यक्ति के लिये जो सिनेमा और स्टेज दोनों में दिलचस्पी रखता हो, यह बताना बड़ा मुश्किल है कि वह दोनों में से कौन सा काम ज़्यादा पसन्द करता है, स्टेज का या फिल्म का। सच तो यह है कि इन्सान को अपने हर काम में आनन्द आता है, बशर्ते कि वह काम पूरी मेहनत से, पूरी आज़ादी से, इस एहसास से किया जाय कि इससे समाज को लाभ पहुँचेगा। कोई ऐसा काम नहीं जिसमें प्रवीण होकर इन्सान कलाकार न कहला सके, चाहे वह कविता लिखने का काम हो, चाहे एक्टिंग का, चाहे कपड़े धोने का, चाहे हजामत बनाने का। बल्कि हमारे पुरखाओं ने तो यहाँ तक कहा है कि जीना भी कला है और मरना उससे भी बड़ी कला है, अगर इन्सान गाँधी या भगतसिंह की तरह मर सके। आर्ट जीवन से अलग, सातवें आसमान से उतरने वाली चीज़ नहीं।



जब मैं कोई ऐसा पार्ट खेलता हूँ जो मेरी भावनाओं को पूरी ताक़त से बाहर खींचता है और मुझे एहसास होता है कि इसको देखकर दर्शक मेरी क़द्र करेंगे तो मेरी आत्मा को सच्चा आनन्द मिलता है—चाहे वह फ़िल्म का पार्ट हो, चाहे स्टेज का।

मैं अक्सर लोगों के मुँह से सुनता हूँ कि सिनेमा ने थियेटर को ख़त्म कर दिया है। शायद बिज़नेस के नुक़्ता निगाह से यह बात ठीक ही है। व्यापारी दृष्टिकोण से देखा जाये तो वाक़ई नाटक और फिल्म की आपस में बड़ी दुश्मनी है। पर अगर रचनात्मक ढंग से देखें तो इन में एकता और मित्रता दिखाई पड़ेगी, ठीक वही जिसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने Creative Unity अर्थात् कलात्मक एकता कहा है।

मैं यह नहीं कहता कि सिनेमा और नाटक अलग-अलग कलाएँ नहीं हैं। ज़रूर ये अलग अलग कलाएँ हैं। पर इनके विशेष गुणों को हम तभी परख सकेंगे जब हम इनका एक दूसरे से और सामाजिक जीवन से रिश्ता जोड़ दें।

मैं इस बात को ज़रा और साफ़ करना चाहता हूँ। फ़िल्म-कला को आपरेशन टेबुल पर रखिए और उसकी चीर-फाड़ कीजिये। पता चलेगा कि फ़िल्म-कला दरअसल एक कला का नाम नहीं अनगिनत कलाओं के समूह का नाम है। देखिए एक फ़िल्म के बनाने में कौन-कौन सी कलाएँ साथ देती हैं—

(१) कथानक अर्थात् साहित्य (२) गीत अर्थात् कविता (३) संगीत (४) एक्टिंग अर्थात् नाट्य (५) डांस अर्थात् नृत्य कला (६) आर्ट डाइरेक्शन अर्थात् शिल्पकला (७) डेकोरेशन अर्थात् चित्र एवं मूर्तिकला (८) मेक-अप

(९) लाइटिंग, (१०) फ़ोटोग्राफ़ी, (११) साउंड रिकार्डिंग, (१२) निर्देशन आदि।

और अगर इन के साथ-साथ उन तमाम मशीनों के बनाने की कला को भी शामिल कर लिया जाय जो फिल्मों के लिये ज़रूरी हैं, तो ज़ाहिर होगा कि ललित कलाओं के साथ-साथ संसार का शायद कोई भी छोटा बड़ा काम नहीं जो फ़िल्में बनाने में सहायक न होता हो। अर्थात् फ़िल्म एक सामूहिक कला है जिसमें मुख़्तलिफ तरह के कलाकार शरीक होते हैं।

इसी तरह नाटक भी एक सामूहिक कला है जिसमें कवि से लेकर दरज़ी, धोबी और नाई तक शरीक होते हैं।

फ़िल्म और नाटक दोनों की कामयाबी का राज़ यह है कि किस हद तक कलाकारों ने मिलकर खुशी से और भ्रातृभाव से कन्धे से कन्धा मिलाकर काम किया है।

ज़ाहिरा तौर पर थिएटर में पर्दा खींचने और गिराने वाला आदमी एक मामूली हैसियत रखता है। लेकिन अगर किसी सीन के अन्त पर पर्दा दो सेकिण्ड पहले या दो सेकिण्ड देर से गिरे तो किस क़दर कोफ़्त होती है। गोया पर्दा गिरानेवाले के हाथ में सिर्फ़ एक रस्सी नहीं बल्कि दर्शकों की समूची भावना का सूत्र उसके हाथ में है। अर्थात् थिएटर में पर्दा खींचने वाला भी एक कलाकार है।

इन मिसालों से ज़ाहिर हुआ होगा कि फ़िल्म कम्पनियाँ और नाटक मंडल बज़ाते खुद एक बिरादरी होते हैं। जितनी यह बिरादरी मज़बूत होगी, जितनी वह अपनी सामूहिक रचना और अपनी सामाजिक जवाबदेही को महसूस करेगी, उतना ही उसका काम सफल होगा।

काफ़ी-हाउस में या अपने क्लब में बैठे हुए आपने कई बार सुना होगा, 'भाई फ़लां फ़िल्म की कहानी तो वाह-वाह है, अगर स्क्रीन प्ले अच्छा होता तो चार चाँद लग जाते', या फ़िल्म की फ़ोटोग्राफ़ी तो बड़ी शानदार है, मगर एक्टिंग बड़ा बोगस है, और गाने भी कितने घटिया हैं। यानी, हमारी फ़िल्मों के बारे में आम शिकायत यह होती है कि उनकी कोई न कोई चूल हमेशा ढीली रह जाती है।

यही हाल नाटक का है। लोग कहते हैं—'यार, नाटक तो बुरा नहीं था, अगर उसे ढंग से खेला गया होता। देखो न, एक्टिंग तो कहीं-कहीं बहुत अच्छा था, पर लाइटिंग कितनी ख़राब थी।'

मुझे बहुत सी नाटक मंडलियों का अनुभव है, और मैंने देखा है कि उनकी सब से बड़ी कमज़ोरी यही रह जाती है कि उनके कारकुन अपने मंडल की सामूहिक रचना और उसके क़ानून को नहीं समझते। जिन लोगों को अच्छे अच्छे पार्ट मिल जाते हैं, वे अपने आप को दूसरों से ऊँचा और अलग थलग समझने लगते हैं। बहुत से नौजवान तो इन मंडलियों में सिर्फ़ इस ख़्याल से शरीक होते हैं कि स्टेज पर खड़े होकर दर्शकों के आगे अपनी नुमाइश कर सकें। मंडल के सामूहिक जीवन में दूसरे छोटे छोटे कामों में वे लापरवाही करते हैं। मेकअप, ड्रेस, लाइटिंग और दूसरे इन्तज़ामी कामों को 'निचले दर्जे' का काम समझ कर दूसरों पर छोड़ देते हैं। इससे बिरादरी का वातावरण रचनात्मक नहीं रहता।

इसके मुक़ाबिले, मैंने इंगलिस्तान की अमेच्यर और पेशेवर मंडलियों का वातावरण कहीं ज़्यादा रचनात्मक पाया। उसमें भावुकता कम और वैज्ञानिकता ज़्यादा नज़र आई। वहाँ इस सामूहिक कला के मामूली से मामूली पहलू को बड़ी अहतियात और मेहनत से निभाया जाता है, हर काम को कलात्मक समझा जाता है, उसकी इज़्ज़त की जाती है, और नाटक को सर्वांग सुन्दर बनाने की पूरी कोशिश की जाती है।

इसलिये इंगलिस्तान में और दूसरे अनेक देशों में भी फ़िल्में थिएटर को भारी चोट नहीं लगा सकीं। इतना ही नहीं, फ़िल्मी दुनिया

अच्छे एक्टरों के लिए और अच्छे कथानकों के लिए अक्सर थिएटर की मुँहताज रहती है।

इस बात से मुझे हरगिज़ इन्कार नहीं कि फ़िल्मों के आने से हमारे देश के पेशेवर थिएटर को काफ़ी से ज़्यादा नुकसान पहुँचा है। पर इस हक़ीक़त को भी साथ ही तसलीम करना पड़ेगा कि उस थिएटर में ऐसी कोई बात भी नहीं थी जो उसे ज़्यादा देर तक ज़िन्दा रख सकती। नाटकों में कोई ऐसी विशेषता नहीं थी जिसके आधार पर उन्हें कलात्मक रचनाएँ कहा जा सके। इन कम्पनियों का सामूहिक जीवन अन्दर से खोखला था और बाहर के सामाजिक जीवन से भी उनका गहरा सम्बन्ध न था। जिस-जिस प्रदेश में नाटक कम्पनियों ने अपने बुनियादी मक़सद को समझने की कोशिश की–मसलन् बंगाल या महाराष्ट्र में–वहाँ थिएटर अब भी जी रहा है।

आजकल की हिन्दी फ़िल्में अधिकतर उसी पुराने दक़ियानूसी नाटक का ही रूपान्तर हैं, आर इसीलिए दीर्घजीवी होने पर भी लोगों को शुबा होने लगा है। इन फ़िल्मों की कहानियाँ वही अलिफ़ लैला के किस्से हैं, जिनका जीवन की असलियतों से कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिए अगर आज वे व्यापारिक दृष्टिकोण से भी निष्फल हो रही हैं, तो इसमें हैरान होने की कोई बात नहीं। कई प्रोड्यूसर यह सोचकर अपने आप को तसल्ली दे लेते हैं कि आर्थिक संकट के कारण लोगों के पास पैसा नहीं है, फ़िल्में इसलिए फ़ेल होती हैं। मगर यह उनकी भूल है। जैसा मैं पहले कह आया हूँ, कला की बीमारियों की तशख़ीस व्यापारी दृष्टिकोण से नहीं की जा सकती।

अब मैं आपका ध्यान शेक्सपियर की लिखी कुछ पंक्तियों की तरफ़ आकर्षित करना चाहता हूँ, जो आज से पूरे साढ़े तीन सौ वर्ष पहले लिखी गई थीं। हेमलेट नाटक के तीसरे एक्ट में नाटक का हीरो कुछ एक्टरों को उपदेश करता है, जो बादशाह के दरबार में नाटक पेश करने वाले थे। हेमलेट उनसे कहता है—

'देखो, स्टेज पर खड़े होकर इस तरह बोलो कि तुम्हारे शब्दों का सुनने वालों को रस आये, यह नहीं कि उनके कान फट जायँ। तुम एक्टर हो, ढंढोरची नहीं हो। और देखो, हाथ को कुल्हाड़े की तरह मार-मार कर हवा को मत चीरना। एक्टर को चाहिए कि वह अपने मन को हमेशा क़ाबू में रखे, चाहे उसके अन्दर भावनाओं के तूफ़ान क्यों न उठ रहे हों। जो एक्टर अपनी भावनाओं को क़ाबू में रखकर उन्हें संयम से व्यक्त नहीं कर सकते, उन्हें चौराहे पर खड़ा करके चाबुकें मारनी चाहिए।'

फिर वह कहता है—'और देखो, फीके भी मत पड़ जाना। अंडर-एक्टिंग करना भी अच्छा नहीं होता। ख़ुद अपनी सूझ-बूझ को अपना उस्ताद बनाओ और उसी के अनुकूल चलो। अपनी चाल-ढाल को, अपने संकेतों और इशारों को शब्दों के मुताबिक़ बनाओ और शब्दों को इशारों के मुताबिक़। और बराबर ख़याल रखो कि कहीं भी वास्तविकता और असलियत पर अत्याचार न हो। अगर कहीं भी मुबालिग़े से काम लिया, तो नाटक का सारा मक़सद ही ख़त्म हो जायेगा। याद रखो, सैकड़ों वर्षों से नाटक का मक़सद सिर्फ़ एक ही रहा है और भविष्य में भी रहेगा। वह मक़सद है असलियत के सामने आइना रख देना, जिसमें अच्छाई अपना रूप देख सके, बुराई अपना। यही नहीं, समाज और ज़माने के सारे उतार-चढ़ाव भी इस आइने में साफ़ दिखाई दें।'

शेक्सपियर के शब्दों का अनुवाद करना आसान काम नहीं है। इसलिए अन्त में कुछ शब्दों को मैं अंग्रेज़ी में भी दुहरा देता हूँ—

"For anything so overdone is from the purpose of playing, whose end, both at the first and now, was and is, to hold, as 'twere, the mirror up to nature; to show virtue her own feature, scorn her own image, and the very age and body of the time his form and pressure."

ज़रा इन पंक्तियों को कसौटी पर आप अपने देखे हुए नाटकों और फ़िल्मों को परखिए और देखिये कितनी पूरी उतरती हैं। जिस दिन हमारे नाटक और हमारी फ़िल्में वास्तविकता की सची राह पर आ जायेंगी, उसी दिन मालूम हो जायेगा कि नाटक और फ़िल्म का भाई-बहिन का रिश्ता है और दोनों के दरमियान बहुत कुछ साझा है। इनकी असल में कोई दुश्मनी नहीं। इतने पर भी हैं दोनों कलाएं अलग-अलग ही। दोनों की अपनी-अपनी टेकनीक है, अपना-अपना इतिहास है। न हर नाटक को फ़िलमाया जा सकता है और न हर फिल्म नाटक के रूप में पेश की जा सकती है। एक एक्टर की हैसियत से मेरा अनुभव है कि स्टेज का अभिनय फ़िल्म से बहुत मुख़्तलिफ़ है। स्टेज एक्टर को फ़िल्मों में काम करने के लिये, और फ़िल्म एक्टर को स्टेज पर काम करने के लिये अपने आपको एक नये साँचे में ढालना पड़ता है, जो हमेशा आसान नहीं होता। और यही हाल लेखक का है और डायरेक्टर का भी। लेकिन ऐसा करने से किसी को कलात्मक वृत्तियों पर अत्याचार नहीं होता।

मसलन्, सिनेमावालों के पास एक ऐसा हथियार है जो थिएटर को मुयस्सर नहीं, और वह है Close-up। यह हथियार वाक़ई सिनेमा को ज़बरदस्त ताक़त बख़्श देता है। स्टेज एक्टर को अपनी भावनाओं का दूर बैठे हुए दर्शकों पर असर डालने के लिए बहुत कुछ करना पड़ता है, जो एक सिनेमा के 'क्लोज़-अप' में बिलकुल ग़ैर-ज़रूरी है, क्योंकि क्लोज़-अप सिनेमा एक्टर के चेहरे को तीन सौ गुना बढ़ाकर उसे दर्शकों पर जैसे बिछा देता है। यहाँ एक हल्की सी मुसकराहट या आँखों में तैरता हुआ ज़रा सा पानी दर्शकों पर बिजलियाँ गिरा सकता है।

इसके अलावा सिनेमा की कला में एक तरह की व्यापकता है, जो उसे करोड़ों इन्सानों के पास ले जाती है, और बहुत आसानी से। और उसे वह शोहरत मिलती है जो उसके दिमाग़ को बड़ी आसानी से फेर सकती है। लेकिन इसके साथ ही एक्टर को विशेष लाभ भी है, वह यह कि अपने काम को स्वयं देखकर आलोचना कर सकता है।

सिनेमा के इस व्यापक असर को हर कोई महसूस करता है। ज़ाहिर है कि अगर ऐसी शक्तिशाली कला को केवल व्यापारिक ढंग से इस्तेमाल किया जाय, और समाज का उस पर अंकुश न हो, तो बड़े ख़तरनाक नतीजे निकल सकते हैं। दूसरी तरफ़ समाज को यह भी लाज़िम है कि नाटक के रास्ते में जो रुकावटें और असुविधाएं हैं, उन्हें हटाए और इस कला को सिनेमा की होड़ से बचाने का प्रयत्न करे। हर आज़ाद और प्रगतिशील देश में नाटक को विशेष सुविधाएं दी जाती हैं। हमारे देश में स्टेज से सम्बन्ध रखने वाला प्रत्येक कलाकार इस बात को बड़ी शिद्दत से महसूस करता है कि हर शहर और क़स्बे में स्थानीय नाटक मंडलियों को पुनर्जागृत होने की सुविधाएं दी जायें, और उनके द्वारा जनता की रचनात्मक वृत्तियों का विकास किया जाये।

—बम्बई से प्रसारित



विक्रमशिला

सुमन वात्स्यायन

संसार का प्राचीनतम विश्वविद्यालय तक्षशिला भारत में ही था। पुरानी शिक्षण संस्थाओं में बिहार का नालंदा विश्वविद्यालय सांस्कृतिक दृष्टि से सबसे उन्नत था। किन्तु आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक जो महत्त्व विक्रमशिला विश्वविद्यालय को मिला, वह किसी को नहीं।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय के स्थान निरूपण में विभिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत रहे हैं। तिब्बत में जितने भारतीय धर्मप्रचारक विक्रमशिला से गए उतने अन्य किसी जगह से नहीं। इसलिये, तिब्बती साहित्य में इस संस्था का अधिक उल्लेख होना स्वाभाविक ही है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बती साहित्य के आधार पर लिखा है कि सहोर भारत में पूर्व दिशा की ओर था। उसका दूसरा नाम भंगल या भगल था। उसकी राजधानी विक्रमपुरी थी। राजधानी से थोड़ी दूर पर, उत्तर की तरफ विक्रमशिला विहार था। यह गंगा के किनारे एक पहाड़ी पर अवस्थित था। तिब्बती का भगलपुर ही वर्तमान भागलपुर है। अब अधिकांश विद्वान् मानते हैं कि यह विश्वविद्यालय भागलपुर ज़िलान्तर्गत कहलगांव रेलवे स्टेशन के समीप पन्थर घाट नामक जगह पर अवस्थित था। पुरातत्त्व विभाग की ओर से इस स्थान की खुदाई होने पर सम्भव है बहुत सी बातों का पता लगे।

ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वविद्यालय के रूप का ग्रहण करने से पूर्व भी वहाँ कोई विहार



रहा होगा। महाराज धर्मपाल ने आठवीं शताब्दी में उसी विहार को विश्वविद्यालय के रूप में परिणत कर दिया। प्रारम्भ में, यहाँ चार प्रवेश-द्वार थे, किन्तु महाराजा जयपाल के शासन-काल में छः द्वार-पंडित नियुक्त थे।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय में १०८ मुख्य अध्यापक और सैकड़ों सहायक अध्यापक एवं लगभग आठ हज़ार देशी-विदेशी छात्र थे। द्वार पंडित का पद बड़ा महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। यहाँ के आचार्यों में प्रमुख थे तथागत रक्षित, दीपंकर श्रीज्ञान, वैरोचन रक्षित, बुद्ध ज्ञानपाद, जेतारि, रत्नवज्र आदि। देश-विदेश से आनेवाले प्रवेशार्थी छात्रों के लिये आवश्यक था कि वे द्वार-पंडितों को अपने विभिन्न विषयों के ज्ञान से संतुष्ट करें, क्योंकि द्वार-पंडितों की सिफ़ारिश से ही कोई छात्र विश्वविद्यालय में प्रवेश पा सकता था।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय में शिक्षा का आधार धार्मिक था, पर उसमें कट्टरता नहीं बरती जाती थी। बौद्ध धर्म और

संस्कृति का प्रमुख केन्द्र होने पर भी वेद, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का माध्यम संस्कृत भाषा थी। प्रवेशार्थी के लिये संस्कृत का अच्छा ज्ञान होना आवश्यक था। सातवीं-आठवीं शताब्दी तक भारतीय समाज में तन्त्र-मन्त्र का काफ़ी प्रचार हो चुका था। विक्रमशिला तांत्रिक बौद्धधर्म का एक प्रमुख केन्द्र मानी जाती थी।

इतिहासकार तारानाथ के अनुसार महाराज धर्मपाल ने विक्रमशिला विश्वविद्यालय को एक आदर्श शिक्षण संस्था बनाने के लिये कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा था। अध्यापक एवं छात्रों के निवास, भोजन तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये राज्य की ओर से सुन्दर व्यवस्था थी। शिक्षण कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये प्रमुख विद्वानों की एक समिति बनी थी। विश्वविद्यालय के अन्दर कुल १०८ मन्दिर थे।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय में काफ़ी संख्या में विदेशी छात्र भी विद्याध्ययन के लिये आते थे। इसलिये यहाँ विदेशी भाषाओं के जानने वाले पंडितों की भी कमी नहीं थी। यहाँ पढ़ने वाले विदेशी छात्रों में सब से अधिक संख्या थी तिब्बत निवासियों की। इसलिये स्थायी दुभाषियों के अतिरिक्त अनेक भारतीय आचार्य भी तिब्बती भाषा के अच्छे पंडित थे। आज हम तिब्बती भाषा में सैकड़ों ऐसे ग्रन्थों के अनुवाद देख सकते हैं जो मूल संस्कृत में लुप्त हो चुके हैं।

विक्रमशिला एक आवासिक विश्वविद्यालय था। यहाँ का शिक्षण अ आ इ ई से नहीं प्रारम्भ होता था। तक्षशिला और नालंदा विश्वविद्यालयों की तरह यहाँ भी प्रवेशिका के बाद की पढ़ाई की व्यवस्था थी। इसलिये स्वभावतः ही इसके पास-पड़ोस में अनेक छोटे-बड़े विद्यालय थे, जहाँ रह कर छात्र प्रवेशिका तक की शिक्षा पूरी करते थे। द्वार-पंडित इसी प्रारम्भिक शिक्षण की जाँच-पड़ताल के लिये नियुक्त थे। भारतीय शिक्षा प्रारम्भ से ही संगठित और बहुमुखी रही है। शिक्षण का आधार धर्म होते हुए भी विज्ञान की ओर काफ़ी ध्यान रहा है। विक्रमशिला में भी धार्मिक और लौकिक विषयों के शिक्षण की व्यवस्था थी।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय ने भारतीय सांस्कृतिक जीवन को तो प्रभावित किया ही, उसने भारत के बाहर भी भारतीय संस्कृति, साहित्य, कला और ज्ञान-विज्ञान के प्रसार में तक्षशिला और नालंदा की परम्परा को बनाए रखा। भारतीय धर्म-प्रचारक ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी में ही चीन पहुँच चुके थे। लंका, बर्मा, इन्डोनीशिया, मलाया, स्याम, हिन्दचीन आदि देशों में तो ईसा के सैकड़ों वर्ष पूर्व ही आर्य धर्म का प्रवेश हो चुका था। किन्तु भारत का पड़ोसी तिब्बत अभी तक भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव से दूर था। इसका मुख्य कारण हिमालय का दुर्गम मार्ग और तिब्बत का कठिन जीवन था। किन्तु तिब्बत जैसे पिछड़े देश में सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान के प्रसार का अधिकांश श्रेय विक्रमशिला विश्वविद्यालय को ही है। भारतीय आचार्यों ने तिब्बत को धर्म और साहित्य के साथ-साथ लिपि भी दी। आज भी तिब्बती लिपि की वर्णमाला नागरी ही है।

अब हम विक्रमशिला विश्वविद्यालय के उन दो चार आचार्यों से भी परिचित होते चलें, जिन्होंने हमारे बौद्धिक विकास को चरम सीमा तक पहुँचाने में अपना अमूल्य जीवन उत्सर्ग कर दिया।

विक्रमशिला के अध्यापकों में वैरोचन रक्षित का स्थान महत्त्वपूर्ण है। तिब्बती साहित्य में 'महापंडित' और 'महाचार्य' उपाधि के साथ इनका उल्लेख किया गया है। तिब्बत की यात्रा आज भी कठिनतम यात्रा मानी जाती है। किन्तु वैरोचन रक्षित आठवीं शताब्दी में भारतीय संस्कृति और धर्म के प्रचारार्थ तिब्बत गए। वे तिब्बती भाषा के भी अच्छे जानकार थे। उन्होंने अपनी अनेक संस्कृत रचनाओं का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया।

दूसरे उल्लेखनीय आचार्य हैं जेतारि। ये बड़े ही प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। इनका शिक्षण विक्रमशिला विश्वविद्यालय में ही हुआ था। इन्होंने संस्कृत में एक सौ ग्रन्थों की रचना की थी। आज भी इनकी बीस से ऊपर पुस्तकें तिब्बती अनुवाद के रूप में सुरक्षित हैं।

विक्रमशिला के आचार्यों में रत्नवज्र का नाम भी स्मरणीय है। ये विक्रमशिला विश्वविद्यालय के मध्य-द्वार के द्वार-पंडित थे। इनका जन्म कश्मीर में हुआ था। तीस वर्ष की आयु तक रत्नवज्र कश्मीर में ही रह कर अध्ययन करते रहे। कश्मीर से ये बुद्ध-गया चले आये और विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। पर इनकी ज्ञान-पिपासा यहाँ भी शान्त नहीं हुई। इसलिये गया से विक्रमशिला चले आये।

रत्नवज्र ने थोड़े ही समय में विक्रमशिला की पढ़ाई समाप्त कर ली। राजा की ओर से इन्हें 'पंडित' की उपाधि प्रदान की गई। इनकी योग्यता और व्यापक ज्ञान से प्रभावित होकर विश्वविद्यालय ने इन्हें द्वार-पंडित नियुक्त किया। ये अच्छे वक्ता और शास्त्रार्थ में प्रत्युत्पन्न-मति थे। एक जगह रहना इन्हें भाता नहीं था। इसलिये कुछ ही वर्षों के बाद ये कश्मीर लौट गए। फिर कश्मीर से मध्य एशिया की ओर निकल पड़े। उधर की यात्रा समाप्त कर रत्नवज्र तिब्बत पहुँचे। जीवन का शेष भाग इन्होंने वहीं गुज़ारा। ये तिब्बती भाषा के अच्छे पंडित थे। तिब्बत में भारतीय साहित्य और संस्कृति के प्रारम्भिक प्रचारकों में आचार्य रत्नवज्र का नाम अमर रहेगा।

विक्रमशिला में अन्तिम प्रमुख आचार्य थे दीपंकर श्रीज्ञान। आप का जन्म भागलपुर ज़िले में ही सहोर नामक स्थान पर वहाँ के राज्य-परिवार में ६८२ ई० में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा आचार्य जेतारि की देखरेख में हुई थी। यद्यपि इनका जन्म एक राजपरिवार में हुआ था, फिर भी बुद्ध की तरह ही इन्होंने भी सांसारिक सुख का त्याग कर दिया था।

आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान भारतीय ज्ञान विज्ञान के महान् आचार्यों में से एक थे। भारत के सांस्कृतिक विकास के लिये आने वाले अन्धकारमय युग के शायद वे अन्तिम दीपक थे। उन्होंने अपने जीवन का सर्वोत्तम समय विदेशों में भारतीय संस्कृति और धर्म के प्रचार में लगा दिया। जावा में बारह वर्ष तक रहने के बाद वे लंका द्वीप गए। कुछ समय वहां बिताकर फिर भारत लौट आए।

तिब्बत में इस समय तक बौद्धधर्म का प्रचार तो खूब हो चुका था, पर समय के साथ कुछ शिथिलता भी आ गई थी। इसे दूर करने के ख़्याल से वहाँ के राजा ने भारत से किसी अच्छे आचार्य को बुलाने के लिये एक दूत-मंडल भेजा। दूत-मंडल ने विक्रमशिला पहुँच कर आचार्य दीपंकर से तिब्बत चलने का आग्रह किया। उन्होंने उत्तर दिया—'मैं अब वृद्ध हो चुका हूँ। मेरे पर अनेक मठों की ज़िम्मेवारी है। अनेक काम अपूर्ण पड़े हैं। ऐसी हालत में तिब्बत कैसे जा सकता हूँ?' पर दूत ने अपना आग्रह जारी रखा। अन्त में दीपंकर राज़ी हुए। इस तरह साठ वर्ष की आयु में अपनी मातृभूमि और प्यारी संस्था को सदा के लिये छोड़ १०४० ई० में दीपंकर तिब्बत पहुँचे। तेरह वर्ष तक तिब्बतवासियों को भारत का संदेश सुनाते रहे। १०५३ ई० में तिहत्तर साल की आयु में मातृभूमि से हज़ारों मील दूर आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान ने शरीर-त्याग किया। तिब्बती भाषा में दीपंकर के कई जीवन चरित्र हैं, जिन से विक्रमशिला विश्वविद्यालय के विषय में काफ़ी जानकारी मिलती है।

१२०३ ई० में बख़्तियार ख़िलजी ने मगध पर हमला किया और उसी हमले के फलस्वरूप नालंदा, उदन्तपुरी और विक्रमशिला विश्वविद्यालय सदा के लिए नष्ट हो गए। विक्रमशिला का महान् पुस्तकालय जल कर राख का ढेर हो गया।

—पटना से प्रसारित

भावी शिक्षा की रूप-रेखा

मौलाना अबुलकलाम आज़ाद

मुल्क को आज़ादी के बाद जिन मसलों पर हमें ख़ास तौर पर सोच-विचार करना पड़ा है उनमें एक बड़ा मसला क़ौमी तालीम और उसके निज़ाम का है। मैंने निज़ाम का लफ़्ज़ उस माने में बोला है जिसमें अंग्रेज़ी का लफ़्ज़ 'सिस्टम' बोला जाता है। आज हर तरफ़ से यह आवाज़ उठ रही है कि मुल्क का तालीमी निज़ाम ठीक नहीं है। वह हमारी हालतों और ज़रूरतों का साथ नहीं दे सकता। इसका सुधार होना चाहिये। लेकिन अगर पूछा जाये कि इस तालीमी निज़ाम की असली ख़राबी क्या है, और अगर उसकी दुरुस्तगी की जाये तो किन बातों में की जाये, तो मैं ख़याल करता हूँ कि बहुत कम आदमी ऐसे होंगे जो इसका जवाब दे सकेंगे।



हमारे तालीमी निज़ाम में एक खुली ख़राबी जो आज हर शख़्स को दिखाई देती है यह है कि आम आदमियों को उनकी हालत और ज़रूरत के मुताबिक तालीम नहीं मिलती और खास-खास आदमियों को यूनिवर्सिटियों की जो आला तालीम मिल रही है, वह उन्हें काम पर नहीं लगा सकती। नतीजा यह है कि हर साल हज़ारों आदमी यूनिवर्सिटियों से डिग्री लेकर निकलते हैं, लेकिन उनकी बड़ी तादाद अपने लिये कोई काम नहीं पाती और बेकारी की ज़िन्दगी बसर करने पर मजबूर हो रही है। मुल्क की तमाम यूनिवर्सिटियों में आजकल तीन से लेकर साढ़े तीन लाख तक विद्यार्थी तालीम पाते हैं। एक ऐसे मुल्क के लिये जिसमें ३९ करोड़ लोग बसते हैं, यह कोई बड़ी तादाद नहीं है। ताहम हमारे तालीमी निज़ाम में कोई ऐसी ख़राबी पैदा हो गई है कि इतनी तादाद भी मुल्क में खप नहीं सकती और इसका बड़ा हिस्सा बेकारी की ज़िन्दगी बसर कर रहा है।

तालीम का सबसे बड़ा मक़सद, जो इब्तदा से लोगों के सामने आया है, सरकारी नौकरी है। जो भी आदमी यूनिवर्सिटी में क़दम रखता है इसी मक़सद के लिये रखता है। लेकिन सरकारी नौकरी सब को मिल नहीं सकती। नतीजा यह है कि हमारी तालीम ने एक अजीब तरह का रूप पैदा कर लिया है। तालीम का मक़सद यह था कि लोगों को समाज का एक कारामद फ़र्द बनाये, लेकिन हमारी तालीम लोगों को बेमसरफ़ का आदमी बना रही है। वे अगर तालीम न पाते तो मेहनत-मज़दूरी करके अपना पेट पाल लेते। अब वे इस काम

के भी न रहे।

तालीम की दो क़िस्में हैं। एक क़िस्म वह है जो मुल्क के हर बाशिन्दे को मिलनी चाहिये और हुकूमत का फ़र्ज़ है कि वह सब के लिये इसका इन्तज़ाम कर ले। दूसरी क़िस्म वह है जिसे हर आदमी हासिल नहीं कर सकता और हर आदमी को हासिल करना भी नहीं चाहिये। वह सिर्फ़ एक महदूद तादाद ही हासिल कर सकती है। पहली क़िस्म की तालीम के लिये इस तरह का सवाल पैदा ही नहीं हो सकता कि समाज को अपने कामों के लिये इसकी ज़रूरत है या नहीं? इस तालीम का मक़सद यह होता है कि मुल्क का हर बाशिन्दा अपनी दिमाग़ी क़ुव्वतों को ठीक तरीक़े पर उभार सके और एक अच्छी ज़िन्दगी बसर कर सके। इस क़िस्म की तालीम किस दर्जे की तालीम हो सकती है? मेरी राय यह है कि इसे दस दर्जे की तालीम होना चाहिये जिसे हम 'सैकेंड्री' दर्जे के नाम से पुकारते हैं। हम इसका इन्तज़ाम सब के लिये फ़ौरन नहीं कर सकते। हम अभी तक इब्तदाई तालीम को भी आम और जबरी नहीं कर सके। लेकिन यह ज़रूर है कि हमारा रुख़ इसी तरफ़ है। हमें क़ौमी तालीम का जो नया नक़्शा बनाना चाहिये वह यह बात सामने रख कर बनाना चाहिये।

सैकेंड्री तालीम के तीन दर्जे हैं—इब्तदाई, दरमियानी और आख़ीरी। इब्तदाई और दरमियानी दर्जा निहायत अहम है, क्योंकि क़ौमी तालीम की पूरी इमारत की बुनियादी ईंटें इन्हीं दर्जों के अन्दर रखी जाती हैं। यह बुनियाद अगर ग़लत हुई तो पूरी इमारत ग़लत होगी। हमने इन दर्जों के लिये 'बुनियादी तालीम' यानी 'बेसिक एजूकेशन' का ढंग अख़्तियार किया है। यह ढंग हमारी क़ौमी तालीम के लिये बहुत बड़ी अहमियत रखता है।

तालीम की दूसरी क़िस्म वह है जिसे आला तालीम या यूनिवर्सिटी एजूकेशन कहते हैं। यह तालीम हर शख़्स के लिये नहीं हो सकती। यह सिर्फ़ उतने ही आदमियों को मिलनी चाहिये जितनों की समाज को ज़रूरत हो। जिस तरह बाज़ार के हर माल के लिये यह बात देखनी पड़ती है कि 'माँग' और 'तैयारी' में यानी डिमांड और सप्लाई में मुनासिबत रहे। इसी तरह यहाँ भी डिमांड और सप्लाई में मुनासिबत होनी चाहिये। सरकारी नौकरियों के लिये यूनिवर्सिटियों की डिग्रियों की शर्त रखी गई है, इस लिये हर आदमी डिग्री के पीछे दौड़ता है। लेकिन जब डिग्री उसे मिल जाती है और नौकरी की ढूँढ़ में निकलता है तो उसे मालूम होता है कि जिस बात के पीछे उसने अपनी ज़िन्दगी और रुपया लगाया था, उसकी बाज़ार में कोई माँग नहीं।

अगर हम चाहते हैं कि इस ख़राबी की इस्लाह हो तो हमें तालीम का निज़ाम इस तरह का बनाना चाहिये कि तालीम पाने वालों की बड़ी तादाद सैकेंड्री दर्जा तक की तालीम पाकर मुख़्तलिफ़ पेशों, दस्तकारियों, इन्डस्ट्रियों और हुनरों में लग जाये और एक छोटी तादाद वक़्त की हालत और माँग के मुताबिक़ यूनिवर्सिटी में रह जाये। यह ज़ाहिर है कि हम लोगों को यूनिवर्सिटी में दाख़िल होने से जबरन रोक नहीं सकते, लेकिन हम ऐसी हालत पैदा कर सकते हैं जिसके बाद ख़ुदबख़ुद लोगों का रुख़ बदल जाये और यह जो आजकल हर आदमी बेसमझे-बूझे यूनिवर्सिटी की डिग्री के पीछे दौड़ रहा है, यह हालत बाक़ी न रहे।

इस सिलसिले में एक दूसरा सवाल भी हमारे सामने आ जाता है जिस पर हमें ग़ौर करना है। हर तरह की सरकारी नौकरी के लिये जिस तरह की और जिस दर्जे की यूनिवर्सिटी डिग्री पर ज़ोर दिया गया है, क्या वह ठीक है? मौजूदा हालत यह है कि सरकारी नौकरियों के लिये बुनियादी शर्त डिग्री की रखी गई है। अगर कोई उम्मीदवार डिग्री न रखता हो तो वह ख़्वाह कितना ही क़ाबिल क्यों न हो, उसे सर्विस कमीशन बातचीत करने के लिये भी नहीं बुलायेगा। इस सूरतहाल का लाज़मी नतीजा

यह निकला कि यूनिवर्सिटी की डिग्री सरकारी नौकरी के लिये पासपोर्ट बन गई।

दूसरे मुल्कों में हम देखते हैं कि सरकारी नौकरियों के लिए यह तरीक़ा अख़्त्यार नहीं किया गया। मसलन्, इंगलैंड को लीजिये। वहाँ उन नौकरियों के लिये तो डिग्री की शर्त रखी गई है जो प्रोफ़ेशनल क़िस्म की हैं—जैसे डाक्टर, इंजीनियर और प्रोफ़ेसर की जगहें। लेकिन आम नौकरियों के लिये डिग्री पर ज़ोर नहीं दिया गया। सिर्फ़ उम्र और काम की क़ाबिलियत की शर्त रखी गई है।

हमें ग़ौर करना चाहिये कि क्यों न हम भी ऐसा ही तरीक़ा अख़्त्यार कर लें? क्यों यूनिवर्सिटी की डिग्री को सरकारी नौकरी का पासपोर्ट बनाया जाये? शर्त लियाक़त की होनी चाहिये न कि डिग्री की। मसलन् जिन नौकरियों के लिये आजकल यह बुनियादी शर्त रखी गई है कि बी० ए० की डिग्री हो, अगर उसकी जगह यह कर दिया जाये कि उम्मीदवार की आम इल्मी लियाक़त ऐसी होनी चाहिये जो एक ग्रेजुएट की होती है, तो जहाँ तक क़ाबिलियत का ताल्लुक़ है, कोई तब्दीली नहीं होगी। लेकिन जो ग़लत ज़ोर डिग्री पर पड़ गया है वह बाक़ी नहीं रहेगा। तमाम ज़ोर क़ाबिलियत पर आ जायेगा। और सिर्फ़ इतनी सी बात से पढ़नेवालों की ज़हनियत पर बहुत गहरा असर पड़ेगा।

यह बात याद रखनी चाहिये कि जहाँ तक प्रोफ़ेशनल कामों का ताल्लुक़ है यूनिवर्सिटी को डिग्री की शर्त रखे बग़ैर काम नहीं चल सकता। हमें इसमें कोई तब्दीली नहीं करनी चाहिए। जिस तब्दीली पर मैं ग़ौर कर रहा हूँ, उसका ताल्लुक़ आम क़िस्म की नौकरियों से है। इसमें कोई शुबा नहीं कि इस तब्दीली की वजह से सर्विस कमीशनों का काम बहुत बढ़ जायेगा।

तालीम के निज़ाम के बारे में मैंने जो कुछ कहा है अब मुख़्तसर लफ़्ज़ों में उसका ख़ुलासा सुन लीजिये :

१. हमें अपना तालीमी निज़ाम नये सिरे से ढालना चाहिये। नया निज़ाम ऐसा हो जो पढ़ने वालों की बड़ी तादाद को सैकेंड्री दर्जे तक की तालीम देकर मुख़्तलिफ़ पेशों, इंडस्ट्रियों, दस्तकारियों, हुनरों में लगा सके और एक छोटी तादाद को आला तालीम के लिये यूनिवर्सिटियों में भेजे। यह छोटी तादाद ऐसी होनी चाहिये जो वक़्त की माँग का साथ दे सके।

२. इस सिलसिले में बड़ी तब्दीली सैकेंड्री दर्जे की तालीम में होनी चाहिए। हमारी मौजूदा सैकेंड्री तालीम का नक़्शा इस ख़याल से बनाया गया था कि वह यूनिवर्सिटी में जाने वालों के लिये एक ज़रिये का काम देगा। मगर अब हमें ऐसा नक़्शा बनाना चाहिये जो सिर्फ़ "ज़रिया" ही न हो बल्कि बहुतों के लिये तालीम का मक़सद यानी आख़िरी हद हो।

३. हमने इब्तदाई और दरमियानी दर्जे के लिये जो बेसिक तालीम का ढंग अख़्त्यार किया है, उसका मक़सद यह है कि तालीम महज़ किताब ही के ज़रिये न हो, बल्कि उसका एक बड़ा हिस्सा काम काज के ज़रिये हो।

४. सैकेंड्री तालीम में ऐसी लचक होनी चाहिए कि वह मुख़्तलिफ़ लोगों की मुख़्तलिफ़ हालतों और ज़रूरतों का साथ दे सके। सैकेंड्री एजूकेशन कमीशन ने इस सिलसिले में निहायत अहम सिफ़ारिशें की हैं।

५. इस बात पर भी हमें ग़ौर करना चाहिए कि सरकारी नौकरियों के लिए आम तौर पर जो यूनिवर्सिटियों की डिग्रियों की शर्त रखी गई है, उसे आयन्दा भी इसी तरह रहने दिया जाये या उसमें तब्दीली होनी चाहिए।

यूनिवर्सिटी की तालीम की इस्लाह का मसला भी अपनी जगह एक बड़ा मसला है; लेकिन मैं उसे इस वक़्त नहीं छेड़ सकता।

—दिल्ली से प्रसारित

जॉर्ज अरुंडेल



हरिभाऊ उपाध्याय

महात्माजी ने एक बार मुझसे कहा था कि अंग्रेज़ तो योगियों की सन्तान मालूम होते हैं। उनकी प्रबन्ध-पटुता, नियमित और व्यवस्थित जीवन, कार्य-दक्षता किसी योगी से कम नहीं। बस एक कसर है, कि उनका ज्यादा प्रयत्न दूसरों का शोषण करने के लिये होता है। दूसरे मायनों में मैं उनको कभी कभी रावण की सन्तान कहा करता हूँ। रावण भी बड़ा विद्वान् और तपस्वी था, अच्छा शासक और संगठन-कर्त्ता था, परन्तु वह रावण इसलिये कहलाया कि दूसरों को सताता था। फिर भी अंग्रेज़ों के गुणों का मैं भक्त हूँ और उनके मुक़ाबिले में कई बार हिन्दुस्तानियों को घटिया पाता हूँ।

स्वर्गीय जॉर्ज अरुंडेल का ख़्याल आते ही महात्माजी के पूर्वोक्त वचन याद आ जाते हैं। फ़र्क़ इतना ही है कि अंग्रेज़ों में दूसरों का शोषण करने की जो वृत्ति पाई जाती है, उससे श्री अरुंडेल बिलकुल बरी थे। विद्वान् तो थे ही, लेकिन उनकी दृष्टि में विद्वत्ता का दर्जा जीवन-शुद्धि और जीवन-सिद्धि के मुक़ाबिले में कम था। उनकी इस विशेषता ने उन्हें कोरा विद्वान् न रहने देकर थियोसफ़ी जैसी ब्रह्म-विद्या सम्बन्धी संस्था का अधिष्ठाता बना दिया।

विद्वान् अक्सर भीरु होते हैं। उनका शास्त्र-ज्ञान उनके साहस को कई बार मन्द कर देता है। पर अरुंडेल बड़े साहसी और निर्भीक व्यक्ति थे। १९११ की एक घटना मुझे याद आती है, जबकि वे बनारस के हिन्दू कालेज के प्रिंसिपल थे। मेरे भर्ती होने के कुछ दिन बाद ही एक घटना हुई जिसने श्री अरुंडेल के प्रति मेरी श्रद्धा बहुत बढ़ा दी। उन दिनों भारत में बम-पार्टी का बड़ा ज़ोर था। ग्वालियर में एक षड्यन्त्र केस हुआ था, जिसमें वहाँ के विक्टोरिया कालेज के प्रोफ़ेसर हरिरामचन्द्र दिवेकर को शायद डेढ़ साल की सज़ा हुई थी। सज़ा काटकर वे बनारस आये और इस फ़िराक में थे कि किसी कालेज में भर्ती होकर एम० ए० कर लें। श्री दिवेकर जब और जगह से निराश होकर श्री अरुंडेल के पास पहुँचे और अपना क़िस्सा बयान किया तो उन्होंने बड़ी सहानुभूति दिखाई और फ़ौरन् भर्ती कर लेने का आश्वासन दिया। एक हिन्दुस्तानी तो यह साहस कर ही कैसे सकता था और यूरोपियन से ऐसी आशा हो नहीं सकती थी।

केवल इतना ही नहीं, अरुंडेल उन महान् अंग्रेज़ों में से थे जिन्होंने भारत को ही अपनी मातृभूमि मानकर एकनिष्ठता से उसकी सेवा की थी। वे उन विद्वानों में से थे जिन्होंने अपनी विद्वत्ता भारत के अशिक्षित और पिछड़े हुए लोगों को शिक्षित और प्रगतिशील बनाने में लगा दी। वे मानवता के उन सच्चे उपासकों में से थे जिनकी दृष्टि में न तो रंग या धर्म कोई

अन्तर डाल पाया था, न ऊँच या नीच। वे उन दार्शनिकों में से थे जिन्होंने धर्म और सम्प्रदाय के संकुचित घेरे से ऊपर उठकर समूची मानवजाति को एकता के सूत्र में बाँधने और उसे चिरन्तन शान्ति एवं आनन्द के पथ पर अग्रसर करने के लिये शक्ति भर प्रयत्न किया था।

उनके अदम्य उत्साह और श्रद्धा का परिचय मुझे हुआ १९११ या १९१२ में, जब थियासोफ़िकल कन्वेंशन बनारस में हुआ और श्री जे० कृष्णमूर्ति के अवतार होने की चर्चा फैल रही थी। मुझे जहाँ तक याद है, शायद बनारस में ही पहले-पहल यह घोषणा की गई थी, और श्रीमती एनीबेसेन्ट से लगाकर बड़े-बड़े थियोसोफ़िस्ट श्री जे० कृष्णमूर्ति के प्रति बड़ी नम्रता प्रदर्शित करते थे। उस समय मैं भी उस कन्वेंशन में गया था। श्री जे० कृष्णमूर्ति को देख कर उस समय तो मेरे मन पर कोई ख़ास असर नहीं हुआ। उनके छोटे भाई और उनके पिता स्व० श्री नारायणैया साथ थे। मुझे वह सब अजीब सा लगा। परन्तु थियोसोफ़िस्ट लोग और ख़ासकर श्री अरुंडेल बड़ी श्रद्धा से उन्हें मानते थे। मुझे आज भी याद है कि जब कभी जे० कृष्णमूर्ति का नाम भाषण में आता तो उनका चेहरा श्रद्धा से खिल उठता और वह श्रद्धा और उत्साहमयी मूर्त्ति आज भी मेरी आँखों में नाच रही है।

यद्यपि श्री अरुंडेल का जन्म तथा शिक्षा-दीक्षा यूरोप में ही हुई थी तथापि वे अपनी युवावस्था से ही भारत के मामलों में बड़ी दिलचस्पी लेने लगे थे। वे भारत की समस्याओं को समझने का प्रयत्न करते और यहाँ की हलचलों को ध्यान से देखते थे। भारत के लिये उनके हृदय में जो प्रेम और सहानुभूति की भावना थी वह निरन्तर बढ़ती गई, और एक समय आया जब उन्होंने सन् १९०३ में बनारस के सेण्ट्रल हिन्दू कालेज में इतिहास के अध्यापक का पद स्वीकार कर लिया। इस कालेज की स्थापना श्री एनीबेसेन्ट ने की थी। सेण्ट्रल हिन्दू कालेज में वे श्रीमती एनीबेसेन्ट के निकट सम्पर्क में आये और अपना काम इतनी तत्परता और लगन से करने लगे कि वे कालेज के प्रिंसिपल के पद पर पहुँच गये। इतना ही नहीं, धीरे-धीरे वे श्रीमती एनीबेसेन्ट के प्रमुख साथी और दाहिने हाथ बन गये।

श्रीमती एनीबेसेन्ट ने प्रारम्भ में धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यों तक ही अपने को सीमित रखा था। अतः श्री अरुंडेल भी शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में ही कार्य करते रहे। अपनी विद्वत्ता एवं क्रियाशीलता के कारण समय-समय पर वे इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के फ़ैलो, नेशनल यूनिवर्सिटी मद्रास के कालेज के प्रिंसिपल, होल्कर राज्य के शिक्षा मन्त्री तथा भारत के लिबरल केथौलिक चर्च के रिजनरी बिशप जैसे उच्च पदों पर पहुँचे। लेकिन श्रीमती एनीबेसेन्ट राजनीति में आईं, तो वे भी उनके साथ-साथ इस क्षेत्र में कूद पड़े।

यह बड़ा ही नाज़ुक समय था। भारत की पुकार पर इस समय न तो कोई ध्यान दे रहा था, न कोई ऐसा व्यक्ति ही था जो नेतृत्व का सूत्र अच्छी तरह संभाल सके। श्रीमती एनीबेसेन्ट में विशाल विद्या-बुद्धि, अदम्य इच्छाशक्ति एवं



श्रीमती एनीबेसेन्ट

अथक कार्यशीलता का बड़ा ही सुन्दर समन्वय था। वे जानती थीं कि अब प्रस्ताव पास करने से भारत की समस्या हल नहीं हो सकती। अब तो समूचे देश में एक ज़ोरदार आन्दोलन करना पड़ेगा। अतः उन्होंने 'न्यू इंडिया' नामक एक दैनिक पत्र निकाला तथा 'कामन-वील' नामक एक साप्ताहिक। इन पत्रों ने भारत में एक सिरे से दूसरे सिरे तक तूफ़ान मचा दिया। इन पत्रों के, ख़ासकर 'न्यू इंडिया' के सम्पादन का काम भी श्री अरुंडेल ने किया और वे इस आन्दोलन में पूरी तरह उनके साथ रहे। श्रीमती एनीबेसेन्ट का यह आन्दोलन इतना व्यापक और उग्र बना कि सरकार के लिए चुपचाप बैठना असम्भव हो गया। उसने आन्दोलन को दबाना प्रारम्भ कर दिया और भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत श्रीमती एनीबेसेन्ट के साथ अरुंडेल को भी उटकमण्ड में बन्द कर दिया। इस समाचार से सारे देश में उत्तेजना फैल गई और अरुंडेल की प्रसिद्धि चारों ओर हो गई।

श्री अरुंडेल यद्यपि होमरूल के आन्दोलन में आगे आ गये थे, तथापि उनका प्रिय कार्य तो सेवा का ही था। बड़े-बड़े आन्दोलनों के बजाय मूक सेवक की भाँति मानवता की सेवा में लगे रहना ही उन्हें प्रिय था। बालचर आन्दोलन इस दृष्टि से उन्हें बड़ा अच्छा लगा। बालकों में सेवा-भावना भर कर उन्हें देशभक्त और सच्चे नागरिक बनाने का कार्य बड़ा पवित्र और उच्च कोटि का है। वे भारतीय बालचर आन्दोलन के डिप्टी चीफ स्काऊट बने और इस पद पर उन्होंने बड़ी तत्परता और लगन से कार्य किया।

बालचर-आन्दोलन की भाँति मज़दूरों की उन्नति का आन्दोलन भी उनका बड़ा प्रिय कार्य था। यूरोप में मज़दूरों की उन्नति का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था और वे अपना संगठन वहाँ मज़बूत कर रहे थे लेकिन भारत में तो इस प्रकार का कोई आन्दोलन था ही नहीं। अतः श्री



मैडम ब्लेवेत्स्की, सोसाइटी की संस्थापिका

अरुंडेल ने इस काम में भी बड़ी दिलचस्पी ली। उन्होंने मद्रास में यह कार्य प्रारम्भ किया और मद्रास लेबर यूनियन के ऑनरेरी प्रेसीडेंट के पद पर वे बहुत दिनों तक कार्य करते रहे। मद्रास की यह लेबर यूनियन भारत की सबसे पुरानी और बड़ी यूनियन मानी जाती है।

इस प्रकार श्री अरुंडेल ने सेवा के कई क्षेत्रों में काम किया, लेकिन उनका सबसे अधिक प्रिय विषय था धर्म। वे एक साधक थे। श्रीमती एनीबेसेन्ट के प्रति उनके आकर्षण का यही एकमात्र कारण था। बचपन से ही वे थियोसोफ़िकल सोसायटी के निर्माताओं के सम्पर्क में रहे थे। यूरोप तथा दुनिया के अन्य भागों में इस आन्दोलन को गतिशील और सफल बनाने में उन्होंने बड़ा परिश्रम किया। श्रीमती एनीबेसेन्ट की मृत्यु के बाद वे थियोसोफ़िकल सोसायटी के उपाध्यक्ष नामज़द किये गये और बाद में उसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

उनकी 'निर्वाण', 'माउन्ट एवरेस्ट', 'फ्रीडम एंड फ्रेंडशिप' बड़ी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं, जिनमें उनके दार्शनिक विचारों की भागीरथी का बड़ा ही सुन्दर प्रवाह है। श्रीमती रुक्मिणी देवी से विवाह करके

मानो वे पूरी तरह भारतीय बन गये थे। उनके विवाह की घटना उस समय तो मुझे बड़ी ही विचित्र लगी। रुक्मिणी देवी उनकी शिष्या थीं। विद्यादान के उपक्रम से दोनों के प्रणय का जन्म हुआ और वे विवाह-बन्धन में बँध गये। दोनों की अवस्था में भी बड़ा अन्तर था। उस समय के हिन्दू संस्कार को ऐसे विवाह से बड़ा आघात लगा था और श्री अरुंडेल के प्रति मेरी श्रद्धा को भी एक धक्का लगा। एक काल तक उनके प्रति मन में उदासीनता आ गई। बाद में दोनों ने अपने जीवन को जिस प्रकार राष्ट्रीय सेवा और परोपकार में लगाया उससे मेरे मन का वह भार हलका हो गया और अब जब कि विवाह-व्यवस्था में ही क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं, उसका एक संस्कार मात्र ही मन पर रह गया है और उसकी आलोचना का भाव नष्टप्राय हो गया है। उस समय सुधारकों ने अवश्य ही यह मान लिया था कि श्री अरुंडेल और श्रीमती रुक्मिणी देवी ने इस विवाह के द्वारा पूर्व और पश्चिम में एक मधुर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

श्री अरुंडेल के विचारों की उच्चता, व्यवहार की पवित्रता, सेवा-भावना की उत्कटता और साधना कई भारतीयों में स्फूर्ति और प्रेरणा का संचार कर चुकी है और करती रहेगी। उनका जीवन अनमोल गुणों की खान था। गुणों का स्मरण करने से मनुष्य स्वयं गुणी बन जाता है। हमारे लिए भी यही बात चरितार्थ हो।

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च जातिर्न च वयः।

—दिल्ली से प्रसारित



भारतीय संस्कृति की खोज में विदेशियों का योग

बाबूराम सक्सेना

विदेशों से भारतवर्ष का सम्पर्क आदिकाल से रहा है। जिस समय का इतिहास नहीं भी मिलता, यथा वैदिक संहिता काल का, उस समय भी इस देश का सम्बन्ध अन्य जातियों और देशों से रहा होगा। संहिताओं में कई ऐसे देशवाचक और जातिवाचक नाम आए हैं जो अभारतीय मालूम होते हैं। ईसा-पूर्व १४वीं शती के बोग़ाजकोई लेख में मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्य आदि वैदिक देवों का उल्लेख है। ईरान, चीन आदि देशों से भी हमारा सम्बन्ध प्राचीन काल से रहा है। चीन और तिब्बत में हमारे साहित्य के उत्तमोत्तम ग्रन्थों का अनुवाद हुआ जिनमें से कुछेक का ज्ञान हमें अब इन अनूदित ग्रन्थों से ही मिलता है; मूल ग्रन्थ विनष्ट हो गए। यव द्वीप, मलय, थाईदेश आदि में भी हमारी संस्कृति के साथ-साथ हमारा साहित्य भी गया और उसका आदर हुआ, इस बात के यथेष्ट प्रमाण मौजूद हैं। आज भारतीय सांस्कृतिक खोज में विदेशियों की देन की चर्चा करते समय हम चीन आदि देशों के फ़ाहियान, ह्यूनसांग और इत्सिंग आदि साहित्य प्रेमियों को भुला नहीं सकते, जिन्होंने हमारे साहित्य का अपने देशों में प्रचार कर हमें पूर्व-काल में गौरवान्वित किया था।

सुदूर पश्चिम से हमारे सम्पर्क का प्रथम प्रमाण सिकन्दर से भारत के नरेशों का संघर्ष था। जब सिकन्दर इस देश से वापस गया, तब वह भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर कुछ यूनानी सामन्त छोड़ गया। अशोक के शिला-लेखों में न केवल समकालीन यूनानी शासकों का उल्लेख है, अपितु मिस्र आदि अन्य देशों के सहयोगी नरेशों की भी चर्चा है। अशोक ने अपने धर्म का सन्देश दूर-दूर तक पहुँचाया था। जो साहित्य यहाँ से उन देशों में पहुँचा उसका पता आज नहीं चलता, पर यह असम्भव है कि वस्तु और विचारों के आदान-प्रदान के साथ-साथ भाषा और साहित्य का लेन-देन न हुआ हो। अरब देशवासियों ने भारतीय संस्कृति से गणित-ज्योतिष-चिकित्सा के तत्त्व न केवल स्वयं ग्रहण किए, अपितु उनका प्रचार यूरोप में भी किया।

ईस्वी १५वीं शती के अंत में जब वास्कोड गामा ने भारतवर्ष के दक्खिनी छोर पर पदार्पण किया, तब से यूरोप से यात्री, सौदागर और ईसाई प्रचारक बराबर हमारे देश में आते रहे हैं। हौलैंड देश के निवासी अब्राहम रोगर ने १६५१ में भारतीय साहित्य की ओर यूरोप का ध्यान आकृष्ट किया और भर्तृहरि के कुछ सुभाषितों का अनुवाद डच भाषा में प्रकाशित हुआ। इसी ग्रन्थ का जर्मन भाषानुवाद १६६३ ई० में प्रकाशित हुआ। मलाबार मिशन में काम करने वाले एक जेसुट पादरी ने १८वीं शती ई० के आरम्भ में संस्कृत भाषा का प्रथम व्याकरण लिखा, परन्तु वह छपा नहीं। मलाबार के समुद्र-तट पर उसने १७७६ से १७८९ तक प्रचार किया और संस्कृत व्याकरण के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य पर भी आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे।

ईस्वी १८वीं शती में अंग्रेज़ भी भारतीय भाषा और साहित्य की ओर ध्यान देने लगे। वारेन हेस्टिंग्स ने हिन्दुओं के मुकदमों का भार-

तीय धर्मशास्त्र के अनुकूल निर्णय करने के लिये पंडितों द्वारा विवादार्णव-सेतु नाम का ग्रन्थ तैयार कराया। इसका पहले फ़ारसी में अनुवाद कराया गया और फिर १७७६ ई० में फ़ारसी से अंग्रेज़ी में। उस समय संस्कृत जानने वाला कोई अंग्रेज़ नहीं था। थोड़े दिनों बाद चार्ल्स विल्किंस नामक अंग्रेज़ ने काशी के पंडितों से संस्कृत पढ़ी और भगवद्गीता का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। यह बात १७८५ की है। दो साल बाद उसने हितोपदेश का और १७९५ में महाभारत के शकुन्तला आख्यान का अनुवाद प्रकाशित किया।

भारतीय साहित्य की खोज करने वालों में १८वीं शती के सर विलियम जोन्स (१७४६-१७९४) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये फ़ोर्ट विलियम, कलकत्ता, में १७८३ में चीफ़ जस्टिस के पद पर आए। आने के बाद शीघ्र ही इन्होंने बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की। इस सोसाइटी द्वारा संस्कृत, प्राकृत आदि के कितने ही ग्रन्थों के सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित हुए हैं। १७८९ में जोन्स ने कालिदास की शकुन्तला का अंग्रेज़ी में अनुवाद प्रकाशित किया। दो वर्ष उपरान्त इसका जर्मन अनुवाद हुआ, जिसने कालिदास की अद्वितीय प्रतिभा की ओर हर्डर और गेटे जैसे विद्वानों और प्रतिभाशाली कवियों का ध्यान ही आकृष्ट नहीं किया, उन्हें चमत्कृत भी कर दिया। जोन्स ने १७९२ में ऋतुसंहार का अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित किया। दो वर्ष बाद उसने मनुस्मृति का अनुवाद भी प्रकाशित कराया।

विलियम जोन्स से ही प्रेरणा पाकर हेनरी टॉमस कोलब्रुक ने संस्कृत भाषा और साहित्य की खोज की। ये १७८२ में कलकत्ते आए। इन्होंने १७९७-९८ में हिन्दू धर्मशास्त्र के व्यवहार और उत्तराधिकार (Contract And Succession) सम्बन्धी नियमों का अनुवाद छपाया। तब से ये बराबर भारतीय वाङ्मय के अध्ययन में लगे रहे। ललित साहित्य की ओर इनका ध्यान उतना नहीं गया जितना भारतीय धर्म, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष और गणित की ओर। इनके गवेषणात्मक लेख आज भी उपादेय समझे जाते हैं। इन्होंने १८०५ में वेदों पर लेख लिख कर यूरोप का ध्यान आर्य जाति के आदिम ग्रन्थ की ओर आकृष्ट किया। इन्होंने अमरकोष, पाणिनि-व्याकरण, हितोपदेश और किरातार्जुनीय के संस्करण प्रकाशित किये। ये बहुत सा रुपया ख़र्च कर बहुत सी हस्तलिखित पुस्तकें विलायत ले गए। यह बहुमूल्य निधि लन्दन में अब भी सुरक्षित है।

संस्कृत भाषा और साहित्य की खोज में जर्मनी के निवासी भ्रातृद्वय श्लेगलों ने पेरिस में अलेग्ज़ैंडर हेमिल्टन नाम के अंग्रेज़ से संस्कृत सीखी। इन्होंने १८०८ में संस्कृत भाषा पर एक ग्रन्थ लिखा और उसके साथ रामायण, मनुस्मृति, भगवद्गीता आदि कई ग्रन्थों के उद्धरणों के अनुवाद भी प्रकाशित किये। इससे जर्मनी में भारतीय संस्कृति और साहित्य के लिये प्रेम और बन्धुत्व की भावना की एक ऐसी लहर पैदा हो गई जो आज भी किसी न किसी रूप में वहाँ दिखाई पड़ती है। ऑगुस्ट विल्हेल्म जर्मनी में संस्कृत के प्रथम प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए। ये १८१८ में बॉन विश्वविद्यालय में इस पद पर काम करने लगे। १८२३ में 'इंडिशे बिब्लिओथेक' ग्रन्थमाला का प्रथम पुष्प प्रकाशित हुआ। यह प्रायः सर्वांग में ऑगुस्ट की ही कृति थी। इसी वर्ष इन्होंने लैटिन में भगवद्गीता का संस्करण निकाला। १८२९ में इन्होंने रामायण के स्वसम्पादित संस्करण का प्रथम भाग प्रकाशित किया।

श्लेगल के समकालीन फ्रांस बॉप्प ने संस्कृत का लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया और इस प्रकार भाषा-विज्ञान की नींव दृढ़ की। संस्कृत के सुसम्बद्ध अध्ययन के लिए इनका संस्कृत व्याकरण और संस्कृत शब्द-कोष दोनों बड़े काम की चीज़ें हैं। साहित्य के प्रचार के क्षेत्र में इनका लैटिन अनुवाद के साथ नलोपाख्यान का संस्करण अद्वितीय महत्त्व

रखता है। यूरोप के प्रायः सारे विश्वविद्यालयों में महाभारत से उद्धृत यह उपाख्यान संस्कृत के विद्यार्थियों का पाठ्य ग्रन्थ है। जर्मनी में संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन को आगे बढ़ाने वालों में विल्हेल्म फॉन हुम्बोल्ट तथा जर्मन कवि फ्रीड्रिश रुकर्ट के नाम भी उल्लेखनीय हैं। हुम्बोल्ट ने भगवद्गीता के विषय में कहा था कि शायद यह संसार की गम्भीरतम और उच्चतम वस्तु है। रुकर्ट अनुवाद करने में सिद्धहस्त थे, इनके द्वारा संस्कृत साहित्य जर्मन जाति में लोकप्रिय बना।

१८३० ई० तक शकुन्तला, गीता, मनुस्मृति आदि लौकिक संस्कृत के ग्रन्थ ही प्रचारित हो पाए थे। १८०५ में कोलब्रुक ने वेद का परिचय मात्र दिया। दाराशिकोह ने उपनिषदों का फ़ारसी में १७वीं शताब्दी के अनुसार अनुवाद किया था। इस फ़ारसी ग्रन्थ का अनुवाद लैटिन भाषा में फ्रांसीसी विद्वान् आँकेतील दु पेरों ने १८०१—४ में प्रकाशित किया। इस 'ओप-निख़त' को देख कर प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहॉर चमत्कृत होकर बोल उठा था कि यह ग्रन्थ तो मानव-बुद्धि का सर्वोच्च उत्कर्ष है। वैदिक संहिताओं का अध्ययन १८३८ में लन्दन में फ्रीड्रिश रोज़न द्वारा ऋग्वेद के प्रथम अष्टक के प्रकाशन से आरम्भ हुआ। रोज़न की अकाल मृत्यु के उपरान्त वैदिक अनुसंधान कार्य को प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् यूज़ैन ब्युर्नूफ़ ने उठाया। १८४०—५० के बीच ब्युर्नूफ़ और उनके उत्साही शिष्यों ने इस अनुसंधान की नींव दृढ़ की। रोट ने वैदिक साहित्य और इतिहास पर १८४६ में एक उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित किया। ब्युर्नूफ़ से ही प्रेरणा लेकर मैक्समूलर ने बड़े अध्यवसाय से सायण भाष्य समेत ऋग्वेद का संस्करण १८४६—७५ में प्रकाशित कराया। ऋग्वेद संहिता मात्र औफ्रेख्ट ने १८६१—६३ में प्रकाशित की थी।

हम लोग ब्युर्नूफ़ के केवल वैदिक अनुसंधान के लिये ही ऋणी नहीं हैं। इन्होंने १८२६ में लासेन की मदद से पाली पर निबन्ध प्रकाशित किया, जिसने बौद्ध धर्म और दर्शन के अध्ययन के लिये नई सामग्री की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। लासन ने १८४३—६२ ई० में जर्मन भाषा में 'इंडिशे ऑल्टेर ट्यूम्स्कुंडे' नाम की एक ग्रन्थमाला भी चार जिल्दों में, प्रकाशित की जिसमें भारतीय तत्त्व की सारी सामग्री एकत्र है। भारतीय साहित्य के अध्ययन के लिये ओटो ब्यूटलिंग और रुडोल्फ़ रोट द्वारा सेंट पीटर्सबर्ग में प्रकाशित संस्कृत कोष है। इसकी छपाई १८५२ में आरम्भ हुई और १८७५ में समाप्त हुई। यह कोष सात बड़ी बड़ी जिल्दों में है। वेबर ने १८५२ में भारतीय साहित्य का इतिहास प्रकाशित किया। इसका दूसरा संशोधित संस्करण १८७६ में निकला। जो साहित्य पश्चिमी संसार को १६५१ तक अज्ञात था, जिसके केवल प्रायः एक दर्जन ग्रन्थों का उल्लेख वेबर के इतिहास के प्रथम संस्करण में हुआ, उसकी तुलना उन हज़ारों संस्कृत ग्रन्थों की संख्या से कीजिए जिनका नामोल्लेख औफ्रेख्ट की "कैटालोगस कैटालोगरम" में है। इस सूची के तैयार करने में औफ्रेख्ट को चालीस साल लगे। इसका छपना १८६१ में आरम्भ हुआ और १६०३ में समाप्त हो पाया। १६०३ के बाद संस्कृत के बहुतेरे अन्य ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त हुई है। इस सम्बन्ध में सिल्वें लेवी और विन्टरनित्स के नाम स्मरणीय हैं।

बौद्ध साहित्य के अनुसन्धान कार्य की सच्ची नींव पाली ट्रैक्ट्स सोसाइटी की स्थापना से पड़ी। इस संस्था को टी० डबल्यू० रीज़ डेविड्स ने १८८२ में जन्म दिया। वे स्वयं और उनकी विदुषी पत्नी दोनों पाली ग्रन्थों के प्रकाशन में जीवन भर लगे रहे। प्रायः त्रिपिटक के सारे ग्रन्थ तथा अन्यान्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुए हैं। रीज़ डेविड्स दम्पती ने अंग्रेज़ी में भी कई ग्रन्थों का अनुवाद करके उनको सुबोध बना दिया है। इसके पूर्व १८५५ में फ़ाउसबोल ने छः जिल्दों में पाली जातक प्रकाशित

किये थे। जातक मूल पाठ और अर्थकथा का यही रोमन संस्करण भारतीय विद्यार्थियों के काम में आता है, क्योंकि अन्य संस्करण सिंहली अथवा स्यामी लिपि में हैं।

लन्दन की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने भी भारतीय साहित्य के ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। इनमें मिलिन्दपन्हो नाम का पाली ग्रन्थ उल्लेखनीय है।

जैन ग्रन्थों के प्रकाशन में भी यूरोपीय विद्वानों का विशेष हाथ रहा है। वेबर ने १८८३-८५ में जैन धर्म ग्रन्थों की सामग्री के आधार पर ग्रन्थ प्रकाशित कर विद्वानों का विशेष ध्यान आकृष्ट किया। याकोबी ने आचारांग सूत्र और अपभ्रंश ग्रन्थ 'भविसयन्त कहा' के सुसम्पादित संस्करण निकाले। शूब्रिंग सम्पादित आचारांग सूत्र आज इस प्राचीन सूत्र का सर्वश्रेष्ठ संस्करण है। शार्पेंटिये का उत्तराध्यन सूत्र भी बहुत अच्छा सम्पादित हुआ है।

व्याकरण और कोष के क्षेत्र में भी हम पश्चिमी विद्वानों के ऋणी हैं। संस्कृत के कई व्याकरण जर्मन और अंग्रेज़ विद्वानों ने उपस्थित किये। इनमें ह्विटनी का व्याकरण अधिक लोकप्रिय हुआ। वैदिक भाषा का व्याकरण जर्मन में वाकर्नागल का सर्वांगपूर्ण है। पिशेल का प्राकृत व्याकरण आज भी अद्वितीय समझा जाता है। पाली के कई व्याकरण पश्चिमी मनीषियों के बनाए हैं। इनमें गाइगर का सर्वश्रेष्ठ है। कोषों में सेंटपीटर्सबर्ग के वैदिक कोष का ऊपर उल्लेख हो चुका है। मोनियर विलियम्स का संस्कृत-अंग्रेज़ी कोष बहुत लोकप्रिय साबित हुआ। पाली के दो कोष उल्लेखनीय हैं—चाइल्डर्स का तथा रोज़ डेविड्स स्टैड का।

प्राकृत के लौकिक साहित्य के क्षेत्र में स्टेनकोनो और लैनमान के हार्वर्ड ओरियंटल सिरीज़ में प्रकाशित कर्पूर मंजरी के संस्करण विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारतीय साहित्य के अनेक ग्रन्थों को समझने के लिये मैक्समूलर द्वारा सम्पादित 'सेक्रेड बुक्स आव् दि ईस्ट' ग्रन्थमाला लन्दन से प्रकाशित हुई। यह ५० बड़ी जिल्दों में है, और बड़े काम की है। वेद का अनुवाद लुडविग ने जर्मन भाषा में किया और ग्रिफ़िथ ने अंग्रेज़ी में। बहुत से भारतीयों को भी वेद का समस्त ज्ञान इन्हीं अनूदित ग्रन्थों से हुआ है। अमेरिका की कोलम्बिया संस्कृत सिरीज़ में डॉ० रॉस कृत कई उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इनमें धनंजय के दशरूपक का अनुवाद उल्लेखनीय है। इस अनुवाद के साथ साथ नाट्य शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन भी है जो बड़े काम का है।

वर्तमान यूरोप का भारतीय साहित्य से परिचय अब प्रायः तीन सौ वर्ष का है। इस काल में यूरोपीय विद्वानों ने साहित्य के सभी क्षेत्रों के ग्रन्थों के वैज्ञानिक रीति से सुसम्पादित संस्करण, सुपाठ्य अनुवाद तथा भाषा और साहित्य पर गवेषणात्मक निबन्ध और लेख प्रकाशित किये। यह सारी सामग्री उन्होंने मुख्य रूप से अपने देशवासियों के लिए उपस्थित की थी। पर यह सामग्री हम भारतीयों के भी विशेष काम की साबित हुई। भारत में प्राचीन साहित्य का अध्ययन सीमित पंडितवर्ग में ही बाकी रह गया था। अंग्रेज़ी शासन-काल में बहुत से पश्चिमी विद्वान् यहाँ के कॉलेजों में उच्च पदों पर सुशोभित हुए और उन्होंने अनेक भारतीयों को यहाँ के प्राचीन साहित्य की ओर प्रेरित किया। यह प्रेरणा कम महत्त्व नहीं रखती। भारतीय विश्वविद्यालयों में आज भी संस्कृत-पाली-प्राकृत के अनेक विद्वान् इन्हीं पश्चिमी विद्वानों के शिष्य हैं, और अपने गौरवपूर्ण प्राचीन साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में दत्तचित्त हैं।

—इलाहाबाद से प्रसारित



सेहत ख़राब है

कृष्णचन्द्र

ग़ालिब ने यह समझ लिया था कि दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना, लेकिन यह न समझा था कि अक्सर अवक़ात ख़ुद दवा जब हद से गुज़रती है तो दर्द बन जाती है, और कभी-कभी न कोई दर्द होता है, न दवा होती है। महज़ एक ख़्याले ख़ाम होता है जो बढ़ते-बढ़ते मर्ज़ की सूरत अख़्तियार कर लेता है, इस हद तक कि अच्छे-भले आदमी अपने तईं कहने लगते हैं कि यारो मेरी सेहत ख़राब है।

किसी दूसरे का ज़िक्र करने से पहले अपना ज़िक्र करना ज़रूरी है कि हर मर्ज़ की हदें यहीं से शुरू होती हैं। बचपन में मुझे थूकने की बहुत बुरी आदत थी, माँ बाप के मना करने पर भी मैंने इस आदत को तर्क नहीं किया। कहता था, भई हलक़ में थूक ज़्यादा है इसलिये थूकता हूँ। न हो तो कहाँ से थूकूं। इस ज़िमन में बहुत से डाक्टरों से भी मशवरा किया लेकिन किसी को मेरे हलक़ में कोई ख़राबी नज़र न आई। होती तो भला नज़र न आती। यहाँ तो महज़ ख़्याले ख़ाम था जिसकी तशख़ीस मुमकिन न थी। नतीजा यह हुआ कि जो आदत थी वह मर्ज़ बन गई और बीस-पच्चीस साल गुज़र गये, मुझे बार-बार कहना पड़ा, 'यारो मेरा हलक़ ख़राब है, हालाँकि शुरू में सिर्फ़ आदत ख़राब थी। आगे चलकर और क्या ख़राबियाँ नमूदार होंगी, यह मुस्तक़बिल के पर्दे में हैं और इनके जी में जाने कब क्या आये कि वह उरियां हों।

मैं इस हद तक तो गुस्ताख़ी नहीं करूंगा कि बरमला कह दूं कि हर शख़्स अपनी ज़िन्दगी में एक ख़्याले ख़ाम पाल लेता है जो आगे चलके उसके जी का रोग बन जाता है और उसकी सेहत को ख़राब कर देता है। लेकिन यहाँ चन्द एक मिसालें ज़रूर पेश करूंगा जिससे इस ख़्याले ख़ाम की निशानदिही हो सके जिसने बहुत से लोगों की सेहत ख़राब कर रखी है। फिर इस निशानदिही का एक फ़ायदा यह भी है कि सुननेवाला अपने दिल के ख़ाने में टटोल सकता है, मुबादा कोई ऐसा ही ख़्याले ख़ाम उसके किसी अँधेरे कोने में पड़ा हो जिसने मरीज़ की जिस्मानी या ज़िहनी सेहत ख़राब कर रखी हो।

मेरे एक दोस्त हैं, मैं नाम नहीं बताऊंगा, मुमकिन है आपके भी दोस्त हों। सेहत देखिये बिलकुल अच्छी-ख़ासी है। क़हक़हा भी ज़ोर का लगाते हैं। खाने-पीने में बुख़्ल से काम नहीं लेते। उनसे जब मिलने जाइये, सो रहे होते हैं। इसके बाद भी जब आप उनसे पूछिये—कहिये मिज़ाज कैसा है? फ़ौरन जवाब देंगे—सेहत ख़राब है, सर में हल्का-हल्का दर्द है, जिस्म टूट रहा है, हरारत भी महसूस हो रही है। मगर आइये बैठिये। आपके लिये क्या मंगाऊँ, चाय या लस्सी?

इसके बाद मिज़ाजपुरसी हो चुकेगी तो आप एक प्याला चाय पियेंगे और वह चार प्याले चाय डकार जायेंगे और साथ में आध सेर दाल-मोठ भी हज़्म कर जाएंगे और क़हक़हा लगाते हुये आपको दिलचस्प लतीफ़े भी सुनाते जायेंगे, क्योंकि उनकी सेहत ख़राब है, सर में हल्का

दर्द है, जिस्म टूट रहा है, हरारत भी महसूस हो रही है।

सर में दर्द और पेट में दर्द ऐसी तकलीफ़ें हैं जिनकी तशख़ीस कोई डाक्टर नहीं कर सकता। कोई एक्स-रे इस दर्द की तसवीर नहीं उतार सकता। इसी तरह जिस्म का टूटना है; किसी शाख़ का टूटना तो है नहीं कि आप अपनी आँखों से देख सकें। रहा जिस्म की हरारत का सवाल तो बन्दए ख़ुदा अगर जिस्म में हरारत भी महसूस न होगी तो आदमी ज़िन्दा कहाँ से रहेगा। मगर इन बातों से मेरे दोस्त पर कोई असर नहीं होता। वह संजीदारू होकर अपना हाथ आगे बढ़ाकर कहते हैं—देख लो बुख़ार है। और आप हाथ देखकर कहते हैं—तुम्हें तो ठंडा बुख़ार है। मालूम होता है वही तो है ठंडा बुख़ार, याने ख़्याले ख़ाम।

ठंडा बुख़ार बहुत से लोगों को होता है लेकिन इसका सबसे दिलचस्प तजुर्बा एक बैंक के मैनेजर को हुआ। एक क्लर्क उसके पास छुट्टी की दरख़्वास्त लेकर आया—क्योंकि सेहत ख़राब थी।

मैनेजर ने कहा—वैल मैन! तुम्हें क्या ख़राबी है?

क्लर्क ने जवाब दिया—साहब, मुझे बुख़ार चढ़ रहा है, और आगे हाथ बढ़ा दिया।

मैनेजर ने हाथ छुआ। हाथ बर्फ़ की तरह ठंडा था, बोला—वैल मैन! तुमको कैसा बुख़ार है? तुम्हारा हाथ तो बिल्कुल ठंडा है।

क्लर्क ने जवाब दिया—साहब! ग़रीब आदमी हूँ, टेम्परेचर कम है।

मैनेजर को छुट्टी देते ही बनी, क्योंकि ख़्याले ख़ाम का टेम्परेचर से क्या तअल्लुक़। टेम्परेचर ऊँचा हो या नीचा—कम हो या ज़्यादा, इससे ख़्याले ख़ाम पर कोई असर नहीं पड़ता, और न ही इस ख़राब सेहत पर किसी दवा का असर होता है। मैंने ऐसे लोग देखे हैं जिनकी सेहत बारह महीने ख़राब रहती है। ऐसे आदमी मंसूरी से नैनीताल—नैनीताल से उटकमंड—उटकमंड से श्रीनगर—श्रीनगर से शिमला का चक्कर लगाते ही रहते हैं, और शहर के हर डाक्टर को जानते हैं। उनकी तशख़ीस कभी किसी एक मर्ज़ से नहीं हुई। उन्हें हर रोज़ अपने लिये एक नया मर्ज़ और अगर कोई नया मर्ज़ न मिल सके, तो उसका एक नया नाम चाहिये जो सुबह चाय-बिस्कुट के साथ उन्हें मिलना चाहिये, वरना दिन भर उनका मिज़ाज बिगड़ा रहेगा। इस क़िस्म की ख़राबिये सेहत की शिकायत करने वाले लोग बिल अमूम हट्टे-कट्टे, मोटे-ताज़े, सुर्ख़ व सफ़ेद रंग के होते हैं। यह लोग हर रोज़ मुर्ग़ा खाते हैं, टॉनिक पीते हैं; छः मील की सैर करते हैं और रोज़ रात के दस बजे बिला नाग़ा सो जाते हैं, क्योंकि सेहत ख़राब है।

इन लोगों में से जिनकी सेहत बहुत ख़राब होती है वह हिन्दुस्तान में भी नहीं रहते, बल्कि हिन्दुस्तान से बाहर जाते हैं। जिसकी सेहत जितनी ज़्यादा ख़राब होगी, वह उतना ही हिन्दुस्तान से दूर जायगा। मेरे एक दोस्त इसी ख़राबिये सेहत की बिना पर तेहरान में अपनी ज़िन्दगी के दिन पूरे कर रहे हैं। दूसरे एक दोस्त इसी वजह से ग्यारह साल से पेरिस में मुक़ीम हैं। एक और साहब हैं जिन्हें स्विटज़रलैंड के सिवा और किसी जगह की हवा रास नहीं आती। एक दोस्त पिछले १५ साल से होनोलूलू में बिस्तर मर्ग पर पड़े हैं। हर ख़त में लिखते हैं, बस यह मेरा आख़िरी ख़त है, अलविदा! इस १५ साल के तवील अर्से में उनके बहुत से अच्छे ख़ासे तनोमंद दोस्त जिन्हें कोई बीमारी न थी, अगले जहान् को सिधार गये, मगर यह मेरे दोस्त अभी तक होनोलूलू में डटे हुये हैं, क्योंकि उनकी सेहत ख़राब है।

यह लोग अपने वतन से दूर रहकर अपनी सेहत ठीक करने में लगे रहते हैं और इस काम के सिवा दिन भर उन्हें कोई काम नहीं होता। मिसाल के

तौर पर मेरा जो दोस्त पेरिस में मुक़ीम है उस बेचारे का दिन भर का प्रोग्राम कुछ इस तरह का होता है—

सुबह उठे, चाय पी, और चाय के साथ विटामिन 'ए' की एक गोली निगल ली। फिर शेव बनाकर गर्म पानी से नहाये और नाश्ता लाने वाली वेट्रेस से हँस के दो बातें कीं। नाश्ता बहुत मुख़्तसर होता है। यही, दो अंडे फ्राई, आध पाव मक्खन, फ्रांसीसी शहद, अंगूर की जेली, चिकिन रोस्ट या गुर्दा रोस्ट, ख़स्ता फ्रांसीसी ब्रेड और शराब की एक बोतल और इसके बाद विटामिन बी, सी, डी की एक जामिआ गोली।

नाश्ते के बाद कपड़े पहने और छड़ी हाथमें लेकर बुलवर्ड शोरां शारां के दरख़्तों के तले चहलक़दमी करने चले गये, या डा० मसियों ओलोर से मुलाक़ात करते और उस रोज़ के नये मर्ज़ का नाम मालूम करते हैं। थोड़ा सा वक़्त गुज़ार दिया। उधर से गुज़रे और अगर धूप खिलती हुई मालूम पड़ी तो दरियाये सीन के किनारे मछलियाँ पकड़ने चले गये। वहाँ उनकी ऐसे दोस्तों के साथ मुलाक़ात हो गई जिनकी सेहत उनसे पहले की ख़राब थी। दिल को एक गूना तस्कीन हुई। होटल में वापिस आकर लंच खाया। लंच भी नाश्ते की तरह मुख़्तसर होता है, जुमला कोर्स के बाद शराब की एक बोतल पर ख़त्म होता है। इसके बाद विटामिन ए, बी, सी, डी, ई, एफ से ज़ेड तक की एक जामिआ गोली निगल ली और बिस्तर पर कहलूला करने की नियत से लेट गये।

ढाई बजे सोये थे, जब जागे तो पाँच बज रहे थे। जल्दी-जल्दी उठकर चाय पी ली—चाय लानेवाली वेट्रैस से दो-चार बातें कीं। फिर गर्म पानी से नहाये, फिर कपड़े बदले और बाहर घूमने चले गये। घूमने में बहुत कुछ आ जाता है। इस घूमने में डाक्टर से ताक़त का इंजेक्शन लिया जाता है, फव्वारों वाले बाग़ की सैर होती है, जहाँ मदाम दिवरां या मदमोज़ेल रोवां-दोवां, जिनकी सेहत भी उनकी तरह ख़राब होती है, उनकी इन्तज़ार में होती हैं। एक दूसरे के मर्ज़ का हाल पूछने के बाद कमर में हाथ डाल के एक दूसरे को गोया दुनिया की मुसीबतों के ख़िलाफ़ सहारा देते हुये किसी जगह पर डिनर खाते हैं और फिर नंगी औरतों का डांस देखते हैं या किसी नाइट-क्लब में रात के चार बजे तक नाचते रहते हैं क्योंकि सेहत ख़राब है।

बीच में कभी-कभी चन्द सालों के बाद मेरे दोस्त को वतन के प्रेम का दौरा पड़ता है और वह हिन्दुस्तान वापिस आने की सोचता है। वह इसी मज़मून के दो चार ख़त मुझे लिखता है। जिससे मालूम होता है कि अब वह ख़राबिये सेहत से इस क़द्र उकता चुका है कि हिन्दुस्तान आकर अपने वतन में मरना चाहता है। मगर मैं हमेशा उसे इस ख़्याले ख़ाम से बाज़ रखता हूँ। इसमें उसका ही भला है और पेरिस का भी। बाक़ी अपनी कहिये, किसी न किसी तरह दिन काट लेंगे। ख़ुदा ने हमें बुरी सेहत नहीं दी, वरना हम भी पेरिस न जाते तो टिम्बकटू तो ज़रूर जाते।

मैं अगर यह कहूँ कि ख़राब सेहत रखने वाले आम तौर पर हट्टे-कट्टे होते हैं, तो यह एक मुबालिग़ा आमेज़ हक़ीक़त होगी। मैंने ऐसे लोग भी देखे हैं जो बाँस की तरह लम्बे और पतले होते हैं और साँप की तरह खाते हैं। ऐसे लोग भी, जो चूहे की तरह छोटे और नहीफ़ होते हैं, लेकिन रुस्तमे गुर्दा पर शेरों की तरह गुर्राते हैं और मामले को इतनी जल्दी साफ़ कर देते हैं कि आप हैरत से सोचते रह जाते हैं कि इस नहीफ़ बदन के अन्दर वह कौन सी ख़ुफ़िया कमानी या कल लगी हुई है जो दस आदमियों के खाने को इतने पतले से एक जिस्म में ठूँस देती है, बल्कि ग़ायब कर देती है, कि दस्तर-ख़्वान पर सिवाय ख़ाली हाथों के और कुछ बाक़ी नहीं रहता। इसके बाद मेरे दोस्त हाथ खींच के बड़ी हसरत से कहते हैं, सेहत ख़राब है, वरना ......

वरना क्या हमें भी खा लेते ?

इनके अलावा और तरह-तरह के लोग हैं। क्योंकि सेहत ख़राब होती है तो तरह-तरह के रंग बदलती है। एक साहब हैं जिनकी टाँगें हमेशा दर्द करती रहती हैं, लेकिन अगर कहीं चल दिये तो दस मील तक चले जायेंगे और कभी रुकने का नाम न लेंगे। एक साहब के दाँतों में हमेशा दर्द रहता है, लेकिन वक़्त पड़ने पर बादाम क्या लोहे की कील तक चबा जाते हैं। एक साहब हैं जिनकी आँखें सदा दुखती रहती हैं लेकिन दिन में तीन बार सिनेमा देखते हैं। हाँ भई, अपना अपना मर्ज़ है, अपनी अपनी सेहत है, जिस तरह से जी चाहे, ख़राब कर ले यहाँ कौन पूछने वाला है।

ख़्याले ख़ाम जब ख़ाम ही नहीं रहता बल्कि पुख़्ता हो जाता है तो ज़नून की सूरत अख़्तियार कर लेता है। मैं एक साहब को जानता हूँ जिन्हें यह वहम था कि वह काँच के बने हुये हैं। चुनाँचे राह चलते-फिरते, उठते-बैठते हर समय अपने आप को इस तरह लिये-दिये रहते थे कि कहीं किसी से टक्कर न हो जाये और उनके नाज़ुक जिस्म का आबगीना छन से टूट न जाये। मेरे यह दोस्त आज कल आगरे के पागलख़ाने में हैं। एक और दोस्त हैं जो इस ख़्याले ख़ाम में मुबतला हैं कि उनके सिर पर मुर्ग़ का सिर लगा हुआ है। आप अक्सर महफ़िल में उठकर बाँग दिया करते थे। यह भी आजकल वहीं हैं। असल में इस तरह के ख़्याले ख़ाम का तअल्लुक़ जिस्म की बनिस्बत दिमाग़ से होता है। और जब दिमाग़ ही बिगड़ जाता है तो उसका इलाज बड़ा मुश्किल हो जाता है। फिर यह बात भी याद रखने की है कि सेहत सिर्फ़ आदमी की ही ख़राब नहीं होती बल्कि समाज की सेहत भी ख़राब होती है। यह अमल दोतरफ़ा होता है। यानी बहुत से ख़राब सेहत रखने वाले लोग समाज की सेहत को ख़राब कर लेते हैं और ख़राब सेहत रखने वाला समाज अच्छे-भले आदमियों की सेहत को ख़राब करता रहता है। इस बात को ज़्यादा लम्बा न करके यहाँ सिर्फ़ इतना कहना काफ़ी है कि जब समाज की सेहत ख़राब होती है तो इतना कहना काफ़ी नहीं है कि सेहत ख़राब है। इसके साथ यह भी कहना पड़ता है कि सेहत के साथ नियत भी ख़राब है।

—बम्बई से प्रसारित



गुरु गोरखनाथ का शिष्य को उपदेश

बड़ी आयु की स्त्री तुम्हारी माँ के समान है; छोटी को बेटी, और समान आयु की स्त्री को बहिन समझना। किसी एक स्थान पर टिक नहीं रहना। नज़र नीची रखना। धार्मिक भजन गाकर प्रचार करना। माँग कर खा लेना, जहाँ से जो खाने को मिले, ले लेना। कपड़े जोगियों जैसे पहनना, गर्मी-सर्दी सहन करना। कोई मित्र नहीं बनाना, आत्मा की आवाज़ को सुनना और आत्मा की खोज और पहिचान में लगे रहना। करामात नहीं दिखानी। किसी देवी-देवता को नहीं मानना-पूजना। केवल एक भगवान् के प्रेम में मस्त रहना और उसे सब रूपों में परिपूर्ण समझना।

—मोहनसिंह (जालन्धर)

अहं से मेरे बड़ी हो तुम

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

अहं से मेरे बड़ी हो तुम ।
क्योंकि मेरी शक्तियों की
हर पराजय जीत की
अन्तिम कड़ी हो तुम ।
जहाँ रुक कर
फिर नई मैं टेक गढ़ता हूँ,
भूमि पैरों के तले मेरे न हो फिर भी
हर नए संघर्ष के विष-शृंग चढ़ता हूँ
क्योंकि, अन्तर में
अतल गहरे
आस्था के टूटते असहाय रथ के चक्र थामे
नित खड़ी हो तुम ।
अहं से मेरे बड़ी हो तुम ।
प्रिय इसी से तुम्हारे सम्मुख
मौलश्री की डाल मैंने झुका दी है,
और बौने प्यार के कर में
अहं की जयमाल ला दी है,
क्योंकि मैं,
उखड़ कर जिस जगह से गिर पड़ा
वहीं पर दृढ़ हो गड़ी हो तुम ।
अहं से मेरे बड़ी हो तुम ।
एक पत्थर की घड़ी हो तुम,
कि जिस पर छाँह चलती है
जड़े मेरे अहं की,
बाँधने को विकल
एक टूटा घूमता असहाय हाथ,
काल की बेलौस छाती पर
प्यार का असफल प्रयास,
किन्तु इस पर भी
अहं मेरे हर विकल विद्रोह के सर पर
मौन कलँगी सी जड़ी हो तुम ।
अहं से मेरे बड़ी हो तुम ।

—इलाहाबाद से प्रसारित

दो चीनी यात्री

मन्मथनाथ गुप्त

चीन हमारा पड़ोसी देश है। चीन ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया, तब स्वाभाविक रूप से वहाँ के धार्मिक नेता बौद्ध पुस्तकों की खोज में भारत आये, और उन्होंने लौट कर जो कुछ लिखा, वह भारतीय इतिहास के लिए बड़े महत्त्व की वस्तु है। भारतीयों में इतिहास लिखने की परिपाटी कम थी, इस कारण इन वर्णनों से उस समय कैसी राज्यपद्धति थी, लोगों के विचार तथा रहन-सहन कैसा था, इसे जानने में बड़ी सहायता मिली है। दो सबसे प्रसिद्ध चीनी यात्री हो गये हैं—फ़ाहियान और ह्यूनसांग। फ़ाहियान चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में, और ह्यूनसांग हर्षवर्धन के समय में भारत आये थे।

फ़ाहियान

फ़ाहियान अपने घर चांगआन से, जिसे आजकल सियानफ़ू कहते हैं, भारत के लिये रवाना हुये। यह ३६६ ई० यानी आज से साढ़े पन्द्रह सौ वर्ष पहले की बात है। आज जो कोई चीन से आता है, उसके लिये तो रास्ता साफ़ है। वह चीन के किसी बन्दरगाह से जहाज़ द्वारा सिंगापुर होता हुआ किसी भी भारतीय बन्दरगाह में आ सकता है। इसके अतिरिक्त हवाई जहाज़ में बैठकर थोड़े समय में हांगकांग, सिंगापुर, रंगून होता हुआ कलकत्ता पहुँच सकता है।

फ़ाहियान ने सारे मध्य एशिया की पैदल यात्रा की, और वे छः साल में भारत पहुँचे। उनके साथ उनके पाँच और मित्र थे। इनमें से दो रास्ते में मर गये और दो रास्ते की कठिनाइयों से घबड़ाकर वापस चले गये। इस प्रकार दो ही मित्र यानी फ़ाहियान और उनके एक मित्र ही भारत पहुँचे। इन दो में से एक तो भारत में ही बस गया और अपने देश को वापस नहीं लौटा। फ़ाहियान ही ऐसे निकले जिन्होंने अपनी यात्रा के सारे उद्देश्यों को छः साल में पूरा करके घर का रास्ता लिया।

फ़ाहियान ने भारत में रह कर संस्कृत सीखी। उन्होंने बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। जब वे देश लौटे तो चीनी भाषा में जो पुस्तक उन्होंने लिखी, उसी से हम फ़ाहियान तथा उस समय के भारत के विषय में बहुत कुछ जान पाते हैं। सबसे मज़े की बात यह है कि फ़ाहियान ने अपनी यात्रा का जो वर्णन लिखा, उसमें यहां के राजा चन्द्रगुप्त या अन्य किसी भी जीवित राजा का उल्लेख नहीं किया। इसकी उन्होंने ज़रूरत ही नहीं समझी। वे तो यहां की संस्कृति और साहित्य के विषय में जानने के लिये आये थे। यहां कैसी सरकार थी तथा यहां के लोग कैसे थे—इस सम्बन्ध में उन्होंने बहुत कुछ लिखा है।

उन्होंने लिखा है कि यहां के लोग खुशहाल और सुखी थे। उन्हें इस बात पर बहुत आश्चर्य हुआ कि उनके देश में आम लोगों पर जिस तरह के बन्धन थे, यहाँ भारत में उनका पूर्णरूप से अभाव था। उन्होंने यह भी लिखा कि यहां टैक्स कम थे। जो लोग राजा की ज़मीन जोतते थे, उन्हें अपनी आय में से एक अंश देना पड़ता था। किसान आनन्द में थे। लोगों के साथ न्याय किया जाता था। दोनों पक्षों को सुनने का तरीक़ा था। बहुत कम मामलों में शारीरिक

सज़ा दी जाती थी। अपराधों के अनुसार लोगों पर जुर्माने किये जाते थे। यदि कोई व्यक्ति राजद्रोह भी करता तो उसे मामूली सज़ा दी जाती थी। पर यदि कोई बार-बार राजद्रोह करता था तो उसका दाहिना हाथ काट लिया जाता था।

यदि फ़ाहियान की बात मानी जाये तो उस समय भारत में कोई मांसाहारी नहीं था। यहां तक कि लोग प्याज़, लहसुन भी नहीं खाते थे और न कोई शराब पीता था।



बौद्ध धर्म का बड़ा ज़ोर था। सर्वत्र बौद्ध मठ बने हुये थे, जहां हज़ारों की संख्या में भिक्षु रहते थे। बौद्धों और ब्राह्मणों में कोई झगड़ा नहीं था, और दोनों एक दूसरे के उत्सवों में शरीक होते थे। विदेशी होने के कारण किसी ने फ़ाहियान के साथ किसी प्रकार का बुरा सलूक नहीं किया, बल्कि वे जहां भी गये, उनका स्वागत हुआ।

फ़ाहियान ने मगध के निवासियों को बहुत दान देते हुये पाया। उन्होंने वहाँ सर्वत्र मुफ़्त इलाज करने के लिये अस्पताल देखे। यहाँ पर यह बात बता दी जाय कि यूरोप में भी पहला निःशुल्क अस्पताल इसके पांच सौ वर्ष बाद स्थापित हुआ। जानवरों के लिये भी अस्पताल थे। राहगीरों के लिये सरायें बनी हुई थीं। जब वे पाटलिपुत्र पहुँचे, तो उस समय तक अशोक महान् का राजमहल ज्यों का त्यों मौजूद था। इस राजमहल को देख कर उन्हें आश्चर्य हुआ, क्योंकि वह बड़े-बड़े पत्थरों से बना हुआ था, तथा उसमें तरह-तरह के काम थे। फ़ाहियान इस महल को देखकर इतने आश्चर्य में पड़ गये कि उन्होंने लिखा है कि यह महल मनुष्यों द्वारा नहीं बनाया हुआ हो सकता। उन्हें यह देखकर दुख हुआ कि भगवान् बुद्ध का जन्म-स्थान कपिलवस्तु जंगल बन चुका है और गया जहां पर बोधि वृक्ष है वीरान-सा था।

पाटलिपुत्र में फ़ाहियान को जो धर्म-ग्रन्थ चाहिये थे, वे मिले। इस प्रकार वे छः साल तक भ्रमण करने के बाद बंगाल के ताम्रलिप्ति नामक बन्दरगाह से सिंहल (लंका) पहुँचे। वहाँ दो साल रहने के बाद वे समुद्र की गड़बड़ियों के कारण बहुत दिनों तक भटकते-भटकाते ४१४ ई० में चीन पहुँच गये।

ह्यूनसांग

फ़ाहियान के सवा दो सौ साल बाद ह्यून-सांग या यू-आन-चांग भारत में बौद्ध धर्म का अध्ययन करने आये। वे ६२६ ई० में चीन से चले। उस समय उनकी उम्र २६ साल की थी, और वे उसी उम्र में एक विद्वान् के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुके थे। वे भी घूम कर मध्य एशिया के रास्ते से भारत में आये। जब वे कश्मीर पहुँचे, और कश्मीर के राजा

को उनके आने का पता चला तो सड़कों पर फूलों और सुगन्ध का छिड़काव किया गया। यहीं पर ह्यूनसांग ने संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया और साथ ही साथ शास्त्रों का भी अध्ययन किया। जब कश्मीर के राजा को यह ज्ञात हुआ कि वे यहाँ के संस्कृत ग्रंथों की नक़ल साथ ले जाना चाहते हैं, तो उन्होंने ह्यूनसांग को बीस पंडित दिये, और कहा कि इनसे आप नक़ल कराने का काम लीजिये।

कश्मीर में अपना काम समाप्त करने के बाद वे भारत में पूर्व की ओर बढ़े। नालन्दा विश्वविद्यालय में उनका स्वागत हुआ और वे पाँच साल तक नालन्दा में रहे। राजा हर्ष ने उन्हें बार-बार बुलाकर उनके मुख से धर्म की बातें सुननी चाहीं, पर वे उस समय गंभीर अध्ययन में लगे हुये थे, इसलिये उन्होंने नम्रता के साथ इस निमंत्रण को अस्वीकार किया। कामरूप के राजा कुमार की तरफ से भी इसी प्रकार का एक निमंत्रण आया, पर उन्होंने उसे भी अस्वीकार किया। जब तीसरी बार निमंत्रण आया तो उसके साथ धमकी भी थी कि यदि वे नहीं गये तो उन्हें राजा कुमार अपनी फौज भेज कर पकड़वा ले जायेंगे। इस पर नालन्दा विश्वविद्यालय के शीलभद्र ने उन्हें सलाह दी कि वे कामरूप जायें।

जब हर्ष को पता लगा कि उनके अधीन कुमार ने इस प्रकार उन्हें ज़बर्दस्ती बुलवाया है, तब उन्होंने हुक्म दिया कि फ़ौरन चीनी यात्री को मेरे पास भेज दो। इस पर कुमार ने कहा कि वह अपना सिर दे सकता है पर अपने अतिथि को नहीं भेज सकता। तब सम्राट् हर्ष की ओर से आज्ञा हुई कि सिर ही भेज दो। तब कुमार को अक़्ल आई और उसने ह्यूनसांग को जाने दिया और घोड़ा, हाथी, फ़ौज आदि लेकर उनके पीछे-पीछे चला। ह्यूनसांग को इतना सम्मान दिया गया कि उनके सभापतित्व में धर्म-विषयक सभा हुई।

ह्यूनसांग सारे भारत में घूमे, और जहां भी गये, वहां के लोगों से बहुत खुश रहे। उन्होंने यहां लोगों को खुशहाल और सुखी पाया, पर उनके सम्बन्ध में जो ब्यौरे मिलते हैं, उनसे ऐसा मालूम होता है कि उन दिनों भारत में धार्मिक झगड़े बहुत बढ़ रहे थे। बौद्ध धर्म की दो मुख्य शाखाएं हीनयान और महायान आपस में बहुत लड़ रही थीं। बाद को इन्हीं झगड़ों के कारण देश कमज़ोर हो गया और परतन्त्र हो गया।

ह्यूनसांग ६४५ ई० में वापस लौटे। हर्ष ने बहुत चेष्टा की कि उन्हें रोकें, पर वे जिस काम के लिये आये थे, उसे पूरा करके भारत से विदा हुये। वे अपने साथ ६५७ संस्कृत पुस्तकें ले गये। बार-बार हर्ष और कुमार ने उनसे विदाई माँगी, और घोड़े दौड़ा-दौड़ा कर पीछे से उनसे जाकर मिले। एक विद्वान् के लिये यह क़द्र उचित ही थी।

—दिल्ली से प्रसारित





आज का बर्मा

ब्रजनन्दन आज़ाद

वर्तमान बर्मा की प्रगति की रेखाएं इतनी सीधी नहीं हैं कि उनकी चर्चा थोड़े समय में हो सके। बर्मा कभी भारत के साथ था, आज वह स्वतन्त्र देश है। बर्मा भौगोलिक बनावट के कारण हमसे कुछ पृथक् हो जाता है, क्योंकि वहाँ तक पहुँचने के लिये सड़कें नहीं हैं। बीच में पर्वत व्यवधान के रूप में उपस्थित होता है। जलमार्ग से जाना सुगम होते हुए भी स्थलमार्ग की अपेक्षा असुविधाजनक हो जाता है। वायु-मार्ग भी आसान है, परन्तु उसके ज़रिये सीमित सम्पर्क ही स्थापित हो सकता है।

बर्मा-निवासी भारतीयों से कुछ भिन्न हैं। बर्मा में बौद्ध धर्म ही एकमात्र धर्म है। बौद्ध भिक्षुओं की संख्या बहुत है। वे केवल संन्यासी नहीं होते, अर्थात् संसार त्याग कर जंगलों में नहीं रहते। सामाजिक जीवन में उनका बहुत स्थान है, और जिन दिनों सरकार की ओर से केवल अंग्रेज़ी में शिक्षा दी जाती थी उन दिनों वे ही देशी शिक्षा-प्रणाली के आधार थे। वर्तमान सरकार ने अपनी शिक्षा-योजना में उन्हें स्थान दिया है और उनकी पाठशालाओं को प्रोत्साहन देकर आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के योग्य बनाने का निश्चय किया है।

जाति का अर्थ हम भारतवासी समझते हैं। जातिभेद के कारण किसी देश में जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं, उनसे बर्मा-वासी अनभिज्ञ हैं। जाति-विहीन समाजों में भी किसी न किसी प्रकार के विभेद की प्रणाली स्थापित हो जाती है, परन्तु बर्मा में अभी वह अवसर बड़े पैमाने पर उपस्थित नहीं हुआ है। उद्योग के युग में यह विभेद तभी उपस्थित होता है जब एक ओर बड़े बड़े उद्योगपति हों और दूसरी ओर दरिद्र मज़दूर। बर्मा में अभी धनिकों की संख्या अधिक नहीं है, क्योंकि आज़ादी के बाद से ही कुछ अंश में उद्योग तथा

व्यापार बर्मा-वासियों के हाथ में आने लगे हैं। पोशाक की समानता की वजह से भी भेदभाव स्थापित करना कुछ कठिन होता है। वर्तमान बर्मा की राष्ट्रीय पोशाक लुंगी, पूरी बाँह का कमर से थोड़ा नीचे तक कुर्ता और हल्की सी पगड़ी है। सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं, नेताओं तथा सर्वसाधारण में ऐसे कम लोग हैं जो कोट-पैंट पहनते हैं। आफिसों में काम करने वाले भी उसी पोशाक में बैठे रहते हैं। सेना और पुलिस आदि की यूनीफ़ार्म पश्चिमी ढंग की है, जैसे हमारे देश में है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि चपरासी और उसके अफ़सर एक ही पोशाक में रहते हैं। यह पहनावा ऐसा है कि ग़रीब-अमीर सब पहन सकते हैं। अधिक पैसा ख़र्च करने की गुंजाइश नहीं है। वैसे तो अच्छी अच्छी लुंगियां ५०-६० रुपये जोड़े तक मिलती हैं और रेशमी जैकेट बनवाने में भी काफ़ी दाम लग सकता है। बर्मा लुंगी के लिये मशहूर भी है, परन्तु बर्मा-निवासी ठाठ-बाट में लिपटना नहीं जानते। मानव समाज में वेश-भूषा का स्थान महत्त्व का होता है। जिस देश में सबके लिये समान पोशाक हो उस देश में भेद-भाव का एक बहुत बड़ा कारण लुप्त हो जाता है। यूरोप में भी यही बात है, परन्तु वहाँ पर उद्योगों में उन्नति होने के कारण कपड़ों के प्रकार में कुछ भेद हो जाता है।

बर्मा में आजकल जो सरकार है, उसका राजनीतिक दृष्टिकोण समाजवादी है, परन्तु जो नये क़ानून लागू किये जा रहे हैं या जो कार्य प्रणाली स्वीकार की गई है, उससे पता चलता है कि प्रधान मन्त्री थाकिन नू कोरे आदर्शवादी नहीं हैं। शासन-संचालन में वे व्यावहारिकता से काम लेते हैं और उनके दल के नेताओं में इस विषय पर कोई ऐसा मतभेद नहीं जिसका बुरा प्रभाव आर्थिक व्यवस्थाओं पर पड़े। शायद इस समान दृष्टिकोण का प्रधान कारण यह है कि आन्तरिक उपद्रव के कारण शासक दल के नेताओं को सैद्धान्तिक विवाद का समय नहीं मिलता। उस देश में थोड़े दिन बिताने वाले किसी विदेशी को इस बात का आश्चर्य हो सकता है कि बर्मा को वर्तमान सरकार उपद्रवकारियों से लड़ते रहते हुए भी अपनी आर्थिक योजनाएं कार्यान्वित कर रही है। उन्हें नये सिरे से सब कुछ करना है। कोई बड़ा उद्योग या व्यापार बर्मा-वासियों के हाथ में नहीं था। अंग्रेज़ी और भारतीय, ये दो विदेश निवासी वहाँ वास्तविक प्रभुत्व स्थापित किये हुए थे। बर्मा सरकार अपने देश को समुन्नत करने के लिये दृढ़-संकल्प है। परन्तु यह बात स्वीकार कर ली गई है कि यह कार्य किसी की सम्पत्ति ज़ब्त करके पूरा नहीं किया जायगा। ऐसे क़ानून बनाये जा रहे हैं जिनके फलस्वरूप विदेशियों के लिये नया उद्योग स्थापित करना या बड़ी-बड़ी ज़मींदारियाँ हासिल करना असम्भव होगा। ज़मीन के बँटवारे की योजनाएं लागू की जा रही हैं, परन्तु इस क्रिया में वह उतावलापन या कटुता नहीं है जो सामाजिक क्रान्ति का लक्ष्य प्राप्त करने वाले देशों में होती है। अभी तक सरकारी केन्द्रीय बैंक के अतिरिक्त सब प्रभावशाली बैंक विदेशी हैं; कुछ भारतीय हैं, कुछ ब्रिटिश; और उनका काम सुचारु रूप से चलता है। भारत और बर्मा के बीच व्यापार-सम्बन्ध है, परन्तु सामान तथा मुद्रा का आयात-निर्यात प्रतिबन्धों से मुक्त नहीं। संसार का आज यही नियम है कि व्यापार-सम्बन्ध अनियमित नहीं रखना चाहिए। विदेशी पूंजी की लागत की मनाही नहीं है, परन्तु सरकारी नीति और योजनाओं के अन्तर्गत ही यह कार्य हो सकता है। अनुन्नत देशों को इन सिद्धान्तों का अनुसरण करना ही पड़ता है। परन्तु इस नयी नीति के पालन में कटुता को स्थान नहीं दिया जाता, कारण बर्मा-वासी बड़े मीठे स्वभाव के होते हैं। बहुत से लोगों का यह भी कहना है कि देहात के रहने वालों में मानवी गुण विकसित नहीं होते, और उन पर भरोसा नहीं किया जा सकता। यह भी कहा जाता है कि वे विदेशियों का रहना पसन्द नहीं करते। परन्तु शासन के संचालकों और राजनीतिक

नेताओं तथा विदेशियों के बीच जो वर्त्तमान सम्बन्ध है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि बर्मा में जितनी सद्भावना है उतनी कई देशों में नहीं है। पहले की अपेक्षा आन्तरिक उपद्रव भी कम हो गया है। यातायात की स्थिति अब अच्छी है। मुख्य स्थानों के बीच रेलगाड़ियाँ चलती हैं, और यदि लाइन तोड़ दी जाती है तो मरम्मत में बहुत समय नहीं लगता। मुख्य नगरों के बीच व्यापार-सम्बन्ध में जो बाधा उपस्थित हुई थी, वह बहुत अंश में विमान-मार्ग द्वारा दूर की जा रही है। आंतरिक अव्यवस्था के कारण कई वस्तुओं का उत्पादन कम हो रहा है। फिर भी बर्मा इस स्थिति में है कि चावल का निर्यात कर सके। भारत ने वहाँ से चावल खरीदने के लिये कई बार बातचीत की है। बर्मा से चावल का निर्यात सरकार के हाथ में है, स्वतन्त्र व्यापारियों का इससे कोई सम्बन्ध नहीं। बाहर से सामान मँगाने का काम व्यापारी करते हैं, परन्तु प्रायः सब आवश्यक वस्तुओं के आयात के लिये सरकारी अनुमति आवश्यक होती है। शौक की चीज़ें अनियमित परिमाण में नहीं आ सकतीं, क्योंकि देश की क्रय-शक्ति कम होने के कारण विनिमय योग्य मुद्रा संचित करके रखनी पड़ती है। लकड़ी का कारबार पहले से कुछ कम हो गया है। मशहूर बर्मा टीक देश के उत्तरी भाग से आता है जहाँ आजकल अशांति है। औद्योगिक क्षेत्रों का बचाव तो सेना करती है, परन्तु देश के कोने-कोने के लिए सेना का आयोजन सम्भव नहीं, न उसकी नितान्त आवश्यकता ही प्रतीत होती है। बर्मा को सबसे बड़ी सुविधा यह है कि उसकी राजधानी समुद्र के किनारे है, जिसके कारण विदेशी व्यापार अव्यवस्था के दिनों में भी चलता रहता है। रंगून के आस-पास अब पूर्ण शान्ति है।

१६५२ में ४ अगस्त से १७ अगस्त तक रंगून में वेलफेयर स्टेट कान्फ्रेंस हुई थी जिसे वहाँ 'पियावदा सम्मेलन' कहते हैं। निर्माण की प्रमुख योजनाएं विचार-विनिमय के बाद वहां स्वीकृत हुईं और आर्थिक जीवन का ऐसा कोई पहलू न बचा जिसके सम्बन्ध में योजना न बनी हो। उस सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए प्रधान मन्त्री श्री थाकिन नू ने जो भाषण दिया, उसमें उन्होंने निर्माण योजनाओं का सैद्धान्तिक आधार निरूपित किया। उन्होंने कहा—"प्रत्येक कार्य आरम्भ करने से पहले हमें सोचना चाहिए कि क्या यह काम उचित है, क्या इससे बर्मा को लाभ पहुँचेगा और इससे अन्य राष्ट्रों को कोई क्षति तो नहीं पहुँचेगी? ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जो नैतिकता की दृष्टि से उचित और राष्ट्र के लिए हितकर होते हुए भी अन्य राष्ट्रों के लिए अनिष्टकर हो या जो अपने राष्ट्र तथा विदेशियों के लिए लाभदायक होते हुए भी अनीतिमूलक हो।"

बर्मा में विद्यादान निःशुल्क होता है और छात्र-वृत्तियों द्वारा विद्यार्थियों को प्रोत्साहन दिया जाता है। यान्त्रिक शिक्षा पाये हुए व्यक्तियों का अभाव है, जिसके कारण अनेक योजनाओं के कार्यान्वित करने में विलम्ब होता है। बर्मा में राष्ट्रीय भाषा के विकास पर बहुत ज़ोर दिया जाता है। हाईकोर्ट तक में जज तथा वकील अपनी भाषा में बातचीत करते हैं। हाईकोर्ट के प्रायः सभी जज बर्मावासी हैं, और वकील बैरिस्टरों में भी विदेशी बहुत कम हैं।

स्त्रियों का पुरुषों के साथ बराबरी का अधिकार है और उनका बहुत आदर होता है। उनकी पोशाक में सादगी होती है, शरीर को जकड़ कर रखने की प्रथा नहीं है। नगरों और गाँवों में घर के बाहर काम करने वाली महिलाओं की संख्या काफ़ी है। वे बहुत परिश्रमी होती हैं। यह भी एक कारण है जिससे पुरुषों को राष्ट्रनिर्माण की योजनाओं में शक्ति लगाने का अवसर मिलता है।

—पटना से प्रसारित



पंचवर्षीय योजना और नारी

नीलिमा मुकर्जी

पंचवर्षीय योजना के दो मुख्य उद्देश्य हैं:

(अ) लोगों के लिये उच्च जीवन-स्तर और

(ब) सामाजिक न्याय

इस योजना द्वारा पाँच साल में राष्ट्रीय आय में ११ प्रतिशत वृद्धि होगी। एक पीढ़ी में प्रति व्यक्ति आय दुगुनी हो जायगी। इस योजना से भारत की सर्वांगीण आर्थिक उन्नति की आशा की जाती है। योजना तो बन गई, पर (अ) देश के लोगों के पूर्ण हार्दिक सहयोग के बिना कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती, और (ब) बहुसंख्या के हित के लिये किसी सीमा तक व्यक्ति की स्वाधीनता की बलि देनी होगी।

इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए देश के प्रत्येक नर नारी को आगे बढ़ना है। नारी भी नागरिकता का अधिकार रखती है, इसलिये कोई भी क्षेत्र उसके लिये अप्रवेश्य नहीं है। यद्यपि नारी प्रकृति से ही विशेष प्रकार के धंधों के लिये उपयुक्त है जैसे कि सेवा और शिक्षा, फिर भी उसको पुरुषों के साथ शिक्षा प्राप्त करने में बराबरी का अधिकार होना चाहिये। उसको उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्राइवेट परीक्षा देने की सुविधाएँ होनी चाहिएं। ५ साल में ६–११ साल के ६० प्रतिशत बालकों और इसी उम्र की ४० प्रतिशत बालिकाओं को शिक्षा प्राप्त होगी। स्त्री-शिक्षा को कुटीर-उद्योगों के साथ जोड़ने का सुझाव योजना में है। कुटीर-उद्योगों में नीम का साबुन बनाना, तेल बनाना, कम्बल बनाना, हाथ से काग़ज़ बनाना आदि हैं।

योजना में परिवार नियंत्रण – फ़ैमिली प्लानिंग–पर काफ़ी ज़ोर दिया गया है। विवाहित नारी और पुरुषों की इस विषय की शिक्षा के लिये दवाख़ाने और शिक्षा-केन्द्र खोले जायेंगे। परिवार को सीमित रखना देश के लिये हितकर है।

पिछले कई वर्षों से हमारी पूंजी का अधिकांश और स्टर्लिंग बैलेंस का आधे से अधिक भाग विदेशी खाद्यान्न मँगाने में ख़र्च हो रहा है। इसी धन से हम विदेशों से मशीनें आदि मँगा सकते थे। अन्न की अभियाचना कम करने में नारी ज़रूर हाथ बटा सकती है।

इस योजना पर २,०६६ करोड़ रुपया ख़र्च होगा। विदेशी ऋण न मिलने पर करों, घाटे के बजट और ऋणपत्रों की बिक्री से यह ख़र्च निकालना पड़ेगा। हमारी नारियाँ राष्ट्रीय बचत-सप्ताह मनायें और नेशनल सेविंग सर्टिफ़िकेट बेचें। इस अल्प बचत से हम न केवल राष्ट्र की मदद करते हैं बल्कि साथ ही हम अपनी और परिवार की मदद भी करते हैं।

किसी भी योजना के लिये यह आवश्यक है कि उसका प्रचार हो और लोग उसे समझें। इस कार्य में नारियां समुचित योग दे सकती हैं।

—नागपुर से प्रसारित



भारतीय नास्तिकवाद

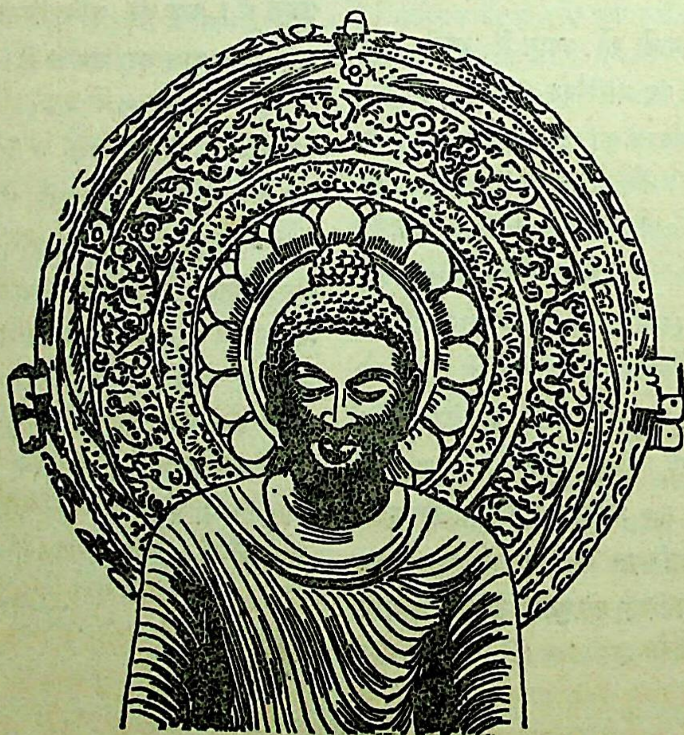
रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री

नास्तिक शब्द का अर्थ पाणिनीय व्याकरण के अनुसार है 'जो परलोक को न माने अथवा जिसे ईश्वर की सत्ता में विश्वास न हो'। मनु आदि आर्य आचार-शास्त्रियों ने नास्तिक शब्द की व्यापकता को और आगे बढ़ा कर यहाँ तक व्यवस्था दी है कि —

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥

अर्थात् जो द्विज होकर तर्कों का सहारा लेकर आर्य-धर्म के मूलस्वरूप वेदों अथवा श्रुतियों को अमान्य करते हैं, झूठा बतलाते हैं, वे सभी वेदनिन्दक, नास्तिक हैं। ऐसे लोगों के साथ आर्यों को कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये, अर्थात् आर्यों को सब प्रकार से उनका सामाजिक बहिष्कार करना चाहिए।

यह तो हुआ प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण। किन्तु आज साधारणतया समूचे संसार में ईश्वर पर विश्वास करने वालों को आस्तिक और अविश्वास करने वालों को नास्तिक कह दिया जाता है।



भारतीय नास्तिक विचारधारा परम प्राचीन है। कदाचित् वेदों एवं उपनिषदों के काल में भी इस प्रकार की शंका वर्तमान थी कि क्या सचमुच इस संसार का कोई बनानेवाला है, अथवा इस शरीर के छूट जाने पर जीवात्मा का कुछ होता है और इस लोक के अनन्तर क्या दूसरा भी कोई लोक है ?

उपनिषदों अथवा वेदों की परम्परा में बँधे हुए अथवा आस्तिक दर्शनों की आधारभूमि में आत्मा, परमात्मा, परलोक तथा अभौतिक तत्त्वों पर विचार किया गया है। यद्यपि उनमें परस्पर कुछ न कुछ मतभेद पाया जाता है, किन्तु मूलतः इन वस्तुओं से इन्कार करके कोई आस्तिक दर्शन नहीं चला है। फलतः नास्तिक

दर्शन इन चारों वस्तुओं में से किसी न किसी से इन्कार करके ही चलता है। यदि कोई आत्मा एवं भौतिक पदार्थों की सत्ता दोनों से इन्कार करता है तो कोई भौतिक पदार्थों को ही सब कुछ मान कर आत्मा नाम की वस्तु की सत्ता से इन्कार करता है। नास्तिक दर्शन छः प्रकार के हैं—चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार सौत्रांतिक, वैभाषिक और दिगम्बर।

चार्वाक नास्तिकों का अग्रणी है। वह आत्मा को नहीं मानता, फलतः परमात्मा और परलोक की भी आवश्यकता उसे नहीं पड़ती। वह पूर्णतः भौतिकवादी अर्थात् जड़वादी है। उसका संक्षिप्त मत इस प्रकार है—ईश्वर नहीं है, आत्मा नहीं है, पुनर्जन्म और परलोक कुछ भी नहीं हैं। यह हमारी स्थूल देह ही आत्मा है। इस देहनाश के बाद आत्मा का भी नाश हो जाता है। जीवन के सभी सुख और आनन्द भोगने के लिये हैं, त्यागने के लिये नहीं। अनुभव और बुद्धि को सत्य की खोज में लगा कर देखा जाय तो यही सिद्धान्त स्थिर होते हैं, आदि आदि।

जीव और चेतना को चार्वाक भौतिक मानता है। पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि ये चार भूत हैं, इन्हीं के संयोग से चेतना अथवा जीवन उत्पन्न हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उपयोगी सामग्रियों के संयोग से शराब की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। सृष्टि का यह विशाल रूप इसी प्रकार समुद्भूत हुआ है, इसके लिये किसी निर्माता अथवा विधाता की आवश्यकता नहीं। अग्नि की उष्णता, जल का ठंडापन, वायु की शीतलता—ये सब किसी की कृपा के फल नहीं हैं, प्रत्युत स्वभावसिद्ध हैं। समूचे विश्व की यह सृष्टि स्वभाव से ही इसी प्रकार होती आ रही है। न स्वर्ग है, न अपवर्ग, न परलोक और न परलोक में जाने वाला आत्मा। वर्ण और आश्रम आदि सभी ढकोसले हैं। अग्निहोत्र और वेदादि सब उन लोगों ने बना रखे हैं, जिनमें पौरुष नहीं है और जो इन्हीं के भरोसे अपनी जीविका चलाना चाहते हैं। यदि यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग चला जाता है तो फिर यजमान अपने पिता को मार कर स्वर्ग क्यों नहीं भेजता? श्राद्ध यदि मरे हुए प्राणियों को तृप्ति पहुँचाता है तो लम्बी-लम्बी यात्राएं करने वाले लोग व्यर्थ ही रास्ते का खर्च अथवा पाथेय ढोने का कष्ट उठाते हैं? यदि यह जीव शरीर से निकल कर परलोक जाता है, तो फिर आत्मीय जनों के वियोग से व्याकुल होकर वापस क्यों नहीं लौट आता? मृतकों के श्राद्धादि ब्राह्मणों की जीविका के आधार हैं, इनसे वस्तुतः कुछ भी होता-जाता नहीं। संसार के जितने सुख हैं, उनको भोगना चाहिये, ऋण लेकर भी घी खाना चाहिये, शरीर जब भस्म हो जायेगा तो फिर ये सुख कहाँ मिलेंगे? विषयों के संसर्ग से होने वाला सुख इसलिए नहीं उठाना चाहिए कि उसमें दुःख मिला रहता है—यह विचार मूर्खों का है। भला ऐसा कौन सा बुद्धिमान् होगा जो बढ़िया चावल वाले धान को भूसी के कारण फेंकेगा?

चार्वाक के इन सिद्धान्तों में से किसी न किसी की छाया समस्त भारतीय नास्तिक दर्शनों में है। किन्तु दूसरे नास्तिक दर्शनों में भौतिकवाद सम्बन्धी चार्वाक की मान्यताओं को प्रश्रय नहीं दिया गया। बुद्धमत आत्मवाद का उसी प्रकार विरोधी है जिस प्रकार चार्वाक, किन्तु वह भौतिकवाद का भी विरोधी है। बुद्ध समझते थे कि भौतिकवाद उनके ब्रह्मचर्य और समाधि का भी विरोधी होगा। बुद्ध दर्शन घोर क्षणिकतावादी है, किसी वस्तु को वह एक क्षण से अधिक ठहरने वाला नहीं मानता। संसार के पदार्थ तीन श्रेणियों में आते हैं—स्कन्ध, आयतन और धातु। स्कन्ध पाँच हैं, आयतन बारह हैं और धातु अठारह हैं। विश्व की सारी वस्तुएँ

स्कन्ध, आयतन और धातु इन तीनों में से किसी न किसी प्रक्रिया में बाँटी जा सकती हैं। ये सभी अनित्य और क्षणिक हैं। बौद्ध दर्शन एक वस्तु के विनाश के बाद दूसरी की उत्पत्ति मानता है। आत्मा का अस्तित्व भी बुद्धमत स्वीकार नहीं करता। वह कहता है, 'यह जो विश्वास है कि आत्मा अनुभवकर्ता है, अनुभव का विषय है, और यत्र-तत्र भले-बुरे कर्मों के विषयों को अनुभव करता है, नित्य है, ध्रुव है, अपरिवर्तनशील है-वह मूर्खों का धर्म अथवा विश्वास है। रूप अनात्मा है, वेदना अनात्मा है, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान सब के सब अनात्मा हैं।'

अनीश्वरवादिता भी बुद्धमत की नास्तिकता का प्रमुख लक्षण है, यद्यपि चार्वाक की तरह स्पष्टरूप से उसका प्रतिपादन नहीं किया गया। बुद्ध के व्याख्यानों में ईश्वर, विधाता अथवा ब्रह्मा के सम्बन्ध में जो परिहासपूर्ण टिप्पणियाँ दी गई हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि ईश्वर अथवा ब्रह्मा जैसे पदार्थ की सत्ता में वैदिकों की भाँति बुद्ध की आस्था नहीं थी। बुद्धमत में दस बातें अकथनीय बताई गई हैं। वे ऐसी बातें हैं, जिनके सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट न होने से बहुत से लोगों को भ्रम भी हो जाता है। संसार सृष्ट है या अनादि, ईश्वर है वा नहीं, पुनर्जन्म होता है या नहीं—इन बातों के सम्बन्ध में कई वार अपने शिष्यों की उठती जिज्ञासा को तथागत ने यह कह कर शान्त किया है कि 'इनके सम्बन्ध में कुछ कहना सार्थक नहीं है, भिक्षुचर्या एवं ब्रह्मचर्यादि के लिए भी उपयोगी नहीं है, और न वैराग्य, शान्ति, परम ज्ञान और निर्वाण के लिये ही इनका जानना आवश्यक है। इन सब के जानने में अज्ञों को डर लगेगा। बौद्ध मत में प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणों के सिवा तीसरे प्रमाण की मान्यता नहीं है। विचार-स्वातन्त्र्य बुद्धमत की ऐसी विशेषता थी कि तथागत के निर्वाण के अनन्तर जितनी अधिक स्वच्छन्दता उनके अनुयायियों ने अपनायी उतनी अन्य धर्मप्रवर्त्तकों के अनुयायियों ने नहीं अपनायी। निर्वाण बुद्धमत का परम लक्ष्य है। निर्वाण का अर्थ है, बुझना; दीपक या आग का जलते-जलते बुझ जाना। जीवन-प्रवाह का अत्यन्त विच्छेद ही निर्वाण है।

माध्यमिक और योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक, ये चारों नास्तिक मत बौद्धमत के ही अंतर्गत आ जाते हैं, साधारणतः जिन्हें नास्तिक कहा जाता है। माध्यमिकों को शून्यवादी भी कहा जाता है। योगाचार का दूसरा नाम है विज्ञानवाद। माध्यमिक और योगाचार दोनों बुद्धमत की एक शाखा, महायान से सम्बन्ध रखने वाले हैं, जबकि सौत्रान्तिक और सर्वास्तिवाद बुद्धमत की दूसरी शाखा हीनयान से सम्बन्ध रखते हैं।

इनके अतिरिक्त भारतीय नास्तिकवाद की श्रेणी में सबसे अन्त में जैन धर्म को लिया जा सकता है। सबसे अन्त में इसलिये कि उसे नास्तिकों की श्रेणी में रखना बहुत उचित नहीं है। जैन धर्म भी इस संसार के बनानेवाले ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। जैन धर्म के अनुसार ईश्वर उस आत्मा अथवा रूह का नाम है जो वीतराग, निर्मल, सर्वज्ञ और केवलज्ञान प्राप्त है। इसी को ईश्वर, महादेव और अरहन्त देव भी कहते हैं। ऐसे देव संसार के बनाने वाले नहीं हो सकते, क्योंकि इतने बड़े संसार की रचना करने के लिये इच्छा का होना अनिवार्य है, जबकि वीतराग ईश्वर में किसी राग-द्वेष का होना असम्भव है। ईश्वर का यह पद हम मनुष्य भी अपनी साधना द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। जब उच्च साधना द्वारा किसी मनुष्य के समस्त दोषों का क्षय हो जायगा, तब वह ईश्वरपद की प्राप्ति कर लेगा। वही केवलज्ञान प्राप्त होने पर लोगों को धर्मोपदेश करने का अधिकारी है। वह इस संसार से शरीर को छोड़ कर सिद्ध बन शिव

लोक को जायेगा। ऐसे ही सिद्ध पुरुष जैनों के तीर्थंकर हैं। इनका इस संसार में अवतार नहीं होता; हाँ वे दूसरे तीर्थंकर भले हो सकते हैं।

किन्तु जहाँ ईश्वर और संसार की रचना के सम्बन्ध में जैन धर्म का यह विश्वास है, वहीं उसके कठोर संयम और साधना का पथ अत्यन्त दुर्गम है। उसका भक्ति-मार्ग आस्तिक कहे जाने वालों की स्पर्धा की वस्तु है। जहाँ आस्तिक भक्ति का आधार कुछ न कुछ इच्छा या वासना को स्वीकार करना पड़ेगा, वहीं जैनी भक्ति नितान्त निरीह एवं वासनाविहीन है। जैनी जिन-देव से कुछ भी नहीं चाहता, क्योंकि जिन-देव तो मुक्त हैं, सब प्रकार के कर्मों एवं अकर्मों से मुक्त हैं। संसार के कार्य-जंजालों से उनका कोई सरोकार नहीं है। पूजा के समय जल, गन्ध, चावल, धूप, फल, फूल आदि वस्तुओं को जैनी इस भाव से चढ़ाता है कि हे 'भगवन्! हम इन वस्तुओं को आप को अर्पण करते हैं, जिससे हम भी इनमें उसी प्रकार आसक्ति छोड़ देने के योग्य हो जायँ, जैसे कि आपने इन्हें त्याग दिया है।'

इस प्रकार यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को स्वीकार न करने पर भी जैनधर्म को नास्तिकवाद की संज्ञा देना समीचीन नहीं है, क्योंकि इस बात को छोड़कर आस्तिक सनातन अथवा आर्य धर्म की अन्यान्य मुख्य बातें इसमें मिलती-जुलती हैं। जैनों की अहिंसा कट्टर आस्तिक वैष्णवों की अहिंसा से ऊँची है और उनकी साधना की समानता करने की क्षमता कम ईश्वरवादियों की साधना में है। आज के विज्ञान-युग में जैन मुनियों की कठोर जीवनयापन की चर्चा भले मनोरंजन की सामग्री बने, किन्तु वह जैनधर्म की उदाराशयता का ज्वलन्त उदाहरण है। यही कारण है कि जैनियों का आज के प्रबुद्ध हिन्दुओं से उतना दूर का नाता नहीं रह गया है, जितना पहले था। पहले जहाँ यह घोषणा हमें सुनाई पड़ती थी कि—

'हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्'

अर्थात्, पागल हाथी भी यदि पीछे से खदेड़ रहा हो तो समीपस्थ जैन मन्दिर में मत जाओ, हाथी के विकराल मुँह में भले ही जाओ—वहाँ आज हिन्दुओं और जैनों का पारिवारिक सम्बन्ध धड़ल्ले से होता है। आस्तिकों और नास्तिकों की भावधारा के बीच दोनों मतों की समान प्रवृत्तियों ने सेतु बाँध ही दिया है।

—इलाहाबाद से प्रसारित



देलवाड़ा

जैनेन्द्रकुमार

देलवाड़ा देवल से बना है। देवल का अर्थ है मन्दिर। संस्कृत में उसका उल्लेख देवकुल-पारक के रूप में है; पारक, अर्थात् पाडा या बाड़ा। देलवाड़ा उसी का देशज रूप है।

ये मन्दिर आबू पहाड़ की चोटी पर बने हुए हैं, जो दिल्ली और बम्बई के रास्ते पर ठीक बीच में है—८२९ मील दूर बम्बई से और ८२४ मील दूर दिल्ली से। आसपास चारों ओर उसकी जितनी ऊँची कोई पहाड़ी भी नहीं है। आबू पर पहुँच कर नीचे फैली वनश्री का अद्भुत अनुभव होता है मानो सब शोभा और श्री आपके चरणों में हो और आप स्वयं लोकोत्तर अलिप्त वीतरागता के चरणों में। असल में भारत देश की यह विशेषता है। उसकी अपनी निजता ही यह है। उसके पास जो महिमामय है, जो ऐश्वर्ययुक्त है, जो कुछ भी उत्कृष्ट एवं सारवान् है, मानो वह समर्पित है। धर्म के उपलक्ष्य से ही वह है। मानव का गर्विष्ठ भाव नहीं, उसका प्रणतभाव वहाँ प्रतिष्ठित हुआ है। यहाँ प्रासाद इतने ऊँचे नहीं हैं, न दुर्ग; मूर्धन्य स्थान यहां सदा मन्दिरों को मिला है। गिरि-मालाओं के ऊँचे-ऊँचे शीर्षों पर जहाँ भारत का पुरुष पहुँचा है वहाँ उसने अपना विजयध्वज गाड़ने में कृतार्थता नहीं मानी, बल्कि परम आह्लादभाव में महामहिम के समक्ष उसने अपना मस्तक टेका है।

आबू के मन्दिरों का वैभव, उसका शिला-सौन्दर्य, उसके स्थापत्य की विशिष्टता, कला का औदार्य, और कारीगरी की बारीकी कहीं किसी से पीछे नहीं है। जगत् में उन्हें बेजोड़ कहा जा सकता है। लेकिन यह समूचा सौन्दर्य वहाँ दर्प में उद्धत नहीं है, वरन् अर्चना में विनत है। ऐसे वह द्विगुणित सौम्य हो उठा है। ताजमहल को भी कोई कम सुन्दर नहीं माना जाता। पर एक ओर यदि भक्ति की शुद्धता है तो दूसरी ओर कदाचित् विलास की कमनीयता।

आबू सभी के लिये यात्रा का धाम है। वहाँ छोटे-बड़े बत्तीस तीर्थस्थल हैं, जिनमें जैन, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सभी उपासनाओं का समावेश है। पर आबू पर्वत मशहूर है जैन मन्दिरों के लिये, जिनमें दो विशेष प्रधान हैं—एक विमलवसही, दूसरा लुणवसही।

पहले मन्दिर का निर्माण विमल मन्त्री ने कराया। वे प्रथम भीमदेव के सेनापति और मन्त्री रहे थे। विमलवसही का निर्माण विक्रमी ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ। बात यों हुई कि विमल मन्त्री के कोई उत्तराधिकारी पुत्र नहीं था। एक रोज़ जब वे कुछ उन्मने से बैठे थे तो उनकी पत्नी ने उनसे पूछा :—

"आप चिन्तित दीखते हैं, क्या बात है?"

विमल ने कहा—"चिन्तित तुम्हारे ही लिये हूँ। तुम्हारी गोद में पुत्र नहीं है न।"

श्रीमती जी ने कहा, "इसमें खेद की क्या बात है? पुत्र सदा सुपुत्र नहीं होते। कुपुत्र से तो पुत्र न होना ही भला है। और मेरे मन में तो पुत्र से भी अधिक एक दूसरी इच्छा है।"

विमल ने पूछा, "वह क्या इच्छा है?"

श्रीमती जी ने कहा—"यह पहाड़ देखते हो कितना ऊँचा है। इसके शिखर पर मन्दिर बनवाया जाय तो धर्म की कितनी सेवा हो। युग-युग तक यह कायम रहे, दूर दूर से लोग आयें, दर्शन करें और शान्ति पायें। मेरे लिये वही

पवित्र सुख होगा। पुत्र का सुख उसके आगे भला क्या है ?"

विमल पत्नी की बात सुन कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—"प्रिये ऐसा ही होगा।" बस, विमल मन्त्री पूरे योग और निष्ठा से मन्दिर के निर्माण में लग गये। दूर-दूर से कलाकारों को बुलाया और देख-भाल कर पर्वत पर जगह निश्चित की।

जगह देख-भाल कर निश्चित कर तो ली गई, पर उस पर स्वामित्व कुछ ब्राह्मणों का था। मन्दिर के लिये उसे छोड़ने को वे तैयार न थे। विमल चाहते तो सत्ता के ज़ोर से ज़मीन ले सकते थे। लेकिन लोगों को त्रास देकर उस पर की गई रचना तो पवित्र नहीं हो सकती थी। इससे उन्होंने तय किया कि ज़मीन के मालिकों को पूरी तरह सन्तुष्ट किया जायगा। ब्राह्मणों ने कहा पहले स्वर्ण-मुद्रायें सारी ज़मीन पर बिछाओ; तब उस रक़म में ज़मीन ले सकते हो।

विमल ने वैसा ही किया। उल्लेख मिलता है कि धरती कहीं पर खाली-खुली न रहे, इस लिये विमल ने स्वर्ण-मुद्रायें चौकोर बनवाईं। उनको सटा-सटा कर धरती को पूर दिया गया। उस पर जो मन्दिर बना उसमें कुल अठारह करोड़ तिरेपन लाख रुपया लगा। सं० १०८८ में मन्दिर पूरा हुआ और उसमें जैनों के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई।

मन्दिर में गर्भगृह, गूढ़ मण्डप, नव चौकियां, रंग मण्डप, बावन जिनालय और एक सौ इक्कीस स्तम्भ हैं। हर जगह अनुपम कारीगरी का काम और गुम्बदों तथा दीवारों पर ऋषभ देव तथा दूसरे तीर्थंकरों के जीवन से सम्बन्धित चित्र संगमरमर पर हैं। चित्रों को पूरे सहस्र वर्ष हो गये पर आज भी बोलते से मालूम होते हैं।

सं० १३६८ में अलाउद्दीन ख़िलजी ने जालोरे पर चढ़ाई की। वहां से लौटते हुए रास्ते में इस मन्दिर को खण्डित किया। उसके बाद सं० १३७८ में मण्डोर के लाखनसिंह आदि भाइयों ने इसका पुनरुद्धार किया।

दूसरा मन्दिर लुणवसही वस्तुपाल-तेजपाल ने बनवाया। ये दोनों सगे भाई थे और आस-राज के पुत्र थे। यह तेजपाल के पुत्र लावण्य-सिंह अथवा लुणसिंह की स्मृति में बनवाया गया; इससे इसका नाम लुणवसही पड़ा। वस्तु-पाल और तेजपाल दोनों ही बड़े योग्य, बुद्धिमान् और विद्वान् थे। उनके रचे हुए और उनके अपने हाथ के लिखे हुए ग्रन्थ आज भी जैन भण्डारों में उपलब्ध हैं। दोनों भाई धीरधवल के मन्त्री थे। उस समय भीमदेव द्वितीय गुजरात के अधिपति थे और धीरधवल युवराज। इस मन्दिर पर बारह करोड़ त्रेपन लाख रुपया ख़र्च हुआ।

ये भाई श्रद्धा से स्वयं जैन होते हुये भी सर्वधर्म-समभावी थे। उन्होंने उसी चाव से मातेश्वर मन्दिर, ब्रह्मशाला, वापो, तालाब, दानशाला, धर्मशाला, मन्दिर, मस्जिद आदि भी बनवाये। इस प्रकार सत्र-निर्माण में उन्होंने तीन अरब चौरासी लाख अठारह हज़ार रुपये ख़र्च किये।

आबू का मन्दिर सं० १२८७ में तैयार हुआ और तभी प्रतिष्ठा हुई। पीछे आस-पास जिना-लयों की जैसे-जैसे रचना हुई उनकी प्रतिष्ठा होती गई। इस प्रकार १२८७ से १२९७ तक दस वर्ष के काल में सर्वांग मन्दिर प्रतिष्ठित हो सका। अनुमान है कि यह मन्दिर कुल मिलाकर बीस वर्ष में सम्पूर्ण हुआ।

मन्दिरों की दीवारों पर, गुम्बदों और गवाक्षों में सब जगह भावचित्र उत्कीर्ण हैं। पहले मन्दिर में अधिकांश ऋषभदेव, चक्रवर्ती भरत और बाहुबलि के जीवन सम्बन्धी भावचित्र हैं।

इसी भाँति दूसरे मन्दिर में भी चारों ओर तरह-तरह के आख्यान पत्थर की सफ़ेदी में खुदे हुए हैं। यहाँ की कारीगरी अपेक्षाकृत अधिक मनोरम और सुगम है।

वस्तुपाल-तेजपाल ने मन्दिर तो बनवाया ही, उसकी व्यवस्था का भी पूरा ध्यान रखा।

उन्होंने उसके लिए एक ट्रस्ट बोर्ड की व्यवस्था की और एक अच्छी स्थायी धनराशि नियत की।

अलाउद्दीन खिलजी ने पहले मन्दिर के साथ इसको भी खण्डित कर दिया था और पीछे विमलवसही के साथ ही इसका भी उद्धार किया गया।

यों यह मन्दिर विमलवसही के अनुकरण पर बना है, फिर भी दोनों में बहुत अन्तर है। वस्तुपाल-तेजपाल के मन्दिर में शिल्प-सौन्दर्य की बारीकी कही जा सकती है, लेकिन विमलवसही में उकेरे गये कथाचित्र अत्यन्त जीवन्त प्रतीत होते हैं। ये दोनों मन्दिर मिलकर भारतीय कला का उत्कृष्ट नमूना उपस्थित करते हैं। जैन-परम्परा को तो उन्होंने महिमान्वित किया ही है, भारतीय कला को भी संसार में बहुत ऊँचा मान दिलाया है। जिन शिल्पियों ने मानव-जीवन की बहुविध लीला और कला को पत्थर में उतार कर संसार में अमर बनाया है, उन सब के नाम यद्यपि ज्ञात नहीं हैं, पर वे निश्चय ही भारत के प्रेम और सम्मान के पात्र हैं।

किन्तु ये मन्दिरों के महान् निर्माता अपने गर्व में फूले हुए न थे, न अपनी धर्म-श्रद्धा में एक दम बेमान थे। उनका और कारीगरों व मज़दूरों का सम्बन्ध केवल मालिक-नौकर का न था, बल्कि आत्मीयता का था। और इस परम-तीर्थ के अनुपम मन्दिरों के मूल में बेगार का श्रम नहीं बल्कि सहृदयता का प्रेमपूर्ण सहयोग था। तभी उनकी भव्यता इतनी सौम्य और मनोहारी है।

मुख्य दो मन्दिरों के पूरे हो जाने पर श्रमिक सहयोगियों ने कहा—आपका मन्दिर तो हो गया, अब हमारा भी एक मन्दिर होगा; उसमें हम अपने श्रम का मूल्य नहीं लेंगे। पत्थर आप के पास है ही, शिल्प और श्रम अपनी ओर से देकर हम मन्दिर को खड़ा करेंगे। इस प्रकार तीसरे मन्दिर का निर्माण हुआ जो कडियानु मन्दिर कहलाया।

कौन है जो विदेशों से भारत आता है और इन मन्दिरों के दर्शन कर चमत्कृत नहीं हो जाता? पहला उल्लेख इस सम्बन्ध में कर्नल टॉड का मिलता है। यहाँ आकर और मन्दिर के शिखर को देखकर उसने अपनी पुस्तक में लिखा है :—"शीतला माता के घाट से चला तब दोपहर हो गया था। उसी समय आबू की चोटी दृश्यमान हुई और मेरा हृदय आनन्द से भर गया और पुराण के उस ऋषि की तरह मैं अनायास कह उठा "मैं पा गया, मैं पा गया!"

—दिल्ली से प्रसारित



भारत की पुरानी राजनीति

कैलाशचन्द्र देव 'बृहस्पति'

संस्कृत साहित्य एवं भारत के प्राचीन इतिहास से अपरिचित व्यक्ति ही नहीं, अनेक सुशिक्षित व्यक्तियों की भी यह धारणा देखी जाती है कि संस्कृत वाङ्मय में प्रधानतया पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक इत्यादि से सम्बद्ध विचार हैं, क्योंकि प्राचीन भारतीय मुख्यतया आध्यात्मिक विचारों में निमग्न रहते थे; सांसारिक विषयों में न उनकी रुचि थी और न वे जीवन के लौकिक पक्ष को महत्त्वपूर्ण समझते थे। परन्तु यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है।

राजनीति को ही लीजिए, इस अर्थ में भारतीय पण्डित 'दण्डनीति' शब्द का प्रयोग करते थे। आचार्य शुक्र का तो मत है कि दण्डनीति ही एकमात्र विद्या है, क्योंकि यही अन्य सभी विद्याओं के आरम्भ और स्थिति का कारण है। अन्य नीतिकारों ने भी कहा है कि शस्त्रों द्वारा रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र-चिन्तन की ओर प्रवृत्ति होती है।

आचार्य बृहस्पति 'वार्ता' अर्थात् कृषि, व्यापार आदि विषयों तथा दण्डनीति को विद्या मानते हैं। 'त्रयी' अर्थात् पारमार्थिक विषय तथा वैदिक ज्ञान तो इनके मत में नास्तिकता से बचने का साधन मात्र है। कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि दण्डनीति ही अन्य तीनों विद्याओं का मूल है और दण्डनीति का शास्त्रज्ञानपूर्वक प्रयोग ही समस्त जीवों के योग और क्षेम का हेतु है।

आज से कुछ शताब्दियों पूर्व पाश्चात्य राजनीतिज्ञों ने शासन संस्था के विकास से सम्बद्ध जिन अनुमानों की स्थापना की है, प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में वे अनुमान निश्चित विचारों के रूप में प्राप्य हैं।

प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् लॉक ने कहा है कि प्रारम्भिक अवस्था में मानव समाज स्वतंत्रतापूर्ण एवं समतामय जीवन बिताता था और समाज का परिचालन प्राकृतिक नियमों के अनुसार होता था। रूसो के विचार में भी आरम्भिक मानव समाज सत्ययुग में था और किसी भी प्रकार के उत्पीड़न से मुक्त था। महाभारतकार एवं कौटिल्य का भी यही कहना है कि आरम्भिक काल में न राज्य था, न राजा; न दंड था, न दंडधर। उस युग में केवल कर्त्तव्यबुद्धि से प्रेरित होकर ही प्रजाजन परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते थे।

बाद में यह स्थिति न रही। धीरे धीरे लोग मार्गभ्रष्ट हुए, सबल निर्बलों को सताने लगे। महाभारत का कथन है कि 'मात्स्य न्याय' से पीड़ित होकर प्रजा ने वैवस्वत मनु को अपना राजा बनाया और उसे अपनी उपज का छठा एवं अन्य आय का दसवाँ भाग देना निश्चित किया। कौटिल्य ने भी शासन की उत्पत्ति का यही कारण माना है। मनु का कथन है कि अराजकता के कारण लोक के भयत्रस्त हो जाने पर प्रभु ने मानव समाज की रक्षा के लिये राजा की सृष्टि की। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार देवासुर-संग्राम में हारे हुए देवताओं ने अपनी पराजय का कारण अपनी राजहीनता को मान कर अपने लिये राजा चुनने का विचार किया। मात्स्य न्याय के कारण प्रजाजनों के द्वारा राजा का निर्वाचन पाश्चात्य विचारक हॉब्स भी मानता है।

समाज का प्रारम्भिक अवस्था में राजहीन

होना तथा परिवार की अध्यक्षता का विकसित होकर राजसत्ता में परिवर्तित हो जाना अथर्व वेद से सिद्ध है। राजा, सभा, समिति, तथा राजा के निर्वाचन आदि का वर्णन वेदों में अनेक स्थानों पर है। आनुवंशिक शासन की प्रथा का उद्भव चिरकाल के पश्चात् हुआ।

वैदिक वाङ्मय के अनुसार उस युग में प्रजा के द्वारा अपने प्रतिनिधियों की समिति के निर्वाचन का अस्तित्व सिद्ध है। वह कुछ-कुछ आजकल की विधान-परिषद् जैसी होती थी। वैदिक काल में 'सभा' नामक एक संस्था का भी अस्तित्व था। कुछ इतिहास-विशारदों के अनुसार यह 'सभा' ही उस युग का 'मंत्रिमण्डल' थी।

ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में 'सभा' और 'समिति' को प्रजापति की पुत्रियाँ बताया गया है। मतभेद-हीनता और विचारों की समानता इन दोनों संस्थाओं में अनिवार्य समझी जाती थी। सदस्यगण के द्वारा राजा का निर्वाचन, पदच्युति, पुनर्निर्वाचन इत्यादि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में वर्णित है। 'सभा' और 'समिति' की इच्छा के समक्ष राजा भी नतमस्तक होने के लिए विवश था।

यद्यपि आनुवंशिक राजपद का वर्णन ऋग्वेद में भी मिलता है, परन्तु राजा का उत्तराधिकारी विनय, नियमबद्धता, इन्द्रियदमन, वृद्धोपसेवा, विद्याप्राप्ति, सुसंगति, सत्यवादिता, धर्मप्रियता इत्यादि गुणों से विभूषित होने पर ही राजा बन सकता था और किसी के राजपद पर अभिषिक्त होने के लिये वैदिक काल में 'सभा' तथा 'समिति' की और रामायणकाल तथा महाभारतकाल में 'पौरजानपद' संस्थाओं की स्वीकृति अनिवार्य होती थी। मनु, व्यास, शुक्र, बृहस्पति तथा कौटिल्य आदि नीतिकार राजा के लिए इन्द्रियदमन आवश्यक गुण मानते हैं तथा मदिरापान, विलासिता एवं द्यूत का कठोर शब्दों में निषेध करते हैं। इस समस्त गुणसमुदाय के अतिरिक्त राजा के लिए यह आदेश था कि वह अपने समीपवर्ती व्यक्तियों को प्रत्येक दृष्टि से उत्तम बनाए।

श्रीमद्भागवत, महाभारत, मनुस्मृति तथा रघुवंश में प्रजारंजन के कारण ही राजा को 'राजा' कहा गया है। महाभारत के अनुसार राजा में कर्त्तव्यबुद्धि के विराजित होने के कारण उसे राजा बताया गया है। यदि राजा प्रमादवश अन्याय करे तो उसे भी दण्डित करने का विधान कौटिल्य ने बताया है। कौटिल्य के अनुसार राजा भी अन्य कर्मचारियों की तरह वेतनभोगी है। बृहस्पति का मत है कि राजा लोकमत के विरुद्ध धर्माचरण भी न करे।

ऐतरेय ब्राह्मण में आठ प्रकार के शासन विधानों का उल्लेख है और उन प्रदेशों का निर्देश है जो इन शासन विधानों द्वारा शासित होते थे। इन विधानों के नाम क्रमशः साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, राज्य, पारमेष्ठ्य, माहाराज्य तथा आधिपत्य हैं। शुक्रनीति में सामन्त, मांडलिक, राजा, महाराज, स्वराज्य, सम्राट्, विराज और सार्वभौमिक इन आठ प्रकार के शासन विधानों का वर्णन है।

महाभारत के अनुसार शासक का कर्त्तव्य है, कि वह चार विद्वान् ब्राह्मणों, इक्कीस धनी वैश्यों, तीन विनयी एवं आचारवान् शूद्रों, आठ क्षत्रिय वीरों तथा पुराणों के पण्डित एक सूत को अपना मन्त्री बनाये। इस मन्त्रिमण्डल में किसी भी मन्त्री की आयु पचास वर्ष से कम न होनी चाहिए। समस्त मन्त्रिमण्डल का निर्भय, समदर्शी, विनयी, लोभरहित, व्यसनहीन तथा परनिन्दा से दूर रहने वाला होना आवश्यक है। इस मन्त्रिमण्डल में से चुने हुए आठ मन्त्रियों से मन्त्रणा करने का विधान महाभारतकार करता है।

मन्त्रियों में पुरोहित का स्थान महत्त्वपूर्ण था और उसके लिये सर्वविद्या-पारंगत, कुलीन, दण्डनीति में निपुण तथा दैवी एवं मानुषी विपत्तियों के प्रतीकार में निष्णात होना अनिवार्य था। उस समय राजपुरोहित केवल पूजा-पाठ कराने वाला व्यक्ति नहीं होता था।

कौटिल्य कहता है कि राजा उसी प्रकार पुरोहित का अनुगामी बना रहे, जिस प्रकार शिष्य, पुत्र और भृत्य क्रमशः गुरु, पिता और स्वामी के अनुगामी रहते हैं। परन्तु कौटिल्य का यह भी स्पष्ट कथन है कि राजा गुप्तचरों द्वारा पुरोहित की गतिविधि पर भी दृष्टि रखे और यदि दोष पाए तो पुरोहित को पदच्युत कर दे।

कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' संस्कृत के उपलब्ध ग्रन्थों में राजनीति का अनुपम एवं अमर ग्रन्थ है। कौटिल्य अथवा चाणक्य कोरा आचार्य ही नहीं, एक महान् साम्राज्य का प्रतिष्ठापक भी था; अतएव उसका मत सिद्धान्तमात्र ही नहीं, व्यवहृत सत्य है।

कौटिल्य के इस महान् ग्रन्थ में राज्य, शासन-पद्धति, राज्य के कार्य, अंग, राजा, मन्त्री, मन्त्रि-परिषद्, उच्चाधिकारी, पौरजानपद, स्थानीयशासन, न्याय, दण्ड, कर्मचारियों की योग्यता, सेना, युद्ध, विदेशनीति, राजकीय आय एवं व्यय इत्यादि पर प्रौढ़, गम्भीर एवं विस्तृत विचार प्रकट किये गये हैं।

नैतिक दृष्टि से कुछ लोग कौटिल्य की कूट-नीति पर आक्षेप करते हैं, परन्तु कौटिल्य की स्पष्ट घोषणा है कि सज्जनों के विरुद्ध इस नीति का प्रयोग वर्जित है।

कुछ लोग सोचते हैं कि राजनीतिक विषयों को धर्म का अंग मानकर ही भारत में उन पर थोड़ा-बहुत विचार किया गया है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि पाश्चात्य देशों में धर्म का जो संकीर्ण अर्थ माना गया है वह धर्म के उस अर्थ से सर्वथा भिन्न है, जो भारतीय विचारकों ने माना है। भारतीय दृष्टि-कोण के अनुसार 'धर्म' का अर्थ मत, सम्प्रदाय अथवा परम्पराप्राप्त विचारमात्र न होकर समाज के विभिन्न अंगों के कर्त्तव्य तथा समाज को धारण करने वाले नियम हैं। स्पष्ट है कि भारतीय की दृष्टि में धर्म का अर्थ इतना व्यापक रहा है कि जीवन का कोई भी अंग उससे बाहर नहीं जा सकता।



हे ग्राम देवता !

राम राम
हे ग्राम देवता, यथा नाम !
विजया, महुआ, ताड़ी, गांजा पी सुबह शाम।
तुम समाधिस्थ नित रहो, तुम्हें जग से न काम।
पंडित, पंडे, ओझा, मुखिया औ साधु संत
दिखलाते रहते तुम्हें स्वर्ग अपवर्ग पंथ
जो था, जो है, जो होगा सब लिख गए ग्रंथ
विज्ञान ज्ञान से बड़े तुम्हारे मंत्र तंत्र।

—पंत (इलाहाबाद)



हिन्दी में व्यंग

नलिनविलोचन शर्मा

नहिं पराग नहिं मधुर मधु,
नहिं विकास एहि काल।
अली कली ही सौं बँध्यो,
आगे कौन हवाल ॥

बिहारी की इन पंक्तियों में छिपे व्यंग्य ने कर्त्तव्य-विमुख राजा को बिना आघात पहुँचाए झकझोर कर जगा दिया था। व्यंग्य उस चाबुक की तरह है जो अगर चोट पहुँचाता है तो इसीलिए कि वह हमें सचेत करना चाहता है। व्यंग्य सचेत न करे, जगाए नहीं, सिर्फ़ चोट ही पहुँचाए, आघात ही करे तो वह व्यंग्य नहीं है, व्यंग्य सी लगने वाली वह चीज़ गाली है।

व्यंग्यात्मक रचनाओं की यह मुख्य विशेषता है कि उनमें मनुष्य के स्वभाव की दुर्बलताओं की कटु आलोचना निहित रहती है। उनका प्रधान उद्देश्य रहता है नैतिक दृष्टि से ग़लत को सही, बुरे को अच्छा और दुष्ट को साधु बनाना।

व्यंग्य-लेखक औचक में धावा बोलने की फ़िक्र में तो लगा रहता है, लेकिन वह आत्म-रक्षा की चिंता से कभी व्याकुल नहीं होता। वह जब मनुष्य की किसी स्वभावगत दुर्बलता पर चोट करता है तो उसे विजय इसलिए मिलती है कि वह आलोच्य व्यक्ति की तुलना दूसरे व्यक्ति के साथ करता है और व्यंग्य का शिकार बनने वाले व्यक्ति की हीनता स्वयं उसकी आँखों में खटकने लग जाती है।

व्यंग्य-लेखन पद्य, गल्प और नाटक के माध्यम से होता रहा है, किन्तु आधुनिक काल में, अधिकांशतः, व्यंग्यात्मक पद्य का स्थान ले लिया है पत्रकारिता ने और व्यंग्यात्मक चित्र का रूप हो गया है व्यंग्य-चित्र या कार्टून।

प्राचीन हिन्दी साहित्य में मानव स्वभाव की दुर्बलताओं पर मुक्तक रूप में, भिन्न-भिन्न कवियों के असंख्य छन्द मिलते हैं। यहाँ हम कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

गर्व मानव स्वभाव की ऐसी छिपी हुई दुर्बलता है जो अधिकार-प्राप्ति के साथ उत्कट हो जाती है। कहते हैं कि अकबर ने जब भक्त कवि कुम्भनदास को पहली बार अपने यहाँ बुलवाया तो वे ख़ुशी के साथ चले गए, पर जब दूसरी बार फिर बुलाहट आई तो ख़ुद जाने के बदले ये पंक्तियाँ भिजवा दीं :

संतन कौ सीकरी सों का काम।
आवत जात पनहिया टूटी, बिसरि गयो हरिनाम।
जिनके मुख देखत दुख उपजत, तिनकौ करिबे परी सलाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम॥

कृपणता एक ऐसी दुर्बलता है जो धनी-मानी व्यक्तियों में भी पाई जाती है। किसी कवि ने औरंगज़ेब की कृपणता पर कैसा व्यंग्य किया है यह :

तिमिरलंग लई मोल, चली बाबर के हलके,
रही हुमायूं संग फेरि अकबर के दल के,
जहाँगीर जस लियो, पीठि को भार हटायो,
शाहजहाँ करि न्याय ताहि को माँड़ पिलायो।
बलरहित भई, पौरुष थक्यो, भगी फिरत बन स्यार डर,
औरंगजेब करिनी सोई, लै दीन्हीं कविराज कर।

औरंगज़ेब ने कवि जी को हथिनी तो दी पर मरियल और बूढ़ी। इस अपमान का प्रतिशोध लिया कवि जी ने उन पंक्तियों को लिख कर

जिन्हें आपने अभी सुना।

किसी अन्य कृपण राजा ने किसी कवि को एक मरियल टट्टू देने की हिमाक़त की तो कवि ने भरे दरबार में यह छन्द पढ़ सुनाया :

घोड़ गिरयो घर बाहर ही,
महाराज कछू उठवावन पाऊँ।
ऐंड़ो परी बिच पेंड़ोई माँझ,
चलै पग एक न कैसे चलाऊँ ?
होय कहारन की जु पै आयसु,
डोली चढ़ाय यहाँ तक लाऊँ।
जीन धरौं कि धरौं तुलसी,
मुख देउँ लगाम कि राम कहाऊँ ॥

कवि बेनी बन्दीजन को जब किसी कृपण धनी ने छोटे आम उपहार के रूप में भिजवाए तो उन्होंने अप्रसन्न होकर, व्यंग्य के साथ, उन आमों के बारे में कह डाला :

ऐसे आम दीन्हे दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेरु सी लगति है।

कवयित्री प्रवीण राय ने, यह तो सुप्रसिद्ध किंवदन्ती है, इस एक ही व्यंग्य से अकबर के उचित-अनुचित के विवेक को जाग्रत कर दिया था :

बिनती राय प्रवीन की, सुनिए साह सुजान,
जूठी पातर भखत हैं, बारी, बायस, स्वान।

इस दृष्टान्त में, आप ने ध्यान दिया होगा, किस प्रकार आलोच्य की तुलना दूसरी वस्तुओं से की गई है और इस तरह उसकी हीनता उसके सम्मुख स्पष्ट प्रकट हो गई है।

कभी-कभी अपमान का अनुभव करने पर भी मनुष्य व्यंग्य करता है, किन्तु वहाँ भी उद्देश्य यही रहता है कि अपमान करने वाला सचेत हो जाए :

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के,
दान युद्ध जुरिबे में नेकु जो न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
हिये के विशुद्ध हैं सनेही साँचे उर के।
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानिया ससुर के।
चोजन के चोजी, महामौजिन के महाराज,
हम कविराज हैं पै चाकर चतुर के ॥

पूरे पैसे लेकर ख़राब चीज़ ग्राहक को देना, यह कोई नई बात नहीं है। आज हमें जब ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ता है तो हम दैनिक पत्र के सम्पादक के नाम चिट्ठी रवाना कर तसल्ली पा लेते हैं, किन्तु पुरानी और न गलने वाली दाल बेचने वाले बनिये पर कुपित कवि ने यह छन्द ही रच डाला :

खोय दियो मुजरा दरबार को,
दाल दधीचि की हाड़ भई है।

हम आजकल अक्सर ही चिकित्सकों और चिकित्सालयों की अयोग्यता और अव्यवस्था के संवाद पढ़ते-सुनते हैं। अयोग्य चिकित्सक दुर्भाग्य से हर देश और हर समय में लोगों की विवशता का लाभ उठाते ही हैं। संस्कृत में तो कहावत ही है 'शतमारी भवेद् वैद्यः'। प्रधान नामक हिन्दी के इधर के एक कवि ने एक अयोग्य और लोभी वैद्य के बारे में व्यंग्य करते हुए एक सार्वकालिक और सार्वदेशिक वास्तविकता पर ही व्यंग्य किया है :

बीस रुपैया करे कर फीस,
न देत जवाब न त्यागत द्वारहिं।
भाखैं 'प्रधान' ये वैद्य कसाई ह्वै
दैव न मारै तो आपुहि मारहिं ॥

इनके अतिरिक्त ऐसी व्यापक दुर्बलताओं पर लक्ष्य करके भी व्यंग्य लिखे गए हैं जिनका सीधा सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से नहीं है। उदाहरण के लिए, मनुष्य बड़े प्रयत्न से गृहस्थी और सुख के साधन जुटाते हैं, किन्तु वे ही उसकी चिन्ता के कारण बन जाते हैं। इस पर व्यंग्य करने के लिये 'चैत' कवि ने भगवान् शिव को व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है :

आपु को वाहन बैल बली,
बनिताई को वाहन सिंहहि पेखि के।

मूसे के वाहन है सुत एक, सु दूजो
मयूर के पच्छ विसेखि के।
भूषण है कवि 'चैत' फनिन्द के,
वैर परे सबते सब लेखि के।
तीनिहुँ लोक के ईस गिरीस सु
योगी भये घर की गति देखि के॥

प्राचीन हिन्दी साहित्य में व्यंग्य का सामान्यतः जो रूप था, उसकी एक झलक आप को मिली। आप ने देखा कि उसकी मुख्य प्रेरणा थी व्यक्तिगत क्षोभ और प्रधान उद्देश्य था कवियों के द्वारा अपने अस्त्र के सहारे अपमान का निराकरण।

आधुनिक काल में उनका व्यंग्य व्यक्तिगत न रहकर सामाजिक रूप पा जाता है और किसी एक मनुष्य की नहीं। बल्कि समूचे समाज या वर्ग की दुर्बलताओं पर आघात किया जाता है, अवश्य सुधार की कामना से प्रेरित होकर ही। इस प्रकार के व्यंग्य के आरम्भ का श्रेय भारतेन्दु को है।

सीखत कोउ न कला उदर भरि जीवत केवल।
पशु समान सब अन्न खात पीवत गंगाजल॥
धन बिदेस चलि जात तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान ह्वै रहत अकल हत रचित सकत बल।
जीवत विदेश की वस्तु लै ता बिनु कछु नहिं करि सकत।
जागो जागो अब साँवरे सब कोउ रुख तुमको तकत।

भारतेन्दु ने ही नहीं, उनके युग के और उनसे प्रभावित अन्य साहित्यिकों ने भी सामाजिक बुराइयों पर मार्मिक व्यंग्य किए हैं। बदरीनारायण चौधरी ने पाश्चात्य वेश-भूषा की नक़ल करने वालों पर, सुनियें, कैसी चोट की है :

सोहै न तो के पतलून साँवर गोरवा।
कोट बूट जाकेट कमीच क्यों पहिनि बनै बैबून,
साँवर गोरवा।
काली सूरति पर काला कपड़ा देत किए रंग दून,
साँ० गो०।
चलत चाल बिगरैल छोड़ सम बोलत जैसे मजनून,
साँ० गो०।
चन्दन तजि मुँह ऊपर साबुन काहे मलइ दुओ जून,
साँ० गो०।
चूसइ चुरुट लाख, पर लागत पान बिना मुँह सून,
साँ० गो०।
अच्छर चारि पढ़ि अंगरेजी बनि गए अफ़लातून,
साँ० गो०।

इस तरह के सामाजिक सुधार की दृष्टि से लिखे गए व्यंग्य की परिपाटी द्विवेदीयुगीन कवियों के द्वारा अपनाई गई। नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने तो इसके लिए विशेष प्रसिद्धि पाई है। कृष्ण के बहाने वे भी पाश्चात्य वेश-भूषा के अनुकरण पर व्यंग्य करते हैं :

पटकि पादुका पहिनो प्यारे,
बूट इटाली का लुफ़दार।
डालो डवल वाच पाकिट में,
चमके चेन कंचनी चार॥
रख दो गाँठ-गठीली लकुटी,
छाता बेंत बगल में मार।
मुरली तोरि-मरोरि, बजाओ
बाँकी बिगुल सुने संसार॥

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी कुछ व्यंग्यात्मक पद्य लिखे हैं; किन्तु वे अधिकतर व्यंग्य के लिये गद्य का ही प्रयोग करते थे। इस दृष्टि से सरस्वती के सम्पादकीय लेख तो अपना सानी रखते ही नहीं और उनकी चोट की तुलना चाबुक की मार से ठीक ही की गई है। पद्य में उनके व्यंग्य की तीव्रता मन्द सी पड़ जाती हैं। गाँव छोड़ कर शहर में आए हुए एक युवक के मुँह से कराए गए इस व्यंग्य को सुनिये :

सरगौ नरक ठिकाना नाहिं,
साफ कहित हैं हम ऐसेन का,
सरगौ नरक ठिकाना नाहिं।
बूड़ि मरी जा हम गंगा माँ,
तौ हत्या लागै हम काहि।
हे भगवान उबारौ हम का,
दीनदयाल धरम के नाथ।

तुम्हरे पायन माँ हम आपन,
पटकत हैं यह फुटहा माथ।

छायावाद युग के आलोचकों ने छायावादी कवियों पर कठोर व्यंग्य किए थे। इनमें आचार्य शुक्ल, पद्मसिंह शर्मा आदि प्रमुख थे। किन्तु कम से कम एक प्रमुख छायावादी कवि में व्यंग्य का उत्तर व्यंग्य से देने की असाधारण क्षमता थी। वे हैं निराला जी, जिन्होंने दूसरे विषयों पर भी गद्य-पद्य में बड़े पैने व्यंग्य किये हैं। यहाँ हम एक छोटा सा उदाहरण उपस्थित करते हैं :

फिर लगा सोचने यथासूत्र मैं भी होता—
यदि राजपुत्र, मैं क्यों न सदा कलंक ढोता
ये होते—जितने विद्याधर—मेरे अनुचर,
मेरे प्रसन्न के लिए विनत सर उद्यत कर;
मैं देता कुछ, रख अधिक, किन्तु जितने पेपर
सम्मिलित कंठ से गाते मेरी कीर्त्ति अमर,
जीवन चरित्र लिख अग्रलेख अथवा छापते
विशाल चित्र।

—पटना से प्रसारित



यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते

मनुस्मृति में लिखा है :

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

अर्थात् जहां स्त्रियों की पूजा होती है वहां देवता रमते अर्थात् वास करते हैं, और जहां स्त्रियों का अनादर होता है, वहां सब क्रियाएँ निष्फल होती हैं। यही नहीं,

शोचन्ति योषितो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥

जिस कुल अथवा परिवार में नारियाँ कष्ट पाती हैं वह शीघ्र ही नाश हो जाता है और जहां उन्हें सुख मिलता है वह कुल सदैव फलता फूलता है।

योषितो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥

आवश्यक सुख-मान न पाकर जहां स्त्रियां शाप देती हैं वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि वह निर्बल होता है।

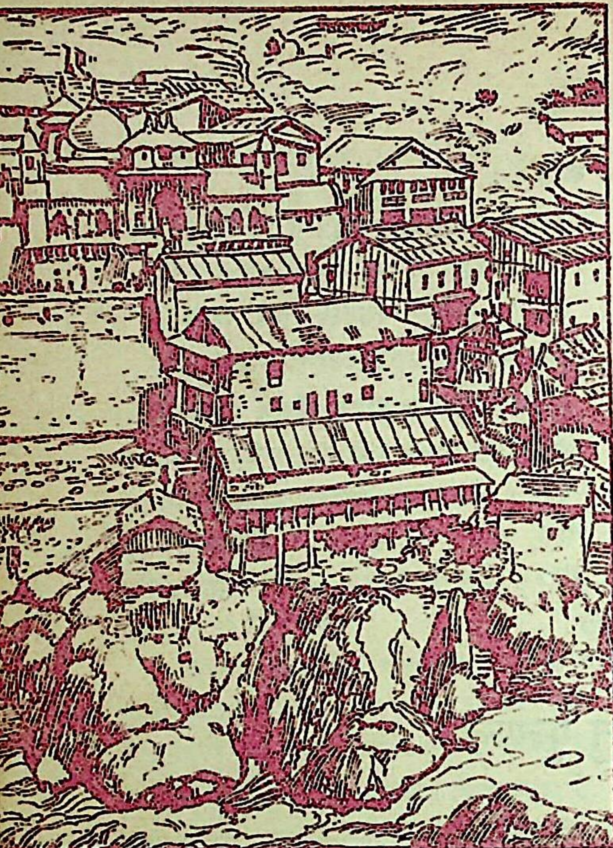
और—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

जिस परिवार में पति पत्नी प्रसन्न रहते हैं वहां कलह न होने से सुख रहता है।

स्त्री की प्रसन्नता का अत्यधिक महत्त्व है क्योंकि यदि वह प्रसन्न रहेगी तो सन्तान भी प्रसन्न, स्वस्थ एवं अच्छी होगी।

(कंचनलता सब्बरवाल लखनऊ)



बदरीनाथ

विष्णु प्रभाकर

भारत की सांस्कृतिक और भौतिक एकता की कल्पना नई नहीं है। वेदों से लेकर काव्य ग्रन्थों तक में मन्त्र-द्रष्टाओं और कवियों ने उस एकता का चित्र खींचा है। हिन्दू समूचे देश में बहने वाली सात नदियों से जब आशीर्वाद माँगते हैं :

यमुना गोदावरी नर्मदा सरस्वती कावेरी गंग।
सिन्धु साथ ले मेरे जल में सातों छोड़ें प्रीति तरंग।।

तब वे अनजाने ही इस देश की भौतिक और आत्मिक एकता का जय-घोष करते हैं।

इसी एकता को स्थायित्व प्रदान करने के लिए मानो आज से लगभग १२०० वर्ष पूर्व आचार्य शंकर ने भारत में चारों दिशाओं में अपने चार मठ स्थापित किये थे। सुदूर दक्षिण केरल प्रदेश में श्रृंगेरी मठ, उत्तर में हिमालय के शिखर पर ज्योतिर्मठ, पूर्व में समुद्रवर्त्ती उत्कल प्रदेश में गोवर्धन मठ तथा पश्चिम में गुजरात प्रदेश में अरब सागर के एक द्वीप में शारदा मठ की स्थापना कर उन्होंने इस देश की सर्वांगीण एकता का प्रतिपादन किया। ऐसा करते समय वे तीर्थयात्रा की भावना को न भूले थे। उनके ये चारों मठ चार प्रसिद्ध तीर्थों से सम्बद्ध हैं—श्रृंगेरी रामेश्वर से, गोवर्द्धन जगन्नाथ से, शारदा द्वारका से और ज्योतिर्मठ बदरीनाथ से।

ज्योतिर्मठ का यह तीर्थस्थल, बदरीनाथ, हरिद्वार से १८४ मील दूर, हिमालय की बाहरी श्रृंखलाओं में, समुद्र-तट से १४८० फुट की ऊँचाई पर, गंगा की प्रमुख धारा अलकनन्दा के दक्षिण-तट पर स्थित है। अब यह मोटर की सड़क से लगभग ४० मील दूर रह गया है। यह तीर्थ हरिद्वार से लेकर कैलास, मानसरोवर तक के सभी तीर्थों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

पुराणों में कथा आती है कि धर्मराज और श्रीमूर्ति के पुत्र नर-नारायण ने यहाँ घोर तप किया था। अलकनन्दा के बाँये और दाहिने तट के दो शिखर क्रमशः नर और नारायण के नाम से आज भी प्रसिद्ध हैं। बदरीनाथ का मन्दिर इसी नारायण पर्वत की छाया में बना हुआ है। यही नर-नारायण ऋषि, जो वास्तव में भगवान् के अवतार थे, द्वापर में अर्जुन और कृष्ण के रूप में अवतरित हुए और वे फिर यहाँ नहीं लौटे। कलियुग के आने पर बदरीनाथ भी उस प्रदेश को छोड़कर चले गये और जाते समय अपनी मूर्त्ति स्थापित करने को कह गये। तब ब्रह्मादि देवताओं ने शालग्राम शिला में बनी ध्यानमग्न चतुर्भुज-मूर्त्ति को विश्वकर्मा द्वारा निर्मित मन्दिर में स्थापित किया। इस कथा में कितना सत्य है, इतिहास कुछ नहीं बताता। प्रारम्भ में

इस तीर्थ की स्थापना किसने और कैसे की, कोई नहीं जानता। आचार्य शंकर के जीवन-वृत्त से इतना पता लगता है कि बौद्ध-काल तक यहाँ ब्रह्मा द्वारा स्थापित प्रतिमा की आराधना होती थी। न जाने कितनी बार हिम के भयंकर तूफ़ानों ने इस मन्दिर को नष्ट किया होगा और फिर संघर्षशील मानव ने श्रद्धा के बल पर पत्थरों की ये बोलती दीवारें चुनी होंगी। आज भी वर्ष में पाँच महीने यहाँ सब कुछ बर्फ़ से ढँका रहता है।

यद्यपि वर्तमान मन्दिर तीर्थ की प्रसिद्धि के अनुरूप नहीं है और न भारत के अन्य मन्दिरों की भाँति इसमें भारतीय स्थापत्य और मूर्त्तिकला का वास्तविक रूप प्रकट हुआ है, तो भी इसका प्रवेश-द्वार बहुत भव्य है।

इस मन्दिर का शिखर उत्तर भारत के शिखरमन्दिरों की नागशैली का है, जिसे शुकनासा शिखर भी कहते हैं। इसके ऊपरी छोर पर एक आमलक सरीखा कलश है। अलकनन्दा की घाटी में इसी प्रकार के मन्दिर हैं और उनका सम्बन्ध विष्णु की आराधना से है। परन्तु पास ही की मन्दाकिनी घाटी में शिव-मन्दिरों का साम्राज्य है। उन पर स्पष्ट रूप से दक्षिण की स्थापत्य कला का प्रभाव है, यद्यपि स्वयं केदारनाथ का मन्दिर यूनानी शैली की याद दिलाता है, विशेषकर उसके अग्रभाग में बने हुए छप्पर का त्रिकोण। इसी तरह श्रीनगर में कमलेश्वर के प्रसिद्ध मन्दिर में बूटधारिणी सूर्यमूर्त्ति है। उत्तराखंड के इस दुर्गम हिमप्रदेश में एक साथ उत्तर, दक्षिण और विदेशी शैलियों का प्रभाव यात्री के मन में कौतूहल तो पैदा करता ही है, यहाँ पर होने वाले संघर्षों और समझौतों की याद भी दिलाता है।

बदरीनाथ के निर्माण के पीछे न फ़ालतू पूंजी थी और न ललितकला। उसके पीछे तो केवल सरल भक्ति थी, जो कालान्तर में पूजा और श्रृंगार के आडम्बर के नीचे दब तो गई परन्तु प्रकृति के वैभव के कारण नष्ट नहीं हुई।

बदरीनाथ का महत्त्व मानव-निर्मित ललित कला के कारण उतना नहीं है जितना प्रकृति के वैभव के कारण। कवि कालिदास ने हिमालय को नगाधिराज व्यर्थ ही नहीं कहा। सदा बर्फ़ से ढँका रहने वाला यह पर्वत संसार का सबसे ऊँचा पर्वत ही नहीं है, प्रकृति के सर्वोत्तम सौन्दर्य का स्वामी भी है। हिम-जल से पूरित, निरन्तर अलख जगाती हुई, उन्मादिनी, सदा-नीरा गंगा यहीं बहती है। ऐसे प्रदेश में पहुँच कर अकवि भी कवि और अदार्शनिक भी दार्शनिक बन जाता है। युग-युगान्त से यक्ष, किन्नर, किरात, खश आदि न जाने कितनी जातियाँ यहाँ पनपीं और मिट गईं। विष्णु, शिव, इन्द्र और कुबेरादि न जाने कितने देवताओं के साम्राज्य यहाँ उठे और गिर गये। और न जाने कैसे सृजन और प्रलय के इस खेल के बीच आर्य देव विष्णु, अनार्य देव शिव, और यक्षों के देव कुबेर, ये सब एक संस्कृति के अंग बन गये।

—दिल्ली से प्रसारित



हमारी सैनिक परम्परा

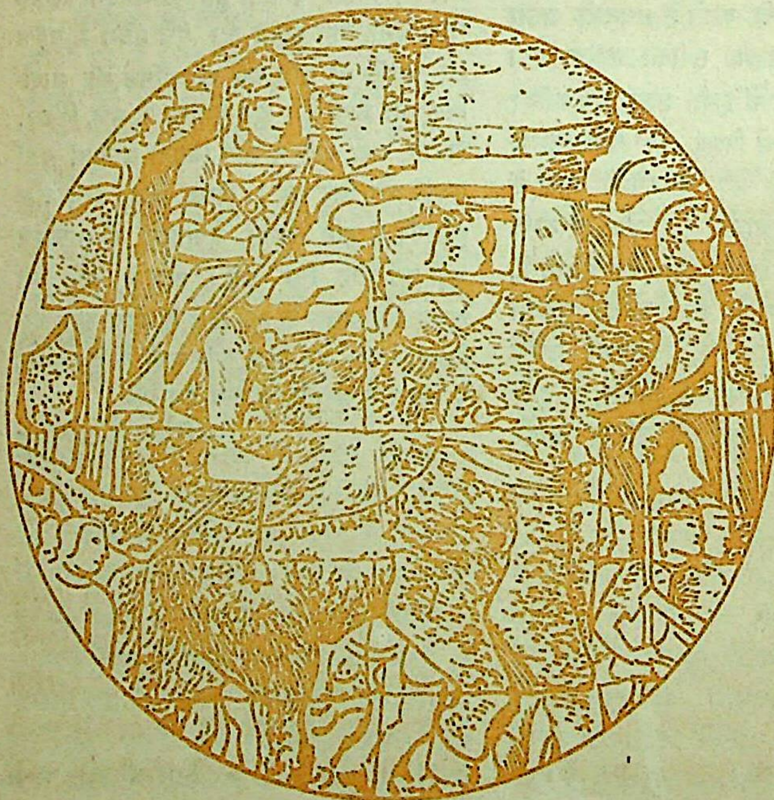
आर० पी० नाइक

जिस समाज में अराजकता हो, वह नष्ट हो जाता है। राजा के दण्ड के भय से प्रजा में शान्ति रहती है। साथ ही दूसरे राष्ट्र भी उस पर आक्रमण करने का साहस नहीं करते। राज्य की रक्षा में सेना ही राजा की सहायक होती है। शुक्रनीति कहती है :

सैन्याद्विना नैव राज्यं न धनं न पराक्रमः।
वलिनो वशगाः सर्वे दुर्वलस्य च शत्रवः ॥
भवन्त्यल्पजनस्यापि नृपस्य तु न किं पुनः ॥

वैदिक काल में आर्य लोग कबीलों में रहते थे और राजा उनका नेता हुआ करता था। युद्ध-काल में राजा तथा उसके निकट सम्बन्धी रथों पर चढ़ कर लड़ाई लड़ते थे और जनसाधारण पैदल।

वैदिक काल के वाद के समय में भी रथ और पदाति सेना के विशेष अंग बने रहे, किन्तु धीरे धीरे रथों का महत्त्व घटता गया, जब कि पैदल सेना आज की सेना का भी एक विशेष अंग मानी जाती है। महाभारत काल में हाथी भी सेना का अंग वन चुका था और घोड़े का भी उपयोग युद्ध में होने लगा था। इन चार अंगों को मिला कर ही पूरी सेना वनती थी और यही कारण है कि उसे चतुरंगिणी सेना कहा जाता था, अर्थात् जिसके चार अंग हों—रथ, घोड़े, हाथी और पैदल। इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि पोरस के समय में भी सेना के यही अंग थे और आगे चल कर हर्ष के समय में जब ह्वेनचांग चीन से



भारत में आया था तब उसने भी सेना के यही मुख्य अंग देखे। शुक्रनीति कहती है कि रथ और हाथी का उपयोग आवश्यकता से अधिक न करना ही श्रेयस्कर है।

वैदिक काल में समाज के प्रायः सभी सशक्त मनुष्य सेना में रहते थे, परन्तु उनका नेतृत्व क्षत्रिय ही किया करते थे। महाभारत काल तक इतना परिवर्तन हो गया था कि युद्ध में अधिकतर केवल क्षत्रिय ही लड़ा करते थे। हाँ, उनकी थोड़ी बहुत सहायता अन्य वर्ग भी करते थे। सैनिक शिक्षा देने का कार्य ब्राह्मणों के हाथ में था। कौटिल्य के समय तक तो राज्य इतना विस्तृत और समाज का संगठन इतना जटिल हो चुका था कि रक्षा के कार्य के लिये एक ऐसी स्थायी शक्ति का निर्माण करना आवश्यक हो गया, जो सदैव राष्ट्र की रक्षा के लिये तत्पर रहे और ऐसा न हो कि जब देश पर आक्रमण हो तब लोगों को इकट्ठा करके उन्हें सैनिक शिक्षा देनी पड़े और तब कहीं राष्ट्र मोर्चा ले सके। अब मैं सेना के संगठन के विषय में कुछ कहूँगा।

कौटिल्य के अनुसार १० सैनिकों के ऊपर एक पदिक होता था, १० पदिकों के ऊपर एक सेनापति और १० सेनापतियों के ऊपर एक नायक। विडंबना देखिये कि आज भी यही पदिक भारतीय सेना का छोटा सा अधिकारी होता है।

यह नहीं समझना चाहिये कि उस समय सब उच्च पद केवल क्षत्रियों को ही दिये जाते थे। हम महाभारत में देखते हैं कि एक दिन द्रोणाचार्य को सेनापति बनाया गया था जो कि ब्राह्मण थे, और एक दिन कर्ण को जो कि केवल सूत-पुत्र के नाम से जाने जाते थे। इसी बात को लक्ष्य कर कर्ण ने कहा था :—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्।
दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्॥

इन चार अंगों के अतिरिक्त प्राचीन भारत की सेना के संगठन में सहायक अंग भी रहा करते थे जैसे यातायात, भंडार तथा चिकित्सक दल आदि। भंडार विभाग का कार्य यह था कि सेना के लिये जो वस्त्र अथवा अस्त्र-शस्त्र आवश्यक हों, उन्हें सेना के साथ साथ लेकर चले। यातायात विभाग का कार्य भंडार विभाग के कार्य से सम्बन्धित था क्योंकि वाहनों के बिना भंडार सेना के साथ ले जाया नहीं जा सकता था। चिकित्सक दल के विषय में कौटिल्य लिखते हैं—चिकित्सकगण शस्त्र, यन्त्र, मरहम तथा पट्टी के साथ सेना के पृष्ठ भाग में रहे और साथ ही स्त्रियाँ भी हों जो कि भोजन तथा शक्तिवर्द्धक पेय तैयार रखें। वे स्त्रियां सैनिकों से उत्साहवर्द्धक शब्दों में बात-चीत करें।

स्पष्ट है कि भारतवर्ष में बहुत पुराने समय से नर्सिंग (परिचर्या) का चलन था। इस तरह हम देखते हैं कि प्राचीन भारत में सेना में कार्यक्षमता उच्च श्रेणी की थी, और उस समय के संगठन और आज के संगठन में पर्याप्त समानता है।

सैनिक वृत्ति का पालन करनेवाले सिपाहियों को राज्य की ओर से वेतन दिया जाता था। वेतन के कई प्रकार थे, जैसे सिक्के, सामान, जीता हुआ धन, भूमि आदि। वीरता का काम करने वाले सैनिकों को विशेष पारितोषिक भी दिया जाता था।

किसी सेना में कितने ही शूरवीर सिपाही क्यों न हों वह तब तक अच्छी सेना नहीं कही जा सकती जब तक कि उसके सैनिकों को अच्छा सैनिक प्रशिक्षण नहीं मिलता। शुक्र नीति में अशिक्षित सेना की तुलना कपास की गाँठों के साथ की गयी है।

राजा से यह अपेक्षित था कि वह समय समय पर सेना का निरीक्षण करे और उसकी कार्यक्षमता बढ़ाने के लिये जो आयोजन आवश्यक हों उन्हें भी करे। कौटिल्य कहते हैं कि उसे सैनिक वस्त्र धारण कर हाथी, रथ अथवा घोड़े

पर चढ़ सन्नद्ध हो कर खड़ी हुई सेना का निरीक्षण करना चाहिये।

यह तो हुआ क्षेत्र सेना का संगठन। उसके प्रशासन तथा संचालन के लिये यह आवश्यक था कि केन्द्र में भी एक ऐसा विभाग हो जिस का कार्य केवल सेना की देख-रेख हो। अधिकतर सेनानायक और सेना-सचिव के पद पर एक ही अधिकारी हुआ करता था। मौर्यों के काल में देश को सैन्य-शक्ति के नियन्त्रण एवं निर्देशन के लिये केन्द्र में एक बड़ा ही संगठित सेना-विभाग था जिसके ६ अंग थे और प्रत्येक अंग में ५ सभासद थे। मैगेस्थनीज़ के कथनानुसार वे ६ विभाग थे नौ विभाग, यातायात, भंडार, पदाति, अश्वारोही तथा हाथी। आगे चलकर शुक्रनीति के समय में भी केन्द्र में ऐसा ही एक संगठित सचिवालय था।

अब मैं वाहनों एवं शस्त्रों के विषय में कुछ कहूँगा। सेना के चार अंग उनकी भिन्न-भिन्न उपयोगिताओं के कारण बने थे। जो काम एक कर सकता था, वह दूसरा नहीं। पैदल सेना ऊँचे-नीचे हर प्रकार के मैदान में लड़ सकती थी, रथ नहीं। रथ तेज़ी से शत्रु पर आक्रमण कर सकते थे और हाथी एक अभेद्य दीवार खड़ी कर देते थे।

भारतवर्ष के सब से पुराने अस्त्र धनुष और बाण हैं जिनका उपयोग वैदिक काल में भी हुआ करता था। वज्र, परशु, चक्र, असि अथवा तलवार तथा गदा आदि अस्त्र भी थे; इनके प्रयोग में कई योद्धा बड़ी ही निपुणता प्राप्त कर चुके थे। बचाव के अस्त्रों में कवच और ढाल मुख्य थे। प्रत्येक सेना तथा उसकी टुकड़ी के अलग-अलग ध्वज हुआ करते थे जिन से वह दूर से ही पहचानी जा सकती थी। सैनिकों का उत्साह बढ़ाने के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के वाद्ययन्त्र भी सेना के साथ चलते थे, जैसे तुरही, भेरी और ढोल। महाभारत काल में शंख का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। यहाँ तक कि प्रत्येक योद्धा के शंख का नाम हुआ करता था जैसे कृष्ण का शंख पांचजन्य था, अर्जुन का देवदत्त, भीम का पौण्ड्र और युधिष्ठिर का अनन्तविजय। इसमें सन्देह है कि प्राचीन भारत में बारूद का उपयोग किया जाता था, किन्तु कौटिल्य के ग्रन्थ में विशेष प्रकार के यन्त्र का वर्णन अवश्य मिलता है जिसका नाम है शतघ्नी अर्थात् १०० मनुष्यों को एक साथ मारने वाला यन्त्र।

नगरों की रक्षा के लिए उसके चारों ओर दीवारें भी बनाई जाती थीं। दुर्गों का निर्माण भी काफी उन्नति कर चुका था और कई दुर्ग तो अभेद्य माने जाते थे। दुर्ग के चारों ओर खाइयाँ भी खोदी जाती थीं। और इस तरह नगरों में रहने वाली प्रजा की शत्रु के आक्रमणों से रक्षा के लिये पर्याप्त प्रबन्ध किया जाता था।

अब हम देखेंगे कि प्राचीन भारत में सेना किस प्रकार प्रयाण करती थी और फिर युद्ध किस प्रकार हुआ करते थे। वैदिक काल में आर्यों का अनार्यों से संघर्ष चलता ही रहता था। वे अधिकतर तम्बुओं में रहते थे और जैसे-जैसे एक जगह से दूसरी जगह जाते थे, रास्ते में युद्ध करते हुए निकल जाते थे। आगे चलकर वे नगरों में रहने लगे और महाभारत के समय तक उन्होंने बड़े-बड़े नगर, पुर एवं दुर्ग बना लिये। पहले वे अनार्यों के पुरों तथा दुर्गों का नाश करने के कारण अपने प्रिय देवता इन्द्र को पुरन्दर, पुरों का नाश करने वाला, कहते थे, परन्तु अब वे स्वयं पुरों में रहने लगे थे। अब सेना के यान का भी ढंग बदल गया था और अधिकतर शहर में रहने वाले सैनिकगण कुछ काल के लिये युद्ध के मैदान में जाकर तम्बुओं में रहते थे और यदि दूर जाना होता था तो बीच में कई पड़ाव भी किये जाते थे। विजय-यात्रा का सबसे उपयुक्त काल मार्गशीर्ष

का महीना माना जाता था।

प्राचीन भारत के राजनीतिज्ञों को ज्ञात था कि कोई भी सेना कितनी भी शक्तिशाली क्यों न हो, तब तक विजयिनी नहीं हो सकती जब तक कि उसके नेता युद्धनीति में पूर्णतया निपुण न हों। वैदिक काल में किसी युद्धनीति (स्ट्रैटेजी) का पालन न किया जाता था। ऋग्वेद की एक ऋचा से ज्ञात होता है कि पैदल सैनिक रथ में बैठे हुए सैनिकों के साथ-साथ इकट्ठे मिलकर आगे बढ़ते थे।

जब शत्रु पत्थर के बने हुए किले में घुस जाता था तब उस पर घेरा डाल दिया जाता था और कभी-कभी उसमें आग भी लगा दी जाती थी। महाभारत के काल तक युद्धनीति एक विज्ञान बन चुका था और अनेक प्रकार के व्यूह बनाने में निपुण सेनानी को ही अच्छा सेनापति माना जाता था। व्यूह अनेक प्रकार के होते थे जैसे मंडल, सूची, वज्र और मकर इत्यादि। इन सब में दुर्गम और कठिन व्यूह होता था चक्रव्यूह। आपको ज्ञात होगा कि द्रोणाचार्य के बनाए चक्रव्यूह में अभिमन्यु घुस तो गया, पर उसमें से बाहर निकलने का ढंग न जानने के कारण मारा गया।

मौर्यों के काल तक यह विज्ञान और भी उच्च और जटिल हो चुका था। वे केन्द्र, कक्ष तथा पक्ष इन सबका अर्थ अच्छी तरह जानते थे और सेना को आगे बढ़ाने तथा पीछे हटाने अथवा दाएँ या बाएँ आक्रमण करने की बारीकियों को अच्छी तरह समझते थे। भिन्न-भिन्न योद्धाओं या उनके वाहनों में कितना अन्तर होना चाहिये यह भी कौटिल्य ने लिखा है।

युद्ध के तीन प्रकार माने जाते थे—प्रकाश, कूट, एवं तूष्णी। इन सबमें प्रकाश युद्ध उत्तम प्रकार का था जिसमें किसी प्रकार के छल-छिद्र के लिये स्थान न था। कूट युद्ध आजकल की मिलिटरी स्ट्रैटेजी से मिलता-जुलता है, और कौटिल्य के ग्रन्थ के इस हिस्से को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है मानो हम मैकियावेली नामक इटेलियन राजनीतिज्ञ के ग्रन्थ को पढ़ रहे हैं। इस सिद्धान्त में दया, धर्म और उदारता आदि गुणों के लिये कोई स्थान नहीं है। युद्ध एवं प्रेम में सब ठीक है, यही सिद्धान्त यहाँ सर्वोपरि माना गया है। शत्रुओं के सैनिकों में चुपचाप उनके स्वामी के प्रति विश्वासघात की भावना उत्पन्न करना ही तूष्णी युद्ध था। इनमें से बहुत सी बातें तो केवल बौद्धिक उड़ान हैं। कार्यक्षेत्र में भारतीय लोग बड़े ही धार्मिक योद्धा होते थे।

भारतवर्ष में धर्म युद्ध को सदा ही उच्च-स्थान दिया गया है। गीता में श्रीकृष्ण ने यही कहा है कि धर्म युद्ध से बढ़कर कोई युद्ध नहीं। धर्म युद्ध वह है जिसका ध्येय किसी सत्य अधिकार की रक्षा हो और साथ ही यह भी आवश्यक है कि उस ध्येय या उद्देश्य तक पहुँचने के लिये ऐसे साधनों का ही उपयोग किया जाय जो धर्म-संगत हों। विष में बुझे हुए तीरों का उपयोग हमेशा ही निषिद्ध रहा है। योद्धा से यही अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने बराबर के योद्धा से लड़े। साथ ही गौतम, आपस्तम्ब आदि के धर्मसूत्रों के अनुसार सच्चा योद्धा वही है जो किसी ऐसे सैनिक को नहीं मारता जो कि अपने घोड़े या रथ से गिर चुका हो, या क्षमा माँग रहा हो, या जो भाग रहा हो।

पुरातन समय में युद्धबन्दियों के साथ भी बहुत अच्छा व्यवहार किया जाता था। सबसे बड़ी बात यह है कि जब किसी प्रदेश में युद्ध होता था तब भी वहाँ किसान बिना किसी रोक-टोक के अपने कृषि-कार्य में संलग्न रहते थे। इस बात की पुष्टि मैगेस्थनीज ने भी की है। जीते हुए राष्ट्र के राजा के साथ बड़ा अच्छा व्यवहार किया जाता था। स्मृतिकारों का आदेश था कि जब कोई राजा किसी देश को जीत ले तब उसका कर्त्तव्य

है कि उस देश के राजवंश को नष्ट न करे, बल्कि उस वंश के ही किसी पुरुष को वहाँ का राज्य दे दे। रघु तथा समुद्रगुप्त ने अपनी विजययात्रा में ऐसा ही किया था। वहाँ के देवताओं तथा रीतियों का आदर करना भी उसके लिये आवश्यक था। मनु कहते हैं :—

जित्वा संपूजयेद्देवान्
ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्।

आज के विजयी राष्ट्र इससे बहुत कुछ सीख सकते हैं। अब तक इतिहास-लेखकों ने छोटे-छोटे युद्धों को भी बड़ा महत्त्व दिया है और विदेशियों की प्रशंसा करने का भरसक प्रयत्न किया है। यही कारण है कि सिकन्दर ने भारत-वर्ष के एक कोने में जो छापा मारा था उसको भारत के ऊपर एक बड़ी भारी चढ़ाई का रूप दे दिया गया है। श्री जवाहरलाल नेहरू कहते हैं—"सैनिक दृष्टिकोण से सिकन्दर का भारत पर आक्रमण एक छोटा सा आक्रमण था और फिर वह बहुत सफल भी नहीं हुआ। पर इतना मानना ही होगा कि हमारी सैन्य शक्ति जितनी प्रभावशाली हो सकती थी, उतनी नहीं हुई। उसके कारण हैं—हमारे देश का विस्तार, यातायात के साधनों का अभाव, आर्यों की कर्मठता के स्थान पर धीरे धीरे विलासप्रियता का आविर्भाव, समय के साथ साथ अपने वाहनों और साधनों का न बदलना, तथा शत्रु के प्रति असीम उदारता। हमारे इतिहास में इन सब के अगणित उदाहरण हैं।"

भारतीय सैनिक की वीरता में भला किसी को क्या सन्देह हो सकता है। भीष्म, अर्जुन, कर्ण, अशोक, समुद्रगुप्त, पृथ्वीराज और प्रताप ऐसे नाम हैं जिन्हें सुन कर मुर्दे भी जी उठें। इस देश में स्त्रियाँ भी इस दिशा में कभी पुरुषों से पीछे नहीं रहीं। महाभारत में विदुला ने अपने पुत्र को युद्ध से विमुख देख उसकी कैसी भर्त्सना की थी यह सर्वविदित है। वह कहती है :—

क्षणस्य ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्।

भारतीय सदा से आक्रमणात्मक युद्ध के विरुद्ध रहे हैं। विजय के उपरान्त युद्ध से खिन्न और विरक्त होने का उदाहरण अशोक के सिवा संसार में और कौन सा है? यह नहीं था कि भारत की सैनिक शक्ति कभी कम रही हो, किन्तु इतना होते हुए भी विदेशों में उसकी सब विजयें सांस्कृतिक विजयें ही रही हैं, जैसा कि लंका, बर्मा, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा आदि में भारतीय संस्कृति के विस्तार से स्पष्ट है। साथ ही हम ने कभी भी सेना का बल इतना नहीं बढ़ने दिया कि वह रक्षक के स्थान पर भक्षक बन बैठे। सदा ही सेना पर राजा का कड़ा नियन्त्रण रहा है और सेना का कार्य देश की रक्षा ही माना गया है। आज भी यदि हमारे देश में एक सुसज्जित एवं बलशाली सेना है तो इसलिये नहीं कि हम किसी पर आक्रमण करना चाहते हैं। वह तो आततायियों से हमारी उस कमाई हुई स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये है जो हमारे संत-राजनीतिज्ञ ने एक अनोखे ढंग से जीती है—लोहे की शक्ति से नहीं बल्कि मन की शक्ति से जो फौलाद से भी अधिक दृढ़ होता है। केवल सेना के बल पर उभरने वाले राष्ट्रों की क्या गति होती है यह जर्मनी और जापान का इतिहास हमें बताता है। राष्ट्र की सच्ची सुरक्षा उसके सैन्य-बल में नहीं किन्तु उसके सत्य पथ पर आरूढ़ रहने में और उसकी प्रजा के आत्मिक बल में है।

संसार से यूनान तथा रोम जैसे सैनिक देश मिट गये किन्तु भारत आज भी जीवित है। कवि के शब्दों में :

कुछ बात है हस्ती मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे ज़मां हमारा।

—नागपुर से प्रसारित

ऐन मौक़े पर

रामवृक्ष बेनीपुरी

बुद्धि वह, चातुरी वह, प्रतिभा वह, जो ऐन मौक़े पर राह बताये, पंथ सुझाये, काम चलाये। यों तो बुद्धि उस ख़ास जानवर में भी होती है, जो पीठ पर भारी बोझ लिये, आँखें झुकाये, कान लटकाये, लकीर पकड़े, धोबी-घाट तक जैसे-तैसे पहुँच ही जाता है।

मैं मानता हूँ, वैसी बुद्धि, वैसी चातुरी, वैसी प्रतिभा सब को नहीं मिलती। यह भी मानता हूँ, एक लम्बी साधना के बाद ही बुद्धि में वैसा चमत्कार, चातुरी में वैसा पैनापन, और प्रतिभा में वैसे पंख लग पाते हैं जब आदमी एक उड़ान में पहाड़ को पार कर लेता है, एक छलाँग में समुद्र लाँघ लेता है, एक सरपट में मरुभूमि को पीछे छोड़ देता है, जब कि दूसरे लोग साँस रोक कर यह देखने को उत्सुक होते हैं कि अब वह मरा-गड़ा या जला-डूबा।

एक ताज़ा उदाहरण लीजिये। पिछली लड़ाई शुरू हुई। हिटलर ने यूरोप में कुहराम मचा दिया। वह देश पर देश विजय करता गया; ऐसा लगा, सारा संसार तानाशाही के क्रूर पंजे में आकर रहेगा। भारत में अजीब हालत थी; नाज़ीवाद के सभी दुश्मन थे, किन्तु उसके ख़िलाफ़ अंग्रेज़ों को मदद भी किस तरह दी जा सकती थी, जो हमें ग़ुलाम बनाकर रखे हुए थे। हमारे नेताओं की दिमाग़ी परेशानी देखने लायक़ थी, ख़ासकर उन नेताओं की जिनका दिमाग़ ज्ञान-विज्ञान से खचाखच भरा हुआ था। उन्हें एक तरफ़ खाईं दीखती थी, दूसरी तरफ़ अग्निकुंड धधकता नज़र आता था। किसी को कुछ नहीं सूझता था, किन्तु सेनापति तो वह, जो अन्धकार में भी प्रकाश ढूंढ़ निकाले। ऐन मौक़े पर उसके मुंह से निसृत हुआ—"भारत छोड़ो"। और, यह क्या सच नहीं कि यदि उसके मुँह से यह वाणी न फूटती, तो हम आज भी ग़ुलाम होते?

इतिहास की वह अमर घटना किसे याद नहीं है? नेपोलियन की सेना विजयाभियान को निकली हं, सामने आल्प्स खड़ा है। सेना की, सेनानायकों की बुद्धि चक्कर में है, अब क्या हो? "बढ़ो, आल्प्स पार करो।" "यह तो असम्भव है।" "असम्भव शब्द बुज़दिलों के कोष में होता है।" और, वह देखिये, वह छोटा-सा घुड़सवार अपने घोड़े को आगे फँदाता है और लीजिये, आल्प्स पार।

हमें यह घटना तो याद रहती है, किन्तु हम भूल जाते हैं कि सब की ज़िन्दगी में आल्प्स आता है। हम उस आल्प्स को देखते हैं, सहमते हैं, डरते हैं, हिम्मत हार कर बैठ जाते हैं या उसके पार करने की विस्तृत योजनाओं में लग जाते हैं। प्रायः होता है, योजनाएँ बनती ही रह जाती हैं, आल्प्स मुस्कराता ही रह जाता है।

वह मस्तिष्क भी धन्य है जो लम्बी-लम्बी योजनायें बना सकता है। वह पुरुष-पुंगव धन्य है, जो योजनायें बनाता है, उन पर चलता है, लोगों को चलाता है। किन्तु ऐसी योजनाओं में भी ऐसी समस्यायें आती हैं, जिनका हल यदि ऐन मौक़े पर नहीं निकाला जा सके, तो योजनायें ही नहीं ख़त्म होतीं, अपने बनाने वाले को भी ले डूबती हैं।

लोग प्रायः कहा करते हैं, अरे, अब ग्यारहवें घंटे में क्या होगा? अजी, भोज के वक़्त क्या कुम्हड़ा रोप रहे हो? ऐसे लोगों से मुझे चिढ़ है। वे बेचारे नहीं जानते, यह ग्यारहवाँ घंटा सब से महत्त्वपूर्ण घंटा होता है। यदि ग्यारहवें

घंटे में काम करने वाली आपकी बुद्धि नहीं है, तो दस घंटों का सारा किया-कराया आप का बर्बाद जायगा। दस घंटे तो सब के घंटे हैं, प्रतिभाशालियों का घंटा तो यही ग्यारहवाँ घंटा है। गधे और घोड़े में फ़र्क़ बतानेवाला यही घंटा होता है, 'मिडिओकर' और 'जीनियस' में भेद करने वाला यही घंटा होता है। 'भोज के वक़्त क्या कुम्हड़ा रोप रहे हो ?' जैसे दुनिया में कुम्हड़े रोपे ही नहीं गये—आख़िर दूसरे लोगों ने दस घंटों में क्या किया है ? अक़्ल है, तो वे कुम्हड़े हमारे भोज में ही परोसे जायेंगे।

आदमी की पहचान ऐन मौक़े पर ही होती है—यों तो सब धान बाईस पँसेरी वाली कहावत चरितार्थ होती ही है। यदि आपकी बुद्धि में, प्रतिभा में, जीवन है, प्रवाह है, तो ग्यारहवें घंटे के सँकड़े रास्ते पर आकर वह और भी तीव्र हो जायगी, अदम्य और अलंघ्य हो जायगी। हिमालय की सँकड़ी गली से पतली धारा में निकलने वाली गंगा को ऐरावत भी न रोक सका, और वही जब फैल गई, लम्बी-चौड़ी हुई, तो उसे एक ऋषि ने चुल्लू में उठा कर पी लिया। किन्तु गंगा में कुछ प्रवाह था कि वह अपना रंग और स्वाद बचा सकी; नहीं तो, शांत-विस्तृत समुद्र को तो पी ही नहीं लिया गया, उसे खारा तक हो जाना पड़ा।

मैं मानता हूँ, यह युग 'मिडिओकर' लोगों का है—उनका है, जो पिटे-पिटाये रास्ते पर बड़ी सावधानी से, दामन बचाते हुए चलते हैं और धीरे-धीरे ऊँची से ऊँची जगह पर पहुँच कर उन पर हँसते हैं जो 'जीनियस' हैं, किन्तु मौक़े के अभाव में जो जहाँ के तहाँ खड़े रह गये या किसी दुर्घटना का शिकार बनकर घायल हो गये या मर-खप भी गये। पर इतिहास बताता है, दुनिया की तरक़्क़ी के हर मोड़ पर उन्हीं की सूझ-बूझ ने आगे का रास्ता दिखलाया, वे मर-खप भी गये तो क्या हुआ, उन्हीं की हड्डियों को मशाल बनाकर पीछे आने वाली संतानों ने अपने गंतव्य पथ का पता लगाया।

मैं मानता हूँ, ऐन मौक़े की तलाश में आदमी को बैठा नहीं रहना चाहिये, ऐसे मौक़े सूचना देकर आते भी नहीं। काम का एक सिलसिला होता है, जिसकी किसी कड़ी के साथ यह मौक़ा भी बँधा होता है। जहाँ सिलसिला नहीं, वहाँ मौक़ा भी नहीं। किन्तु यह भी सच है कि यदि काम का सारा सिलसिला रखा जाय, लेकिन ऐन मौक़े की कड़ी उससे निकाल दी जाय, तो सारा शीराज़ा बिखर जायगा।

ज़रा एक उदाहरण को लेकर देखें। फ़ुटबाल के मैदान में हम चलें। एक तरफ़ से गेंद चली; खिलाड़ियों का वह सम्मिलित और सिलसिलेवार प्रयत्न है, जो उसे विपत्ती के गोल के निकट तक पहुँचाता है। किन्तु ऐन मौक़े पर कोई अच्छी 'किक' देने वाला नहीं रहा, तो सारी मेहनत अकारथ जाती है। इस ऐन मौक़े पर 'किक' देने वाले पर ही 'टीम' का सारा भविष्य निर्भर करता है। हर टीम में बस एक-दो आदमी ही ऐसे होते हैं; किन्तु जहाँ ऐसे आदमियों का अभाव है, वह टीम सदा हारने वाली टीम होगी, भले ही उसके आठ-नौ खिलाड़ी अपनी जगह पर बिल्कुल फ़िट हों, पूरे तगड़े हों।

जो बात खेल के मैदान की है, वही जीवन के हर क्षेत्र की है। खिलाड़ी सब होते हैं, 'स्कोरर' कम। किन्तु ऐसे लोग भी हैं जो कहते हैं, अरे, 'स्कोर' करना तो एक 'चांस' है। मेहनत किसी ने की, आपने एक हल्की 'किक' लगाकर वाहवाही लूट ली। हल्दी लगी न फिटकिरी, रंग चोखा रहा आपका।

वैसे लोग नहीं जानते, इस 'किक' में क्या-क्या होता है ? आँखों की नसें और अँगूठे की नसें एक हो रही हैं, मस्तिष्क के संकोचन और हृदय की धड़कन में एक तार बँध गया है, सारी कर्मेन्द्रियाँ चौकस हैं, सजग हैं। आँखों ने ज़रा धोखा दिया, अँगूठे ने किक देते समय ज़रा भी लापरवाही की, दिमाग़ ने सारी परिस्थिति को तुरंत ही भाँप नहीं लिया और हृदय

की धड़कन ने यदि पैरों में थोड़ी भी हिलडुल डाल दी, तो सारा किया-कराया बर्बाद। वह एक क्षण कई सहस्र 'क्षणों' का सार होता है। जिसे आप 'चांस' कहते हैं, वह एक बड़ी साधना का आकस्मिक फलमात्र है। किन्तु, आकस्मिक आप के लिए, स्कोरर के लिए तो वह तपस्या का समुचित वरदान है।

ग्यारहवें घंटे में काम करना, किसी ऐसे-वैसे बूते की बात नहीं है। ग्यारहवें घंटे की तैयारी एक घंटे में कर लेना, समय का वह संकोच है जो साधारण लोगों का दम घोट देता है। ऐन मौक़े पर काम कर ले जाने के लिए शेर का दिल चाहिए, इस्पात की नसें चाहियें। ज़रा भी घबराहट हुई, हाथ ज़रा काँपे, पैर ज़रा पिछड़े, कि सारा गुड़ गोबर। यह साधना का पथ है—"तलवार की धार पै धावनो है।"

किन्तु, जो इस गुर को जान गये हैं, जिन्होंने इसका रस ले लिया है, उन्हें इसमें मज़ा भी कम नहीं मालूम होता। देखनेवालों के मुँह पर हवाइयां उड़ रही हैं—अरे, अब क्या होगा, अरे, यह कैसे होगा, यह आदमी अब इस आख़िरी वक़्त में क्या कर सकेगा, यह गया, वह गया। किन्तु इन सारी हाय-तोबाओं से उदासीन वह आदमी सारी शक्ति को एक जगह केन्द्रित कर चुपचाप काम किये जा रहा है, क्योंकि खोने के लिए उसके पास घंटे कहाँ, क्षण भी कहाँ। उसकी चेतना सजग है, आँखें सजग हैं, हाथ सजग हैं, सभी इन्द्रियाँ सजग सेवक की तरह अपने-अपने क्षेत्रों में डटी हैं, और लीजिये, ऐन मौक़े पर कमाल होकर ही रहा। आदमी के कर्तृत्व की, नेतृत्व की, मैं कहूँ, कवित्व की, असली जाँच, असली पहचान, ऐन मौक़े पर ही होती है।

अभी इस पिछले युद्ध की बात है। अलेग्ज़ेण्डर की सेना मिस्र में युद्ध कर रही थी। नाज़ी-वाहिनी उसका पीछा कर रही थी। एक दिन ऐसा आया कि गोले-बारूद तक नहीं रह गये। अब क्या हो? आत्मसमर्पण? एक सैनिक के लिए आत्मसमर्पण क्या चीज़ है, कौन नहीं जानता? तो भी आत्मसमर्पण भी तो होते ही रहते हैं। किन्तु ऐसे मौक़े पर ही तो आदमी की पहचान होती है, उसके असली धात की पहचान। एलेग्ज़ेण्डर के दिमाग़ में ऐन मौक़े पर आत्मसमर्पण के बदले एक नई सूझ सूझी। उसने कहा—तोपों में बारूद की जगह बालू भरकर चलाते जाओ। तोपें बालू उगल रही हैं—धड़ाम-धड़ाम, धूल ही धूल। और उसी की ओट में उसकी सेना पीछे इस तरह हट गई कि जब नाज़ीवाहिनी वहाँ पहुँची तो सिवा कुछ ख़ाली तोपों के उसके हाथ कुछ नहीं लगा।

राजनीति में, साहित्य में, कला में, हर क्षेत्र में ऐसे उदाहरण हैं। ऐन मौक़े की सूझबूझ ने ही उनमें रस दिया है, सौंदर्य दिया है, सफलता दी है। आप कोई उपन्यास लिख रहे हों, कोई नाटक रच रहे हों, कोई कविता बना रहे हों, कोई तस्वीर गढ़ रहे हों—देखियेगा, उसके बनाने के सिलसिले में कोई ऐसा भी मौक़ा अवश्य आया होगा जब स्वयं उलझन का अनुभव किया होगा—अब कहानी को कौन-सा मोड़ दें, नाटक में कौन-सी नई अवतारणा लावें, कविता की आगे की कड़ी क्या हो और तस्वीर के अमुक भाग में रंगों का मेल कैसा दें? यदि उस ऐन मौक़े पर बुद्धि ने आपका साथ न दिया होता, तो फिर आप कहाँ रहते, आपकी कृति का क्या हश्र होता? कल्पना कीजिये।

इसीलिए मैं अपनी बात को फिर दुहराता हूँ—बुद्धि वह, चातुरी वह, प्रतिभा वह जो ऐन मौक़े पर राह बताये, पंथ सुझाये, काम चलाये। मैं मानता हूँ, ऐसी बुद्धि, ऐसी चातुरी, ऐसी प्रतिभा एक लम्बी साधना के बाद आती है। तो साधना की धूनी भी रमती रहे, किन्तु हम उसकी परिणति को न भूलें, यही मेरा अंतिम निवेदन है।

—पटना से प्रसारित

कहावतें

मौलाना नियाज़ फ़तेहपुरी

दुनिया में कोई ज़बान ऐसी नहीं जिसमें मसलें या कहावतें न पाई जाती हों और अहले-ज़बान उनका इस्तेमाल न करते हों। औरतों की कहावतें, बच्चों की मसलें, पेशावरों के ज़रबुल अमसाल, इसी तरह अमीर व फ़क़ीर, जाहिल व आलिम, शाह व गदा, दाना व बेवक़ूफ़ सभी तबक़ों की कहावतें हमको अदब में मिलती हैं और हैरत होती है कि इतना बड़ा ज़ख़ीरा क्यों कर फ़राहम हो गया और हम उसे अदब के किस सिन्फ़ में जगह दें।

कहावतें, बोली-ठोली, ज़िला जुगत, फ़बती, मुहावरे सब एक ही क़बीले की चीज़ें हैं जिनका तअल्लुक़ तारीख़ या इल्म व हिकमत से यक़ीनन ही नहीं है। लेकिन अगर हम ज़बान व मुहावरात, अदबे लतीफ़ या सनाए-बदाए के ज़ैल में उनका ज़िक्र करें तो ग़ालबन बेजा न होगा।

मुहावरे शेर तो क़तन नहीं, लेकिन शेर का सा लुत्फ़ व ईजाज ज़रूर उनमें पाया जाता है। यों तो अदब और अदब की हर सिन्फ़ ज़िन्दगी से तअल्लुक़ रखती है, लेकिन कहावतों में ज़िन्दगी को समझने के लिये जो बलीग़ इशारे पाये जाते हैं उनमें एक ऐसी अदब आमेज़ कैफ़ियत भी मिलती है जो उसे तनक़ीदी लिटरेचर की तरफ़ ले जाती है। अदब की तरक़्क़ी ज़्यादातर ज़िन्दगी के तजुर्बात पर मुनहसिर है।

कहावतों की बहुत सी क़िस्में हैं। उनमें से बाज़ तो वह हैं जो किसी ख़ास वक़्त या वाक़ेआ की पैदावार हैं, लेकिन अब उनकी यह तारीख़ ख़त्म होकर सिर्फ़ नसीहत आमेज़ मक़ूला होकर रह गई है। जैसे "जान है तो जहान है" "आप से गया जग से गया" "आत्मा में पड़े तो परमात्मा की सूझे" वग़ैरा।

इसी क़िस्म के नसीहत आमेज़ मक़ूले इख़लाक़ी या मज़हबी लिटरेचर में शामिल किये जा सकते हैं, और हो सकता है कि यह दरअस्ल इख़लाक़ी या मज़हबी लिटरेचर से ही लिये गये हों—मसलन्, गुरु नानक का यह क़ौल जिसमें सवाल करने की मज़म्मत की गई है बहुत मशहूर है कि 'आपसे मिले सो दूध बराबर, माँगे मिले सो पानी', या वक़्त पर काम न करना और उसके बाद अफ़सोस करना इस हिमाक़त को कबीर ने इस तरह ज़ाहिर किया है : 'आगे के दिन पीछे गये कियो न हरि से हेतु, अब पछताये होत कहा जब चिड़ियां चुग गईं खेत।'

ईसप की कहानियों की तरह हमारे यहाँ भी लोक-कहानियों का बड़ा ज़ख़ीरा मौजूद है और उनसे बहुत सी कहावतें बन गई हैं, मसलन् 'आँख की सुइयाँ निकालना रह गईं,' 'पंच कहें तो बिल्ली ही सही' 'दाल में काला है' 'थाली का बैंगन', 'करघा छोड़ तमाशा जाये', 'बन्दर क्या जाने अदरक का सवाद'। यह सब निहायत दिलचस्प लोक-कहानियों से तअल्लुक़ रखती हैं, जिनकी तफ़सील का यहाँ मौक़ा नहीं।

दूसरी क़िस्म कहावतों की वह है जिनका तअल्लुक़ ज़्यादातर मुहावरात से है या तजुर्बात से, और बाद को जिन्होंने इस्तेआरा की शक्ल अख़्त्यार कर ली है, जैसे—'पुरानी लकीर का फ़क़ीर'—'पत्थर को जोंक नहीं लगती'—'फूल वही जो महीसर चढ़े'—'अकेली तो लकड़ी भी नहीं जलती'—'अपना पेट तो कुत्ता भी पाल लेता

है'—'चील के घोंसले में माँस कहाँ'—'ख़रबूज़े को देखकर ख़रबूज़ा रंग बदलता है।'

इसी क़िस्म की बाज़ कहावतें वह हैं जो ज़्यादातर औरतों और औरतों की दुनिया से तअल्लुक़ रखती हैं और रस्मो रिवाज की अच्छाई या बुराई करने के लिए वज़ा की गई हैं, मसलन्: 'आँसू एक नहीं, कलेजा टूक टूक'—'आँख फूटी पीर गई'—'आँख न नाक बन्नो चाँद सी'—'आओ पड़ोसिन लड़ें'—'अपनी पीर पराई बातें (यानी अपनी मुसीबत तो मुसीबत है और दूसरे की मुसीबत बातें ही बातें हैं)। जब कोई नई दुलहिन सुसराल आती है और फ़ौरन घर के इन्तज़ाम में लग जाती है तो उसे रस्म व रिवाज के लिहाज़ से बेशर्म समझा जाता है और तंज़ के तौर पर कहा जाता है 'उठाओ मेरा मक़ना मैं घर संभालूँ।'

तीसरी क़िस्म कहावतों की वह है जिनके लिहाज़ से यह तो पता चलता है कि उनकी पुश्त पर कोई न कोई वाक़ेआ ज़रूर है, लेकिन उसका इल्म हमको नहीं। मसलन्, एक मसल है, "नाच न जाने आँगन टेढ़ा"—यक़ीनन किसी बुरा नाचने वाले पर नुक़्ताचीनी की गई होगी और उसने अपना ऐब छिपाने के लिये यह जवाब दिया होगा कि "मैं क्या करूँ तुम्हारा आँगन ही टेढ़ा है।" एक मसल इसी क़िस्म की और है—"अन्धा गाए बहरा बजाए।" ज़ाहिर है कि दोनों अपनी अपनी अलहदा हाँक रहे होंगे।

आपने एक मसल "टेढ़ी खीर" की भी सुनी होगी। किसी अन्धे से पूछा गया 'खीर खाओगे?' उसने कहा, "खीर कैसी होती है?" जवाब दिया गया, "बगला जैसी सफ़ेद।" उसने फिर पूछा "बगला कैसा होता है?" जवाब देने वाले ने हाथ टेढ़ा करके सामने कर दिया। अन्धे ने उसे टटोला तो बोला, "यह तो बड़ी टेढ़ी खीर है।" इसी तरह की बहुत सी और कहावतें हैं जिनकी बुनियाद या तो लोक-कहानियों पर क़ायम है या किसी न किसी ख़ास वाक़ए पर, जिसका इल्म हमको हासिल नहीं। उनमें चन्द ये हैं: 'चोर की दाढ़ी में तिनका'—'देखो ऊँट किस करवट बैठता है'—'तवेले की बला बन्दर के सर'—'हम भी हैं पाँचों सवारों में'—'मुर्ग़ी की टांग'—'कुछ बसन्त की भी ख़बर है'—'यह मुँह और मसूर की दाल': इस मसल के मुतअल्लिक़ मौलाना अशरफ़अली थानवी मरहूम ने एक जगह लिखा है कि यह मसल दरअसल यों है—यह मुँह और मसूर की दार।

कहावतों की एक क़िस्म और है जिन्हें तलमीही कहते हैं, याने उनका तअल्लुक़ किसी न किसी तारीख़ी रिवायत से है। मसलन् "घर का भेदी लंका ढाये।" इसमें इशारा है उस रिवायत की तरफ़ कि जब रामचन्द्र जी ने रावण पर चढ़ाई की तो रावण के भाई ने बाज़ राज़ की बातें रामचन्द्र जी को बता दीं और वह इस वजह से जल्द कामयाब हो गये। एक और मसल है 'सूत की अंटी देकर यूसुफ़ की ख़रीदारी'। इसमें उस बुढ़िया की तरफ़ इशारा है जो मिस्र के बाज़ार में सूत की एक अंटी देकर यूसुफ़ को ख़रीदना चाहती थी। एक मसल मशहूर है—'कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगुवा तेली।' इस कहावत में इशारा है उस रिवायत की तरफ़ कि मालवा व गुजरात के राजा भोज ने अपनी लड़की गंगुवा तेली के लड़के से बियाह दी थी, सिर्फ़ इसलिये कि उसने एक बार दीपक राग गा कर महल के चिराग़ रोशन कर दिये थे। एक बहुत मशहूर कहावत है—'अंधेर नगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा'। उसके मुतअल्लिक़ जो रिवायत बयान की जाती है वह ग़ालबन लोक-कहानी है और कोई तारीख़ी हैसियत नहीं रखती।

इसी सिलसिले में 'दिल्ली दूर' वाली कहावत ख़ुसूसियत के साथ क़ाबिले ज़िक्र है। बयान किया जाता है कि एक बार जहाँगीर ने लाहौर से अपनी महबूब बेगम नूरजहाँ के पास एक क़ासिद रवाना किया जिसने दावा किया

था कि वह एक दिन में दिल्ली पहुँच जायेगा। शाम के वक़्त वह बिलकुल नीम-जाँ हालत में दिल्ली के क़रीब पहुँचा तो उसने किसी बुढ़िया से पूछा कि क्या 'दिल्ली दूर' है। उसने कहा, 'नौज दिल्ली दूर हो'—उसने नौज को 'हिनौज़' समझा और मायूस होकर वहीं दम तोड़ दिया। जहाँगीर को ख़बर हुई तो उसने अफ़सोस किया और उसकी क़ब्र पर एक इमारत बनवा दी जिसे पैक का मक़बरा कहते हैं और देहली से पाँच कोस के फ़ासले पर अब भी मौजूद है। उसका सन् तामीर ११३२ हि० है जो जहाँगीर का ज़माना था।

पहले कहावतों का इस्तेमाल बहुत आम था और शुअरा भी अपने कलाम में ज़ोर पैदा करने के लिये उनका इस्तेमाल करते थे। अब हम यहाँ चन्द अशआर नक़्ल करते हैं जिनसे कहावतों की अहमियत व मक़बूलियत का अन्दाज़ा अच्छी तरह हो सकता है। दाग़ का शेर है :—

पड़ा हूँ संगे राहे दोस्त बन कर कूए दुश्मन में,
सुना है आदमी कुछ ठोकरें खा कर सँभलता है।

मीर फ़रमाते हैं :

इस सताने से दे तू साफ़ जवाब,
आँख फूटी बला से पीर गई।

एक और हिक़ायत है जिसे किसी ने यूँ नज़्म किया है :

तीरे जानाँ जो लगा दिल में न करना शिकवा,
आगे आँखों के नहीं करते बदी पल्कों की।

'दाल में काला है'—इस कहावत को जान साहब ने अपने मख़सूस रंग में इस तरह इस्तेमाल किया है :

बाल हैं बिखरे, बंद हैं टूटे,
टेढ़ा कान का बाला है।
ताड़ लिया बस हमने भी,
कुछ दाल में काला काला है।

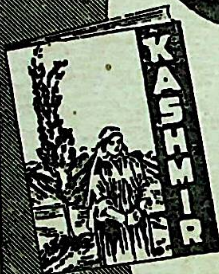
अलग़रज़ क़दीम असातज़ा का कलाम कहावतों और महावरों से भरा पड़ा है, लेकिन अब इस तरफ़ मुतलक़ तवज्जोह नहीं जाती और इसका नतीजा यह है कि अब शायरी सिर्फ़ ख़्याल की रह गई है। ज़बानदानी से उसे कोई तअल्लुक़ नहीं, यानी उसमें यूं तो वज़न व संजीदगी, फ़लसफ़ा व सियासियात और ज़िन्दगी बराए ज़िन्दगी सब कुछ है, लेकिन ज़बान नहीं, और जब यह बात जदीद रंग के शायरों से कही जाती है, तो कहते हैं, 'ज़बान दराज़ी करते हो'।

—लखनऊ से प्रसारित



Printed at Coronation Printing Works, Delhi and published by the Director, Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting. Government of India, Old Secretariate, Delhi.

GOOD READING ON INDIAN AND WORLD PROBLEMS



Per copy As. -/8/-
Annual Rs. 5/-

KASHMIR

English monthly with specially written articles and pictures on the cultural, social and economic problems of regenerated Kashmir.

AJKAL (URDU)

Literary monthly carrying articles on historical, social, educational and cultural subjects, stories and poems by well-known writers and poets.



Per copy As. -/8/-
Annual Rs 6/-



Per copy As -/6/-
Annual Rs 4/-

KURUKSHETRA

Illustrated monthly periodical in English devoted to the activities of the Community Projects Administration and other bodies engaged in rural welfare.

BAL BHARATI

Hindi monthly for children replete with stories and articles. Handsomely illustrated with pictures and sketches.



Per copy As. -/6/-
Annual Rs 4/-



MARCH OF INDIA

English Bi-monthly interpreting India's thought and culture and social, economic and scientific advancement to the English-speaking world. Profusely illustrated and printed on real art paper.

AJKAL (HINDI)

(Incorporating Vishwa Darshan).
Monthly magazine publishing stories and poems by famous writers and containing articles on cultural, historical, social and international subjects.



Per copy Rs. 2/8/-
Annual Rs. 18/-



Per copy As. -/8/-
Annual Rs. 6/-

A group of media with all India circulation
Further details may be had from

The PUBLICATIONS DIVISION

OLD SECRETARIAT, DELHI

वर्ष १ अंक ३

प्रसारिका

जनवरी-जून, १९५४



आठ आने

पब्लिकेशन्स डिवीज़न, दिल्ली

प्रसारिका

जनवरी-जून १९५४

विषय-सूची

परिचय

रामचन्द्र शर्मा 'महारथी'—सुपरिचित पत्रकार।

मोतीचन्द्र—पुरातत्ववेत्ता, उपाध्यक्ष, राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली।

नगेन्द्र—कवि, आलोचक और निबंधकार; अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

ज़हूरबख़्श—हिन्दी के पुराने लेखक और कथाकार।

श्रीमन्नारायण अग्रवाल—संसद सदस्य, शिक्षाविद्, कांग्रेस-महामंत्री।

गोविन्ददास (सेठ)—संसद-सदस्य, उपन्यासकार तथा नाटककार।

भगवतीचरण वर्मा—कवि, उपन्यासकार एवं आलोचक।

धर्मवीर भारती—इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी अध्यापक, कहानीकार, आलोचक।

सुमति मुटाटकर—संगीत-प्रवीणा; निर्देशिका, भारतीय संगीत, आकाशवाणी, नई दिल्ली।

विश्वनाथ गौड़—संस्कृत अध्यापक, सनातन धर्म कॉलेज, कानपुर।

एन० के० देवराज—उपन्यासकार, अध्यापक, दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना—नये कवि।

'अर्श' मलसियानी—'आजकल' (उर्दू) के सम्पादक, प्रसिद्ध उर्दू कवि।

बलदेवप्रसाद मिश्र—कहानी लेखक, साहित्य-सम्पादक, 'स्वतन्त्र भारत', लखनऊ।

दशरथ ओझा—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, हिन्दू कालेज, दिल्ली।

वारणासि राममूर्ति—तेलुगु भाषी हिन्दी लेखक; गुंटूर कालेज में हिन्दी के अध्यापक।

अमृतलाल नागर—हास्य-व्यंग्य लेखक।

सुरेन्द्रनाथ शास्त्री—अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, हिन्दू कॉलेज, दिल्ली।

भगवतशरण उपाध्याय इतिहासज्ञ, भारतीय संस्कृति के विशेषज्ञ।

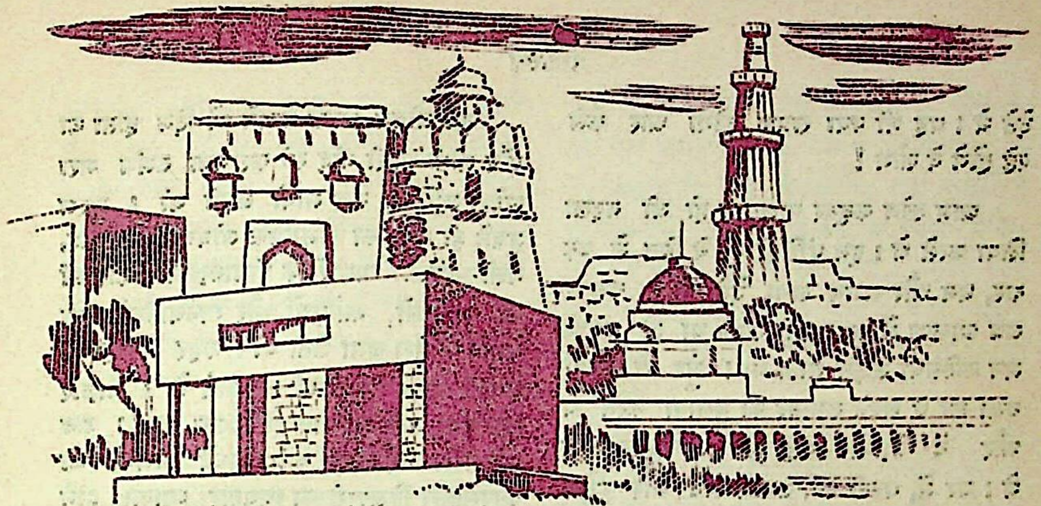
अन्य परिचय "रेडियो संग्रह" के पिछले अंकों में देखिये।

प्रसारिका (रेडियो संग्रह) में आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से प्रसारित स्थायी महत्त्व की सामग्री यथोचित सम्पादन के साथ प्रकाशित की जाती है। इस पत्रिका में व्यक्त किये गये विचारों की ज़िम्मेदारी प्रकाशकों पर नहीं है।

प्रसारिका में प्रकाशित सामग्री चाहे जहां उद्धृत की जा सकती है; परन्तु प्रसारिका का हवाला देना आवश्यक है।

प्रसारिका के वार्षिक चन्दे और विज्ञापन-दर के बारे में निम्नलिखित पते पर पत्रव्यवहार करें :—

डिस्ट्रिब्यूशन ऑफ़िसर, पब्लिकेशन्स डिवीज़न, मिनिस्ट्री ऑफ़ इन्फ़र्मेशन एण्ड ब्रॉडकास्टिंग, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली—८



दिल्ली बदल रही है

रामचन्द्र शर्मा, 'महारथी'

दिल्ली वाले बड़े दिल वाले हैं कि युगों में, घर बाहर, देश-विदेश सब जगह दिल्ली प्यार दुलार की वस्तु बनी रही है। अनेक बार वह लुटी, पिटी, मिटी पर उसका आकर्षण सदा बना रहा। आज जब दिल्ली फैल रही है तो संसार सिमिट कर उसके आँचल में छिपने को उमड़ रहा है। दिल्ली ने सदा से मित्र और शत्रु दोनों का समान स्वागत किया है। दिल्ली वाले मिट कर भी, आज अपनी वह टेक निभा रहे हैं।

कौन जाने, कितने युग बीत गये। राज पलटे, राजधानियाँ बनीं, बिगड़ीं। कब, कब, कहाँ कहाँ से, किस किस देश-जाति के लोग यहाँ आ बसे और हँसने रोने के रंग-ढंग भी साथ में लाये। उन अनजानी बातों का क्या प्रमाण? हम तो वही जानते हैं जो बड़े-बूढ़ों ने आँखों देखा हाल हमें सुनाया है।

छुटपन में, रात के समय, दादा-दादी, नाना-नानी से कहानियाँ सुनना हमें बहुत ही भाता था। वे कहा करते थे—अरे भई, अब तो वह सर्दी ही नहीं पड़ती। पहले चालीस दिन का चिल्ला पड़ा करता था और रात में पानी बरतनों में जम जाया करता था। उस ठंड में अलबेले जवान मुँह अंधेरे, डंड बैठक लगा कर अखाड़े में उस्ताद के साथ ज़ोर किया करते थे। वे शरीर को इतना कमाते थे कि वज्र सा कठोर हो जाये, कुन्दन सा दमकने लगे; और जिधर से भी वे निकल जायें, दुनियाँ उन पर वारि-वारि जाये।

दंगल हुआ करते थे, दूर पास के नामी पहलवानों की जोटें छुटा करती थीं। टिकट तो तब हुआ नहीं करता था, हाँ सेठ-साहूकार, राजे-महाराजे, नवाब-रईस जीतने वालों को रुपयों की थैलियां और शाल-दुशाले इनाम में दिया करते थे। पटा, बिन्नोट, लकड़ी, तलवार के भी हाथ हुआ करते थे और ख़लीफाओं के शागिर्द मेले तमाशों में अपने जौहर दिखा कर, देखने वालों से दाद पाया करते थे। ये बांके जवान अमीरों के सहारे पला करते थे। वे इनके पौरुष का मान करते थे।

मुर्ग़े, तीतर, बटेर और मेंढे पालने का भी बहुत शौक था। समय समय पर उनकी लड़ाइयां, चुनौती देकर, नियमानुसार हुआ करती थीं। मनुष्यों के युद्ध की क्या तैयारी होती होगी, जो इनकी हुआ करती थी। अपने अपने पट्ठे के मालिक, प्राणों की बाज़ी लगा

देते थे। वह भी क्या समय होगा और कैसे रहे होंगे वे लोग !

आम लोग कबूतर पाल कर ही जी बहला लिया करते थे। इन पंछियों पर वे बित से बढ़ कर, धन और समय लगा देते थे। कबूतर जब आकाश में कलाबाज़ी खाता था तो उनका मन बल्लियों उछल जाता था। मुंह से सीटी बजा कर वे अपने जानवर को बुलाया करते थे और वे बेज़बान यह सब जानते-पहचानते थे। घर में, धरती पर, उनका नाच और ठुमुक चाल देख, पालने वाले उन पर निछावर हो जाया करते थे।

कनकौआ उड़ाने का चलन भी कुछ कम नहीं था। बड़े बड़े पेचों पर हार-जीत की बाज़ी लगती थी और हारने से मान घट जाता था। पर इस खेल से पतंग बनाने वालों, मांझा बटने वालों और फिरकी बनाने वालों का पेट पलता था।

ये सब शौक खुले में ही पूरे होते थे और तन-मन की उछल कूद के कारण जवानों के बस के थे। बुड्ढे-ठेरे भीतर बैठकों में या घने पेड़ों की छांह में शतरंज, गंजफ़ा, चौपड़ फैला कर बैठ जाते थे और दीन-दुनियाँ सब बिसरा, बिचारी लकड़ी की गोटें और मोहरें लड़ा कर, ठंडी पड़ी रगों में जवानी का ज़ोर भरा करते थे।

समाज की सामूहिक दिनचर्या में हीजड़े और बहुरूपिये जन जन का मन बहलाया करते थे। हजामत करते समय, नाई देश के पौरुष और पुरुषार्थ की भूली बिसरी कहानियां सुना कर यजमान के मन में, ऊँचा उठने और मानव के लिए कुछ कर जाने की हौंस अनजाने भर देता था।

चारणों और भाटों का उर्दू संस्करण—किस्सागो, एक सफल मनोवैज्ञानिक शिक्षक की भाँति, जन-साधारण को अलौकिक कहानियाँ सुना कर, संसार का दुख भुला देता था और मानो जादू के प्रभाव से भ्रष्टाचार, कायरता और बर्बरता से बचने की सामर्थ्य प्रदान करता था।

तब जीवन सफल बनाने को दिन होता था और मीठी गहरी नींद सो कर नया उमंग भरा सवेरा लाने को रात मानी जाती थी। सूरज डूबते ही नगर का सामाजिक जीवन सिमिट कर, गली-मुहल्लों, अमीरों के दीवानख़ानों, ओराओं की महफ़िलों, नर्तकियों और गानेवालियों की बैठकों में डेरा जमा लेता था। शहर पनाह के बारहों फाटक खिड़कियां बन्द हो जाते थे। बाज़ार हाट बन्द, सब सुनसान हो जाता था। अब परिवारों, पड़ौसियों और सच्चे प्रेमियों की आपसदारी दिलदारी का व्यवहार व्यापार होने लगता था। इन सब के बेलिखे अदब क़ायदे होते थे जो सोहबत से ही आते थे, आ सकते थे। आँखों का लिहाज़, चाल-ढाल, लबो लहजा, बात करने का सलीक़ा, उठने-बैठने के तौर-तरीक़े, इन सब की शिक्षा यहीं मिलती थी। यहाँ नहीं, वहाँ नहीं, ख़ानम बाज़ार नहीं, छीलो तो छिलका नहीं, चूसो तो गुठली नहीं—बुद्धि को शान पर धरने वाली अमीर खुसरो की बूझ-बुझौवल की ऐसी पहेलियाँ मन को एकाग्र करने और बहलाने का काम एक साथ करती थीं। जीवन के कोर्स की ये खुली पुस्तकें अपने ढंग की इन पाठशालाओं में ही लिखी जाती थीं और पढ़ी भी। वहाँ जाति-पांति, अमीर-ग़रीब का कोई भेद नहीं होता था। वहाँ इन्द्रिय-रंजन होकर सच्चा मनोरंजन होता था।

नक़्क़ाल और भांड, समाज और व्यक्ति की कुरीतियों, बुराइयों, बद उनवानियों, चलन की खामियों की हास्य-विनोद और व्यंग्यभरी नक़लें दिखा कर देखने वालों के तन-मन में गुदगुदी और गहरी चुटकी एक साथ भर देते थे। उधर रासलीलावाले महान आत्माओं की जीवन लीलाएं दिखा कर, मन के अन्तराल में पैठ नर-देह धारी को परमात्मा से लौ लगाने में सहायता देते थे। मन्दिरों में उत्सवों, पर्वों के बहाने भगवान की झांकियां सजती थीं जिन्हें देखकर देवता की दिव्यता में लीन हो, भक्त लोग अपना आपा तक भूल जाते थे। मज़ारों पर उर्स होते थे, जिनमें कव्वालियां सुन कर गुमराह इन्सान तौहीद का पाठ पढ़ता था। ऋतुओं के तीज-त्यौहार और मेले प्रजा के सामूहिक मनोरंजन

का सुन्दर, मधुर और उल्लासप्रद कारण बनते थे। इनमें, राजा और प्रजा, दोनों मिल निश्छल आमोद-प्रमोद मनाते थे। होली का भदुआ बनने को मनचले और पैसेवाले तरसा करते थे। धुलैंडी के हुल्लड़ और ऊधम का अन्त साफ़-सुथरे सफेदी के मेले से होता था।

बरसात में फूलवालों की सैर होती थी। समूची दिल्ली एक परिवार के रूप में पर्वती टीलों पर उमड़ पड़ती थी। दिल्ली से महरोली तक सैलानियों की एक पंक्ति बंध जाती थी। घनी अमराइयों में झूले पड़ जाते थे और पैंगें बढ़ती थीं। फुहार पड़ती थी तो कढ़ाह चढ़ जाते थे। गरम गरम बेढ़वियां और बारह मसाले की चाट की हाट लग जाती थी। काली काली ऊदी घटाएं झूम झूम कर बरसती थीं। हवा में जामुनों के झूलते गुच्छे और धरती पर ककरौंदों की शोभा देख कर सब का मन-मयूर नाच उठता था।

बावड़ियों, तालाबों में और जमना पर तैराकी का मेला जुटता था। ऊँचे मीनारों से कलाबाज़ी खाकर पानी में कूदना, डुबकी लगा कर तली में से नन्हीं सी चांदी की दुअन्नी-चवन्नी निकाल लाना और बिना हाथ-पैर हिलाये तैरना आदि अनेक कमाल दिखाने में तैराक एक दूसरे से होड़ बदते थे और देखने वाले वाह-वाह करते नहीं थकते थे।

ये सब मशगले उस बीते समय के हैं जब मुग़ल राज नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था और दिल्ली वाले चुन चुन कर कोतवाली के खूनी पेड़ों पर फांसी लटकाये जा चुके थे। नहरें बन्द हो रही थीं, पेड़ कट रहे थे और पुराने महल ढाये जा रहे थे। 'जलें पराई धीयां हंसें बटाऊ लोग' की कहावत पूरी उतर रही थी।

बीसवीं शती अपने साथ अंग्रेज़ की सत्ता लाई। उस के रंग-ढंग पर रीझ कर यहां की उठती पौद, मनबहलाव के पुराने चलन को नया रूप देने लगी। रासलीला, नक़्क़ाल और बहुरूपिये को पारसी थियेटर ने दबा सा दिया। कहते हैं कि उन का नाटक देखने के शौक में, एक बार सक्कों ने अपनी मशकें तक बेच डालीं!

महफ़िलों और बैठकों का रंग क्लबों ने फीका कर दिया। गिल्ली-डंडे का स्थान क्रिकेट, फुटबाल और हाकी ने ले लिया। चौपड़ और शतरंज पर ताश बाज़ी मार ले गया। बहस मुबाहिसों, शास्त्रार्थ और धर्म-प्रचार का बाज़ार गरम हुआ।

नई पीढ़ी अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रभाव से, घर वालों और अड़ौसी-पड़ौसी से मेल-जोल के स्थान पर अंग्रेज़ की संगत को अधिक पसन्द करने लगी। परन्तु पुराने लोगों की महफ़िलें, बैठकें और जलसे पहले से ही होते रहे जब तक वे एक एक कर के इस संसार से सदा के लिए चले नहीं गये।

दिल्ली वाले अपने आप में मस्त थे। सुबह सवेरे नागौरी हलुवा और बेढ़वीं उस का मन चीता कलेऊ था। दौलत की चाट और बारह मसाले के आलू-कचालू खा कर पत्ता नहीं चाटा तो दिल्ली में रह कर भाड़ ही झोंका कहा जाता था। अंग्रेज़ों की राजधानी कलकत्ता होने के कारण दिल्ली के जीवन में उथल-पुथल कम मची थी।

प्रिंस ऑफ़ वेल्स के दरबार की तैयारियों से दिल्ली का रूप बरबस बदलने लगा। दरबार से १ वर्ष पहले और उससे एक साल पीछे तक यहां के लोग उसे छोड़ और कुछ सोच ही न सके। उसके लिए मनबहलाव के जो नये सामान जुटाये गये, वे अपना गहरा प्रभाव, यहां वालों के जीवन पर छोड़ गये।

थोड़े ही समय पीछे दिल्ली दरबार की घोषणा हो गई। उसने तो दिल्ली वालों की सुध-बुध खो दी। किंग्स्वे से महरोली तक दिल्ली १९,२० मील लम्बी हो गई और जमुना से गुड़ की मंडी तक ६-७ मील चौड़ी। वैसा दरबार क्या फिर कभी किसी को देखना नसीब होगा? बुझते दीये की तेज़ लौ की भांति भारत के राजे-महाराजों और नवाबों के अपूर्व पूर्वी

ठाट-बाट का वह निराला प्रदर्शन था। अब तो वह इतिहास का एक पन्ना हो के रह गया है। अकबर इलाहाबादी ने उस का कैसा सुन्दर वर्णन किया है :—

ज़मना जी के पाट को देखा
अच्छे सुथरे घाट को देखा।
सबसे ऊँचे लाट को देखा
हज़रत ड्यूक कनाट को देखा।
पलटन और रिसाले देखे
गोरे देखे काले देखे।
संगीनें और भाले देखे
बैंड बजाने वाले देखे।
खेमों का एक जंगल देखा
इस जंगल में मंगल देखा।
ब्रह्मा और वरंगल देखा
इज्ज़त खाही का दंगल देखा।
सड़कें थीं हर कैंप से जारी
पानी था हर पम्प से जारी।
नूर की मौजें लैम्प से जारी
तेज़ी थी हर जम्प से जारी।
हाथी देखे भारी भरकम
उन का चलना कम-कम थम-थम।
ज़री झूलें नूर का आलम
मीलों तक वह छम छम छम छम।
सुर्ख़ी सड़क पै कुटती देखी
सांस भी भीड़ में घुटती देखी।
आतशबाज़ी छुटती देखी
लुत्फ़ की दौलत लुटती देखी।

दरबार के अवसर पर दिल्ली भारत की राजधानी घोषित कर नई दिल्ली की दाग़-बेल डाल दी गई। यहां से दिल्ली के जीवन का नया युग आरम्भ हुआ। मूक सिनेमा ने यहां के जवानों को अपनी ओर खींचा। बातचीत अंग्रेज़ी में होने पर भी कलाकारों के हाव-भाव के सहारे दिल्ली के कारखनदार तबके ने उसे अपनाया। जासूसी के पर्दे में, पश्चिम के चोरी-डाके के चमत्कार देखने को लोग उमड़ पड़े। विदेशी कलाकारों ने पर्दे पर उजागर हो कर जवानों को पागल बना दिया। यहां के जीवन का पहला पाठ 'दीये जले और भले आदमी घर ही भले' असत्य और व्यर्थ हो चला। सूरज डूबने से आधी रात तक सिनेमा देखने और रेस्तरां में चाय पीने के शौक़ ने ज़ोर पकड़ा। साथ ही क्लबों में समय बिताना शायस्तगी और तहज़ीब के दायरे में आ गया। कमज़ोर दिल लेमन-सोडे से ही चाव पूरा करने लगे। सिग्रेट मुँह के एक कोने में दबा कर चलना और चुटकी बजा कर उस की राख झाड़ना एक अदा मानी जाने लगी।

बोलते फ़िल्मों के आने पर सिनेमा मन-बहलाव का सब से सस्ता साधन बन गया। सिनेमा-कलाकारों के चित्रों और लाउड स्पीकर पर उन के फ़िल्मी गानों ने इस का जल्दी ही घर घर में प्रचार कर दिया। तब आया रेडियो। उसका लोकल सेट बाजार में आते ही वह मन-बहलाव के और सब साधनों को पीछे छोड़ गया। आज उस के बिना, पान की दुकान, रेस्तरां, होटल, छोटे से छोटे बाबू का घर सब सूने, फीके और अधूरे माने जाते हैं। फिर भी आँखों की प्यास बुझाने के शौकीन सिनेमा देखते ही हैं।

क्रिकेट, फुटबाल, हॉकी आदि के मैच, राजनीतिक जल्से, कवि-सम्मेलन, कॉफ़ी हाऊस, चाय पार्टियां, बाल डान्स, केबेरा, वैरायटी शो, नित नये ढंग की नुमायशें, क्लबों में ताश के पत्तों के खेल, घुड़दौड़, फ़िल्मी मैगेज़ीन और क्रॉसवर्ड पज़ल आजकल की जवानी के मन पसन्द मशग़ले हैं।

दिल्ली आज देशों और जातियों की सराय बन गई है। उसका नाम क्षेत्र विस्तार और जन संख्या सब कुछ बढ़ता दीख रहा है। परन्तु वास्तव में दिल्ली और दिल्लीवाले इस नई सिविलिज़ेशन के अम्बार तले कराह रहे हैं। बदलता है रंग आस्मां कैसे कैसे !

—दिल्ली से प्रसारित



हमारी संस्कृति का लौकिक पक्ष

मोतीचन्द्र

भारतीय संस्कृति का, जिसमें प्रायः जीवन, धर्म, साहित्य और कला सभी आ जाते हैं मूल स्रोत लोक-जीवन, लोक-कला और लोकधर्म में निहित रहा है। उसी महान लोक-संस्कृति से अनुप्राणित होकर मार्गीय संस्कृति का विकास हुआ है।

भारतीय संस्कृति के लोकपक्ष का पता हमें सब से पहले सिन्धु-सभ्यता से चलता है। यह कहना आसान नहीं है कि इस सभ्यता का आरम्भ कब हुआ, पर यह तो निश्चित है कि ई० पू० २५०० के लगभग सिन्धु-सभ्यता ने एक विकसित नागरिक सभ्यता का रूप ग्रहण कर लिया था। सिन्धु सभ्यता की मुहरों में अनेक ऐसे दृश्य आये हैं जिनका सम्बन्ध लोक-विश्वास से रहा होगा। वृक्ष-पूजा, यक्ष-पूजा और नाग-पूजा, जो प्राचीन भारतीय लोक-धर्म में खूब प्रचलित थीं, उनका पता भी हमें सिन्धु-सभ्यता में चलता है।

वैदिक संस्कृति में भी मार्गीय और लौकिक पक्ष की धाराएं साफ-साफ दीख पड़ती हैं। जहां ऋग्वेद में हम यज्ञ, अध्यात्म-चिन्तन तथा देवताओं के जाज्वल्यमान रूप का दर्शन करते हैं वहीं अथर्ववेद में हम जन-संस्कृति की बहुत सी झलकें पाते हैं। गृह्यसूत्रों में अनेक भूत, प्रेत, विनायक, देवी इत्यादि का उल्लेख है जिनका सीधा सम्बन्ध लोक से था। अथर्ववेद में तरह-तरह के मन्त्रों, टोटकों और तन्त्रों के प्रयोग से दुख-दारिद्रय, विघ्न-बाधा और रोग-निवारण तथा कल्याण की प्राप्ति भी उस लौकिक संस्कृति की ही देन है।

लोक-संस्कृति की एक खास बात है भूमि के साथ सान्निध्य और उसे जननी मान कर उसके साथ प्रेम। आदिवासियों के गीतों में आज दिन भी धरती माता के प्रति स्नेह भावना की अभिव्यक्ति पाई जाती है। आदिवासियों का यही धरती-स्नेह अथर्ववेद के "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" मंत्र में मिलता है। पृथ्वी की वन्दना करता हुआ सूक्तकार कहता है--जिसकी चार दिशाएं हैं, जहां किसानी की जाती है और जो अनेक प्रकार से प्राणियों की रक्षा करती है, वह मातृभूमि हमें गायें और अन्न दे। अपनी भूमि की शोभा से प्रभावित होकर कवि कहता है-- जहां चारों ओर वनस्पतियां और वृक्ष खड़े हुए हैं उस विश्वधारिका पृथ्वी का हम गुणानुवाद करते हैं।

व्यास का वचन--"न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्", रामायण का श्लोक "जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी", विष्णुपुराण का

देश-गीत "गायन्ति देवा : किल गीतकानि", खुसरो की भारत वंदना, चंडीदास की "सवार उपर मानुष सत्य ताहार ऊपरे नाहीं" वाली उक्ति तथा तुलसीदास की चौपाई "जन्मभूमि मम पुरी सोहावनि" इत्यादि में जो देश के प्रति आकर्षण और भक्ति पाई जाती है वह मेरी समझ में भारतीय संस्कृति के लोक-पक्ष की ही देन है। भारत की नागरिक और मार्गीय संस्कृति की छत्र छाया में पले हुए व्यक्तियों के लिए तो आध्यात्मिक चिन्तन, लड़ाई-झगड़े, व्यापार, मेले, तमाशे आदि बहुत सी बातें थीं पर पृथ्वी की गोद में पले किसानों, चरवाहों और आदिवासियों के लिए तो उनका पोषण करने वाली एक भूमि का ही सहारा था और इसी लिए उनके हृदय में धरती माता के प्रति गहरी भक्ति थी जो कालान्तर में जगद्धात्री का मूर्त रूप लेकर पूजी जाने लगी।

प्राचीन संस्कृत पुराण साहित्य के अवलोकन से भारतीय संस्कृति के लोक-पक्ष—जैसे धार्मिक विश्वास, तीर्थयात्रा तथा लोक-कथाओं के परिष्कृत रूप—का पता तो अवश्य चलता है, पर उसमें भारतीय लोक-संस्कृति का वैसा जीता-जागता रूप देखने को नहीं मिलता जैसा कि बौद्ध और जैन साहित्य और कला में। बौद्ध धर्म का उद्देश्य था बहुजनहित, बहुजन-सुख और लोकानुकम्पा। जातिवाद का बन्धन तोड़कर बुद्ध ने मनुष्यमात्र की एकता का सन्देश दिया और इसीलिए बौद्ध जातककथाओं में हम भारत की उस लोक-संस्कृति का दर्शन कर सकते हैं, जिसमें रहन-सहन, आचार-विचार, खेल-कूद, अंधविश्वास इत्यादि सभी बातें आ जाती हैं। बौद्ध साहित्य में अनेक स्थानों पर कृषकों, आदिवासियों, चरवाहों आदि का सुन्दर और जीवित चित्र खींचा गया है। सुत्त निपात के धनिय सुत्त में चरवाहे धनिय के गीत से लोक-संस्कृति की आत्मा बोल उठती है। धनिय मही नदी के किनारे रहनेवाला एक चरवाहा था जिसके अधिकार में बहुत से गाय बैल थे। बरसात में ऊँची ज़मीन पर अच्छी तरह से छाए हुए, अन्न-धन तथा बाल-बच्चों से भरे-पूरे घर में रहते हुए आनन्द में मस्त उसने इन्द्र को भी ललकारा था कि चाहे जितना बरसो मेरा कुछ बिगड़ने-बनने का नहीं!

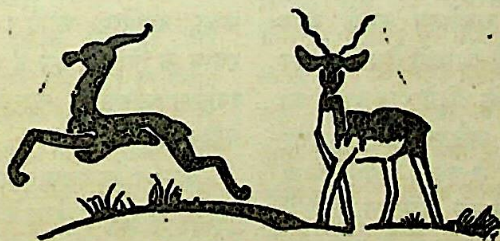
तपस्या और त्याग प्रधान जैन धर्म का भी लोक संस्कृति से निकट सम्बन्ध था। किसानों, बनियों और शिल्पियों का जैन धर्म में अधिक विश्वास होने से जैन अंगों, उपांगों, छन्दसूत्रों, चूर्णियों और कथा-साहित्य में लोक-संस्कृति की झलक मिलती है। जैन साधुओं को तो इस बात की हिदायत थी कि वे जहाँ भी जाएँ वहाँ की भाषा, रीति-रिवाज, पैदावार, वेशभूषा आदि का अध्ययन करें। अनजाने प्रदेशों में जाने पर तो वे अपना आचार तक शिथिल कर सकते थे। इन सब बातों के पीछे केवल एक ही उद्देश्य था कि किस तरह लोक-संस्कृति से समझौता करके लोग जैन धर्म के अनुयायी बनें।

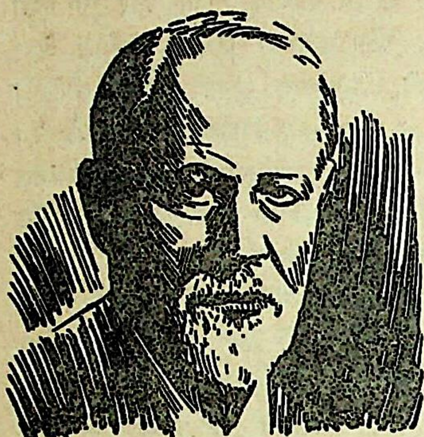
अभाग्यवश संस्कृत काव्य और नाटक साहित्य का लोक-पक्ष कमज़ोर है। इसका मुख्य कारण यह है कि मध्यकालीन संस्कृत साहित्य का रुख नागरिक संस्कृति और राजाओं के भोग-विलास के वर्णन की ओर अधिक था। रईसों के बीच भला ग़रीबों की पूछ कहाँ? हाँ, बाणभट्ट की पैनी नज़र से सातवीं सदी के लोक-जीवन के बहुत से पहलू हमारी आँखों के सामने आ जाते हैं। पर संस्कृत साहित्य की इस परम्परा के विपरीत उद्भट ने बृहत् कथा लोक संग्रह में, सोमदेव ने कथा-सरित्सागर में और क्षेमेन्द्र ने कला विलास, देशोपदेश आदि ग्रन्थों में मध्य युग के जन-जीवन का सीधा साधा चित्र हमारे सामने पेश किया। क्षेमेन्द्र तो ठगों और अंधविश्वासियों के जानो दुश्मन थे। धर्म के नाम पर जो अनाचार जनता में फैल चुके थे, जैसे बिल प्रवेश, अंडबंड ज्योतिष, यक्षिणी साधन इत्यादि, उनके विरुद्ध क्षेमेन्द्र ने

अपनी आवाज़ उठाई। वैष्णव, शाक्त और शैव अनाचारी गुरुओं का उन्होंने भंडा फोड़ा और कायस्थों से लुटती हुई जनता का कारुणिक चित्र खींचा। मध्यकालीन साहित्य के अध्ययन से यह बात साफ़ हो जाती है कि लोक-संस्कृति में अंधविश्वास का ज़हर इतना घुल-मिल चुका था कि लोगों का यह विश्वास हो गया था कि मंत्र-तंत्र से ही रोग अच्छे हो सकते थे, धन और मुक्ति मिल सकती थी, सेनाएं हराई जा सकती थीं, पाताल में घुस कर नाग-कन्याओं से विवाह किया जा सकता था। अंधविश्वास के गर्त में फंसी हुई जनता के उद्धार का एक मार्ग था ज़ोर का झटका। १२ वीं सदी के अन्त में वह झटका लगा और बहुत दिनों की पुरानी भारतीय संस्कृति की इमारत लड़खड़ा गई।

संस्कृति का एक प्रधान अंग नाचना-गाना है। इस विषय के प्रचुर साहित्य से हमें पता लगता है कि मार्गीय संगीत और नृत्य देशी संगीत और नृत्य से कितने प्रभावित थे। सात्वती, आरभटी, भारती और कौशिकी आदि महाराष्ट्र की विशेष नृत्य-शैलियाँ थीं। उसी तरह अगर हम प्राचीन भारतीय संगीत की खोज करें तो पता चलता है कि मार्गीय संगीत में आसावरी, बिलावल, धंशाली, गूजरी, बंगाली आदि रागों का रूप स्थिर करने में लोक-गीतों का सहारा लिया गया था। इतना ही नहीं, संगीत को जब-जब भी नया रास्ता दिखलाने की आवश्यकता पड़ी कलाकारों को लोक-गीतों और उनकी धुनों का सहारा लेना पड़ा। आज की प्रिय ठुमरी शैली में पूरब की धुन साफ़ दिखाई देती है। इसी तरह फ़िल्मी संगीत पर भी लोक-गीतों की स्पष्ट छाप है।

—बम्बई से प्रसारित





फ्रॉयड

नगेन्द्र

फ्रॉयड पर वार्ता प्रसारित करने का मुझ से आग्रह शायद इस लिए है कि मेरे सहयोगी और सम-सामयिक मुझे फ्रॉयडवादी समझते हैं। उनकी यह धारणा ग़लत है।

फिर भी इसमें संदेह नहीं कि आज के विचार-जगत् में फ्रॉयड ने भारी क्रान्ति की है, और हमारे युग की जीवन-दृष्टि पर जाने-अनजाने उनका गहरा प्रभाव है।

फ्रॉयड उपचार-गृह, क्लिनिक से दर्शन की ओर बढ़े। रोगियों का उपचार करते करते उन्होंने व्याधियों के मूल उद्‌गम तक पहुँच कर अन्तर्मन के विज्ञान की उद्‌भावना की।

फ्रॉयड के मूल सिद्धांत और निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार हैं: हमारे मन के दो भाग हैं, चेतन और अचेतन। अवचेतन इनके बीच में एक तीसरा भाग भी है जिसकी स्थिति चेतन से कुछ पहले है—चेतन के लिये एक प्रकार का द्वार है। चेतन की अपेक्षा अचेतन कहीं बृहत्तर और प्रबलतर है। फ्रॉयड ने इसके स्पष्टीकरण के लिए एक ऐसे पत्थर का दृष्टान्त दिया है जिसका तीन-चौथाई भाग जल में है और एक चौथाई जल से ऊपर। यह तीन चौथाई अचेतन है और एक चौथाई चेतन। चेतन वह भाग है जो सामाजिक जीवन में सक्रिय रहता है, जिसकी क्रियाओं का ज्ञान हमें रहता है। अचेतन वह भाग है जिसकी क्रियाओं का ज्ञान हमें नहीं होता, परन्तु जो निरन्तर क्रियाशील रह कर हमारी प्रत्येक गति-विधि को अज्ञात रूप से प्रेरित और प्रभावित करता रहता है। यह अचेतन हमारी उन इच्छाओं और चेष्टाओं का पुंज है जो अनेक सामाजिक कारणों से—मूलतः सामाजिक स्वीकृति अथवा मान्यता के अभाव में, चेतन मन से मुँह छिपाकर नीचे पड़ जाती हैं और वहाँ से अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करती रहती हैं। इस अवस्था में उन्हें अधीक्षक (सैन्सर) का सामना करना पड़ता है जो हमारी सामाजिक मान्यताओं का प्रतीक रूप है। वह इन असामाजिक इच्छाओं के दमन करने का प्रयत्न करता है—परन्तु यह दमन एक छल-मात्र होता है, दमित इच्छाएं अनेक छद्मरूप रख कर अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूंढ ही लेती हैं। ये मार्ग हैं स्वप्न, दिवा-स्वप्न, स्वप्न-चित्र और कला, साहित्य आदि। एक प्रकार से ये सभी स्वप्न के विभिन्न रूप हैं। इस प्रकार स्वप्न की व्याख्या फ्रॉयड के शास्त्रीय विधान का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग है।

हमारा अचेतन जिन दमित इच्छाओं का पुंज है वे मूलतः काम के चारों ओर केन्द्रित हैं। इस प्रकार जीवन की मूल वृत्ति फ्रॉयड के अनुसार है काम। उनके अनुसार जीवन में दो वृत्तियां प्रधान हैं—एक प्रेम करने की प्रवृत्ति इरॉस अर्थात् काम और दूसरी नाश करने की प्रवृत्ति अर्थात् थैनेटॉस। इनमें भी मुख्य है पहली अर्थात् काम, दूसरी उसका विपर्य्यय मात्र है। इसी काम को फ्रॉयड ने लिबिडो कहा है। हमारी सभी व्यष्टिगत क्रियाओं तथा चेष्टाओं

में, यहाँ तक कि समष्टिगत क्रियाओं तथा चेष्टाओं में भी काम के सूक्ष्म अंतर्सूत्र विद्यमान रहते हैं। यह वृत्ति अनेक रूप धारण करती है जिनके फ्रॉयड ने कुछ वर्ग निश्चित किए हैं। परन्तु उनके विस्तार के लिए यहाँ अवकाश नहीं है।

रोग का निदान कर लेने के बाद फ्रॉयड उपचार के लिए अग्रसर होते हैं। यह तो निश्चित हो गया कि रोग का मूल कारण मन की ग्रंथियाँ हैं, पर उनको खोला कैसे जाए? इसके लिए फ्रॉयड ने व्यावहारिक प्रयोगों द्वारा "मुक्त-सम्बन्ध" अथवा "मुक्त-सम्बद्ध-विचार-प्रवाह" शैली का आविष्कार किया जिसके द्वारा वे मन के अतल गह्वरों में पड़े हुए विकारों को बाहर निकाल लाने का दावा करते थे। अचेतन से चेतन में आ जाने पर गांठ चेष्टा-पूर्वक खोली जा सकती है—विकारों का "उन्नयन" किया जा सकता है। इस उपचार-प्रक्रिया में वे "कार्य-कारण-वाद" तक पहुँच गये। "कार्य-कारण-वाद" के अनुसार प्रत्येक कार्य का एक निश्चित कारण है जो ज्ञात और अज्ञात दोनों प्रकार का हो सकता है। अचानक अथवा दैवात् होने वाले कार्य भी सर्वथा सकारण हैं। उनके कारण हमारे अवचेतन या अचेतन में मिलते हैं। इस प्रकार फ्रॉयड ने कार्यकारणवाद को अपनी चिंता-धारा का आधार बनाया।

इन सिद्धान्तों के प्रकाश में धीरे धीरे फ्रॉयड ने जीवन के प्रमुख तत्वों का व्याख्यान आरम्भ कर दिया। समाज-विधान, राजनीति, राष्ट्रीयता, संस्कृति-सभ्यता, धर्म, कला आदि पर फ्रॉयड की मर्मभेदी दृष्टि पड़ी। उनके निष्कर्ष जितने मौलिक थे उतने ही विक्षोभकारी; परन्तु उनका प्रभाव अत्यन्त व्यापक हुआ और जीवन के पुनर्मूल्यांकन में उन्होंने बहुत बड़ा योग दिया। जीवन की मूल शक्ति है काम अथवा राग, जिसकी माध्यम हैं सहज वृत्तियां। इन सहज वृत्तियों के उचित परितोष में ही जीवन की सिद्धि है। समाज का विधान ऐसा होना चाहिए जिसमें जीवन की मूल प्रवृत्तियों के परितोष की व्यवस्था हो, अन्यथा समाज का विधान स्थिर नहीं रह सकता; वह विद्रोह, अशांति, दुःख-दारिद्र्य, कुंठा आदि का शिकार हो जाएगा। मानव-जीवन की इन्हीं सहज आवश्यकताओं की पूर्ति समाज और शासन-व्यवस्था का, जिसके अन्तर्गत राजनीति आदि सत्तापरक व्यवस्थाएं आजाती हैं, मूल और एक मात्र उद्देश्य है। यह परितोष सदा तात्कालिक ऐन्द्रिय स्तर पर ही नहीं होता—बौद्धिक रागात्मक उन्नयन भी इसकी एक सफल विधि है। वास्तव में राग का प्राधान्य मानते हुए भी, अंत में फ्रॉयड को बुद्धि की सत्ता स्वीकार करनी पड़ी। राग के अतिचार से त्राण पाने के लिए बुद्धि की शरण लेनी अनिवार्य हो गई। फ्रॉयड को यह तथ्य स्वीकार करना पड़ा कि रागमय जीवन और विवेकमय जीवन में सतत संघर्ष रहता है—यह संघर्ष ही सभ्यता का मूल आधार है। आज के सभ्य जीवन की विकृतियां और कुंठाएं राग और विवेक के असामंजस्य का ही परिणाम हैं। फ्रॉयड ने नैतिक विधि-निषेध के मार्ग की निन्दा करते हुए मनोवैज्ञानिक उन्नयन—उन्हीं के शब्दों में 'अहं के समाजीकरण' का मार्ग उपदिष्ट किया। नैतिक विधि-निषेध जहाँ ग्रंथियों की वृद्धि करते हैं तथा उन्हें और अधिक जटिल बनाते हैं, वहाँ उन्नयन अथवा अहं का समाजीकरण जो राग का बौद्धिक परितोष है ग्रंथियों को सहज ढंग से खोल कर मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है। यह मानसिक स्वास्थ्य ही व्यष्टि की सफलता है और यही व्यापक स्तर पर समष्टि अथवा समाज की। प्रगति अथवा विकास के मूल्याङ्कन का उचित आधार यही है। समाज की मुक्ति इसी में है। धर्म को फ्रॉयड ने एक प्रकार की इच्छा-पूर्ति मात्र माना है। वह मूलतः भविष्य-स्वप्न यूटोपिया आदि की भाँति एक प्रकार की परितोषदायिनी कल्पना ही है। ईश्वर पितृभाव का प्रक्षेपण है और धार्मिक प्रथाएं आदि स्वप्न-चित्रों के रूढ़ प्रतीक हैं। इसी प्रकार कला और साहित्य को भी फ्रॉयड ने एक प्रकार की क्षति-

पूरक क्रिया माना है और उनका उद्‌गम भी मानव के स्वप्न-चित्रों को ही माना है।

फ्रॉयड-दर्शन की अपनी शक्ति और परिसीमाएं हैं। उसकी सबसे बड़ी शक्ति यह है कि अचेतन अथवा अवचेतन का अन्वेषण कर उसने मानव-मनोविश्लेषण के लिये अपार क्षेत्र का उद्‌घाटन कर दिया है। व्यक्ति और समाज की अनेक समस्याएं, जिन पर रहस्य का घना आवरण पड़ा हुआ था, बुद्धि और विवेक के प्रकाश में आईं और जीवन के पुनर्मूल्यन के नवीन साधन उपलब्ध हुए। व्यक्ति और समाज के अनेक जीर्ण रोगों का उपचार भी इसके द्वारा सम्भव हुआ और अन्तर्मनोविज्ञान का आरम्भ हुआ। अध्यात्म दर्शन, समाज-शास्त्र, इतिहास, साहित्य और कला के मौलिक रहस्यों के उद्‌घाटन में फ्रॉयड के सिद्धान्तों और उनकी पद्धति ने अभूतपूर्व योग दिया।

दूसरे, काम को मूलभूत वृत्ति मानते हुए उन्होंने मानव के रागात्मक सम्बन्धों का अत्यन्त सूक्ष्म गहन और किन्हीं अंशों में सर्वथा सटीक व्याख्यान प्रस्तुत किया। इससे अनेक भ्रान्तियों तथा किंवदन्तियों का विघटन हुआ और जीवन में बौद्धिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में सहायता मिली।

फ्रायड-दर्शन की परिसीमाएं भी अत्यन्त स्पष्ट हैं: उस पर अनेक आरोप लगाए गए हैं। पहला आरोप तो यह है कि वह वैज्ञानिक न होकर आनुमानिक है। उनकी व्याख्या स्थान-स्थान पर बड़ी दूरारूढ़ और अविश्वसनीय हो जाती है। अपनी बात को सिद्ध करने के लिये वे ज़मीन आसमान के कुलावे मिला देते हैं। दूसरा यह कि फ्रॉयड के निष्कर्ष, स्वस्थ व्यक्तियों की मनःस्थिति पर आधृत नहीं हैं, विकृतियों के आधार पर प्रतिपादित जीवन-दर्शन स्वस्थ मानव का जीवन-दर्शन कैसे हो सकता है? यह फ्रॉयड के समसामयिक और प्रतिद्वन्द्वी विचारक युग का आरोप है। तीसर दोष इसका यह है कि यह एकांगी है। काम जीवन की मूल प्रवृत्ति तो अवश्य है परन्तु वह अंग ही है, सर्वांग नहीं है। फ्रॉयड ने उसी को सर्वस्व मानकर अपने जीवन-दर्शन को एकांगी बना दिया है।

फ्रॉयड के विरुद्ध चौथा आरोप यह है कि उनका यह जीवन-दर्शन अभावात्मक है, उसमें समाधान नहीं है। साथ ही वह व्यष्टि तक ही सीमित है, समष्टि के लिए उनके पास कोई संदेश नहीं है। इस लिए उसमें आशा और गति नहीं है, एक प्रकार का अवसाद और अगति है। मैं समझता हूँ कि यह अन्तिम आरोप अनुचित और अन्यायपूर्ण है। इसमें संदेह नहीं कि फ्रायड में प्रचारक या सुधारक की जैसी सोद्देश्यता नहीं थी, उनमें वैज्ञानिक की धीरता थी। आरम्भ में, उनके प्रयोग और निष्कर्ष अभावात्मक अवश्य थे और प्रयोगावस्था में ऐसा होना स्वाभाविक भी है, परन्तु धीरे-धीरे उनकी दृष्टि भावात्मक हो गई थी और उन्नयन अथवा अहं के समाजीकरण में उन्होंने अपना समाधान प्रस्तुत किया था। फ्रॉयड पेशेवर डाक्टर थे, केवल निदान करके ही छोड़ देना डाक्टर का काम नहीं है। उनका दर्शन सहज प्रवृत्ति-मूलक दर्शन है, जो निवृत्ति-मूलक दर्शनों से अधिक कल्याणकारी और रुचिकर होना चाहिए।

फ्रॉयड हिन्दी में पिछले १०, १५ वर्षों में ही आए हैं। इससे पहले शुतुर्मुर्ग-पुराण आदि निकले थे, पर न उनका लेखक फ्रॉयड को समझ सका था और न पाठक उस लेखक को। वह एक अनर्गल प्रलाप मात्र था। उसके बाद 'अज्ञेय' जैसे एक-आध कलाकार द्वारा फ्रॉयड कुछ व्यवस्थित ढंग से हिन्दी में आये और धीरे-धीरे उनकी ओर आकर्षण बढ़ा। फ्रॉयड का प्रभाव और प्रेरणा कई रूपों में आंके जा सकते हैं। एक तो फ्रॉयड की प्रेरणा से हिन्दी में शृंगार का पुनरुत्थान हुआ। द्विवेदी युग की स्थूल नैतिकता और छायावाद की अतीन्द्रिय सौन्दर्योपासना के कारण शृङ्गार की जो प्रवृत्तियां दब गईं थीं या रूपान्तरित हो गईं थीं, वे फ्रॉयड के

प्रभाव से फिर उभर आईं और हिन्दी में श्रृंगार-साहित्य फिर ज़ोर पकड़ गया। परन्तु इस श्रृंगारिकता का रूप प्रचलित रूपों से भिन्न है। एक तो इसमें श्रृंगार स्वयं साध्य नहीं है, वरन् मनोविश्लेषण का माध्यम है। लेखक का उद्देश्य काम-कथाएँ लिखना अथवा रति-भाव की अभिव्यक्ति करना इतना नहीं होता, जितना काम-कुंठाओं का विश्लेषण करना। इस साहित्य में विकृतियों का चित्रण अधिक है और चौंका देने वाली बातें भी हैं। इसके द्वारा ऐसे रस का परिपाक हुआ जिसमें गहरी श्रृंगारिकता के साथ बौद्धिक अन्वेषण का आनन्द मिला हुआ है। परन्तु इसके द्वारा सस्ती श्रृंगारिकता को, चलते-फिरते प्रेम की कथाओं को या प्रेम की हल्की अभिव्यक्तियों को भी दुरुत्साहन मिला।

इसी क्षेत्र में फ्रॉयड का दूसरा प्रभाव यह पड़ा कि काम की छद्म चेतना और छद्म अभिव्यक्तियों की असलियत खुल गई। प्रकृति पर प्रणय-पात्र का आरोप अथवा परोक्ष के प्रति प्रणय-निवेदन अथवा अतीन्द्रिय प्रेम में आस्था कम हो गई, और काम को भौतिक स्तर पर स्वीकृति मिली। मन की छलनाएँ कम हुईं और वास्तविकता को स्वीकार करने का आग्रह बढ़ा।

अवचेतन-विज्ञान के प्रभाव से हिन्दी साहित्यकार के चिंतन और भावना में गहराई, सूक्ष्मता तथा प्रखरता आई। मन के सूक्ष्म स्तरों तक पहुँचने का, भावों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वीचियों को शब्दबद्ध करने का आग्रह बढ़ा।

जिस समय प्रगतिवाद के प्रचारक जीवन की स्थूल आवश्यकताओं के साथ कला का सम्बन्ध जोड़ते हुए उसे बहिर्मुख करने के लिये नारे लगा रहे थे, फ्रॉयड के प्रभाव से उसके अन्तर्मुखी रूप को यथेष्ट बल मिला और वह इश्तिहारों पर आने से बच गई। हिन्दी के लिये फ्रॉयड का यह वरदान सिद्ध हुआ।

विचार के क्षेत्र में भौतिक-बौद्धिक मूल्यों की अधिक विश्वसनीय तथा रोचक ढंग से स्थापना की गई और जीवन तथा साहित्य के पुनर्मूल्यांकन में सहायता मिली। इस प्रकार फ्रॉयड ने प्रगति की परम्परा को भी आगे बढ़ाया, साहित्यकार के व्यक्तित्व तथा साहित्य की प्रवृत्तियों के विश्लेषण-व्याख्यान के लिये एक नवीन मार्ग खुल गया, जिससे कर्ता तथा कृति का मूल सम्बन्ध स्पष्ट करने में बड़ी सुविधा हुई और साहित्य के अध्ययन-आलोचन के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ा।

परन्तु यह तो हिन्दी का एक पहलू हुआ। नादान उत्साहियों के हाथों पड़ कर फ्रॉयड की दुर्दशा और साहित्य की छीछालेदर भी हिन्दी में कम नहीं हुई, क्योंकि फ्रॉयड-दर्शन एक दुधारा शस्त्र है, जो दोनों तरफ़ काट कर सकता है।

—दिल्ली से प्रसारित



भारतीय शिक्षा आदर्श

रामकुमार दीक्षित

प्राचीन भारत में शिक्षा का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था। शिक्षा का अभिप्राय विद्यार्थी को वह ज्योति अथवा आलोक प्रदान करना था, जो उसके लिये जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सफलता का मार्ग प्रदर्शित करे। अतएव ज्ञान को मनुष्य का तृतीय नेत्र माना जाता था। इसी कारण विद्याविहीन व्यक्ति को अंधा तथा पशु भी कहा गया है।

भारतीय संस्कृति तथा सामाजिक विधान ने शिक्षा को अनिवार्य बनाने का प्रयास किया था। पितृ-ऋण तथा देव-ऋण के समान ऋषि-ऋण की भी कल्पना की गई थी, जिससे केवल विद्याध्ययन द्वारा ही मुक्ति मिल सकती थी। मनुष्य जीवन के लिए जिन चार आश्रमों की व्यवस्था की गई थी उनमें सर्व प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम था जो विद्याध्ययन के लिए ही नियत था। निर्धनता के कारण ही कोई व्यक्ति शिक्षा से वंचित न रह जाय, इसका भी ध्यान रखा गया था, और सम्पूर्ण समाज को शिक्षित करने के लिए योग्य शिक्षकों का अभाव न हो इसलिए एक वर्ण का कार्य ही अध्यापन नियत कर दिया गया था। इस वर्ण ने निःस्वार्थ भाव से ही इस महान् सेवा-कार्य को अपनाया था। समाज ने भी शिक्षक को सर्वश्रेष्ठ स्थान देकर तथा उसके लिये सभी प्रकार की सुविधा और सहायता की आयोजना करके अपनी कृतज्ञता का परिचय दिया था।

प्राचीन भारत की शिक्षा के आदर्श अथवा ध्येय को समझने के लिए तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली पर विचार करना आवश्यक है। शिक्षा पद्धति में समय समय पर स्थिति के अनुरूप परिवर्तन होते रहे हैं, परन्तु मुख्य बातें प्रायः एक रूप ही बनी रही हैं।

बालक की शिक्षा बचपन में चूड़ाकर्म के पश्चात् विद्यारम्भ संस्कार द्वारा आरम्भ होती थी। उस समय उसको लिपि तथा संख्या का बोध कराया जाता था। उच्च शिक्षा उपनयन के पश्चात् आरम्भ होती थी। इस संस्कार के पश्चात् बालक ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके गुरु-गृह में निवास करता था और वहीं शिक्षा ग्रहण करता था। अतः उसे अन्तेवासी या आचार्य-कुल-वासी भी कहा जाता था।

गुरुकुल पद्धति भारतीय शिक्षा की विशेषता थी। प्राचीन काल में वर्त्तमान युग की भाँति देश में राजकीय विद्यालय न थे और न शिक्षा संचालन या नियंत्रण ही राज्य द्वारा होता था। राजा केवल दान द्वारा शिक्षा को प्रोत्साहन देते थे। बड़े बड़े ग्रामों तथा नगरों में गुरु-आश्रम होते थे जहाँ प्रविष्ट होकर विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। बहुधा ये आश्रम नगर की सीमा के बाहर अथवा निकटवर्ती वनों में स्थित होते थे, जहाँ शान्ति तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के वातावरण में सुचारु रूप से शिक्षा दी जाती थी। मठ, विहार तथा मन्दिर भी शिक्षा के केन्द्र थे। इन संस्थाओं का संचालन गुरु द्वारा ही होता था और गुरु की विद्वत्ता, सुशिक्षण तथा शुद्धाचरण ही उनकी ख्याति का कारण बनते थे। ऐसे आश्रमों में दूर दूर से विद्यार्थी आकर एकत्रित होते थे। कालान्तर में वे विश्वविद्यालयों में परिणत हो गये। काशी,

तक्षशिला, वल्लभी, नालन्दा, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी आदि स्थानों की शिक्षा संस्थाओं का नाम भारतीय इतिहास में सदा अमर रहेगा।

ब्रह्मचारी का जीवन तपोमय था। उसके समक्ष सरल जीवन तथा उच्च विचार का आदर्श रखा जाता था। आचार्य स्वयं इस आदर्श की जीवित प्रतिमूर्त्ति था। विद्यार्थी के लिए भोग-विलास की सभी वस्तुएं त्याज्य थीं। उसके वस्त्र तथा भोजन अत्यन्त साधारण होते थे। उसे प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में ही नित्य नियम से निवृत्त हो कर अध्ययन में संलग्न हो जाना पड़ता था। अवकाश के समय अग्नि-होत्र के लिए वन में काष्ठ एकत्रित करना तथा गुरु के पशुओं को चराना भी उसका नित्यकर्म था। भिक्षावृत्ति भी ब्रह्मचर्य जीवन की एक विशेषता थी। इसका उद्देश्य ब्रह्मचारी में नम्रता तथा शालीनता के गुणों का प्रादुर्भाव करना था। ब्रह्मचारी को भिक्षा देना प्रत्येक गृहस्थ का परम पावन कर्त्तव्य था।

आचार्य का भी उत्तरदायित्व कम न था। शिक्षक में विद्या तथा शिक्षण-योग्यता के अतिरिक्त नैतिकता, मानसिक प्रतिभा, एवं आध्यात्मिकता की भी आशा की जाती थी। गुरु-शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर भारतवर्ष यथेष्ट ही गर्व कर सकता है। यदि शिष्य का यह आदर्श था कि वह पुत्र तथा दास की भाँति अपने गुरु की सेवा करे तो गुरु का भी यह कर्त्तव्य था कि वह शिष्य का पुत्रवत् पालन करे और उसे बिना किसी दुराव के शिक्षा दे। विद्यार्थियों के भोजन-वस्त्रादि का प्रबन्ध करना तथा रुग्णावस्था में उनकी परिचर्या करना भी उसका कर्त्तव्य था।

सामान्यतः शिक्षा-काल १२ वर्ष का होता था, जो विद्यार्थी की १२ वर्ष की अवस्था में आरम्भ होकर २४ वर्ष की अवस्था में समाप्त हो जाता था। तदनन्तर ब्रह्मचारी का समावर्तन-संस्कार होता था, जब वह गुरु को यथाशक्ति दक्षिणा देकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के लिए घर लौट आता था। घर आकर उसे अपने माता पिता को उपार्जित ज्ञान की परीक्षा देनी होती थी। यदि उसमें किसी प्रकार की त्रुटि पाई जाती थी तो ब्रह्मचारी को पुनः गुरुकुल लौट आना पड़ता था।

समावर्तन के पश्चात् ही अध्ययन की इतिश्री नहीं हो जाती थी। गृहस्थों के लिए भी स्वाध्याय की व्यवस्था की गई थी। कुछ व्यक्ति गृहस्थाश्रम में न प्रवेश कर जीवन-पर्यन्त विद्याध्ययन में ही रत रहते थे। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते थे। भ्रमणशील विद्वानों और साधु-सन्यासियों के दल तथा यज्ञ के अवसर पर एवं राजाओं द्वारा आमन्त्रित विद्वत्-परिषदें भी विद्या-प्रचार में सहायक होती थीं।

कुछ लोगों की धारणा है कि प्राचीन काल में केवल धार्मिक विषयों की ही शिक्षा दी जाती थी। यह धारणा नितान्त निर्मूल है। वेद, वेदांग, ब्राह्मण, उपनिषद् के साथ साथ इतिहास, पुराण, नीति, धर्म आदि उपयोगी शास्त्र भी पढ़ाये जाते थे। प्राचीन ग्रन्थों में १४ विद्याओं, १८ शिल्पों तथा ६४ कलाओं का उल्लेख मिलता है। साहित्यिक शिक्षा के अतिरिक्त सैनिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध था। प्रायः सभी व्यवसाय आनुवंशिक तथा श्रेणियों में संगठित हो गये थे।

मुद्रणकला का आविष्कार होने से पहले लिखित ग्रन्थों की कमी के कारण शिक्षा मौखिक विधि से ही दी जाती थी। इस पद्धति में स्मरण शक्ति तथा कंठस्थ करने की क्षमता बहुत आवश्यक थी। सूत्र ग्रन्थों की रचना भी इसी अभिप्राय से की गई थी। परन्तु ग्रन्थों का कण्ठस्थ कर लेना ही पर्याप्त नहीं था, उनका अर्थ-ज्ञान भी आवश्यक था। गुरु अपने शिष्य को विभिन्न विषय प्रश्नोत्तर तथा वार्त्तालाप की पद्धति से समझाता था, जिससे विद्यार्थी की वाक्पटुता, विचार-विश्लेषण तथा निरीक्षण और मनन-शक्ति का पूर्ण विकास होता था।

उपर्युक्त विवेचना से विदित होता है कि प्राचीन भारत में शिक्षा को व्यापक तथा सुलभ बनाने का सफल प्रयास किया गया था। यह अत्यन्त आवश्यक था क्योंकि उस युग में समाचारपत्रादि के अभाव में शिक्षा संस्थाओं तथा शिक्षित व्यक्तियों के द्वारा ही समाज में ज्ञान की अभिवृद्धि सम्भव थी। शिक्षा की व्यापकता का प्रमाण हमें समय-समय पर आने वाले विदेशी यात्रियों के भ्रमण-वृत्तान्त द्वारा होता है। निर्धनता शिक्षा-प्राप्ति के मार्ग में बाधक न हो, इसलिए भिक्षावृत्ति विद्यार्थी-जीवन का एक प्रमुख कर्त्तव्य माना गया था। हर श्रेणी के विद्यार्थियों को समान रूप से तपोनिष्ठ होकर रहना पड़ता था, जिससे सामाजिक समानता की भावना दृढ़ होती थी। भिक्षावृत्ति ब्रह्मचारी को यह भी स्मरण दिलाती थी कि वह समाज की सहायता से ही शिक्षा प्राप्त कर रहा है जिसके ऋण को उसे गृहस्थाश्रम में चुकाना पड़ेगा।

शिक्षा का मुख्य आदर्श व्यक्तित्व का विकास था। इसके लिये चरित्र-निर्माण अत्यन्त आवश्यक है। अतः प्राचीन भारत में इस प्रश्न पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसीलिए ब्रह्मचर्यावस्था में संयम तथा सादगी से रहने का विधान था और विद्यार्थी में विनय तथा शालीनता के भाव भरने का प्रयत्न किया जाता था। भारतीय शिक्षा-पद्धति विद्यार्थी के मानसिक विकास को प्रोत्साहन देती थी। आचार्य विद्यार्थी को आत्म-निरीक्षण, विवेचन तथा मनन का पर्याप्त अवसर देता था। शिष्य में आत्म-विश्वास तथा आत्म-संयम के साथ-साथ उत्तर-दायित्व एवं कर्त्तव्यपरायणता के भाव जागृत करना ही उसका मुख्य उद्देश्य था। विद्यार्थी को इस बात का बोध कराया जाता था कि वह अपनी संस्कृति का संरक्षक है, जिसकी रक्षा तथा प्रसार उसका प्रधान कर्त्तव्य था।

मानसिक उन्नति के साथ-साथ शारीरिक विकास पर भी यथेष्ट ध्यान दिया जाता था। स्वच्छन्द और उन्मुक्त वातावरण में निवास एवं अध्ययन, वनों में परिभ्रमण तथा प्राणायाम आदि स्वास्थ्य-संवर्धक क्रियायें थीं। शिक्षा का ध्येय केवल इहलौकिक सफलता ही न था। 'या विद्या सा विमुक्तये' के सिद्धान्त के अनुसार विद्या मुक्ति का मार्ग भी बताती थी। शिक्षा और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध था। धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन तो होता ही था, शिक्षा-प्रणाली भी धार्मिक संस्कारों के साथ सम्बन्धित थी। ब्रह्मचारी को सामयिक व्रत-अनुष्ठानादि के अतिरिक्त नित्यप्रति अग्निहोत्र तथा सन्ध्यावन्दन करना पड़ता था। धार्मिक शिक्षा की प्रधानता थी, परन्तु अन्य शास्त्रों की उपेक्षा नहीं की जाती थी। भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति में विद्यार्थी का सर्वांगीण मानसिक, शारीरिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास सम्भव था। इसी को लक्ष्य करके तो किसी कवि ने कहा है 'किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या'?

कालान्तर में सामाजिक संकीर्णता ने शिक्षा पर भी प्रभाव डाला। शूद्रों और स्त्रियों को वैदिक शिक्षा के अधिकार से वंचित किया गया। परन्तु प्रारम्भिक वैदिक युग में इस प्रकार के प्रतिबन्ध न थे, अन्यथा हमें विश्ववरा, घोषा, अपाला, गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषी नारियों के उदाहरण कहाँ से प्राप्त होते?

—लखनऊ से प्रसारित



सैयद अमीरअली 'मीर'

जहूरबख्श

'मीर' साहब

ठीक तारीख़ तो मालूम नहीं, हां, इतना ज़रूर मालूम है कि सन् १९२६ के नवम्बर मास का अन्तिम सप्ताह था। सवेरे का समय था। मैं चबूतरे पर बैठा हुआ दातुन कर रहा था। इतने में एक परिचित युवक आया और बोला, 'देवरी से सैयद अमीर अली साहब तशरीफ़ लाए हैं। वे चाहते हैं कि आप उनसे अभी मिल लीजिए। बहुत कुछ बातें करनी हैं।'

मीर साहब हिन्दी के पुराने सेवकों में से हैं। वर्तमान कालीन मुसलमानों में नाम लेने के लिये केवल वही हिन्दी कवि हैं—इस नाते से मैं उनके यश को खूब जानता था। एक अरसा हुआ, उनसे मेरा पत्र-व्यवहार भी चलता रहा था। उन दिनों वे छत्तीसगढ़ की एक रियासत में डिप्टी इन्सपेक्टर ऑफ स्कूल्स थे और फिर तहसीलदार हो गए थे। मैंने उनसे पत्र-व्यवहार केवल इसी विचार से आरम्भ किया था कि वे मेरे ही ज़िले के निवासी हैं और उनके द्वारा मेरा ज़िला गौरवान्वित हुआ है।

आज वही मीर साहब सागर आए हुए हैं, और मुझसे मिलना चाहते हैं। हृदय में कौतूहल, आह्लाद और उत्कण्ठा की भावनाएँ उदित हुईं। बस, मैं चटपट कपड़े पहन कर उस युवक के साथ हो लिया और मीर साहब के डेरे पर पहुँचा। मीर साहब मैदान में कुर्सी पर बैठे हुए धूप सेंक रहे थे। उस समय वे वृद्धावस्था में पैर रख चुके थे। उन्हें देखकर वास्तव में मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। एक रियासत के तहसीलदार साहब इतने सादे लिबास में हैं और उनका शरीर क्या है, चमड़े से मढ़ा हुआ हड्डियों का ढाँचा। फौरन् ही यह बात समझ में आ गई कि मीर साहब चाहे जिस दर्जे पर रहे हों, इनका जीवन सुखी नहीं रहा, चिन्ता शरीर को चाट गई है।

अल्लाह! बड़ी मेहरबानी की! आप ही ज़हूरबख्श साहब हैं! यह कहते हुए मीर साहब ने मुझे अपने हृदय से लगा लिया और फिर बड़े ही आदर से अपने हाथों बग़ल में पड़ी हुई कुर्सी पर बिठाया। कुशल-प्रश्न आदि के उपरान्त बातचीत शुरू हुई। मीर साहब बोले—मेरी गुलामी के बन्धन टूट गए हैं। अब मैं आपकी ख़िदमत में आ गया हूँ। कहिए, आप मेरे लिये क्या कर सकते हैं?

मुझे क़तई पता नहीं था कि मीर साहब की हालत क्या से क्या हो गई है। मुझे तो यही मालूम था कि ये रियासत के उच्च पदाधिकारी हैं और रियासत के प्रभु जी उन्हें बहुत बहुत चाहते हैं। मैंने उनके प्रश्न पर और ही कुछ ख़्याल किया, कहा—यह कहिए, आपने पेन्शन ले ली है? सर्विस कब छोड़ी?

इस पर मीर साहब ने जो कुछ बताया वह उनकी बदक़िस्मती का किस्सा था—ऐसा किस्सा, जिसे सुनकर कलेजा पसीज उठा। आह! आदमी का भाग्य भी क्या चीज़ है, चाहे तो उसे नन्दन बन की सैर करा दे, और चाहे तो उसे दोज़ख़ की आग में तिल-तिल कर जलने के लिये फेंक दे। मीर साहब मज़े से अधिकार-सुख भोगते हुए दिन बिता रहे थे। उस समय उन्होंने यह न सोचा था कि दुर्भाग्य मुझे ऐसा दण्ड देने वाला है, जिससे मैं दो रोटियों के लिये भी महंगा हो जाऊँगा। मीर साहब ने चोरी नहीं की थी, ख़यानत नहीं की थी, राज-विद्रोह भी नहीं किया था; उनका अपराध यही था कि उनके दिल के एक कोने में देश-प्रेम की थोड़ी सी आग जल रही थी। परन्तु उससे चिनगारियाँ नहीं उड़ रही थीं, धुआँ भी नहीं उठ रहा था। हां, उन्होंने अपना यह भेद चुपचाप किसी बड़े नेता को लिख भेजा था। उस रियासत के प्रभु जी को मीर साहब के हृदय में लगी हुई उस आग का पता चल गया और उन्होंने क़लम के एक ही झटके से निरीह मीर साहब को रियासत से उठाकर सैकड़ों कोस की दूरी पर फेंक दिया। मैं चिन्ताकुल हो कर सोचने लगा—भला मेरे जैसा ग़रीब आदमी इस मनस्वी व्यक्ति की क्या सहायता कर सकता है?

मीर साहब बातों का सिलसिला जारी रखते हुए बोले—रियासत की सर्विस थी, अगर चाहता तो हजारों के वारे-न्यारे कर लेता। लेकिन मेरी ईमानदारी मुझे खा गई। जो कुछ थोड़ी सी जमा पूँजी थी, वह कभी की पेटों के हवाले हो चुकी। अब गृहस्थी कैसे चलेगी यही सोच मारे डालता है। अगर मैं जी तोड़ कर हिन्दी संसार की ख़िदमत में जुट जाऊँ, तो वह मुझे दो रोटियाँ दे सकेगा या नहीं?

राष्ट्रभाषा के उस पुराने सेवक की वह कातरता, वह भोलापन देखकर मैं विचलित हो उठा। हिन्दी प्रकाशकों और सम्पादकों का निर्दय व्यापार मेरे माथे में घूमने लगा। फिर भी मैंने साहस कर जवाब दिया—जनाब यहाँ तो ख़ून लगा कर शहीदों में नाम लिखवा लिया है। आप हिन्दी के पुराने और यशस्वी सेवक हैं, खुद ही अपने लिये बेहतर रास्ता निकाल सकते हैं।

मीर साहब अधीर होकर बोले, "अरे! तो क्या दिन भर कलम घिसने पर भी दो रोटियाँ नसीब न होंगी?"

हिन्दी के लेखकों और कवियों का जीवन कितना निराशामय, कितना अन्धकारपूर्ण और कितना अपमानग्रस्त है, इसका वास्तविक बोध मुझे उसी दिन हुआ। मैंने उन्हें नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—हर्गिज़ नहीं। जान पड़ता है, आपको हिन्दी के प्रकाशकों और सम्पादकों के व्यवहार का बिलकुल पता नहीं है। यहाँ तो यह हाल है कि आप जो कुछ भी करें, परार्थ की भावना से करें। यदि इतने पर पान-तमाखू के लिये कुछ मिल जाय, तो अपना अहोभाग्य समझें।

मीर साहब बिलकुल निराश हो गए। हृदय की विषम वेदना उनके सूखे हुए चेहरे से फूट निकली। उनका वह करुण चित्र देखकर मेरी तबियत तिलमिला उठी। परन्तु महज़ आश्वासन देने के विचार से मैंने उनसे कहा—'आप इतने निराश, इतने चिन्तित न हों। देखिए, मैं पूरी-पूरी कोशिश करूँगा।"

जैसे डूबते हुए को तिनके का सहारा मिल गया। मीर साहब कुछ आश्वस्त होकर बोले—हाँ, भाई, इस बुड्ढे के लिये ज़रूर कुछ हाथ-पैर चलाइए। ताज़िन्दगी आपका एहसान न भूलूँगा।

बातों ही बातों में मुझे पता चला कि मीर साहब को उर्दू, फ़ारसी और अरबी का अच्छा ज्ञान है और वे मुस्लिम साहित्य, मुस्लिम इतिहास, मुस्लिम धर्म तथा मुस्लिम संस्कृति पर अच्छी रोशनी डाल सकते हैं। मैंने सोचा कि हिन्दी संसार में इस्लाम से सम्बन्ध

रखने वाला साहित्य एकदम नहीं है। यदि कोई प्रकाशक मीर साहब को आश्रय दे तो इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य हो सकता है। हृदय में आशा का संचार हुआ।

घर आते ही मैंने कई प्रसिद्ध प्रकाशकों और सम्पादकों को मीर साहब के सम्बन्ध में करुणा-पूर्ण पत्र लिखे। उनमें से दो-चार तो ऐसे भी थे, जो कई बार मुझ से मीर साहब का पता पूछ चुके थे! लेकिन अब जब काम का समय आया, तब सभी चुप्पी साध गए। अन्त में सर्वथा निराश और निरुपाय होकर एक सन्ध्या को भाई अब्दुल ग़नी के पास पहुँचा। भाई ग़नी मध्यप्रदेश के एक अत्यन्त तेजस्वी सिपाही हैं। वे उन लोगों में से हैं जो केवल देश के लिए जीते और देश के लिये ही मरते हैं। उन दिनों वे सागर से समालोचक नामक एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र निकाल रहे थे और खुद ही सम्पादक, प्रकाशक, मुद्रक, क्लर्क आदि सब कुछ थे। फिर भी समालोचक की दशा अत्यन्त दीन थी। मैंने सोचा यदि ग़नी भाई समालोचक को मीर साहब की गोद में डाल दें, तो इससे कई लाभ हो सकते हैं। ग़नी भाई को कुछ फ़ुरसत मिलेगी, तो वे बाहर चल फिर कर ग्राहक और विज्ञापन जुटाएंगे। यहाँ मीर साहब की योग्यता और अनुभवशीलता समालोचक को नित्य नवजीवन प्रदान करेगी।

ग़नी भाई किसी प्रकार मीर साहब को तीस रुपये मासिक पर अपने यहाँ रखने के लिये सहमत हो गये। तीस रुपये की बात सुन कर शायद लोग हँसेंगे। पर, हँसने के पहले उन्हें यह याद रखना चाहिये कि ये तीस रुपये नहीं, समालोचक के प्राण थे, जो मीर साहब को अर्पित किए जा रहे थे। उस समय समालोचक की ग्राहक संख्या ढाई सौ-तीन सौ से भी कम थी।

ग़नी भाई से सब बातें तय कर ज्यों ही मैं बाहर निकला, त्यों ही द्वार की ओर बढ़ते हुए मीर साहब पर मेरी नज़र पड़ी। दुआ-सलाम के बाद ही वे बोले—मैं आपकी तलाश में ही यहाँ आ रहा था। कहिये, कुछ सिद्धि हुई?

अपने जीवन में अधीरता और दीनता का ऐसा हृदय-द्रावक चित्र मैंने पहले कभी नहीं देखा था। मैं उन्हें आदरपूर्वक ग़नी भाई के पास ले गया। सब हाल सुनने के बाद मीर साहब अत्यन्त दुखी हो कर बोले—तीस रुपये! भला तीस रुपये में क्या होगा?

मैंने जवाब दिया—कुछ न होने से बहुत हैं। इन्हें तीस रुपये न समझिये—ये समालोचक के प्राण हैं। आप पर तरस खा कर ही समालोचक पर छुरी चलाई गई है। अब समालोचक का पालन-पोषण कीजिए और यह जो कमाई करे सब आप ही ले लीजिये।

दूसरे दिन से मीर साहब ने समालोचक-कार्यालय में डेरा डाल दिया। परन्तु वे समालोचक के लिये देवता सिद्ध नहीं हुए। बात यह थी कि हम दोनों गर्म ख़ून वाले नौजवान थे और वे सर्द ख़ून वाले बूढ़े। यदि लेखनी में स्वभावतः एक ओर अनुभवशून्य अल्हड़ता थी, तो दूसरी ओर अनुभवजन्य गम्भीरता। फलतः पारस्परिक विचारों में सामंजस्य स्थापित न होने पाता था। इसलिए तीन चार मास बाद मीर साहब स्वयं समालोचक से अलग हो गए। इतनी स्वातन्त्र्य-प्रियता थी उनमें।

एक बार मीर साहब रास्ते में मिले। उनके हाथ में ढेर भर विज्ञापन फ़ार्म थे। उन्होंने एक फ़ार्म मुझे दिया। इस विज्ञापन द्वारा एक हिन्दी-प्रेमी सज्जन की ओर से नगर-निवासियों को इस आशय की सूचना दी गई थी कि भारत-प्रसिद्ध हिन्दी कवि सैयद अमीर अली साहब मीर यहाँ आए हुए हैं, और वे केवल दो रुपये महीने लेकर हिन्दी पढ़ने वाले विद्यार्थियों का ट्यूशन कर सकते हैं। विज्ञापन पढ़ कर मैंने आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से मीर साहब की ओर देखा। वे शायद मेरे मन की बात ताड़ गये

और सजलनयन हो कर बोले—भाई, भाग्य का खेल है। हो सके, तो आप भी इस मामले में मेरी सहायता कीजिये।

दुःख है कि मीर साहब को इस तुच्छ उद्योग में भी सफलता प्राप्त न हुई। अन्त में म्युनिसिपैलिटी की एजुकेशन कमेटी के प्रधान श्री केदारनाथ रोहिणी की दया से मीर साहब को एक प्राइमरी स्कूल में बीस रुपये मासिक की जगह मिल गई। यद्यपि यह पद मीर साहब की गरिमा पर एक करारे आघात के समान था, तथापि परिस्थिति की विवशता से उन्होंने अपना सिर ठोंकते हुए इसे स्वीकार कर लिया। उफ़! कितना करुण दृश्य था वह! प्राइमरी स्कूल के प्रधान शिक्षक की मूर्खता द्वारा एक भारत-प्रसिद्ध हिन्दी कवि और लेखक की अगाध विद्वत्ता नित्य ही दुत्कारी जाती थी। इस प्रकार एक मूल्यवान जोवन जो साहित्य का निर्माण करता, अपमान और आहों की ज्वाला में भस्म होता रहता था।

शिक्षक का व्यवसाय करते हुए मीर साहब की आत्मा विशेष पीड़ित रहती थी। इसका एक कारण यह था कि अत्यल्प आय होने से उनके कुटुम्ब का निर्वाह भली भांति नहीं होता था। मितव्ययिता के विचार से वे शहर में अकेले रहते थे, और उनका कुटुम्ब उनसे कोई पचास मील की दूरी पर केसली नामक एक ग्राम में रहता था। कोई एक वर्ष बाद मीर साहब ने सोचा कि यदि मैं भी केसली में जा रहूँ तो कौटुम्बिक समस्यायें किसी कदर हल हो सकती हैं। अतः उन्होंने केसली में स्कूल मास्टर का पद पाने के लिए डिस्ट्रिक्ट काउन्सिल से प्रार्थना की और उत्तर में अनेक सदस्यों से बड़े ही अपमानपूर्ण शब्द पाये।

इस घटना से मीर साहब अत्यन्त मर्माहत हुए और उन्होंने निश्चय किया कि अब सागर में रहूँगा ही नहीं। इसी बीच भाटापारा जिला रायपुर के एक ज़मीदार ने उनको बुलाया और वे नौकरी छोड़ कर वहाँ चले गये। सागर छोड़ते समय उनकी आँखें आँसुओं से भरी हुई थीं और उन्होंने मुझ से कहा था—मातृभूमि की गोद में इस आशा से आया था कि वह मुझे दो रोटियाँ देने में कन्जूसी न करेगी। परन्तु उस आशा पर तुषारपात हुआ, रोटियों के बदले मुझे लांछना और प्रताड़ना प्राप्त हुई। मातृभूमि ने मेरे कोमल हृदय पर अपमान के कठोर आघात किये। क्या कहूँ मैं अपने दुर्भाग्य को?

इस प्रकार मीर साहब हिन्दी संसार से प्राप्त हुए असीम उपेक्षा के बोझ को ढोते ढोते भाटापारा चले गए। परन्तु धन्य उनकी लगन और धन्य उनकी लेखनी। फल की रत्ती भर भी आशा किये बगैर वे लगातार हिन्दी की सेवा में भिड़े रहे और उनकी लेखनी लगातार हिन्दी लिखती रही। कुछ भी हो, मीर साहब अपने युग के अच्छे कवियों में से थे। हिन्दी संसार में उनका एक विशेष स्थान था। वे एक प्रकार से हिन्दी संसार में मुस्लिम समाज के प्रतिनिधि कवि थे। जब मुस्लिम समाज में हिन्दी के प्रति विद्रोह की भावनाएँ ज़ोर पकड़ रही थीं, तब वे उसकी सेवा करने के लिए अग्रसर हुए थे और उन्होंने यथाशक्ति उस विद्रोह का मुकाबिला किया था। केवल इसी दृष्टि से उनका नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

हिन्दी संसार में मीर साहब का प्रवेश किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में उनकी जीवन कथा हमें एक मनोरंजक घटना सुनाती है। संवत् १६५१ वि० की बात है। एक दिन वे देवरी में अपनी दुकान पर बैठे हुए थे। इतने में रमज़ान खां नामक एक कांस्टेबिल श्री वेंकटेश्वर समाचार की एक प्रति लिये हुए उनके पास पहुँचा और बोला—मीर साहब! इस पत्र में भानु कवि-समाज, सागर, की दी हुई एक समस्या छपी है, जो इस समस्या की सर्वोत्तम पूर्त्ति करेगा, उसे छन्द-प्रभाकर नामक ग्रन्थ पुरस्कार में मिलेगा। क्या आप इस समस्या की

पूर्त्ति करेंगे ? इस समय मीर साहब की आयु लगभग इक्कीस वर्ष की थी, और वे जबलपुर नार्मल स्कूल से शिक्षकीय परीक्षा पास कर चुके थे। किन्तु अभी तक यह न जानते थे कि छन्द शास्त्र क्या चीज़ है और समस्या-पूर्त्ति किस प्रकार की जाती है ? उन्होंने समाचारपत्र हाथ में ले लिया और कवि-समाज की विज्ञप्ति पर दृष्टि डाली। समस्या थी—'लोभ तें अमी के अहि चढ्यो जात चन्द पै।' मीर साहब की समझ में कुछ न आया, फिर भी उन्होंने साहस कर रमज़ान खाँ को उत्तर दिया—'हाँ, मैं इसकी पूर्त्ति करूँगा।'

उसी दिन से मीर साहब समस्या-पूर्त्ति की चिन्ता में व्यग्र रहने लगे। तीसरे दिन एक साहित्य-प्रेमी दर्ज़ी उनकी दूकान पर आया। उसने मीर साहब को समस्या का मतलब बताया और मनहर कवित्त रचने की विधि भी समझा दी। बस, मीर साहब ने समस्या-पूर्त्ति कर डाली। उनकी वह आदि रचना इस प्रकार है—

सीता-राम व्याह को उछाह अवलोकि सब,
जनक-समाज बलि जात सुखकन्द पै।
वेद कुल रीति जैसी आज्ञा वसिष्ठ दीन्हीं,
भाँवरों के सुन्दर सुभ समै निर्द्वन्द्व पै।
ता समै दुलही मांग भरिबे चलायो हाथ,
दूल्हा ने सिंदूर लै अंगूठा अनन्द पै।
उपमा तहँ ऐसी मन आई कवि मीर, मानौ
लोभ तें अमी के अहि चढ्यो जात चन्द पै।

सागर के कवि-समाज में यह पूर्त्ति सर्वोत्तम ठहराई गई। बस, मीर साहब के उत्साह में तूफ़ान आ गया। वे अब मनोयोग पूर्वक छन्द-शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त हुए, और नित्य कुछ न कुछ लिखने लगे। उनकी सफलता से देवरी के अनेक साहित्यप्रेमी युवकों को कविता का चस्का लग गया, और वे मीर साहब के पास आ आकर कविता का अध्ययन करने लगे। अन्त में मीर साहब को इस क्षेत्र में ऐसी सफलता हाथ आई कि वे हिन्दी संसार के चमकते हुए सितारे समझे जाने लगे।

मीर साहब जब उदयपुर स्टेट की राजधानी धर्मजयगढ़ में पहुँचे तब उनको रहने के लिये एक मकान मिला था। उन्होंने उसकी प्रशंसा तत्कालीन नरेश के सामने इस प्रकार पेश की थी:—

मोर अवास को हाल कहा कहौं,
जाके किवार नहीं सेंकरी लौं।
भूमि समान न छाप दिवार में,
चूहे बसैं बलि की नगरी लौं।
छप्पर पै न बरावर छावनी.
आवत है घुस घाम तरी लौं।
जो बरसे घन एक घरी लगि,
तो बरसे घर चार घरी लौं।

जब मीर साहब सागर में थे तब बहुधा यह कवित्त कहा करते थे :—

चतुर गवैया होय, वेद को पढ़ैया चाहे,
समर लड़ैया होय, रण-भूमि चौड़ी में।
जानत समैया होय, मीर कवि त्योंही चाहे
बात को जनैया होय, नैन की कनौड़ी में॥
नीति पै चलैया होय, पर-उपकारी आदि,
कुशल करैया काज, हाथ की हथौड़ी में।
गुनन को शीला होय, तौऊ ना वसीला बिन,
कोऊ है पुछैया भैया तोहिं तीन कौड़ी में।

मीर साहब हिन्दू सभ्यता एवं संस्कृति के परम भक्त थे और तदनुकूल ही कविताओं के विषय चुनते थे। उन्होंने बहुत सी स्फुट कविताएं लिखी थीं, जिनमें सूर्य सन्ध्या उलहना पंचक, अन्योक्ति सप्तक, दशहरा, कृष्णाष्टमी, आज और कल आदि ने अच्छी लोक-प्रियता प्राप्त की थी। इसमें सन्देह नहीं कि मीर साहब की रचनाएं प्रसाद गुण से पूर्ण रहती थीं। उनमें भाव भी प्रांजल गुम्फित होते थे। भाषा पर मीर साहब पूरा अधिकार रखते थे। वे ब्रज भाषा और खड़ी बोली में एक समान सुन्दर कविताएं लिख लेते थे। खेद है, उनकी सम्पूर्ण रचनाएं आज तक यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं—पुस्तकाकार भी प्रकाशित नहीं हो सकी हैं।

मीर साहब की सब से प्रसिद्ध रचना बूढ़े का विवाह है। यह एक खण्ड काव्य है और

इसमें वृद्ध विवाह की बुराइयां बड़े ही सुन्दर ढंग से अंकित की गई हैं। चतुर कवि ने समाज की आलोचना ऐसी कुशलता से की है कि बस, पढ़ते ही बनती है। इस पुस्तक का समर्पण तो देखिए, कितना ओज भरा है :—

जो यौवन का लूट चुके सुख,
अब मलते रहते हैं हाथ।
बाबा कहलाते, पर रहती
विषय वासना जिनके साथ॥
देख किशोरी को हो जाते,
जिनके आनन-कूप सनीर।
उन बूढ़ों के कम्पित कर में,
करे समर्पण सादर मीर॥

अस्तु, सचाई यह है कि मीर साहब बहुत कुछ करने की इच्छा रखते हुए भी कुछ न कर सके और अपनी तड़पती हुई साध लिए संसार से चल बसे। उफ़! उनकी आकांक्षाएं कितनी महान् थीं और वे हिन्दी को क्या क्या देने के लिये व्याकुल रहते थे। परन्तु हिन्दी-संसार ने उनको नोन-तेल-लकड़ी के जाल में उलझाए रखकर हिन्दी को जो भीषण क्षति पहुँचाई वह अकथनीय है।

मीर साहब ने सन् १८७३ ई० में सागर में जन्म धारण किया था और सन् १९३७ ई० में भाटापारा में रेल से कटकर यह संसार छोड़ा। वे निस्सन्तान थे। केवल दो चचेरे भतीजे उन के वंश-भूषण थे, जो कभी के जीवन-मुक्त हो चुके हैं। बस अब उनकी अस्सीवर्षीया पत्नी शफ़ुन्नीसा जी विद्यमान हैं और अन्न-वस्त्र के लिये ग़ैरों का मुँह ताका करती है।

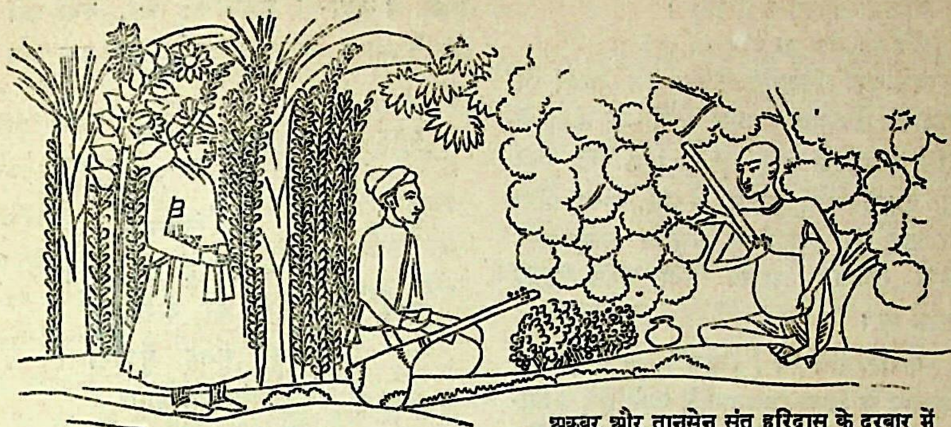
—नागपुर से प्रसारित

अब वे वासर बीत गये

मैथिलीशरण गुप्त

अब वे वासर बीत गये,
मन तो भरा भरा है अब भी पर तन के रस रीत गये,
चमक छोड़ चौमासे बीते, कंप छोड़ कर शीत गये,
देकर सुध की ऊमस आगे बढ़ कितने मधु मीत गये,
इसे राम जाने जीवन में हारे हम वा जीत गये,
इतना ही क्या थोड़ा जो यह गूँज बची है गीत गये।

—दिल्ली से प्रसारित



अकबर और तानसेन संत हरिदास के दरबार में

संतों का संदेश

क्षितिमोहन सेन

मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह रहा है कि जिन वस्तुओं को उसने लोक-कल्याण और मंगल के लिए ईजाद किया, वही वस्तुएँ काल-क्रम से उसकी दुश्मन बन गईं। धर्म उन्हीं वस्तुओं में एक है। करुणा, स्नेह, मैत्री की प्रेरणा देने वाला धर्म बाद में चलकर घृणा, अत्याचार और ख़ून-ख़राबी का कारण बन गया। यूरोप के देशों में किसी समय इसने इतना उग्र रूप धारण किया कि उसे याद कर हम काँप उठते हैं।

भारतवर्ष कम-व-वेश इस मामले में भाग्य-शाली रहा है। यहाँ नाना जातियों, नाना धर्मों के अनुयायी अति प्राचीन काल से आते रहे हैं और भारतवर्ष ने उदारता-पूर्वक उन्हें स्थान दिया है। यहां शक, हूण, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि सभी आये और उन्हें समुचित समादर मिला। ये सभी विजेता बन कर नहीं आये थे, अतएव किसी राजनीतिक आधिपत्य के कारण उन्हें यहाँ स्थान मिला, ऐसी बात नहीं है। मुस्लिम विजेताओं से बहुत पहले इस देश में मुस्लिम सन्त और सूफ़ी आये और यहाँ समादर के पात्र बने। जैन पुरातन प्रबन्ध से यह पता चलता है कि तेजपाल वस्तुपाल की स्त्री निरुपमा देवी ने अस्सी मस्जिदें बनवा दी थीं और यह भारतवर्ष में मुस्लिम विजेताओं के आने से पहले की बात है। भारतवर्ष ने उन्हें उदारतापूर्वक ग्रहण किया।

मुस्लिम विजेताओं के भारतवर्ष में आने के बाद हिन्दुओं और मुसलमानों में ऐसे दो दल दिखाई पड़े जिनका दृष्टिकोण उदार नहीं था। जिस तरह हिन्दू पंडितों को अपने शास्त्र-ज्ञान का अभिमान था उसी प्रकार मुल्लाओं को भी अपने मज़हब की बारीकियों का ज्ञान होने का अहंकार था। दोनों अपने को ठीक समझते थे और दोनों एक दूसरे को ग़लत रास्ते पर चलने वाला करार देते थे। दोनों ने धर्म की दीवार खड़ी कर रक्खी थी जो मनुष्य-मनुष्य के मिलन में बाधा उपस्थित करने वाली थी। इसी समय हमें सन्तों के दर्शन होते हैं, जिनका धर्म भगवान-प्रेम था। प्राणी मात्र के प्रति उनमें अपनापन का भाव था। उनके लिये, तुलसीदास के शब्दों में—

जाति, धर्म पूछे नहीं कोई।
हरि को भजै सो हरि को होई॥

ही सबसे बड़ा सिद्धान्त था। इन सन्तों में तथाकथित ऊँच-नीच अनेक वर्णों के लोग थे और ये समाज में आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। इन सन्तों में कबीर, रैदास, धन्ना, पीपा और बाद की पीढ़ी में चलकर दादूदयाल, दरिया साहेब, रज्जब तथा अनेक सूफ़ी साधक थे।

कबीर, रविदास (रैदास) आदि साधक रामानन्द के शिष्य-सम्प्रदाय में पड़ते हैं। रामानन्द स्वयं ब्राह्मण थे और रामानुज-प्रवर्तित आचारनिष्ठ सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त थे। लेकिन रामानन्द उस घेरे से बाहर निकल आए। उन्होंने संस्कृत छोड़ कर लोक-भाषा में उपदेश देना शुरू किया। उन्होंने जाति-पांति के भेद भाव को भुलाकर सबको साधना का मन्त्र दिया। उनके प्रधान बारह शिष्यों में रविदास चमार थे, कबीर जुलाहे, सेना हजाम, धन्ना जाट तथा पीपा राजपूत। द्रविड़ देश से उत्तर भारत में भक्ति को ले आने का श्रेय रामानन्द को है और कबीर ने उसको सब जगह फैला दिया

भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
प्रगट कियो कबीर ने सप्तद्वीप नौ खण्ड॥

भक्ति के इस प्रचार में नामदेव और सदना का नाम उल्लेखनीय है। नामदेव दरज़ी थे और सदना क़साई। उत्तर भारत में कबीर महागुरु हुए और प्रायः अधिकांश सन्त-मत जो उनके बाद हुए वे अल्पाधिक कबीर के मतवाद से प्रभावित हैं।

कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलाने की चेष्टा की। पंडितों और मुल्लाओं के दक़ियानूसीपन को देखकर ही कबीर ने कहा था :

इन दोउन राह न पाई।

अगर खुदा मस्जिद में ही वास करता है तो और सब मुल्क किसका है? तीर्थ की मूर्त्ति में राम का वास है, इस द्वैत भाव में सत्य कहाँ है? हाय, पूर्व दिशा में हरि का वास है और पश्चिम में खुदा का मुक़ाम है; अरे, क्यों नहीं दिल के भीतर खोजकर देखते, वहीं राम और रहीम हैं।

अगर खुदाइ मसीत वसत है,
और मुलुक किसकेरा।
तीरथ मूरति राम निवासा,
दुहूँ में किनहूँ न हेरा॥
पूरब दिशा हरी का वासा,
पच्छिम अलह मुकामा।
दिल ही खोजि दिले दिल भीतर,
इहाँ रहीम और रामा॥

सन् १५४४ ईसवी में राजपूताना में दादू का जन्म हुआ था। भारतवर्ष के नाना स्थानों में उनके अनेक भक्त हैं। वे जन्मजात मुसलमान थे।

उनका अल्लाह और राम का भ्रम छूट गया था। उनके लिये हिन्दू और तुर्क में कोई भेद नहीं रहा—

अल्लाह राम छुटा भ्रम मेरा,
हिन्दू तुर्क भेद कुछ नाहीं।

अध्यात्म-जगत् में जाति-भेद, सम्प्रदाय-भेद, और स्त्री-पुरुष आदि के भेद मिट जाते हैं, उनका अस्तित्व नहीं रह जाता। कबीर ने इसीलिए कहा है :

ऐसो भरम विगुचरन भारी।
वेद कितेब दीन औ दोजख,
को पुरषा को नारी।
एकै तुचा हाड़ मलमूत्रा, एक रुधिर एक गूदा।
एक बूंद सों सृष्टि रचो है,
को ब्राह्मन को सूदा॥

वेद-क़ुरान में, इस संसार में धर्म के भेद को लेकर यह सब क्या बेकार की तकरार है? कौन पुरुष है और कौन नारी है? एक ही बिन्दु, एक मलमूत्र, एक चाम, एक इन्द्रिय, एक ज्योति से ही सब उत्पन्न हुए हैं, फिर कौन ब्राह्मण है और कौन शूद्र है?

इस भेद भाव से, इस मिथ्या से मध्ययुग के साधकगण जो मुक्त हो सके थे, उसका सबसे बड़ा कारण यह था कि भगवान के लिये अनन्य भक्ति ही उनके लिये परम काम्य थी। भगवान के प्रेम को लेकर वे इस प्रकार मस्तमौला बने रहते थे कि उनके लिये आचार, शास्त्र, वेश आदि किसी काम के नहीं रह गये थे। न स्वर्ग का लाभ ही उन्हें लालच दिला सकता था और न नरक का भय ही डरा सकता था। प्रेम-पथ के ये पथिक काया को बेकार कष्ट देना नहीं चाहते, यद्यपि प्रेम पाने के लिये उन्हें अपने शरीर और मन के नाना प्रकार के कलुषों को दूर करना पड़ता है। ये इस देह को ही देवालय मानते हैं जिसमें देहातीत ब्रह्म विराजमान है। मिट्टी-पत्थर के बने हुए मंदिरों में प्रतिष्ठित मूर्त्तियों का कोई मूल्य नहीं। बाह्य उपचारादि द्वारा पूजा अर्थहीन है। इन साधकों की दृष्टि में दया, अहिंसा, मैत्री यही सब असली साधन हैं। बंगाल के बाउलों में इसीलिये हम इतना सहज भाव पाते हैं। उनके गान में है कि तुम्हारा पथ तो मंदिर और मस्जिद ढके हुए हैं। हे साईं, तुम्हारी वाणी तो सुन पाता हूँ, लेकिन उसके अनुसार चल नहीं पाता, क्योंकि सामने ही उपदेशक और मुर्शीद रास्ता रोके खड़े हैं :

तोमार पथ ढेकेछे मन्दिरे मस्जिदे।
तोमार डाक सुनि साइ
चलिते न पाइ
रूखे दाँड़ाय गुरुते मरशेदे॥

इसी को लक्ष्य कर कबीर ने कहा था कि पंडित लोग पढ़-पढ़ कर पत्थर हो गए और लिखते-लिखते ईंट हो गए, पर प्रेम की एक छींट भी उनके मन में प्रवेश नहीं पा सकी :

पढ़ि पढ़ि के पत्थर भये, लिखि लिखि भये जु ईंट।
कबिरा अन्तर प्रेम की लागी नेकु न छींट॥

प्रेम संतों की साधना का मध्यबिन्दु है।

—दिल्ली से प्रसारित





भूदान यज्ञ का दर्शन

श्रीमन्नारायण अग्रवाल

भूदान यज्ञ का जन्म ही एक चामत्कारिक घटना है। दो वर्ष पहले शिवराम पल्ली सर्वोदय सम्मेलन के लिये पूज्य विनोबा जी पैदल हैदराबाद गये थे। वापिस आते समय उन्हें प्रेरणा हुई कि तैलंगाना के बीच से होकर गुजरें। और आखिर विनोबा जी एक छोटी सी टोली के साथ तैलंगाना यात्रा के लिये पैदल चल पड़े।

दो-तीन दिन बाद पोयमपल्ली गांव में एक अजीब घटना हुई। चालीस हरिजन कुटुम्ब विनोबा के पास आकर उनके चरणों में गिर पड़े। फिर हाथ जोड़ कर बोले, 'महाराज! हम सब अत्यन्त ग़रीब हरिजन हैं, हमारे पास आजीविका का कोई साधन नहीं है। हमें और कुछ नहीं चाहिये, सिर्फ़ कुछ ज़मीन मिल जाये तो हम कृतार्थ हो जायें।' विनोबा के पास ज़मीन देने के लिये कहां? उन्होंने उत्तर दिया, 'भाई, मेरे पास भूमि कहां है? फिर भी सरकार से बातचीत करूंगा।' लेकिन उन्हें कुछ प्रेरणा हुई कि जहां ज़मीन मांगने वाले हैं, वहां शायद ज़मीन देने वाले भी हों। उन्होंने बिना किसी खास उम्मीद के सहज ही पूछ लिया, 'क्यों भाई, कोई ज़मीन देने वाला भी है।' एक सज्जन तुरन्त खड़े हो गये और हाथ जोड़ कर बोले, 'महाराज, मैं सौ एकड़ भूमि देना चाहता हूं, इसको आप अस्वीकार न करें।' विनोबा जी को और सभी को बहुत आश्चर्य हुआ। भीड़ में एक बिजली सी दौड़ गई। फिर विनोबा ने उन ४० हरिजन कुटुम्बों से पूछा, 'क्यों भाई, आप लोगों को कुल कितनी ज़मीन चाहिये?' उन लोगों ने थोड़ी देर तक आपस में सलाह करके हाथ जोड़ कर जवाब दिया, 'महाराज, हमें तो सिर्फ़ ६० एकड़ भूमि की आवश्यकता है। इतनी ज़मीन काफ़ी है। उन लोगों ने सुन लिया था कि १०० एकड़ ज़मीन का दान मिल चुका है। फिर भी उन ग़रीब हरिजनों ने ६० एकड़ से अधिक भूमि मांगना अनुचित व अनैतिक समझा। विनोबा जी ने भूमि-दान स्वीकार किया और दाता को यह ज़िम्मेदारी भी सौंपी कि वह उन ग़रीब हरिजनों को ज़मीन के साथ साथ खेती के साधन भी दे और उन को भूमि पर बसाने में सभी तरह की सहायता भी दे। इस प्रकार उस गांव में आर्थिक समस्या के हल के साथ साथ एक महान सामाजिक व नैतिक कार्य भी पूरा हुआ और सारी जनता ने एक नई क्रान्ति का अनुभव किया।

भूदान यज्ञ का अर्थशास्त्र तो स्पष्ट ही है। भारत में करीब ५ करोड़ भूमिहीन किसान हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति को १ एकड़ या कुटुम्ब को ५ एकड़ ज़मीन दी जाय तो ५ करोड़ एकड़ भूमि चाहिये। भारत में खेती के लायक़ ३० करोड़ एकड़ ज़मीन है। इसका छठा हिस्सा ५ करोड़ एकड़ होता है। हमारे देश में औसतन

एक कुटुम्ब ५ व्यक्तियों का माना जाता है। यदि इस छठा हिस्सेदार दरिद्रनारायण को मान कर अपना छठा हिस्सा दान दे दें तो इन ५ करोड़ भूमिहीनों की समस्या सहज हल हो जाती है। न सवाल उठता है मुआवजे का, न प्रश्न उठता है संघर्ष व मुकदमेबाज़ी का। प्रेम व मुहब्बत से देश की एक महान आर्थिक समस्या हल हो जाती है, बिना किसी ख़र्च व ख़ून ख़राबी के।

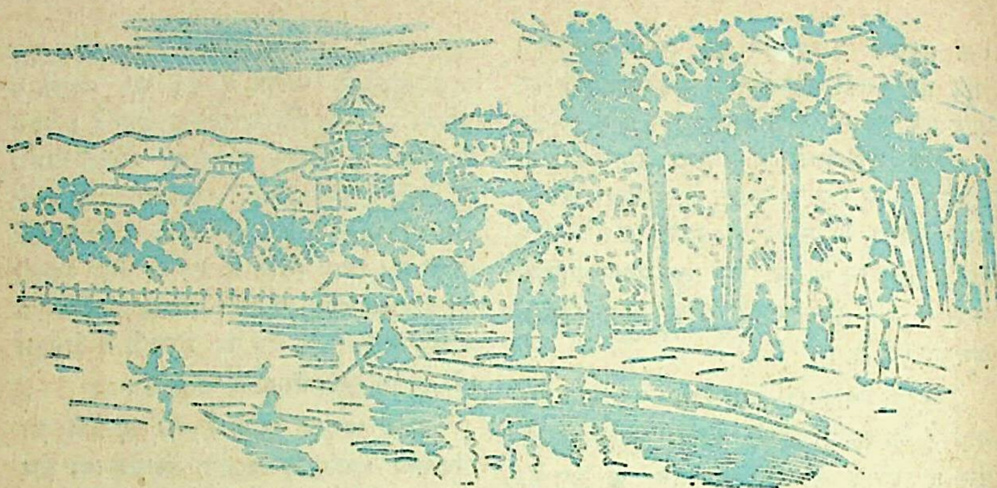
भूदान यज्ञ का सामाजिक पक्ष या पहलू यही है कि समाज में जो व्यक्ति पिछड़े हुए हैं दीन व ग़रीब हैं, दरिद्रनारायण के रूप हैं, उनकी सेवा करना, उनका दुःख दूर कर उन्हें ऊंचे उठाना समाज का ही कर्तव्य है। इस दृष्टि को ही सर्वोदय कहा जाता है। विनोबा जी इसी भावना को अन्त्योदय भी कहने लगे हैं। उनके ख़्याल से भूदान यज्ञ अन्त्योदय का सर्वोत्तम साधन है। हरएक कुटुम्ब में औसतन ५ व्यक्ति होते हैं, छठा हिस्सेदार दरिद्रनारायण को मान कर उसका छठा हिस्सा हमें दे देना चाहिये—ज़मीन हो तो ज़मीन, ज़मीन न हो तो अपनी आमदनी का छठा हिस्सा। समाज के कल्याण के लिये यदि हर एक अपनी ज़मीन जायदाद या आमदनी का छठा हिस्सा देता रहे तो फिर वर्तमान विषमता, वर्ण-वर्ग-कलह व संघर्ष दूर किये जा सकते हैं। इस प्रकार भूदान के साथ साथ सम्पत्ति-दान, बुद्धिदान इत्यादि भी भूदान यज्ञ के ही विविध रूप हैं। विनोबा कहते हैं समाज को ज़िन्दा व सुखी रखना है तो हर एक भाई बहन देना सीखे, त्याग करना सीखे। जो देगा वह देव बनेगा, जो नहीं देगा वह दानव कहलायेगा।

आज तो हमारे समाज का सारा ढांचा ही शोषण पर निर्भर है, हर एक व्यक्ति दूसरे को चूसना चाहता है, लूटना चाहता है। वर्तमान समाजशास्त्र व अर्थशास्त्र का नियम है कि चीज़ें सस्ती से सस्ती ख़रीदो और महँगी से महँगी बेचो, चाहे ग़रीबों का कुछ ही हाल हो। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के शोषण करने का प्रयत्न करता रहता है। इसके फलस्वरूप साम्राज्यवाद का जन्म होता है और फिर युद्ध व महायुद्धों के चक्कर में पड़ कर समाज व दुनिया का ध्वंस और सत्यानाश होता है। आज तो जीवन का स्टैन्डर्ड बढ़ाने की सबको चिन्ता है, किन्तु जीवन का स्तर ऊंचा उठाने के लिये वर्तमान समाज में कुछ लोगों को नीचे गिराना पड़ता है। अगर ग़रीब न हों तो फिर अमीरी का कोई महत्व ही न रहे। समाज की विषमता के कारण ही आज धन का मूल्य है। विनोबा हमें कांचन-मुक्ति सिखाना चाहते हैं।

लोग अक्सर पूछते हैं कि विनोबा जी गांव-गांव घूमने के बजाय सरकार पर ज़ोर डालकर ज़मीन के बँटवारे का काम कानून द्वारा क्यों नहीं करा डालते। विनोबा जी के विचार इस सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट हैं। उनका कहना है कि भूदान यज्ञ का हेतु केवल ज़मीन का वितरण नहीं है। वे समाज को एक नई प्रकार की शिक्षा देना चाहते हैं, जो कानून द्वारा कभी पूरी नहीं हो सकती। हां, अगर शासन भी क़ानून बना कर अपना फ़र्ज़ अदा करना चाहे तो भले करे। लेकिन विनोबा जी इस काम में अपनी शक्ति नहीं लगाना चाहते। गांव-गांव में घूम कर वे बहुत से काम करते जाते हैं, जनता जनार्दन के उनको दर्शन हो जाते हैं, लोगों के सुख-दुख जानने का उनको अवसर मिल जाता है, भारत माता व प्रकृति का सौन्दर्य देखने का मौक़ा मिलता है, और समाज के सामने सर्वोदय की विचारधारा रखने व समझाने का सहज कार्य होता जाता है।

यह ख़्याल करना उचित नहीं होगा कि भूदान यज्ञ का मुख्य उद्देश्य ज़मीन की समस्या ही हल करना है। आचार्य विनोबा कई बार स्पष्ट रूप से कह चुके हैं कि असली मक़सद तो एक नये समाज की नींव डालना है। हमारा वर्तमान समाज ऊंच, नीच, गरीब, अमीर, मालिक, मज़दूर के भेद भावों के आधार पर चल रहा है। किन्तु विनोबा को तो बापू के आदर्शों के अनुसार एक अहिंसक साम्ययोगी व सर्वोदयी समाज की रचना का कार्य करना है।

—दिल्ली से प्रसारित



मेरी चीन यात्रा

गोविन्ददास

जब हमने चीन में प्रवेश किया तब मेरे मन में विशेष उत्सुकता थी। इसका प्रधान कारण था इस प्राचीनतम देश में एक नवीनतम प्रयोग का होना। यद्यपि चीन के आधुनिक नेताओं का यह दावा नहीं है कि चीन का जीवन साम्यवादी जीवन हो गया है, तथापि वहां के शासन में साम्यवादियों का नेतृत्व है और चीन को वे उसी दिशा में ले जा रहे हैं।

चीन में हम ने वहां के शहरों, कस्बों, गांवों, और वहां की जनता तथा उसके जीवन के समस्त क्षेत्रों का बारीकी से निरीक्षण करने का प्रयत्न किया। हम ने वहां की सारी यात्रा रेल से की; इस रेल की यात्रा ने भी हमें इस निरीक्षण में बहुत सहायता पहुंचायी। फिर हम ने वहाँ की खेती, वहां के उद्योग-धन्धे, वहां के सरकारी और ग़ैर-सरकारी कारख़ाने, वहां की अनेक संस्थाएँ, वहां की मज़दूर बस्तियां देखने और वहां के लोगों से मिलने का प्रयत्न किया तथा आधुनिक चीन के साहित्य का अध्ययन करने का भी।

हमने चीन में जो कुछ देखा उसमें वहां की जनता और दर्शनीय स्थानों की बात तो बाद में कहूँगा, पहले चीन में जो एक नवीन प्रयोग हो रहा है और जिस प्रयोग को देखने की मेरी सबसे अधिक उत्सुकता थी, उसी की मैं कुछ चर्चा करूँगा।

नए चीन को लाल चीन कहना यथार्थ में उपयुक्त नहीं है। इस समय का चीन साम्यवादी नहीं कहा जा सकता, और चीन ही क्या, रूस तथा पूर्वी यूरोप के कुछ देश, जो साम्यवादी कहे जाते हैं, यथार्थ में साम्यवादी नहीं हो पाये हैं। सच्चे साम्यवाद में व्यक्तिगत सम्पत्ति का कोई स्थान नहीं है। इन सब देशों में, यहां तक कि रूस में भी व्यक्तिगत सम्पत्ति मौजूद है, और चीन में तो बहुत बड़े परिमाण में। चीन में चाहे ज़मीन का पुनर्वितरण हो गया हो, पर अभी भी सारी ज़मीन व्यक्तिगत सम्पत्ति ही है। चीन में उद्योग-धंधे कम हैं पर उनमें भी अभी व्यक्तिगत सम्पत्ति ही है। कुछ बड़े-बड़े कारखानों का

राष्ट्रीयकरण हुआ है, पर उनकी संख्या बहुत कम है। चीन का व्यापार सरकार के हाथ में आ गया है, पर व्यक्तियों के हाथ में भी है।

साम्यवाद का दूसरा सिद्धान्त है कि हर आदमी अपनी शक्ति के अनुसार उत्पादन करे और अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करे। इस सिद्धान्त के तो निकट भी कोई देश नहीं बढ़ रहा है। चीन में तो इसकी चर्चा तक सुनायी नहीं दी। एक व्यक्ति की आमदनी से दूसरे की आमदनी में बहुत बड़ा अन्तर सभी साम्यवादी कहे जानेवाले देशों में है। रूस में भी, और चीन में तो एक बड़े परिमाण में। फिर भी यह बात माननी होगी कि पूँजीवादी देशों की अपेक्षा आय का यह अन्तर चीन में कम है।

इस प्रकार साम्यवाद के दोनों मुख्य सिद्धान्तों के अनुसार संसार का कोई भी देश पूर्णतया साम्यवादी नहीं कहा जा सकता, चीन तो सर्वथा नहीं। एक सही दो बटे तीन (१⅔) एकड़ के फ़ार्म ही अब चीन में अधिक हो गये हैं। हमने वहाँ की खड़ी और कटती हुई फ़सलें भी देखीं। चीन में अधिकतर चावल होता है और वहाँ चावल की फसल आने का यही समय था। वहाँ की फसलें हमें कमज़ोर और अत्यन्त साधारण कोटि की जान पड़ीं। चीन कृषि-प्रधान देश है। ग़रीबी की दृष्टि से चीन ग़रीब-से-ग़रीब देशों में एक देश है। वहाँ के गाँवों के मकान, उनके रास्ते आदि हमारे देश के गाँवों के समान ही हैं। लोगों का रहन-सहन भी उत्कट ग़रीबी का है। पिचके हुए गाल, दुबले-पतले निस्तेज शरीर और फटे चिथड़े वहाँ की जनता की आर्थिक स्थिति के स्पष्ट प्रदर्शक हैं।

चीन की स्त्रियों का उत्कर्ष वहाँ का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है। पुराने चीनी समाज में स्त्रियों का स्थान पुरुषों की तुलना में अत्यन्त हीन था। नये चीन ने स्त्रियों के उत्कर्ष के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और ठोस कदम उठाया है। आज चीन की स्त्रियों को यूरोप की स्त्रियों से अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है, किन्तु इससे नैतिकता का स्तर नहीं गिरने पाया, वरन् कुछ ऊँचा हो गया है।

तीन वर्षों के अल्पकाल में भ्रष्टाचार की प्रायः समाप्ति सी हो गयी है। चीन का यह काम भी छोटा काम नहीं है।

न्याय करने की पद्धति में परिवर्तन नये चीन का चौथा महत्त्वपूर्ण काम है। दीवानी और फ़ौजदारी के सारे पुराने कानूनों को रद्द कर किसी भी नये लिखित क़ानून या वकीलों की उपस्थिति के बिना और दलील या नज़ीर दिये बिना आजकल चीन में जनता के न्यायालय कहे जाने वाले न्यायालयों द्वारा न्याय किया जाता है।

इन चार महत्त्वपूर्ण कामों के सिवा शिक्षा के प्रसार में वृद्धि, स्वास्थ्य-रक्षा, यातायात के साधनों में वृद्धि, आर्थिक उन्नति के लिए योजना बनाकर कार्य आदि प्रयत्न भी हो रहे हैं।

वैज्ञानिक और औद्योगिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। सारी शिक्षा चीनी भाषा में दी जाती है। वैज्ञानिक शब्द तक उन्होंने अपने बनाये हैं, विदेशी वैज्ञानिक शब्दावली उन्होंने किसी भी रूप में ग्रहण नहीं की है। हमें चीन में कहीं भी किसी विदेशी भाषा का कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

इतने थोड़े समय में चीन में जो कुछ हो सका है उसके कुछ विशिष्ट कारण हैं। चीन में चाहे साम्यवादी सत्ता न हो, पर एकाधिकारवादी सत्ता तो है। और ऐसी सरकार में न प्रजातन्त्र का कोई स्थान रह सकता है और न व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का। वहाँ कभी भी कोई चुनाव नहीं हुआ। वर्तमान सरकार भी चुनी हुई सरकार नहीं है। चुनाव निकट भविष्य में किये जायेंगे, ऐसी भी कोई सम्भावना नहीं। अतः सरकार को चुनाव की कोई चिन्ता न होने के कारण उसके मत में जो ठीक जान पड़ता है उसे करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है।

चीन के सारे अख़बार सरकार के अधिकार में हैं। इसलिए वहाँ के अख़बारों में सरकार

की किसी प्रकार की कोई भी आलोचना सम्भव नहीं। वहाँ किसी सार्वजनिक सभा में भी सरकार की किसी तरह की आलोचना नहीं की जा सकती।

चीन की राजसत्ता जिनके हाथ में है वे लोग बड़े बुद्धिमान, विचारशील, चरित्रवान और निःस्वार्थी व्यक्ति हैं। चेयरमैन माओत्सेतुंग में सारे गुणों का समावेश है। राज्य के प्रधान उत्तरदायित्व के स्थानों पर ऐसे व्यक्ति रखे गए हैं जिन्होंने वर्तमान सत्ता को स्थापित करने में किसी न किसी प्रकार का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योग दिया था। इन लोगों में इस राजसत्ता और इसके कार्यक्रम में अखण्ड विश्वास और श्रद्धा है।

राज्य के वैतनिक कर्मचारी भी ऐसे लोग हैं जिनको इस समय की सत्ता और उसके कार्यक्रम पर पूर्ण विश्वास है। फिर कोई चुनाव होकर राज्य सत्ता बदलने की सम्भावना न देख ये वेतनभोगी कर्मचारी और भी अधिक राजभक्त हो गये हैं।

सरकार की ओर से रेडियो, लाउडस्पीकर, पोस्टर, लीफ़लैट, नाटक, सिनेमा आदि से प्रचार का ऐसा ज्वार है जिसमें किसी भी क्षण भाटा नहीं आ पाता। इस सरकार के पूर्व की सरकार कितनी निकम्मी, भ्रष्ट और क्रूर थी इसे हर तरह भिन्न-भिन्न प्रकार से बताया जाता है। वर्तमान सरकार की असफलताएँ भी आगे चलकर किस प्रकार सफलताओं में परिणत होने वाली हैं, आज का दरिद्री चीन कैसा सम्पन्न हो जाने वाला है, और आज जो लोगों को ग्यारह-ग्यारह, बारह-बारह घण्टे काम करना पड़ रहा है उसके परिणाम में उन्हें भविष्य में कैसा आराम मिलने वाला है, इसे लोगों को नाना प्रकार से समझाया जाता है। इसके लिए सबसे अधिक रूस के दृष्टान्त दिये जाते हैं। रूस और चीन की महान् मित्रता के हर जगह प्रदर्शन किये जाते हैं।

चीन की सेना यदि युद्ध के लिये सुशिक्षित है, तो शान्ति के समय उसे चीन का उत्पादन बढ़ाने में दत्तचित्त रहना पड़ता है। चीन के मज़दूरों को ग्यारह घण्टे काम करना पड़ता है, आठ घण्टे शारीरिक और तीन घण्टे मानसिक।

नए चीन की सरकार जो सफल हो रही है, इसका भी एक कारण है। लगभग ४० वर्षों से चीन के निवासियों ने जितना कष्ट भोगा है उतना कदाचित् संसार के किसी देश के निवासियों ने नहीं।

चीन ठण्डा देश होने के कारण यहाँ के निवासियों का रंग गोरा है। रंग में पीली सी झाईं है। कद बहुत ऊँचा नहीं, पर जापानियों के सदृश ठिंगना भी नहीं।

चीन इतना बड़ा देश है और उसकी संस्कृति इतनी प्राचीन है, इसलिए विभिन्न जातियों का वहाँ होना स्वाभाविक ही है। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि इस विविधता में गहरी एकरूपता है।

धर्म का प्रभाव अब वहाँ बहुत कम होता जा रहा है, यद्यपि सभी धर्मों के अनुयायी अभी भी वहाँ हैं। आज भी चीन में बौद्ध धर्म का ही सबसे अधिक प्रभाव है।

इतने बड़े चीन की भाषा एक है। यह इस देश की संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है। हाँ, इस भाषा के उच्चारणों में स्थान-स्थान पर विभिन्नता अवश्य है। चीन की यह भाषा तीन लिपियों में लिखी जाती है—चीनी लिपि, मंगोलियन लिपि और तिब्बती लिपि। सबसे अधिक प्राचीन चीनी लिपि है और इसी का सबसे अधिक प्रचार है।

चीन की इस काल की वेशभूषा में प्राचीनता और नवीनता का मिश्रण है। पुराने चीनी पुरुष ऊपर के अंग पर लम्बे कोट के सदृश वस्तु और नीचे के अंग पर पाजामे के समान चीज पहनते थे। स्त्रियाँ ऊपर से नीचे तक एक घेरदार पोशाक पहनती थीं। पुरुषों का पुराना कोट छोटा

हो गया है और पाजामे की जगह पतलून आ गया है, पर पश्चिमी नेकटाई, हैट आदि नहीं। स्त्रियों की पोशाक भी ठीक पुरुषों के समान हो गयी है और सबकी पोशाक प्रायः नीले रंग की। कुछ लोग गहरा नीला रंग पसन्द करते हैं, कुछ हल्का। पोशाक में यत्र-तत्र काला और ख़ाकी रंग भी दीख पड़ता है। देहात में स्त्रियों की पोशाक प्रायः काले रंग की रहती है। वे चारों ओर झालर सी लगी हुई छज्जेदार काली टोपी भी पहनती हैं। पुरुष-स्त्रियों की ऐसी एक रंग की एक सी पोशाक मैंने दुनियां के किसी देश में नहीं देखी। इस नीले रंग की पोशाक को देख मेरी इच्छा तो चीन को लाल चीन न कह कर नील चीन कहने की होती है।

चीन की हद में प्रवेश करने पर जब हमने चारों ओर के प्राकृतिक दृश्य को देखा तब हमें ऐसा जान पड़ा, जैसे हम भारत के उत्तर प्रदेश, बिहार, महाकोशल आदि राज्यों में हों।

चीन के हमने चार प्रधान नगर देखे, केन्टोन, शंघाई, पीकिंग और हैंको। इन नगरों के सिवा कुछ कस्बे और गाँव भी देखे। साथ ही हमने वहाँ की भित्ति भी देखी जो दुनिया की सात आश्चर्यजनक वस्तुओं में से एक है।

कैन्टोन च्यूचंग नामक नदी पर बसा हुआ चीन का एक बड़ा नगर है। आबादी है क़रीब १५ लाख।

शंघाई चीन देश का सबसे बड़ा नगर है। यह नगर बसा हुआ है व्हांग पू नामक नदी के किनारे। आबादी है पचास लाख मानवों की। एक ज़माना था, शंघाई पर सबसे अधिक विदेशी प्रभाव था और यह नगर चीन का पैरिस कहा जाता था।

पीकिंग को हम दीवालों वाला शहर नाम देंगे। शहर पनाह की दीवाल, राजमहल की दीवाल और न जाने कितनी इमारतें यहाँ दीवालों से घिरी हुई हैं, और शहर में सर्वत्र दीवालें ही दीवालें दृष्टिगोचर होती हैं। पीकिंग की आबादी है कोई पच्चीस लाख। नगर किसी दृष्टि से भी दर्शनीय न जान पड़ा; हाँ, कुछ विशिष्ट इमारतें और चीज़ें यहाँ की देखने योग्य अवश्य हैं। इनमें सबसे अधिक दर्शनीय है वहाँ का पुराना राजमहल। इस महल में पहले चीन के सम्राट् रहते थे, और अब वहाँ अजायबघर बना दिया गया है। इससे विशाल भवन हमने दुनियां में कहीं नहीं देखा। कितना स्थान घिरा हुआ है इस महल से। जात पड़ता है कि पीकिंग के भीतर एक दूसरा शहर बसा हुआ है। सारे भवन में कोई पाँच हज़ार कमरे हैं। तीन घण्टे उस भवन में घूमने पर भी हमारी पहुँच अढ़ाई-तीन सौ कमरों से अधिक स्थान पर न हो सकी। यह महल कोई पाँच सौ वर्ष पूर्व बना था।

हैंको भी चीन के अन्य बड़े शहरों के सदृश है। वहाँ कोई ऐसी चीज़ नहीं जिसका कोई विशेष वर्णन किया जाय।

चीन की महान् भित्ति को हम पीकिंग से देखने गये थे। यह भित्ति ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी के मध्य में सम्राट् शी हुआंगटी ने बनवायी थी। उसने चीन में प्रथम साम्राज्य की स्थापना की थी। पूर्व से पश्चिम तक यह भित्ति एक हज़ार चार सौ मील लम्बी है और पर्वत प्रदेश व मैदानों में होकर गयी है। औसत से इसकी ऊँचाई २२ फुट है। स्थान-स्थान पर बुर्ज बने हुए हैं, जिनकी ऊँचाई चालीस से साठ फ़ुट तक है।

—दिल्ली से प्रसारित



बाण भट्ट

हजारीप्रसाद द्विवेदी

भारतवर्ष के कथाकारों में जो सबसे मस्त है, सबसे अधिक मोहक है और सबसे अधिक ज़िन्दादिल है उसी कल्प-कवि बाण भट्ट के विषय में मुझे बोलना है। संस्कृत कथाओं का वातावरण मस्ती का वातावरण है और फिर बाण भट्ट की कादम्बरी का तो कहना ही क्या। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कादम्बरी जैसी कथा के सुनने की इच्छा रखने वालों को सलाह दी है कि एक काल का मधु-लोभी यदि अन्य काल से मधु संग्रह करने की चाह रखता हो, तो वह उसे अपने युग के आंगन में बैठ कर नहीं पाएगा, उसे भी उसी काल में प्रवेश करना पड़ेगा। जो सहृदय कादम्बरी का रसास्वादन करना चाहते हैं उन्हें भूल जाना होगा कि दफ़्तर जाने का समय हो गया है, उन्हें समझ लेना होगा कि वे काव्य-रस-विलासी कोई राजेश्वर हैं, राज-सभा में बैठे हुए हैं। कल्पना के मोहक लोक में प्रवेश करने के पहले अपने लिए भी एक काल्पनिक रसमय वातावरण बना लेना होगा।

बाण भट्ट बड़े मस्त-मौला पण्डित थे। विमल वात्स्यायन वंश में इनका जन्म हुआ था। पिता, पितामह बहुत महान् पण्डित थे। बचपन में इन्हें सभी शास्त्र पढ़ाए गए थे। मस्ती की उमंग में ये घर से बाहर निकल पड़े थे। दूर दूर के देशों की यात्रा कर चुके थे। इस यात्रा में उन्होंने अनेक प्रकार के ऐसे कार्य किए होंगे जो उनके वंश-गौरव के अनुरूप न होंगे, और शायद इसी लिए किसी ने महाराजाधिराज हर्षवर्धन से इनकी चुगली कर दी होगी। जब ये महाराजाधिराज से प्रथम बार मिले तो उन्होंने इनको लम्पट कह दिया था। बाण भट्ट को यह बात बहुत बुरी लगी और उन्होंने इसका प्रतिवाद किया। बाद में ये महाराजाधिराज के प्रिय पात्र हो गए और उनके जीवन का आधार बना कर हर्षचरित नामक एक आख्यायिका लिखी। लेकिन इनका सर्वोत्तम ग्रन्थ कादम्बरी ही है। कहते हैं शब्द और अर्थ की ऐसी विमल मैत्री वाला ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में दुर्लभ है। बाण भट्ट की भाषा थकना नहीं जानती। यमक और अनुप्रास, उपमा और रूपक, दीपक और श्लेष उसके पीछे हाथ बाँध कर चलते हैं और सरसता में तो वह अपनी उपमा आप ही है।

बाण भट्ट पूर्वी प्रदेशों के निवासी थे, पर समूचा भारतवर्ष उनका घूमा हुआ था। कान्यकुब्जेश्वर के तो वे राजकवि थे। विन्ध्याचल उनका बहुत प्रिय प्रदेश है। किसी वन, वाटिका, सरोवर आदि के वर्णन करने का अवसर मिलते ही उनकी भाषा अत्यन्त मुखर हो उठती है। प्रत्येक वृक्ष, प्रत्येक पक्षी, प्रत्येक पुष्प उनकी कल्पना को आकृष्ट करता है। रंगों की पहचान में तो सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में वे बेजोड़ हैं। वर्ण्य विषय के प्रति उनकी प्रेम-दृष्टि देखते ही बनती है। रुकना तो वे मानो जानते ही नहीं। कहना है कि विन्ध्य पर्वत पर एक जंगल है। वे बड़े ठाट-बाट से शुरू करेंगे—पूर्व समुद्र तट से पश्चिम समुद्र-तट तक विस्तीर्ण मध्य देश का अलंकार

स्वरूप, पृथ्वी की मेखला के समान विन्ध्याटवी नामक एक वन है, जिसमें जंगली हाथियों के मदजल से सिक्त होकर संवर्द्धित, अत्यन्त ऊँचे होने के कारण मस्तक-संलग्न नक्षत्रसमूह के समान श्वेत कुसुमों को धारण करने वाले नाना प्रकार के वृक्ष सुशोभित हैं, जिसमें कहीं अट्टहास कुरीर पक्षी अपने चंचुओं से मरीच पल्लव कुतर रहे हैं, कहीं गज-शावकों के शुंडों से तमाल वृक्ष के किसलय टूट रहे हैं और इसी लिए उसकी सुगन्ध से सारा वन आमोद पूरित हो गया है। मधु मद के कारण लाल हो गए हुए केरल-कामिनियों के कपोल की सी शोभा वाले लाल लाल पल्लव समूह विकसित हो रहे हैं, मानो वन-देवता के चरणों की महावर के रंग से रंग कर ही लाल हो गए हैं, जिसमें अनेकानेक ऐसे लता-मण्डप विराज रहे हैं जिनके तल देश शुक पक्षियों के कुतरे हुए दाड़िम फल के रस से भीग गए हैं, जिनके भीतर चपल वानरों द्वारा कंपित कंपिल्ल वृक्ष के फल और पल्लव गिरे हुए हैं, जो निरन्तर पुष्परेणु के झड़ते रहने के कारण रेणुमय हो रहे हैं, जो साक्षात् वनदेवताओं के ही मानो आवास-भवन हैं, इत्यादि इत्यादि। और फिर भी उन्हें सन्तोष नहीं होगा। वे श्लेषों की झड़ी बांध देंगे, विरोधाभास का ठाट खड़ा कर देंगे, श्लेष परिपुष्ट उपमाओं का जंगल लगा देंगे, और तब जाकर कहेंगे कि यह विन्ध्याटवी है।

इतने अलंकारों से अलंकृत होने पर भी जिस भाषा की सहज नृत्य भंगिमा एकदम व्याहत नहीं हुई, उसकी भीतरी शक्ति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। कहीं रस-परिपाक में बाधा नहीं पड़ी है, कहीं भी कहानी का कहानीपन नष्ट नहीं हुआ है, कहीं भी सहृदय का औत्सुक्य म्लान नहीं हुआ है। बाण भट्ट सचमुच ही काव्य कवि हैं। उनकी प्रत्येक पंक्ति कल्पना लोक ले जाती है, उनके एक इंगित से काव्य-रस बरसने लगता है अपूर्व, मोहक, अद्‌भुत।

बाण भट्ट सिर से पैर तक मस्त-मौला हैं। उन्हें किसी बात की जल्दी नहीं है। कोई हड़बड़ी नहीं, कोई त्वरा नहीं। उन्हें सहज सी बात कहनी है कि प्रभात हो गया। किसी भी कहानी लेखक के लिए यह घटना सूचना मात्र है, परन्तु बाण भट्ट इस संवाद को यों ही नहीं कह देंगे, इसे अपूर्व महिमा से मण्डित करेंगे। प्रभात क्या हुआ, पद्‌म-मधु से रंगे हुए वृद्ध कलहंस की भांति चन्द्रमा आकाश गंगा के पुलिन से उदास होकर पश्चिम जलधि के तट पर उतर आया। उत्तर ओर अवस्थित सप्तर्षि-मण्डल सन्ध्योपासन के लिए मानसरोवर के तट पर उतर आया, पश्चिम समुद्र के तीर पर सीपियों के उन्मुक्त मुख से बिखरे हुए मुक्ता-पटल चमकने लगे, मोर जाग पड़े, सिंह जमुहाई लेने लगे, करिबालाएं मदस्रावी प्रियतम गजों को जगाने लगीं, वृक्षगण पल्लवांजलि से भगवान् सूर्य को शिशिर-सिक्त कुसुमावलि समर्पण करने लगे। वन-देवताओं की अट्टालिकाओं के समान उन्नत वृक्षों की चोटी पर गर्दभ-लोम के समान धूसर अग्निहोत्र का धूम इस प्रकार सट गया मानो कर्बुर वर्ण के कपोतों की पंक्ति हो। शिशिर-विन्दु को वहन करती हुई, पद्म-वन को प्रकम्पित करती हुई, परिश्रान्त शबर-रमणियों के कर्णविन्दु को विलुप्त करती हुई, वन्य महिषों के फेन-विन्दु से सींची हुई, कम्पित पल्लव-राशि और लतासमूह को नृत्य की शिक्षा देती हुई, प्रस्फुटित पद्म-पुष्पों का मधु झराती हुई, पुष्प-सौरभ से भ्रमरों को सन्तुष्ट करती हुई, मन्द मन्द संचारी प्रभात वायु बहने लगी। कमल वन में मत्त गज के गण्डस्थलीय मद के लोभ से स्तुति-पाठक भ्रमर रूपी वैतालिक गुंजार करने लगे। वनचर पशु इतस्ततः विचरण करने लगे। सरोवर में कलहंसों का श्रुतिमधुर कोलाहल सुनाई देने लगा। और इस प्रकार समूची वनस्थली एक अपूर्व महिमा से उद्भासित हो उठी। यह भाषा अत्यन्त मनोहर और आकर्षक है।

बाण भट्ट के सभी ग्रन्थ इसी प्रकार की मनोहर शैली में लिखे गए हैं। पर कादम्बरी उनमें सर्वश्रेष्ठ है। कादम्बरी की कोई घटना केवल सूचनामात्र नहीं है। वह पाठक के चित्त में अपना सम्पूर्ण गौरव लेकर उतरती है। उसका प्रधान उद्देश्य कथा को अग्रसर करना है, पर अपनी महिमा से वह उस कथा को निरन्तर महिमान्वित भी करती रहती है। इसी में इस ग्रन्थ का गौरव है। वह जिस रस-लोक में ले जाता है उसका पटतर देने लायक रस-लोक संसार में अन्यत्र नहीं है। यह वह रस-लोक है जहाँ कज्जलभरे नयनों के कटाक्ष-पात से नील कमल की पाँत बिछ जाती हैं। जहाँ प्रिया के कपोल देश पर पत्राली अँकाने वाले हाथ काँपते रहते हैं, जहाँ आम्रमंजरी के स्वाद से कषायित-कंठ कोकिल हृदय कुरेद देती है। ऐसा अद्भुत वह लोक बाण भट्ट की भाषा में ही कहें तो यह रस-लोक मद को भी मत्त बना देता है, राग को रंग देता है, नृत्य को भी नचा देता है और उत्सव को भी उत्सुक बना देता है।

बाण भट्ट मानव-हृदय के सुकुमार भावों के निपुण पारखी हैं। अपने मादक वर्णनों में ऐसे नहीं रम जाते कि कथा के सुकुमार अंश उपेक्षित रह जाएं। नितान्त काल्पनिक वर्णनों में भी वे हृदय के सुकुमार भावों की ओर दृष्टि रखते हैं। उनके चरित्र की अमिट छाप पाठक के हृदय पर पड़ती है। महाश्वेता, कादम्बरी, चन्द्रापीड़, कपिंजल और पुण्डरीक भारतीय साहित्य के अविस्मरणीय चरित्र हैं। कादम्बरी अधूरी रचना है; उसका पूर्वार्द्ध मात्र लिखकर बाणभट्ट ने दूसरे लोक को प्रस्थान कर दिया था। उत्तरार्द्ध की रचना उनके कृती पुत्र ने की थी, परन्तु अधूरी कथा होने पर भी बाण भट्ट के पात्रों का व्यक्तित्व और उनके पारस्परिक सम्बन्धों की पवित्रता और सरसता पूर्ण रूप से व्यक्त हुई है। सातवीं-आठवीं शताब्दी का भारतवर्ष अपने सम्पूर्ण वैभव और मानवता के साथ इस मनोहर कथा में प्रतिबिम्बित हुआ है। उस युग के नगर, उद्यान, राजपथ, अन्तःपुर, हाट-बाज़ार, दरबार, कला-कौशल, धर्म विश्वास सब कुछ मूर्तिमान होकर कादम्बरी में प्रकट हुए हैं। कादम्बरी में उस युग की साधारण जनता का परिचय भी मिलता है; पर बाण भट्ट की सौन्दर्यदर्शी दृष्टि सर्वत्र एक चारुता-सम्पत्ति का दर्शन कराती है। चाण्डाल कन्या के रूक्ष वेश के भीतर भी सौन्दर्य की स्रोतस्विनी लहर रही है, और शबर जरठ के हिंस्र कर्मों के भीतर भी एक मनोहर सौन्दर्य का आभास पाया जा सकता है। बाण भट्ट सच्चे अर्थ में रस-सिद्ध कवि थे।

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।

—लखनऊ से प्रसारित



बीवी की तलाश



मिर्ज़ा महमूद बेग

मैं आपसे कहता हूँ कि बीवी की तलाश करते-करते मैं बूढ़ा हो गया। एक उम्र बीत गई, बाल सफ़ेद हो गये। मगर बीवी न मिलनी थी और न मिली। आप कहेंगे यह कौन सा मुश्किल काम था, तक़रीबन सबको बीवियाँ मिल जाती हैं, बूढ़े होने से पहले ही मिल जाती हैं। बल्कि बहुतों से तो जवान होने से पहले ही बीवी का वायदा किया जाता है। आप ही अकेले बदक़िस्मत होंगे जो सारी उम्र तलाश में गुज़ार दी और फिर भी नाकामयाब रहे।

तो जो कुछ आपने कहा, सच कहा, दुरुस्त है, तक़रीबन सबको बीवियाँ मिल जाती हैं। बग़ैर तलाश के मिल जाती हैं। बाज़ दफ़ा उनके सिर थोप दी जाती हैं। मगर मैं आपको यक़ीन दिलाता हूँ कि बीवी एक ऐसी चीज़ है जो बग़ैर तलाश किये जल्दी मिल जाती है, और तलाश करने से हरगिज़ नहीं मिलती। और यही वजह है कि समझदार माँ-बाप को मैं यही राय दिया करता हूँ कि नौजवानों को हरगिज़-हरगिज़ बीवी तलाश न करने दें। बीवी मिलने से रही, और बीवी की तलाश में साहबज़ादे ऐसे गुम होंगे और ऐसी मंज़िल पर जा पहुँचेंगे कि जहाँ से खुद उनको कुछ अपनी ख़बर न मिलेगी। इस अंजाम से नौजवानों को बचाने के लिये यह ज़रूरी है कि तलाश के शुरू करने से पहले ही उनके लिये बीवी मुहैया कर दी जाये, ताकि जब वे होश में आयें तो बीवी सामने नज़र आये। तलाश शुरू होने से पहले ही ख़त्म हो जाये। इसी में उनका भला है।

जब तलाश करने से खुदा तक मिल जाता है, तो तलाश करने से बीवी का मिलना मुश्किल और नामुमकिन कैसे हो जाता है? इसका जवाब मैं देता हूँ। लीजिए, सुनिये। एक दफ़ा यह मौका मिलना काफ़ी है कि हमें यह सोचने की मोहलत मिल जाय कि हमें बीवी कैसी चाहिये। बस, यह मौका मिलना ही तो ग़ज़ब है। अब हम पहले निगाह अपने ऊपर डालते हैं कि खुद हम क्या हैं। और आप जानते ही हैं कि बहुत कम लोग ऐसे होंगे जो अपने बारे में सही राय क़ायम कर सकें। आम तौर पर हम इल्म में अरस्तू और अफ़लातून का मुक़ाबला करते हैं। अक़्ल में लुक़मान को ख़ातिर में नहीं लाते हैं। ग़र्ज़ेकि अपने ख्यालों में हम सब कुछ हैं, जो एक इन्सान को होना चाहिये। अब ऐसे शख़्स के लिये बीवी भी बराबर की मिलनी चाहिये। और चूँकि दूसरों की ख़ूबियों को हम जल्दी तसलीम नहीं करते और उनकी ख़ामियों पर जल्दी नज़र डालते हैं, इसलिये दूसरों का निगाह में न जँचना ज़ाहिर है। नतीजा-सारी उम्र अकेले।

मगर यह तो थी फ़लसफ़ायाना वजह। शायद आप इससे इत्तफ़ाक़ न करें, शायद आप यह समझें कि अपनी बदक़िस्मती को क़ितरती कानून का रंग देकर छापा जा रहा है। इसलिये लाइये अज़हर की ज़िन्दगी से मिसालें देकर इसको वाज़े कर दूं।

एक साहब को अपने लिये बीवी की तलाश है। उनके वालिद साहब भी इस तलाश में कामयाब न हो सके और तलाश करते-करते

इन्तकाल कर गये। साहबज़ादे का भी यही हश्र होता मालूम हो रहा है, क्योंकि उनके ख़ानदान में ख़ानदानी ग़रूर बहुत है। दूसरे ख़ानदान वाले उनकी आँखों में जँचते ही नहीं। जहाँ कहीं का ज़िक्र होता है उनको किसी न किसी किस्म का नुक़्स आ जाता है। इसलिये कुँवारे हैं और इंशाअल्ला कुँवारे ही रहेंगे।

एक और साहब को दौलतमन्द बीवी की तलाश है। खुद अच्छे भले हैं। कुछ माँ-बाप उनको लड़की देने के लिये भी तैयार हैं, मगर वहाँ दौलत नहीं है, और जिन रुपये-पैसे वालों के दरवाज़े पर ये एड़ियाँ रगड़ते हैं वे इन्हें मुँह नहीं लगाते। नतीजा-मुसलसल तलाश, न ख़त्म होने वाली तलाश।

एक और साहब खुद बहुत लिखे-पढ़े हैं। बीवी के घर से दौलत के ख्वाहिशमंद भी नहीं हैं। मगर बहुत ज़्यादा लिखी-पढ़ी बीवी चाहते हैं। और मैयार यह क़ायम किया है कि जो बीवी मिल्टन को अच्छी तरह समझ सके, वही सही मानों में लिखी-पढ़ी है।

उनके ऊँचे मैयार पर दूसरे को बग़ैर इम्तहान के जाँचना मुश्किल है। मगर हिन्दुस्तान में जहाँ मुलाज़िमतों के लिये हर क़िस्म के इम्तहान और मुकाबले हैं वहाँ अभी तक शादी के लिये कोई इम्तहान मुकर्रिर नहीं हुआ। इसलिये महज़ जाँचने के लिये दो शादियाँ कर चुके हैं, और चूंकि ये दाव मैयार पर पूरे नहीं उतरे, इसलिये अभी तक उनकी तलाश जारी है।

एक और साहब को खूबसूरत बीवी की तलाश है। ये खुद ज़रा नकसक से दुरुस्त हैं। लिहाज़ा चाहते हैं कि ज़िन्दगी का साथी भी ख़ूबसूरत हो। अब यह उनकी बदक़िस्मती है कि ख़ूबसूरती के बारे में उनकी राय कुदरत की राय से अलग है। कुदरत सब खूबसूरतियाँ एक जगह जमा नहीं करती। अगर किसी को आँखें दीं तो रंग दिया काला, अगर रंग दिया तो नाक ज़रा सी फिसनी करदी। गला दिया तो खतोखाल मामूली कर दिया, और खतोखाल दिये तो गला ज़रा सा बेसुरा कर दिया। यह कुदरत का तरीक़ा है, भला हो या बुरा। मगर इसका नतीजा यह है कि हमारे दोस्त, जो मुकम्मिल ख़ूबसूरती की तलाश में हैं, अभी तक कुँवारे हैं, और यक़ीनन बाकी उम्र भी यों ही गुज़रेगी।

एक और साहब हैं जिनको ऐसी बीवी चाहिये जो सियासत में हिस्सा लेती हो। बहुत अच्छी तकरीर कर सकती हो। जनता के सुधार का फ़िक्र रखती हो। दो-चार सोसाइटियों की सेक्रेटरी और वाइस-प्रेसीडेंट हो। मिलने-जुलने में आज़ाद ख्याल हो। कुछ शुहरत की मालिक भी हो। दो-चार दफ़ा उसकी तकरीर अख़बार में शाया हो चुकी हो। ताकि ऐसी बीवी खुद उनकी सियासी तरक़्क़ी में उनकी मददगार बन सके। अब इसमें कोई शक नहीं कि ऐसी लड़कियाँ नहीं तो औरतें ज़रूर मौजूद हैं। मगर मुश्किल यह है कि वे शादी की ज़िन्दगी की मजबूरियों को तरक़्क़ी के रास्ते में रुकावट समझती हैं। इसलिये हमारे दोस्त अभी तक कुँवारे हैं।

इनके बरअक्स एक साहब खुद बहुत ज़ोर-शोर की सियासी ज़िन्दगी बसर करते हैं, और तक़रीबन सोते-जगते मसरूफ़ रहते हैं। वे ऐसी बीवी की तलाश में हैं जो घर को अपनी तमाम दुनिया समझे और उनके आराम को धर्म। मगर साथ ही यह ख्वाहिश भी है कि बिल्कुल जाहिल और गूँगी न हो। मगर चूँकि एक ही बीवी में तालीम और इताअत की ये सब खूबियाँ नामुमकिन हैं, इसलिये उनकी तलाश भी अभी तक जारी है और यक़ीनन जारी ही रहेगी।

तो, देखा आपने? तलाश से बहुत-कुछ मिल जाता है, मगर बीवी नहीं मिलती।

बकौल शख्से जितना छानो उतना ही किरकिरा। जितना उलट पलट कर जाँचो परखो, कोई न कोई ख़ामी रह ही जाती है। अगर कोई शख्स इस नाकामी, इस नामुरादी, इस दश्त नवर्दी से बचना चाहता है, तो उसके लिये एक ही तरीक़ा है—तलाश का ख्याल दिल से निकाल दे, सोचना बन्द कर दे, आँखें बन्द कर ले, और जिस से टक्कर हो जाये, उस से शादी कर ले। राम भली करेगा। आखिर, हज़ारों, लाखों, करोड़ों शादियां इस तरह होकर कामयाब होती ही हैं! आँख मीच कर की हुई उसकी शादी क्यों न कामयाब होगी? होगी और ज़रूर होगी।

—दिल्ली से प्रसारित

नज़र अपनी अपनी—ग़ालिब

ग़ालिब की जिन्दगी और ग़ालिब के कलाम दो अलग चीज़ें नहीं हैं, बल्कि एक ही हक़ीक़त की दो मुख़्तलिफ़ शक्लें हैं। उनकी जिन्दगी का अक्स जगह जगह उनके अशार में नज़र आता है। उनके ख़तूत में रोज़मर्रा वाक़ात के नुक़ूश जा-बजा दिखाई देते हैं। इस लिहाज़ से उनकी नज़्मो नस्र ही उनकी बेहतरीन सवानेह उम्री है। और फिर चूंकि उनकी जिन्दगी बड़ी हद तक उस ज़माने की क़ौमी जिन्दगी का नमूना पेश करती है और उनके कलाम में गिर्दो पेश के हालात की झलकियाँ पाई जाती हैं, इसलिये उनके बाज़ तसनीफ़ात को न सिर्फ़ अदबी बल्कि तारीख़ी अहमियत हासिल है।

उर्दू अदब में ग़ालिब पहला शायर है जिसने आशिक़ाना तर्ज़ के पर्दे में आलिमाना और आरिफ़ाना मज़ामीन बाँधे और उस गज़ल की बुनियाद डाली जिसे आज हम नई गज़ल कहते हैं।

ग़ालिब के अशार में दुनिया जहान के मज़ामीन हैं। उन सब की फेहरिस्त जिन्दगी के तजर्बों की तरह बहुत तवील है। और गो इज़हारे बयाँ में फन्नी लवाज़िमात का बड़ा लिहाज़ किया गया है लेकिन कोई वाक़ा ऐसा नहीं बयाँ किया गया जो शायर के तजर्बे से बाहर हो। सिवाय तसव्वुफ़ के चन्द मज़ामीन के जिनका मुमकिन है ग़ालिब को तजर्बा न हो और वह सिर्फ किताबों में पढ़ी हुई चीजें हों, बाक़ी और कोई बात उन्होंने ऐसी नहीं कही जो उनके दिल पर न गुज़री हो। अदब की ख़ुशक़िस्मती और ख़ुद उनकी बदक़िस्मती से उनके तजर्बे भी बेहद सब्रआज़मा थे।

बचपन के कुछ साल बेफ़िक्री में गुज़ारने के बाद जवानी के ज़माने से उनकी मुसीबतों का आग़ाज़ हो गया—माली मुश्किलात—हमअसरों से चश्मकें—अज़ीज़ों की जुदाई—क़ौम की तबाही—इन सब मरहलों से उनको गुज़रना पड़ा :—

"ज़िन्दगी अपनी जो इस शक्ल से गुज़री ग़ालिब
हम भी क्या याद करेंगे कि ख़ुदा रखते थे।"

और फिर कुछ दिनों के लिये ग़मे दुनिया से सर उठाने की फ़ुरसत मिली तो सन् १८५७ ई० का वह क़यामतख़ेज़ हंगामा बर्पा हुआ जिसका तज़क़िरा उन्होंने जा-बजा अपने बेमिसल ख़तों में किया है। इन ख़तों की सादा और शिग़ुफ़्ता ज़बान तहरीर में तक़रीर का लुत्फ़—हिकायत में शिकायत का पहलू—ग़म में हँसी के फ़िक़रे अपनी मिसाल आप हैं। इन ख़तों से न सिर्फ़ ग़ालिब की जिन्दगी पर रोशनी पड़ती है बल्कि उनके दोस्तों की भी क़लमी तस्वीरें मिल जाती हैं। यह ख़तूत जो उर्दू-ए-मुअल्ला के नाम से छपे हैं दिलावेज़ और सलीस नस्र के ऐसे नमूने पेश करते हैं जो हमें किसी और उर्दू अदीब की तहरीरों में नहीं मिलते।

(मुहम्मद फ़ज़्लुल् रहमान, लखनऊ)



हिन्दी साहित्य और गांधी जी

भगवतीचरण वर्मा

विज्ञान ने जहाँ पाश्चात्य देशों को सम्पन्न बनाया, वहीं उसने शोषण और उत्पीडन को भी जन्म दिया। सम्पन्नता के मद में भूले हुए मानव ने विचारों के साथ खिलवाड़ आरम्भ किया। उत्पीडितों और शोषितों के करुणक्रन्दन के प्रति अपने कान बन्द करने के लिये तथा उस ओर से अपना ध्यान हटाने के लिए साहित्य और कला में नवीन वादों को जन्म दिया।

फ्रांस और ब्रिटेन में, जहां रुपया पानी की तरह बहता था, १९१८ के बाद नये नये वाद निकल पड़े। नग्न, अश्लील, कुरूप और विकृत चीजों को साहित्य और कला में स्थान दिया गया। पूँजीवाद ने साहित्य और कला की पवित्रता को एक प्रकार से नष्ट कर दिया।

इस साहित्य की प्रतिक्रिया रूस और जर्मनी में हुई, क्योंकि ये दोनों देश १९१४-१८ के युद्ध में तबाह हो चुके थे और इन्हें अपना पुनर्निर्माण करना था। जर्मनी के साहित्य ने घृणा और हिंसा को अपनाया। नाजीवाद के समय का समस्त जर्मन साहित्य केवल जर्मनों के वास्ते है, जिसमें जर्मनी को नवीन प्रेरणा दी गई थी।

पर रूस का साहित्य दृष्टिकोण में राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय था। विश्व में पूंजी-वाद के विरुद्ध क्रान्ति का एक व्यापक कार्यक्रम रूस के पास था। इस क्रान्ति के लिए जनता में जागृति और चेतना की आवश्यकता थी और विश्व-क्रान्ति की ओर दुनिया के मज़दूरों और किसानों को प्रेरित करने के लिए एक नवीन प्रकार की हिंसा तथा घृणा से भरे साहित्य को रूस ने जन्म दिया। उस साहित्य का मुख्य उद्देश्य था मानव-हित, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता, और इसी मानव-हित के आधार पर रूस के उस साहित्य ने प्रगति-वाद को जन्म दिया।

कम्यूनिज़्म का आधार आर्थिक कार्यक्रम है और इसलिये प्रगतिवाद का साहित्य मुख्यतः रोटी पर केन्द्रित रहा है। विश्वव्यापी पूँजीवाद से उत्पीडित विश्व के लिए यह प्रगतिवाद आकर्षक था। शोषण और उत्पीडन के प्रति किसी भी समझदार आदमी को हमदर्दी नहीं हो सकती। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रगतिवाद दुनिया के कोने कोने में फैल गया।

पर पाश्चात्य देशों में साहित्य की जितनी भी नवीन धाराएं आईं उनमें थोड़ी या बहुत मात्रा में घृणा, हिंसा और क्रोध के लिये स्थान ज़रूर था।

१९१४–१८ के युद्ध के बाद भारतवर्ष में एक नवीन क्रान्ति का श्रीगणेश हुआ, जिसका रूप बहुत दिनों तक पाश्चात्य देश वालों को

समझ में आया ही नहीं। इस नवीन क्रान्ति के प्रवर्तक थे महात्मा गांधी। महात्मा गांधी ने जिस क्रान्ति को उठाया वह भारतवर्ष में ही सम्भव थी।

भारतवर्ष में १९१८ में पूंजीवाद ज़ोरों के साथ प्रवेश कर रहा था और सामन्तवाद अपनी समस्त उग्रता के साथ यहाँ मौजूद था। यहाँ की सामाजिक समस्या भी कुछ विचित्र थी। मनुष्य को पशु से भी हीन समझा जाता था। भूख और बेकारी साधारण भारतीय का जन्मसिद्ध अधिकार था। एक ओर तो ये सामाजिक विषमताएं यहां मौजूद थीं, दूसरी ओर शक्तिशाली और बुद्धि-विद्या में कुशल विदेशी यहां शासन कर रहे थे।

भारतवर्ष में हिंसात्मक क्रान्ति सम्भव नहीं थी। गांधी जी ने भारतवर्ष में अहिंसक क्रान्ति की एक योजना बनाई।

भारतवर्ष के लिए अहिंसा नई चीज़ नहीं थी। उपनिषदों, बौद्धों, जैनों, हिन्दू सन्तों आदि सभी ने समय समय पर अहिंसा पर लिखा है। अहिंसा पर छोटे-मोटे प्रयोग भी यहां किये गये हैं। पर उन लोगों ने व्यक्तिगत अहिंसा को ही ध्यान में रखा था। महात्मा गांधी ने सामूहिक अहिंसा की कल्पना की।

सन् १९२० में जब गांधी जी का प्रथम आन्दोलन भारत में उठा तो वह एक राजनीतिक आन्दोलन भर था, विदेशी शासन के खिलाफ़ उस आन्दोलन के पीछे कोई स्पष्ट दार्शनिक विचार-धारा नहीं दिखाई देती थी। हां, सत्य, दया, प्रेम और बलिदान की सात्विक भावनाओं को अवश्य प्रेरित किया गया था, क्योंकि अहिंसक क्रान्ति के अस्त्र-शस्त्र मानव की यही सात्विक प्रवृत्तियां हो सकती थीं।

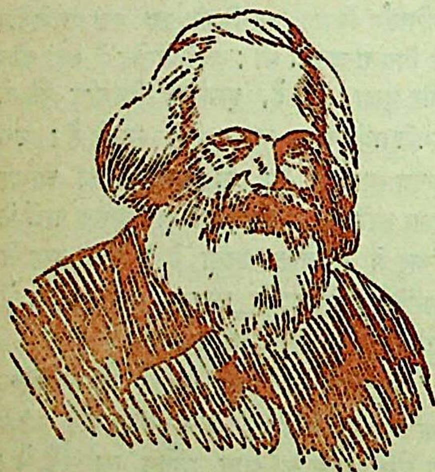
इस अहिंसक संघर्ष के परिणामस्वरूप देश में नवीन चेतना जागृत हुई, नवीन उत्साह, उमंग और स्फूर्ति का लोगों ने अनुभव किया, युगों-युगों से गुलामी के बन्धनों में जकड़े हुए जनसमुदाय को आशा की एक नई किरण दिखाई दी। यद्यपि असहयोग आन्दोलन राजनीतिक दृष्टि से असफल रहा, पर उसने जनता में नवीन प्राण-प्रतिष्ठा आरम्भ करदी। लोगों का ध्यान देश में फैली हुई कुरीतियों तथा विषमताओं की ओर आकर्षित हुआ। एक तरह से देश के पढ़े-लिखे लोगों में अन्याय और उत्पीडन के विरुद्ध विद्रोह पैदा हो गया। जाने या अनजाने, महात्मा गांधी ने १९२० के बाद वाले भारतीय साहित्य पर अपना एक अमिट प्रभाव स्थापित कर दिया।

इस समय प्रेमचन्द, कौशिक, सुदर्शन आदि कथाकारों तथा मैथिलीशरण गुप्त, भारतीय आत्मा, नवीन आदि कवियों ने हिन्दी साहित्य को एक नई दिशा की ओर मोड़ा। कुछ लोगों ने तो प्रेमचन्द को कांग्रेस का प्रचारक तक कह डाला है। पर इतना निश्चित है कि गांधी की विचारधारा ने भारतीय साहित्य में जो परिवर्तन किया, वह किसी हद तक प्रगतिवाद से मिलता-जुलता था। जहां विद्रोह है वहां क्रोध और घृणा भी है, इसलिए प्रेमचन्द को तो प्रगतिवादी आज अपना नेता मानते हैं। पर, इतना स्पष्ट है कि उस साहित्य का आधार घृणा नहीं है, न वह किसी राजनीतिक पार्टी के प्रचार में विश्वास करता है। एक तरह से भारतीय परम्परा के अनुसार उस साहित्य में सात्विकता को प्रमुख स्थान मिलता है।

प्रेमचन्द का प्रायः समस्त कथा-साहित्य एक तरह से गांधी जी से प्रभावित है। गांधी जी स्वयं सत्य के साथ प्रयोग कर रहे थे। और उस विकास के क्रम में गांधीवाद का स्पष्ट रूप उनके जीवन में विकसित नहीं हो पाया। इसलिए जिसे हम अब गांधीवाद कह सकते हैं, उसे यदि प्रेमचन्द, सुदर्शन, कौशिक आदि में हम पाना चाहें तो हमें एक तरह से निराश होना पड़ेगा। पर वे समस्त सात्विक प्रवृत्तियां, जिन पर गांधीवाद की नींव

है, ईश्वर पर अक्षय विश्वास, बलिदान और त्याग की भावना—इन सब के दर्शन १६२० से १६३० के बीच में लिखे गये हिन्दी साहित्य में होंगे। कहना तो यह उचित होगा कि सन् १६२० और सन् १६३० के बीच में भारतवर्ष में जिस साहित्य की रचना हुई उससे महात्मा गांधी के १६३० वाले आन्दोलन को इतना बल मिला कि अंग्रेज़ों के पैर लड़खड़ाने लगे।

सन् १६३० से कुछ पहले भारतवर्ष में साम्यवाद के प्रवर्तक आ गये थे और साम्यवाद का काम आरम्भ हो गया था। पर उस समय ब्रिटिश सरकार ने भारतवर्ष में साम्यवादी साहित्य तथा साम्यवादी विचार-धारा के आने पर बड़ी रोक लगा रखी थी। इसलिए कम से कम भारतवर्ष में तो कम्यूनिस्ट विचारधारा का ज़ोर १६३०-३१ में नहीं था। हां १६३०-३१ के बाद मुझे याद पड़ता है सन् १६३६ में भारतवर्ष में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई।



कार्ल मार्क्स

सन् १६३० के बाद गांधीवाद एक स्पष्ट विचारधारा के रूप में लोगों के सामने आने लगा और उसके बाद उसने भारतीय साहित्य को और कम से कम हिन्दी साहित्य को स्पष्ट रूप से प्रभावित भी किया। मैथिलीशरणगुप्त के "साकेत" और "यशोधरा" में गांधीवाद की सुस्पष्ट छाया है, और जैनेन्द्र की कहानियों में तथा उनके विचारों में गांधीवाद के सिद्धान्त हैं।

यही नहीं, सन् १६३० के बाद विदेशों में भी गांधीवादी विचारधारा पहुँची। विश्व के महान् विद्वान् और कलाकार रोमां रोलां ने गांधी के विचारों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। यूरोप के कुछ लेखकों में भी गांधीवाद की छाया जहां तहां मिलने लगी।

पर जैसा पहले कहा जा चुका है, भौतिक सभ्यता से प्रभावित पश्चिम गांधीवाद की अहिंसा की विचारधारा को अच्छी तरह समझने में असमर्थ रहा। वह तो लगातार युद्ध और विनाश की तैयारियों में लगा हुआ था।

सन् १६३६ में यूरोप में जो विस्फोट हुआ वह घृणा और हिंसा की नींव को सत्य मानकर रचे गये साहित्य से प्रेरित था और छः वर्ष तक विश्व में जो हत्याकांड हुआ तथा जिस अमानुषिकता का प्रदर्शन किया गया उससे यह स्पष्ट हो गया कि घृणा और हिंसा को आधार मान कर रचा जाने वाला साहित्य जन-कल्याण का साधन नहीं बन सकता। विश्व के प्रायः हरएक ईमानदार विचारक ने गांधी और गांधीवाद की महानता को मुक्तकंठ से स्वीकार किया। अपनी मृत्यु से कुछ पहले जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ने गांधी के सम्बन्ध में जो अपना मत प्रकट किया था वह पाश्चात्य देशों पर गांधी के प्रभाव को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है।

भारतवर्ष में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गांधी की विचार धारा को बहुत अधिक बल मिला। उससे पहले तक गांधी गुलाम देश का एक साधारण आदमी समझा जाता था। विदेशियों में कुछ ने तो कभी कभी गांधी के लिए अपमानजनक शब्दों का भी प्रयोग किया है। लेकिन जिस प्रकार गांधी ने अपने सिद्धान्तों के लिए अपनी बलि दी उससे दुनिया वालों की आँखें खुल गईं।

गांधीवाद चिरशाश्वत साहित्य का वर्तमान

परिस्थितियों के अनुसार विकसित रूप है। दूसरे को सुधारने की प्रवृत्ति ही हिंसा है। अहिंसा के अर्थ हैं मानव में उन भावनाओं को जाग्रत करना जिनसे वह अपने को ही देखे तथा अपनी ही निर्बलताओं पर विजय पाये। गांधीवाद साहित्य में सत्य है, पर कटुता नहीं है; उसमें घृणा और क्रोध का स्थान दया और सहानुभूति ने ले लिया है।

गांधीवाद साहित्य में सात्विकता और संयम पर विश्वास करता है। भौतिक सुख-सुविधाओं का जो दास है या इन चीज़ों के प्रति जिसमें आकर्षण है, वह स्रष्टा और अमर कलाकार नहीं हो सकता। और इसी लिए साहित्यकार में तृष्णा, लोभ आदि दुर्बलताएं न होनी चाहिएं।

हमारी भारतीय परम्परा त्याग और बलिदान की परम्परा रही है। वाल्मीकि तुलसीदास आदि अमर कलाकारों ने फ़क़ीर बन कर ही साहित्य का सृजन किया है। पाश्चात्य देशों के साहित्यकारों ने भी अभाव से कभी हार नहीं मानी। जो साहित्यकार सुख-सुविधा के लिए बिक जाये वह स्रष्टा साहित्यकार नहीं।

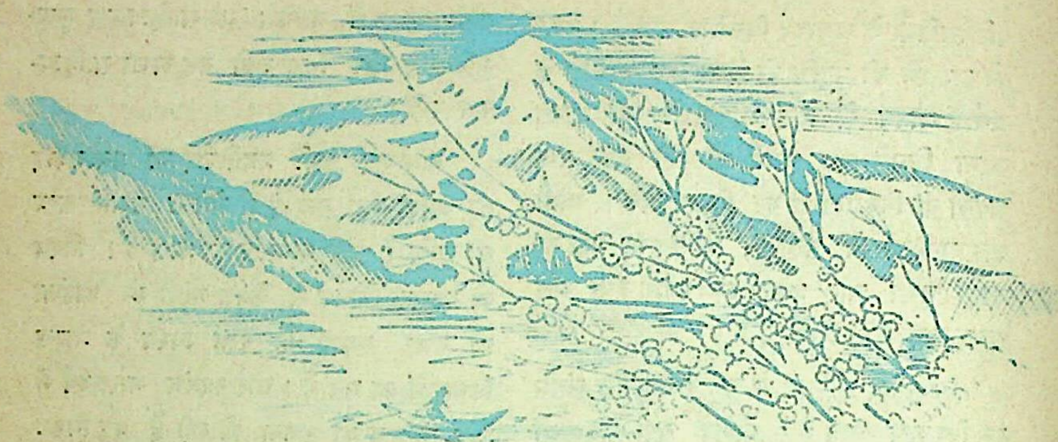
गांधीवाद अभी प्रगतिवाद या प्रयोगवाद की अपेक्षा नया वाद है। लेकिन उसमें सत्य की शक्ति है और मानवता का प्राण है। विश्व को व्यापक विनाश से केवल गांधी की अहिंसा ही बचा सकती है, ऐसा विश्व के प्रमुख विचारकों का मत है। और स्वतंत्र भारतवर्ष में जिस साहित्य की रचना हो रही है वह निकट भविष्य में पाश्चात्य देशों को उसी प्रकार प्रभावित करेगी जिस प्रकार पाश्चात्य देशों का साहित्य भारतीय साहित्य को प्रभावित करता रहा है। यह हमारा सौभाग्य है कि विश्व की सबसे अधिक कल्याणकारी विचार-धारा भारतवर्ष की निधि है और इस विचार-धारा का वाहक होकर हिन्दी साहित्य विश्व साहित्य में अपना गौरवपूर्ण स्थान बना सकेगा।

—दिल्ली से प्रसारित

नारद

नारद शब्द सुनते ही भारतीय संस्कार हमारी कल्पना में एक विशिष्ट व्यक्ति का चित्र उपस्थित कर देते हैं, जो सदा हरि-कीर्तन में तत्पर है, जिसका मधुर वीणावादन देवताओं तक को अपनी ओर आकर्षित करता रहा है, निरन्तर भ्रमण जिसका स्वभाव है, जिसकी प्रकृति में विनोद के लिए पर्य्याप्त स्थान है और जिसके पेट में कोई बात पचती नहीं। देवर्षि नारद देवताओं और मनुष्यों में सम्बन्ध स्थापित करते हैं और भक्तों को ठीक मार्ग पर लगाते हैं। यद्यपि देवर्षि नारद पूज्य हैं, परन्तु उनके चरित्र में एक ऐसी विशेषता है, कि कोई भी व्यक्ति अपने लिए नारद का शब्द प्रयोग किये जाने पर सम्मान का अनुभव नहीं करता। नारद "भक्तिसूत्र" के रचयिता हैं, संगीतशास्त्र के आचार्य और रचनाकार हैं तथा स्मृतिकार भी। सीधे सादे श्रद्धालु जीव सब गौरव देवर्षि नारद को ही दे डालते हैं, परन्तु इतिहासज्ञों की सम्मति में स्मृतिकार नारद का व्यक्तित्व देवर्षि नारद तथा भक्तिसूत्रकार नारद से भिन्न है।

(कैलाशचन्द्र देव 'बृहस्पति', लखनऊ)



जापानी कविता

धर्मवीर भारती

पता नहीं जापानी कविता का सन्दर्भ आप में क्या प्रतिक्रियायें जगाता है, किन्तु मेरी आँखों के आगे, शहतूत के पेड़, रेशम के डोरे, बाँस की हल्की चटाइयाँ, क्राइसेन्थमम के फूल, कागज़ के कन्दील और फ्यूजीयामा के श्वेत हिमाच्छादित शिखर उभर आते हैं। जापानी कविता उसी वातावरण, उसी परम्परा और उसी सूक्ष्म सौंदर्य बोध की कविता है। और आज जब मुझे अपने मित्र श्री दोई की सहायता से उन कविताओं को अपनी भाषा में प्रस्तुत करने का अवसर मिल रहा है तो मुझे लगता है कि मैं रंगों और ध्वनियों की उन सुदूर घाटियों में घूम रहा हूँ जिनका स्वप्न मैं शैशव से देखा करता था।

यह पहले ही कह देना होगा कि काव्य के इस रूपान्तरण में कुछ मेरी सीमायें भी हैं, कुछ जापानी और हिन्दी स्वर विन्यास की प्रकृति का अन्तर भी। जापानी साहित्य अधिकतर पाठ्य है, लोक साहित्य और उससे प्रभावित नई कविता गेय भी है। विषय की दृष्टि से अधिकांश मध्यकालीन जापानी काव्य सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण और सुकुमार मानवीय भावनाओं का काव्य है। उसकी प्रकृति अधिकतर लौकिक है। धर्म का प्रभाव नाटकों, कथा प्रबन्धों और रूप कथाओं पर अधिक रहा है। काव्य का विकास और प्रगति शिल्प के परिमार्जन की ओर अधिक रही है।

जापान में साहित्य सृजन का सूत्रपात संभवतः ईसा की तीसरी शताब्दी से ही हो गया था, यद्यपि उस समय लिपि चीनी ही थी और लिपिकार तथा शिक्षक अधिकतर चीन या कोरिया के लोग हुआ करते थे। जापान का सांस्कृतिक उत्थान बौद्ध धर्म के प्रवेश के साथ हुआ। उसी के साथ साथ चीन और जापान का सांस्कृतिक विनिमय भी बढ़ने लगा। यह क्रम ५८० ई० से प्रारम्भ हुआ और अगले २०० वर्षों में सम्राट् और सामन्तगण बड़े उत्साह से चीनी भाषा का अभ्यास करने लगे। जापानी युवक चीन जा कर साहित्य, दर्शन, धर्मशास्त्र, गणित आदि की शिक्षा ग्रहण करते थे। चीनी विद्वान्, भिक्षु, चित्रकार और कवि जापान में आ बसे थे, और शिक्षित वर्ग ने

चीनी संस्कृति, भाषा और परम्पराएँ अपना ली थीं। वे लोग चीनी भाषा में ही कवितायें लिखते भी थे।

किन्तु जापानी भाषा में साहित्य की धारा भी गौण रूप से प्रवाहित हो रही थी। आठवीं शताब्दी में नानू युग में उनको मान्यता मिली और "मान्योशु" नामक ग्रन्थ में उस समय तक प्रचलित जापानी काव्य के श्रेष्ठ नमूने संकलित किये गये। इनमें प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार की कृतियाँ मिलती हैं। उनका विषय मनुष्य की प्रतिदिन की रागात्मक अनुभूतियाँ ही है जिनमें जापान के पर्वत, सागर, नदियाँ और बादल उद्दीपन और पृष्ठभूमि के रूप में आते हैं।

उदाहरण के लिये मान्योशु में संकलित काकिनोमोती तो असोन् हितोमारो नामक एक कवि की एक कृति प्रस्तुत की जाती है। हितोमारो इसी प्रान्त का निवासी था। राजाज्ञा द्वारा जब वह राजधानी में बुलाया गया तब यात्रा के दौरान में उसने ये पंक्तियाँ लिख कर अपनी प्रेयसी को भेजी थीं :—

इवमि का जलधि-कूल खाड़ी ल्युनू की
सभी के नयन को नहीं मोहती है।
बहुत दीन निष्प्राण सी धार, बालू
किसी भी पथिक को नहीं सोहती हैं।

मगर क्या हुआ, यह विकल चित्त मेरा
न जाने सदा क्यों वहीं लौट जाता ?
लहर शाम की औ सुबह का झकोरा
सिवारें हरी औ घनी खींच लाता ?
वातात्सु तट पर।

उसी मणि सदृश श्याम शैवाल के
केश वाली प्रिया गेह पर छुट गई है।
इसी से नये मोड़ पर दृष्टि मेरी
अनायास मुड़कर मुड़ी रह गई है।
वतन और पीछे चला जा रहा है।

ऊँचे पहाड़ी शिखर कर चुका पार,
मैं आ रहा मंजिलों के बहुत पास।
पर मन मुरझाता गया मित्र ऐसे
ज्यों जेठ की सूखती जा रही घास।

होगी खड़ी द्वार पर वह, नयन में
अभी भी बसाए सजल फूल सपना।
उसे मैं अभी देखना चाहता हूँ,
पहाड़ो झुका दो जरा शीश अपना।

हितोमोरो की यह कविता प्रबन्ध शैली में लिखी गई मान्योशु की लम्बी कविताओं में से है। "कतुशिका की राजकुमारी" तथा अन्य कितनी ही पद्य कथायें भी उसमें संकलित हैं। किन्तु मान्योशु की दूसरी विशेषता है छोटी मुक्तक कविताएँ जिन्हें जापानी में "वाका" कहते हैं। वाका वास्तव में जापानी कवि के सीधे सादे सच्चे अनुभवों की सुगुम्फित अभिव्यक्ति है। हमारे यहाँ अपभ्रंश काल के गाथा-छन्दों में अमीरों के मुक्त जीवन की रसमय अनुभूतियां भी इसी प्रकार की हैं। गाथा की ही भाँति वाका भी बहुत लघु छन्द है जिसमें, ५, ७, ५, ७, ७ के विराम से केवल ३१ मात्राएँ रहती हैं।

अपने प्रस्तुत रूप में वाका उसी प्रकार की छोटी छोटी प्रभावोत्पादक चीनी कविताओं से बहुत मिलता जुलता है, किन्तु जापानी विद्वानों का कथन है कि वाका कहने और लिखने की परम्परा जापान में चीनी संस्कृति के आगमन के पहले से ही चली आ रही है। सम्भव है कि चीनी काव्य और कला प्रकृति के संसर्ग से इस मुक्तक रूप को और भी परिष्कार मिला हो। मान्योशु में ४००० से भी अधिक वाका कृतियों का संकलन मिलता है। सन् ९०५ ई० में सम्राट् की आज्ञा से कोकिशु नामक १००० वाका छन्दों का दूसरा संकलन प्रस्तुत किया गया। मान्योशु के वाका छन्द अधिक शास्त्रीय और आभिजात्य

हैं, कोकिश्यु के वाका सामान्य वर्ग के कवियों द्वारा रचित हैं और अधिक सरल हैं। वाका को राज-संरक्षण मिला और अब तक नये वर्ष के प्रारम्भ में राज-भवन में एक विराट् काव्य समारोह होता है जिसमें समस्त देश के वाका लेखक एकत्रित होकर अपनी कृतियाँ प्रस्तुत करते हैं। आज भी वाका जापानी जनता के सांस्कृतिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है और जापान का कोई ऐसा नागरिक नहीं जो अपने कुछ प्रिय वाका छन्द याद न रखता हो। पत्रिकाओं और काव्य संकलनों में नई प्रवृत्तियों के बावजूद आज १२०० वर्ष बाद भी वाका का महत्त्व अक्षुण्ण है। वाका छन्दों के साथ कुछ मर्मस्पर्शी कथायें भी जुड़ गई हैं। एक प्रख्यात वाका अद्‌भुत सुन्दरी ओचोनो कोमाची का वाका है, जिसके विषय में यह प्रख्यात है कि देश भर के राजकुमार और सामन्त ६६ संध्याओं तक इसकी प्रतीक्षा करते रहे कि उन्हें कोमाची से भेंट करने की अनुमति मिले; किन्तु कोमाची ने अपने एकान्त में विघ्न नहीं आने दिया। उसी प्रकार अनिष सुन्दरी का एक वाका मिलता है। इसका रूपान्तर असम्भव है, किन्तु इसके अर्थ हैं कि जितने थोड़े क्षणों में वह खिड़की पर बैठ कर बारिश देखती रही उतने ही क्षणों में फूल मुरझा गये। जापानी शब्दों के श्लेष के सहारे इसमें यह भी अर्थ निकलता है कि मैं ही कुछ क्षण अपनी जिन्दगी के बीतने की प्रणाली देखती रही, उतने ही में मेरा रूप मुर्झा चला। अतः कुछ अन्य वाका छन्दों को मैं उतनी ही मात्राओं में तो नहीं किन्तु मिलते हुए छन्दों के द्वारा रूपान्तरित करने का प्रयत्न करूँगा।

तोमानोरी नामक एक कवि का वाका है; उसका रूपान्तर इस प्रकार है :—

सिवा तुम्हारे और
किसको दिखलाऊँ यह बौर
बेर की सखी
सच्चे रंग महक सच्ची की तुम्हीं पारखी।

दूसरा वाका है चिसातो नामक कवि का :

जब नज़र
जाती कभी भी चांद पर
छाती उदासी की परत
गोकि मेरे ही लिए आई नहीं
यह ऋतु शरत्।

तीसरा वाका उसी प्रख्यात सुन्दरी कोमाची द्वारा रचित है :

जब से निंदिया
ने प्रिय को वापस बुला दिया
सपने देकर
तब से मुझे अटूट भरोसा है सपनों पर।

६ शताब्दियों तक यह वाका जापानी काव्य का प्रमुख काव्य रूप रहा। एडो काल में काव्य का एक नया रूप विकसित हुआ जिसमें वाका की सूक्ष्म अभिव्यक्ति और भी संक्षिप्त होती गयी। वाका की पहली १७ मात्राएं लेकर, ५, ७, ५, मात्राओं का हाइकु काव्य विकसित हुआ। इस काव्य में संक्षिप्त होने के अतिरिक्त दो और भी विशेषताएं हैं। एक तूलीस्पर्श के द्वारा पूरा वातावरण या पूरी आकृति उभार देने वाले शिल्प की भाँति ये कविताएं कुछ ही शब्दों द्वारा एक पूरा प्राकृतिक वातावरण या मानव जीवन की एक पूरी जटिल परिस्थिति ध्वनित कर देती हैं। भाषा की दृष्टि से भी हाइकु कविताएं अपेक्षाकृत सरल बोलचाल की भाषा में लिखी गयी हैं।

बाशो नामक कवि के दो हाइकु छंद पतझड़ और वर्षा का सुन्दर चित्रण करते हैं। पतझड़ पर उनका छन्द है :

पतझड़ : तीसरा पहर
कागा चुप बैठा है पत्रहीन डाली पर

दूसरा छन्द आषाढ़ में मोगामी नदी का वर्णन करता है :

आषाढ़ी जल
कोएकत्रित कर बहती मोगामी छल छल।

बाशो का तीसरा छन्द संक्षिप्त किन्तु बड़ा सुन्दर व्यंग्य है " इसका निर्णय आप स्वतः करें :

नहीं यहां भी छोड़ा
फूल खिला था पगडंडी के पास :
चर गया एक गुज़रता घोड़ा।

कभी कभी अपने यहाँ के नीतिपरक मुक्तकों को भाँति हाइकु में नीति के तत्त्व भी मिलते हैं। ओनित्सुरा का एक छन्द है :

बुद्धि मनुज की
सरदी में कहते हैं लोग कि लू अच्छी थी।

बुसों का एक हाइकु छन्द मानव हृदय की अत्यन्त सूक्ष्म अनुभूति को व्यक्त करता है :

थर थर
कांप उठा मैं शयन-कक्ष में पांव पड़ गया
स्वर्गवासिनी पत्नी की कंघी पर।

मैंने पहले ही कहा था हाइकु सामान्य जनता का काव्य है और इसीलिये बहुधा उसमें सामान्य जनता के दैन्य, दुख, अभिमान और संघर्ष भावना की भी सबल अभिव्यक्ति हुई है। विशेषतया इस्सा नामक कवि के छन्द बड़े मार्मिक हैं। वह कहता है :

मेरे साथ
खेलो और अनाथ पक्षीगण मैं भी निपट
अनाथ।

एक दूसरे छन्द में यही अनाथ भावना एक सामाजिक संवेदना और अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह में बदल जाती है। एक मेंढक को सम्बोधित करते हुए इस्सा कहता है :

अत्याचार बहुत हैं
बूढ़े मेंढ़क पत्थर खाकर हार न मानो
साथ तुम्हारे एक और है, मैं।

इस प्रकार की हाइकु कविताएं जापानी इतिहास के एडो काल में प्रचलित रहीं जो १६०० से प्रारम्भ होकर १८६७ तक चलता है। उसके बाद पूरे जापान में नवजागृति का एक युग आता है जिसे मेइजी पुनर्जागरण का युग कहते हैं। उसका प्रभाव जापानी काव्य पर भी दीख पड़ता है। १८८२ में कुछ कवियों ने नई शैली की कविताओं का एक संकलन प्रकाशित किया जिसमें टेनीसन और लॉंगफ़ेलो की कविताओं का अनुवाद था। उसके उपरान्त जापानी कविता पाश्चात्य प्रभावों को ग्रहण करने लगी। वह पाठ्य शैली को और भी प्रमुखता प्रदान करने लगी। नये युग के कवियों में शिमाज़ा की तोसों बहुत प्रख्यात है और उसकी कविताओं में लयात्मक परिपक्वता विशेष रूप से है। उसने लोकगीतों से भी बहुत प्रभाव ग्रहण किया किन्तु उसकी लय को रूपान्तरित करना कठिन है। एक प्रवासी व्यक्ति की अपने देश के प्रति स्मृति भावना पर उसकी एक उत्कृष्ट कविता है :

अनुवाद

दूर किसी अज्ञात द्वीप से बहता हुआ आज
आ लगा है इस तट पर एक नारियल

छोड़े अपना देश मनोहर कितने मास तुम्हें बीते
होंगे लहरों में बहते बहते
फैला होगा वृक्ष तुम्हारा अब भी
माना डालें सघन दे रही होंगी छाया

मैं भी आज लहरियों पर सर रख कर
तट पर सोने वाला एक अकेला यात्री हूँ
बिल्कुल तुम जैसा

मैंने हृदय लगाया तुमको और घाव मेरा
प्रवास का हरा हो गया

अक्सर जब समुद्र में सूरज डूबा करता
मुझ परदेशी की आँखों में सहसा आँसू
आ जाते हैं

इस अनन्त दूरी तक फैली लहरों में खोया सा
व्याकुल होता हूं...कब मैं घर लौट सकूंगा।

आज जापानी कविता प्रत्येक देश की नयी कविता की भांति सजग और सजीव है और देश विदेश के नये और पुराने प्रभाव घुलमिल रहे हैं। शिमाज़ा की तोसों की सरल और स्पष्ट भावनामयी शैली के अतिरिक्त नये कवियों में बौद्धिकता, टूटे चित्र, विघटित

संवेदनाएं भी मिलती हैं। उदाहरण के लिये किता-सोतो कात्यू नामक कवि की, जो वू गोष्ठी का नेता है और पाश्चात्य प्रभावों को उन्मुक्त रूप से ग्रहण कर रहा है, कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं :

कछुए का
अंडा
दर्पण में
फूटता है
उमस फूटती है
उदासी की
छाया
फूटती है...

वू गोष्ठी के अन्य कवि उएदा तोशियो, वादा तोशियो आदि जापानी काव्य के भावशिल्प को नये संस्कार दे रहे हैं।

जापान आज एशिया के नए जागरण में एक नयी स्थिति ग्रहण कर चुका है और पिछले आघातों के बावजूद उसके अदम्य उत्साह और आशा के स्वरों में और भी निखार आ गया है। उसका सुन्दर प्रतिफलन शिबानों तमिजों की इसी वर्ष की एक नवीनतम कविता में मिलता है, जिसमें एक जापानी शिशु कहता है :

मैं कदम बढ़ाता जाऊंगा
रस्ते पर सीधे आखिर तक
जब तिराहे पर आ गया हूं
तो अपनी पसन्द का एक रास्ता चुनूंगा।

वह नया रास्ता हमारे मित्र और पड़ोसी जापान के अभ्युदय और उत्थान का रास्ता होगा; यह उन सब की कामना है जिन्होंने कविताओं के माध्यम से जापान की आत्मा का सौन्दर्य पहचाना है।

—लखनऊ से प्रसारित

आर्यों की स्नान-प्रियता

संस्कृत में 'अभिषेक' स्नान का वाचक है पर 'राज्याभिषेक' राजतिलक देना अथवा राजगद्दी पर बिठाना—इस अर्थ में बोला जाता है। पुराने समय में (और अभी तक) जब किसी राजवंश के क्षत्रिय को राजा बनाया जाता था तो उसे तीर्थों के पवित्र जल से मन्त्रोच्चारणपूर्वक स्नान कराया जाता था। यही राज्याभिषेक था। दूसरी भाषाओं में ऐसा कोई शब्द नहीं। वहाँ 'ताजपोशी' (अर्थात् मुकुट-धारण) है, 'तख्तनशीन' अर्थात् सिंहासनासीन है। अंग्रेजी में 'कौरोनेशन' है जो कि ताजपोशी का ही पर्याय है। हमारे यहाँ इन शब्दों का व्यवहार नहीं। यह नहीं कि यहाँ राजा बनाये जाने वाले के सिर पर मुकुट नहीं रखा जाता था। मुकुट आदि धारण करना और सिंहासन पर बैठना ये दो राजीकरण क्रिया के मुख्य अंश अवश्य हैं, पर उन्हें उपेक्षित कर स्नान के पर्यायवाची अभिषेक शब्द से ही इस कर्म को कह दिया गया है। क्या यह बिना कारण ही है ? क्या यह आर्यों की स्नान प्रियता अथवा शौच-प्रधानता की ओर संकेत नहीं ? जल के प्रचुर प्रयोग के कारण हमारे कई एक मुहावरे बन गये हैं। हम कहते हैं 'परीक्षां तरति' अथवा 'परीक्षामुत्तरति' (परीक्षा पास करता है), शोकं तरति' (शोक के पार चला जाता है)। इसी प्रकार 'शास्त्रावगाहनम्' (शास्त्र में उतरना अथवा डुबकी लगाना), 'कृतशास्त्रावगाहः' (जिसने शास्त्र में डुबकी लगाई हो), 'शास्त्रपारग' (शास्त्र के पार जाने वाला) आदि शब्दों का व्यवहार होता है। 'परीक्षां तरति' इत्यादि वाक्यों में परीक्षा आदि को नदी का रूप दिया गया है।

(चारुदेव शास्त्री, जालन्धर)



आदिवासियों के लोक गीत और नृत्य

के० एल० श्रीवास्तव

घने जंगलों में, पर्वतों की डरावनी कन्दराओं में हमारे सब से पिछड़े हुए भाई, आदिवासी, बसते हैं। इनकी कई ज़बानें हैं, जैसे कोरकू, भील, गोंड, मुंडा आदि। इनका जीवन-संघर्ष बहुत ही कठिन होता है, तिस पर भी प्रकृति की खुली गोद में ये लोग आनन्दपूर्वक विचरते रहते हैं।

आदिवासियों के गीतों में कोई बड़ा काव्य-चमत्कार नहीं होता। हाँ, इन गीतों की खूबी यह है कि जिस प्रकार आदिवासी का हृदय सरल होता है, उसी प्रकार इन गीतों के भाव और बोल भी बड़े ही सरल और सादे होते हैं। घर-गृहस्थी की छोटी मोटी बातें, खेतों में लहलहाते धान के पौधे, चाँदनी की मोती जैसी चमकीली आभा, पहाड़ी नदी-नालों का कलकल निनाद, पशु-पक्षियों की भाँति-भाँति की बोलियाँ, इन्हीं विषयों को लेकर इनके लोक गीत बने हैं। इन गीतों द्वारा आदिवासी जीवन की परम्परा पुरातन काल से चली आ रही है।

ददरिया हमारे आदिवासी भाइयों का बड़ा प्रिय गीत होता है। दादर का अर्थ होता है ऊँचा स्थान, इसी लिए ऊँचे स्थान पर चढ़ कर ऊँचे स्वर से जो गीत गाये जाते हैं उन्हें ददरिया कहते हैं। पहाड़ों पर लकड़ी काटते हुए, पेड़ों पर चढ़ कर पत्ती और फल तोड़ते हुए, खेतों की ऊँची मेंडों पर शाम को लौटते हुए या मचान पर खड़े हो कर बीज चुगने वाले पंछियों को उड़ाते हुए, आदिवासी ये लोक-गीत गाते हैं। एक दूसरे के प्रेम में विभोर युवक-युवतियाँ ददरिया गा कर अपने मन के भावों को व्यक्त करती हैं। शादी-ब्याह के अवसर पर ददरिया गाने वाली दो टोलियाँ एक दूसरी से होड़ लगा कर घंटों गाती रहती हैं। स्त्री-पुरुष भी आपस में बाजी लगा कर ये गीत गाते हैं। राग की दृष्टि से ददरिया में भी अनेक प्रकार हैं। इन में पठारी ददरिया और कछारी ददरिया बहुत ही प्रचलित हैं।

मंडला और बिलासपुर की ओर सजनी नाम के लोकगीत बड़े चाव से गाये जाते हैं। ये गीत प्यार और उमंग भरे प्रसंगों पर गाये जाते हैं। असल में तो विवाह के अवसरों पर इन गीतों का विशेष चलन है। जब दुलहिन को सजाया जाता है उस समय उसकी सखी-सहेलियाँ उसे चारों ओर से घेर कर बैठ जाती हैं और इस प्रकार के गीत गाती रहती हैं।

बस्तर जिले के आदिवासी लोकगीत भी बड़े मनोरंजक होते हैं। छेरता, चैत परब, रीलो, कोटली आदि लोक-गीत विशेष ऋतुओं में और विशेष अवसरों पर गाये जाते हैं। पूस के महीने में हर साल छेरता मनाया जाता है। गाँव के जवान लड़कों की टोली छेरता गाती हुई दूसरे गाँव में जाती है और

वहां गानों द्वारा व्यंग्यात्मक हास-परिहास कर लोगों को खुश करती है। इस टोली के नायक को बकरे का स्वांग दे देते हैं। लोग इन्हें पैसा या अनाज देकर बिदा करते हैं।

इधर जब आदिवासी युवक छेरता गाते हैं तो उधर लड़कियां नारा नाम का गीत गाती हैं। बड़ा ही विचित्र होता है इनका गाने का ढंग। एक सुन्दर सी बुनी हुई रंग-विरंगी टोकनी में बहुत सी सजाई हुई गुड़ियां रखी जाती हैं। बीच में एक छोटा सा दीपक भी बार दिया जाता है। ऊपर से बड़े बड़े छेदों वाले रंग-बिरंगे ढकने से इस टोकनी को ढंक देते हैं। फिर लड़कियों की टोली इसे बड़ी उमंग से कन्धे पर रखकर घर घर जाकर सुरीली और धीमी आवाज़ में नारा नामक गीत गाना प्रारम्भ कर देती है।

मुरिया आदिवासी 'रीलो' लोकगीत गाने में बड़े ही निपुण होते हैं। अक्सर विवाह के अवसर पर स्त्री-पुरुषों की टोलियां बारी बारी से गाती रहती हैं। कभी कभी तो गाने के साथ ही नाच भी प्रारम्भ हो जाता है। चैत-परब भी ऐसा ही मनोरंजक लोकगीत है। बस्तर जिले के आदिवासी हर चैत्र मास में चैत-परब मनाते हैं; तभी ये लोकगीत गाये जाते हैं। इसके सिवा युवक-युवतियाँ भी होड़ लगाकर ये गीत गाती हैं। जो हार जाता है, कहते हैं उसे अपने विजयी से विवाह करना पड़ता है।

इन लोक-गीतों में जहाँ आनन्द के दर्शन होते हैं वहाँ जिन्दगी की टीसें भी कसकती हैं। ग़रीबी, रोग, अकाल मृत्यु, दैवी प्रकोप जब आदिवासी हृदय को दुख में डुबा देते हैं तब बड़े ही करुण उद्‌गार लोक-गीतों में मुखरित हो उठते हैं। सुनिये एक गीत का भाव। जंगल की सड़क पर गिट्टी फोड़ते समय आदिवासी मज़दूरों की टोलियाँ गाती हैं... भाव है—

भूखे और प्यासे हम कड़ी धूप में पत्थर तोड़ते हैं।
हमारा बदन पसीने से चमक रहा है,
और हमारी आँखों में आँसू चमक रहे हैं।
पैरों के नीचे जमीन जलती है और ऊपर आसमान आग उगलता है।
लू हमारा बदन झुलसाती है, हम कहां भागें?

लोक-गीतों को जब नृत्य का साथ मिलता है तो दोनों निखर उठते हैं। लोक-नृत्य, आदिवासियों की अपनी विशेष कला है। लोक-नृत्य केवल मनोरंजन के लिए ही नहीं नाचे जाते, देवी-देवताओं की वन्दना भी विशेष प्रकार के नृत्य से की जाती है। खेतों में फ़सल अच्छी हो, पानी ठीक समय पर पड़े, मनचाहा शिकार प्राप्त हो, नदियों में मछलियाँ खूब हों, जीवन से सम्बन्धित इन सब बातों की प्राप्ति के लिये भी तरह-तरह के नाच नाचे जाते हैं।

इन लोक-नृत्यों का एक और महत्त्व है। वह यह कि इन लोक-नृत्यों द्वारा आदिवासी युवक को जीवन-संघर्ष में कामयाबी हासिल करने की शिक्षा मिलती है। सामुदायिक पद्धति से एक दूसरे से मिलकर काम करना, अनुशासन में रहना, शारीरिक चपलता और हाव-भावों पर पूरी तरह प्रभुत्व पा लेना, इत्यादि अनेक अच्छे गुणों का लोक-नृत्यों द्वारा पोषण होता है।

'करमा' लोकनृत्य हमारे प्रान्त के आदिवासियों का बड़ा ही लोकप्रिय नृत्य है। बरसात खत्म होते ही किसी शुभ दिन गाँव का पुजारी जंगल में जाता है, और वहाँ से कदम वृक्ष की फूलों-पत्तों से भरी एक बड़ी-सी डाल तोड़कर ले आता है। फिर उसकी पूजा की जाती है। शाम को ढोल के स्वर हवा में गूँज उठते हैं। बाँसुरी की तान हवा में थिरकने लगती है और देखते ही देखते युवक युवतियाँ करमा नृत्य के लिए जमा हो जाती हैं। करमा नृत्य भी कई प्रकार का होता है। झूम-झूम कर जो करमा नाचते हैं, उसे झूमर करमा कहते हैं। लहक-लहक कर जो करमा नाचते हैं उसे करमा-लहकी कहते हैं। करमा रागिनी तो बैठकर ही गाई जाती है।

हाँ, इस अवसर पर दो-तीन आदमी ताल के लिए नाचते रहते हैं।

आदिवासियों का दूसरा लोक-नृत्य है सैला। ठंड के दिनों में सैला नाचा जाता है। एक गाँव की सैला नाचने वाली टोली दूसरे गाँव में जाती है। वहाँ गाँव वाले उसका उत्साह से आदर-सत्कार करते हैं। शाम को गाँव के मैदान में वह टोली सैला नाचकर अपना नृत्य-कौशल दिखाती है। उसका नाच हो जाने के बाद गाँव वाली टोली को उसी नाच की ठीक-ठीक नकल करनी पड़ती है। दिवाली पर जिस प्रकार युवक सैला नाचते हैं उसी प्रकार युवतियाँ होड़ लगा कर रीना नाच नाचती हैं। सुआ नाच भी विशेषकर युवतियाँ ही नाचती हैं।

बस्तर के आदिवासी-लोकनृत्य अपना सानी नहीं रखते। डंडामी माड़ियों का लोक-नृत्य कुछ विचित्र-सा होता है। ये नाच के समय अपने सिर पर जंगली भैंसे के चमकीले सींग लगा लेते हैं और उसके बीचों-बीच मोर और जंगली मुर्गी के रंगबिरंगे पंखों का बड़ा-सा गुच्छा खोंस लेते हैं। इनके गले में बड़े-बड़े लंबे मांदर ढोल होते हैं। ये उन्हें बजाते हुए कूद-कूद कर गाते हैं। इस नाच में युवतियाँ भी साथ देती हैं। उनके हाथ में बाँस की लकड़ियाँ होती हैं जिनके ऊपरी सिरे पर लोहे की चपटी पत्तियाँ लगी होती हैं। इन लाठियों को ज़मीन पर पटकती हुई ये युवतियाँ ढोल बजाने वालों के चारों ओर बड़ी तेज़ी से घूम-घूम कर नाचती हैं और गाती हैं।

वास्तव में आदिवासियों की सभ्यता के दर्शन इन लोक-गीतों और नृत्यों में अपने सीधे-सादे पर ओजपूर्ण रूप में होते हैं।

— नागपुर से प्रसारित

वेद-वाणी

आयस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट,
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्योऽन्यस्मै वल्गु वदन्तरात,
सध्रीचीन् वः संमनसस्कृणोमि ॥

(आपस में) खूब बंधे हुए, (एक दूसरे को ठीक प्रकार से) समझते हुए, मिलकर (सब कार्य) सिद्ध करते (और कराते) हुए और (विश्व कल्याण के) सांझे धुरे से जुड़े हुये बढ़े चलो। एक-दूसरे से (कभी) अलग मत होओ। एक दूसरे से अच्छा बोलो। आओ, मैं तुम्हारे मनों को मिलाता हूँ और तुम्हें एक पथ पर चलाता हूँ। —ऋग्वेद

(विश्वबंधु, जालन्धर)



सामुदायिक संगीत

सुमति मुटाटकर

अनादि काल से मनुष्य गाता चला आ रहा है, परन्तु केवल अकेला नहीं। सामुदायिक प्रवृत्ति सदैव मनुष्य स्वभाव का एक महत्त्वपूर्ण अंग रही है और इसी प्रवृत्ति पर मानवी संस्कृति तथा समाज का विकास आधारित है।

वास्तविक अर्थ में ग्राम-संगीत तभी स्पष्ट रूप से दीखने लगता है जब कि मनुष्य सांस्कृतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से अविकसित अवस्था से ऊपर उठ जाता है, और तभी वह निश्चित स्वर-रचना, फिर वह कितनी ही सीधी सादी तथा नीरस क्यों न हो, कर सकता है।

भारतीय संस्कृति के किसी भी अंग का विकास देखना हो तो उसे वेदकाल से ही प्रारम्भ करना पड़ता है। वैदिक वाङ्मय का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से भारत में वृंदगायन की प्रथा चली आई है। यज्ञ, जो कि हमारे आर्य पूर्वजों का प्रमुख धार्मिक कृत्य था, संगीत से ओतप्रोत था। आगे चलकर उत्क्रान्त सामगायन में सामुदायिक गायन का भी प्रचलन हुआ, अर्थात् यह सामगान धार्मिक संगीत था, जिसका प्रधान हेतु पारमार्थिक रहा। इसी के साथ-साथ वेदकाल में लौकिक संगीत भी अवश्य प्रचार में रहा होगा, जो कि सामान्य जनता के मनोरंजन का साधन होगा। अथर्व वेद में कुछ स्थलों पर स्त्री पुरुष मिलकर भिन्न भिन्न वेश पहन कर नृत्य-गायन करते थे, इस प्रकार के विधान मिलते हैं। समूहगायन का उस समय अवश्य प्रचार रहा होगा, इतना अनुमान इससे किया जा सकता है।

सामसंगीत के पश्चात् के काल-खंड का निर्देशक भरतमुनि-प्रणीत नाट्य–शास्त्र ग्रन्थ है, जिसमें संगीत का निर्देश मुख्यतः नाट्य के अनुषंग से है। नाट्य प्रयोग में सामुदायिक गायन का बहुतायत से प्रयोग होता था।

नाट्यशास्त्र के पश्चात् भारतीय संगीत में राग की कल्पना का उदय हुआ और उसी के आधार पर हमारे संगीत का विकास होता गया। आज भी हमारा अभिजात संगीत राग संगीत ही है। इस राग की कल्पना का विकास जैसे जैसे होता गया वैसे वैसे गायक-वादकों की व्यक्तिगत कल्पना के लिए भी गुंजाइश निकलती गई। मुस्लिम काल में ख़याल, जिसका

अर्थ है कल्पना, की उत्पत्ति ध्रुपद तथा कव्वाली से हुई, जिसमें गायक अपनी व्यक्तिगत गायन शैली तथा कल्पना शक्ति को अच्छी तरह व्यक्त कर सकता है। मेरे मत में, इसी के परिणाम स्वरूप शायद हमारे संगीत में वृंदगायन धीरे धीरे कम होकर शास्त्रीय संगीत व्यक्तिप्रधान बनता गया। आज हमारे शास्त्रीय संगीत में वृंदगायन (वृंदवादन तो कुछ है और बढ़ भी रहा है) नहीं के बराबर ही है। मेरे विचार से आज भी ध्रुपद धमार का, विशेषतः ध्रुपद का विस्तार पक्की गायन शैली में वृंदगायन के तत्त्वों पर किया जाय तो वह गायन बहुत ही सुन्दर तथा प्रभावशाली रहेगा।

कुछ विद्वानों का ध्यान ध्रुपद की ओर आकर्षित हो रहा है, यह बात आशाजनक जान पड़ती है।

अब हम लोक-संगीत की ओर ध्यान दें। इसमें लोक जीवन के हरएक पहलू का प्रतिबिंब स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। देहात में रहने वाले सीधे-सादे, भोले-भाले करोड़ों लोगों के श्रमशाली जीवन-क्रम का, उनकी आशा-आकांक्षाओं का, उनकी भावुकता का यथार्थ निर्देशन उनके सहज सुन्दर गीतों में पाया जाता है। खेतों में काम करते समय, इमारतों की नींव डालते समय, कुओं से पानी निकालते समय और कपड़ा बुनते समय श्रमपरिहार करने के लिए स्त्री-पुरुष, केवल पुरुष या केवल स्त्रियां एक साथ गीत गाते हैं। भारतवर्ष के हर एक प्रदेश की प्रादेशिक भाषा में इस प्रकार के गीत पाये जाते हैं। आज के यांत्रिक युग का प्रभाव धीरे-धीरे हमारे ग्रामीण जीवन पर भी बहुत कुछ पड़ रहा है, इसी के परिणाम स्वरूप इन सामूहिक गीतों के महत्त्व के कुछ घटने की सम्भावना है।

भारतीय संस्कृति की रचना ही ऐसी है कि संगीत जनता के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन का एक आवश्यक और प्राणभूत अंग सदैव रहा है। विवाह, उपनयन, राज्यारोहण, अन्नप्राशन सभी संगीत से संलग्न हैं। स्त्री-पुरुषों के समूह इन गीतों को गाकर अपनी आजीविका चलाते आये हैं। किसी के घर में मंगल-प्रसंग हो तो उन्हें नेवता दे के बुलाया जाता है। कुछ गीत ऐसे होते हैं जिन्हें उत्सव में सम्मिलित सब स्त्रियां मिलकर गाती हैं।

जीवन का आनन्द प्रदर्शित करने वाले गीत विभिन्न प्रान्तों में होते हैं, जैसे कि उत्तर प्रदेश में बारहमासे, सावन, चैती, कजरी, होली; पंजाब में ढोलक गीत, माहिया, भंगड़ा; गुजरात में गरबा, रास तथा अन्य गीत; बंगाल में बादल और मटियाली; तथा आसाम में बार गीत, वन गीत आदि। इनमें से प्रायः सभी प्रकार के गीत सामूहिक रूप से ही गाये जाते हैं। जैसे महाराष्ट्र में वीररस प्रधान पोवाडे होते हैं, वैसे ही उत्तर प्रदेश में आल्हा-ऊदल के गीत। भक्तियुक्त सामुदायिक गीत भी बहुत ही प्रभावशाली होते हैं। महाराष्ट्र में भजन और बंगाल में कीर्तन जब सामूहिक रीति से गाये जाते हैं तब कोई कितना ही शुष्क एवं नास्तिक क्यों न हो, उतने समय के लिये वह भक्ति-रस में डूब ही जाता है।

सावन इत्यादि ऋतुगीतों में प्रेमियों के मन में विभिन्न परिस्थितियों में उठने वाले भिन्न भिन्न भावों का दर्शन तथा सृष्टि-सौन्दर्य का वर्णन रहता है। दक्षिण भारत में भी सामुदायिक रीति से बहुत से गीत गाये जाते हैं। पूरा समुदाय जब वैयक्तिक सुख-दुःख और चिन्ताओं को भूलकर, रंग में मस्त हो कर इन गीतों को गाता है तब एक निराली ही दुनिया बस जाती है। देहात में किसी उत्सव-प्रसंग पर जाकर इन गीतों को प्रत्यक्ष सुनने से ही इनके आनन्द की कुछ कल्पना हो सकती है।

लोक-संगीत तथा शास्त्रीय-संगीत एक दूसरे के पूरक किस प्रकार रहे हैं, थोड़े से उदाहरणों द्वारा स्पष्ट हो जायेगा। पहले तो ध्रुपद धमार का ही उदाहरण लें। ध्रुपद धमार आज इतने

नियमबद्ध तथा कठिन समझे जाते हैं कि सामान्यतः गायकों से उनकी अपेक्षा तक नहीं की जाती और न ये सामान्य संगीत-प्रेमियों की समझ में ही आते हैं। कुछ शताब्दियों पूर्व ध्रुपद सामुदायिक रूप से मंदिरों में सरल रीति से गाये जाते थे, और धमार के साथ तो होली के समय स्त्री-पुरुष गाते नाचते थे। शास्त्रीय संगीत में बहुत से बड़े बड़े राग ऐसे हैं जिनमें मिलती जुलती बहुत पुराने लोक गीतों की तर्जें पाई जाती हैं। भैरवी जैसे गम्भीर राग की जड़ गौरी नामक हल्की धुन में पाई जाती है।

शास्त्रीय संगीत में जो ताल, त्रिताल, एक ताल, झपताल, आड़ाचौताल, झूमर वगैरा प्रचार में हैं, उनकी जड़ लोक संगीत में ही पाई जाती है, क्योंकि कहरवा तथा दादरा जो ग्रामीण संगीत के प्राणभूत ताल हैं, वे हिन्दुस्तानी संगीत को ताल-सृष्टि के भी आधार हैं।

अन्त में, भविष्य में हमारे देश में सामुदायिक गायन का स्वरूप क्या होना चाहिये इसके सम्बन्ध में दो शब्द कहना मैं आवश्यक समझती हूँ। शताब्दियों से चले आये विभिन्न प्रान्तों के गीत जो प्रादेशिक भाषाओं में हैं वे तो रहेंगे ही, कालानुसार उनमें परिवर्तन होता जायेगा। परन्तु मेरी धारणा है कि देश-प्रेम तथा देश-गौरव पर वीर रस-प्रधान तथा भक्तिरस-युक्त कुछ गीतों की सरल, सुन्दर हिन्दी में रचना होना आवश्यक है। इन्हीं गीतों को सहल, नाद-मधुर, हृदयस्पर्शी स्वररचना में बैठाकर पूरे भारतवर्ष में समाज के उच्चतम स्तर से निम्नतम स्तर तक विस्तृत रूप से प्रसारित करना चाहिए। यह कार्य सहजसाध्य नहीं है, परन्तु प्रतिभाशाली कवियों तथा उच्च श्रेणी के भावुक संगीतकारों के सहयोग से यह कठिन पर आवश्यक कार्य सफल होना असम्भव नहीं। हमारे सामाजिक तथा राजकीय सभा-सम्मेलनों तथा समारोहों में राष्ट्रगीत प्रायः दो चार युवतियाँ या युवक ही मिलकर गाते हैं, बाकी पूरा जनसमूह केवल प्रेक्षक या श्रोता ही रहता है, जिसका परिणाम उतना प्रभावशाली नहीं होता जितना कि होना चाहिये। मेरा तो मत यह है कि ऐसे गायन की अपेक्षा सभापति से लेकर स्वयंसेवक तक, सभा के सब लोग भावना युक्त खुली आवाज़ में, सामुदायिक रीति से राष्ट्र-गीत गायें; तभी वह वस्तुतः राष्ट्रगीत कहलाया जा सकता है और ऐसे ही गीत का प्रभाव अत्यन्त गहरा तथा चिरस्थायी रहेगा।

मेरा विश्वास है कि इस तरह के गीतों का विस्तृत रूप से प्रसार होने से राष्ट्र में एकता तथा समानता की भावना का विकास होने में बहुत ही सहायता होगी। वह क्षण कितना भाग्यशाली रहेगा जब कि पूरा भारतवर्ष एक-चित्त होकर एक वाणी से, एक सुर में, अपने उज्ज्वल परम्परा युक्त गीत गायेगा।

—नागपुर से प्रसारित



प्राचीन शास्त्रार्थ

विश्वनाथ गौड़

शास्त्र और विद्या के व्यसनी भारतवर्ष में विद्वानों का यह विश्वास था कि "वादे वादे जायते तत्वबोधः" अर्थात् परस्पर "वाद" करने से तात्विक ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतः हमारे देश में अति प्राचीन काल से ही लोग शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होते रहे हैं। यह शास्त्रार्थ तत्त्व-ज्ञान की सच्ची जिज्ञासा से या दूसरों को परास्त कर अपनी विद्या-बुद्धि की धाक जमाने के लिए किया जाता था। इसके प्रायः १. वाद, २. जल्प और ३. वितंडा-तीन रूप देखने में आते हैं। "वाद" सच्चे जिज्ञासुओं के बीच होने वाले विचार-विनिमय को कहते हैं। परपक्ष का खण्डन करके आत्म-पक्ष का मंडन करने की इच्छा रखनेवाले दो व्यक्तियों के पारस्परिक शास्त्रार्थ को जल्प कहते हैं। और अपने मत की स्थापना किये बिना ही केवल दूसरे के मत को अच्छी-बुरी युक्तियों से खंडन करना वितंडा कहलाता है। दो व्यक्तियों या दलों के बीच होने वाले शास्त्रार्थों में जय-पराजय का निर्णय करने के लिये एक मध्यस्थ की नियुक्ति की जाती थी। प्रायः अत्यन्त भारी प्रतिष्ठा वाले विद्वान् शास्त्रार्थ में परास्त होने पर यावज्जीवन दुःखी रहते थे।

भारतवर्ष की यह शास्त्रार्थ-परम्परा इतनी प्राचीन है कि ऋग्वेद के समय से यह आज तक ज्यों की त्यों चली आ रही है। वैदिक काल में बड़े बड़े समारोहपूर्ण यज्ञों में कई ऐसे संवादात्मक हल्के शास्त्रार्थों का भी उल्लेख मिलता है जो कि बड़े रोचक हैं। ऋगवेद के तीसरे मंडल में विश्वामित्र का विपाशा और शतुद्रो (आधुनिक झेलम और व्यास) नदियों के साथ संवाद है। महर्षि इन नदियों से मार्ग देने की प्रार्थना करते हैं और युक्तिपूर्वक उन्हें अपना शरीर-संकोच करने के लिये राज़ी भी कर लेते हैं। नदियाँ भी अपनी महिमा का राग अलापती हुई महर्षि को पार जाने की सुविधा देती हैं। एक दूसरे स्थल पर कुछ मेंढक-मेंढकियाँ अपने उपजीव्य पर्जन्य देवता की महिमा का संवादों में रोचक ढंग से प्रतिपादन करती हैं। वैदिक काल में पणि नामक व्यापारियों का एक वर्ग था। ये पणि ही कदाचित् आगे चलकर "वणिक्" कहलाए। बहुधा ये पणि पशुओं को चुरा कर बेच लिया करते थे। एक बार उन्होंने इन्द्र की गायें चुरा ली थीं। इस पर इन्द्र की सरमा नाम की कुतिया उनके पास आई और उन्हें चोर सिद्ध करने का तथा इन्द्र के बल से भयभीत करने का और गायें वापस करने के लिए राज़ी करने का प्रयत्न करने लगी। पर साहसी पणि अपने निश्चय से न डिगे और सरमा उनसे परास्त होकर वापस चली गई। यह छोटा सा वैदिक शास्त्रार्थ अत्यन्त रोचक है। ऋग्वेद में ही अन्य स्थल पर सूर्य के पुत्र और पुत्री अर्थात् यम और यमी का भी शास्त्रार्थ है। यमी, यम को अपने साथ विवाह करने के लिए समझाती है। पर उसकी युक्तियाँ यम के गले के नीचे नहीं उतरतीं। इन वैदिक शास्त्रार्थों में उक्तियां सीधी-सादी, व्यंग्यपूर्ण और सजीव हैं।

वेदों के अन्तिम भाग अर्थात् आरण्यकों और उपनिषदों में भी अध्यात्म-तत्त्व की चर्चा के प्रसंग में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ छोटे-छोटे

शास्त्रार्थों के माध्यम से ही ज्ञान का उपदेश किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में प्रवाहण नामक एक राजा की चर्चा है जो कि अध्यात्म-तत्त्व का प्रकांड विद्वान् था। इस राजा ने अनेक ऋषियों और शिक्षित ब्राह्मण-कुमारों के विद्या-मद को दूर करके, प्रश्नोत्तर-प्रणाली में शास्त्रार्थ के ढंग से तत्त्वोपदेश किया है।

वैदिक काल के बाद लौकिक संस्कृत का युग आरम्भ होते-होते भिन्न-भिन्न शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन की परम्परा चली और वहीं से वास्तविक शास्त्रार्थ का जन्म हुआ। व्याकरण, न्याय, मीमांसा, अद्वैत दर्शन, बौद्ध दर्शन आदि पर शास्त्रार्थ होने लगे। महर्षि पतंजलि के महाभाष्य में एक बड़े ही रोचक शास्त्रार्थ का उल्लेख है। यह शास्त्रार्थ किसी वैयाकरण और रथ चलाने वाले सूत के बीच हुआ था। वैयाकरण ने सूत से पूछा ? 'कोऽस्य रथस्य प्रवेता ?' अर्थात् इस रथ का प्रवेता या सारथी कौन है ? सूत ने उत्तर दिया कि हे आयुष्मान्, इसका 'प्राजिता' मैं हूँ। इस पर वैयाकरण ने कहा—यह 'दुरुत' अर्थात् अपशब्द है। इस पर सूत ने वैयाकरण के गर्व को झाड़ते हुए उसे समझाया कि तुम्हारे द्वारा प्रयुक्त 'प्रवेता' और 'दुरुत' दोनों शब्द अशुद्ध हैं और इनकी जगह 'प्राजिता' और 'दुःसूत' शब्दों का प्रयोग होना चाहिये। आगे चलकर व्याकरण के कारण अनेक मौखिक और लिखित बड़े-बड़े शास्त्रार्थ हुए जिनकी परम्परा अभी कुछ समय पहले तक बराबर चल रही थी। भोज-प्रबन्ध में भी एक ऐसी ही परिस्थिति का उल्लेख है। एक बार राजा भोज ने किसी लकड़हारे से पूछा कि 'क्या तुम्हें यह बोझ नहीं खलता है ?' इस प्रश्न में राजा ने 'बाधति' क्रिया का प्रयोग किया था जोकि व्याकरण के अनुसार अशुद्ध है। इस पर उसने उत्तर दिया कि मुझे जितना 'बाधति' खल रहा है उतना यह बोझ नहीं। कहा जाता है कि सारस्वत व्याकरण के रचयिता ने एक बार शास्त्रार्थ में 'पुँत्सु' शब्द का अशुद्ध प्रयोग कर दिया था। इस पर विद्वानों के आपत्ति करने पर उन्होंने अपने इस प्रयोग को साधु सिद्ध करने के लिए सरस्वती की कृपा से रात भर में सारस्वत व्याकरण बनाया। आगे चलकर व्याकरण के शास्त्रार्थियों ने शिष्टता का उल्लंघन भी किया, और यदि एक ओर से 'मनोरमा' नाम की टीका लिखी गई तो दूसरी ओर से 'मनोरमा-कुच-मर्दन' नाम से उसका उत्तर भी प्रस्तुत किया गया।

दर्शन के क्षेत्र में जितना शास्त्रार्थ किया गया उतना कदाचित् और किसी शास्त्र के सम्बन्ध में नहीं किया गया। दर्शनों में भी बौद्ध-दर्शन को कदाचित् विरोधियों का सबसे अधिक सामना करना पड़ा। ये शास्त्रार्थ भी लिखित और मौखिक रूप में हुये। अच्छे-अच्छे बौद्ध विद्वानों ने प्रतिपक्षियों के साथ शास्त्रार्थ किए और बराबर हारते-जीतते रहे। नालन्दा का विश्वविद्यालय इनका एक सुदृढ़ गढ़ था। यहाँ के पीठ-स्थविर धर्मपाल प्रकाण्ड विद्वान् थे। पर उन तक पहुँचने के पहले क्रमशः द्वार-पालों से लेकर ऊँची श्रेणी के अधिकारियों तक से शास्त्रार्थ करना पड़ता था। पाँचवीं शताब्दी के आसपास आचार्य दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति अत्यन्त प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक थे, जिन्होंने वात्स्यायन के न्याय-भाष्य और वार्तिक का खंडन किया। गुप्तकालीन प्रसिद्ध बौद्ध पंडित मनोरथ का भी प्रसिद्ध कवि मातृगुप्त के साथ शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें मनोरथ को पराजित होना पड़ा। दशवीं शताब्दी के आसपास होने वाले प्रसिद्ध नैयायिक आचार्य उदयन ने बौद्धों की न्याय-विवेचना का खंडन किया।

दर्शन के शास्त्रार्थों के प्रसंग में प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट को नहीं भुलाया जा सकता। कुमारिल भट्ट असाधारण प्रतिभा और वाग्मिता के विद्वान् थे। ये शंकराचार्य के समकालीन थे। मंडन मिश्र जैसे महाप्रसिद्ध पंडित इन्हीं के शिष्य थे। कुमारिल भट्ट का

तो जन्म ही जैन और बौद्ध आदि नास्तिक दर्शनों का खंडन करके वैदिक दर्शन की प्रतिष्ठा करने के लिये हुआ था। तत्कालीन धर्मकीर्ति और धर्मपाल बौद्ध विद्वानों का कुमारिल भट्ट से शास्त्रार्थ हुआ। पर कुमारिल को कोई परास्त न कर सका। कर्णाटक के सुधन्वा राजा की सभा से कुमारिल भट्ट ने जैन विद्वानों को बहिष्कृत कराया और वेदों की प्रतिष्ठा की।

प्राचीनकाल के शास्त्रार्थों में कदाचित् सबसे प्रसिद्ध स्वामी शंकराचार्य और मंडन मिश्र का शास्त्रार्थ है। मंडन मिश्र कुमारिल के शिष्य और अखिल भारतीय ख्याति के विद्वान् थे। इनकी पत्नी शारदा या भारती साक्षात् सरस्वती का अवतार थीं। इनके घर के पालित पक्षी भी शास्त्र-चर्चा किया करते थे। उन्हें अपने मत में दीक्षित करने की इच्छा से स्वामी शंकराचार्य ने उनसे शास्त्रार्थ किया। मंडन मिश्र की पत्नी शारदा मध्यस्थ थीं। स्वामी शंकराचार्य ने प्रतिज्ञा की कि मैं यदि परास्त हुआ तो सन्यास छोड़कर गृहस्थ हो जाऊँगा। मंडन मिश्र ने भी प्रतिज्ञा की कि यदि मैं पराजित हुआ तो गृहस्थ धर्म छोड़कर सन्यास ले लूंगा। शारदा ने दोनों के गले में एक-एक माला पहना दी और कहा कि जो हारेगा उसकी माला मुरझा जायगी। धीरे-धीरे मंडन मिश्र परास्त हुए। शारदा ने अपने आपको भी शास्त्रार्थ के लिये प्रस्तुत किया। शंकर उससे एक मास की अवधि लेकर चले गये और परकाय-प्रवेश-विद्या द्वारा उसी समय मरे हुए अमरुक नाम के राजा के शरीर में प्रवेश किया और उसकी रानियों के साथ काम-विज्ञान का अनुभव किया। इस प्रकार एक मास के बाद आकर उन्होंने शारदा को भी परास्त किया, और मंडन मिश्र को अपना शिष्य बनाया। शंकर-दिग्विजय में इस शास्त्रार्थ का बड़ा विस्तृत वर्णन दिया हुआ है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य रोचक शास्त्रार्थ का भी उल्लेख मिलता है। कन्नौज के महाराजा जयचन्द्र की सभा के प्रसिद्ध कवि, नैषधकार, श्रीहर्ष के पिता का नाम हीर पंडित था। उन्हें उदयन से पराजित होना पड़ा था। इस पराजय का दुःख वे जीवन भर न भूल सके। मृत्यु के समय उन्होंने अपने पुत्र को बुला कर अपना प्रतिशोध लेने को कहा। श्रीहर्ष ने अत्यन्त परिश्रम से अनेकानेक विद्याओं और कलाओं का अध्ययन किया और अपने पिता का बदला लिया। उन्होंने 'खंडनखंड खाद्य' नामक वेदान्त का ग्रन्थ भी बनाया जिसमें अन्य सिद्धान्तों का खंडन करके वेदान्त की प्रतिष्ठा की गई है।

साहित्य के क्षेत्र में भी अनेक अच्छे लिखित शास्त्रार्थ हुए। रस-सिद्धान्त को लेकर विद्वानों में अत्यन्त प्रौढ़ और सुन्दर शास्त्रार्थ हुए। ध्वनि की स्थापना करने में मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों को महिम भट्ट जैसे विद्वानों से लोहा लेना पड़ा था। काव्य की परिभाषा, दोष, गुण आदि पर विद्वानों में पर्याप्त खंडन-मंडन हुआ है। प्रतिपक्षी के लिए 'देवानां प्रियः' अर्थात् 'मूर्ख' जैसी सुन्दर उक्तियों का प्रयोग किया जाता था। शास्त्रार्थी विद्वान् अपने को 'वादि-वृषभ' 'प्रतिवादिभयंकर' कहा करते थे।

लोक-कथाओं से तो यह भी ज्ञात होता है कि बहुत से शास्त्रार्थी पंडित हारने वाले विद्वान् का 'पोथी-पत्रा' छीन लिया करते थे। साधारण जनता भी पंडितों के शास्त्रार्थ में पर्याप्त रुचि लेती थी। लोग अपने-अपने परिचित विद्वानों को दूसरों से लड़ाकर तमाशा देखा करते थे। विवाहों में आमन्त्रण के समय पंडितों में विवाद हो जाया करता था। पर इधर ज्यों-ज्यों अध्ययन में लोगों की रुचि कम और पल्लवग्राही होती जा रही है शास्त्रीय शास्त्रार्थ भी लुप्त होता जा रहा है।

—लखनऊ से प्रसारित



जन-सेवी साहित्य

एन० के० देवराज

अध्यात्मवादी विचारक सत्य, शिव और सुन्दर शब्दों या विशेषणों का प्रयोग परब्रह्म या परमात्मा के लिये करते आये हैं। उक्त दर्शन के अनुसार जीवन का लक्ष्य है ब्रह्म या भगवान् में लीन होना। उनके मत में काव्य-साहित्य का विषय यही अभिव्यक्ति है। इसका अर्थ यह भी लगाया जाता है कि साहित्य आदर्शवादी होना चाहिये। साहित्य का लक्ष्य है सौंदर्य की सृष्टि और सत्य तथा शिव के महत्त्व का स्थापन। साहित्यकार को दिखाना चाहिये कि किस प्रकार सत्य असत्य पर और शुभ अशुभ पर विजयी होता है। साहित्य-स्रष्टा को जीवन के असुन्दर पक्षों का चित्रण नहीं करना चाहिये, और न कभी अन्याय अथवा असत्य की शक्तियों को विजयी होते दर्शित करना चाहिये। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो या अफ़लातून ने इस सम्बन्ध में अपने प्रस्तावित आदर्श में कवियों तथा नाटककारों के लिये कड़े नियमों एवं नियंत्रणों का विधान किया था। उसका कहना था कि प्रसिद्ध कवि होमर के महाकाव्य "इलियड" के उन अंशों को निकाल देना चाहिये जहां देवताओं को छल, कपट, क्रोध, घृणा तथा असंयम करते दिखाया गया है। इसी प्रकार नाटकों में दुष्ट पात्रों को नहीं रखना चाहिये और न नागरिकों को ऐसे पात्रों का अभिनय ही करना चाहिये। नाटक के किसी पात्र को किसी दूसरे पात्र की मृत्यु पर शोक प्रकट नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा व्यवहार लोगों में मृत्यु का भय उत्पन्न करता है।

प्रश्न है—क्या इस प्रकार के नियंत्रणों में रह कर साहित्य सचमुच जनता का कल्याण कर सकता है? और क्या बिना अध्यात्मवादी दर्शन को अपनाये साहित्यकार जन-हित का साधन नहीं कर सकता? क्या शिव की अभिव्यक्ति से देश या जनता को हानि भी हो सकती है?

आज का साहित्यकार प्लेटो के प्रतिबन्धों को मानने को तैयार नहीं है। उसका अध्यात्म-वादी दर्शन में भी विश्वास नहीं रह गया है। प्रश्न यह है कि आज का लेखक सत्य, शिव, सुन्दर को किस रूप में अपना सकता है? आज इन आदर्शों का लोकोपयोगी रूप क्या है?

आज हमारी दृष्टि में सत्य किसी पार-लौकिक सत्ता का पर्याय नहीं है। जीवन का यथार्थ ही सत्य है, और इस सत्य को ढँकने या अनदेखा करने से कोई लाभ नहीं। आज का साहित्यकार जीवन के सभी पक्षों को और उनकी पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया को देखता है। वह केवल उनके ही जीवन को नहीं देखता जो अभावग्रस्त और अकिंचन हैं, और इसलिये सभ्य तथा शिष्ट नहीं बन पाते। वह गरीबों के ही नहीं, अपराधियों के जीवन में भी झांकने का प्रयत्न करता है और यह देखने की कोशिश करता है कि स्वयं अपराध का मूल या उद्‌गम कहां है। संक्षेप में, आज का साहित्यकार मनुष्य मात्र में दिलचस्पी रखता है, और वह जीवन की प्रत्येक अवस्था के पीछे घुसकर उसके कारणों की खोज करता है। आज का साहित्य-कार देखने लगा है कि मनुष्य और मनुष्य में उतना अन्तर नहीं है जैसा कि धर्मोपदेशक

समझते हैं, और पाप पुण्य का व्यवहार बहुधा परिस्थितियों पर निर्भर होता है।

जीवन के सत्य को साहसपूर्वक उसकी समग्रता में देखे बिना आधुनिक लेखक सुन्दर और शिव के भवन का निर्माण नहीं कर सकते। उस निर्माण के लिये सत्य अर्थात् वास्तविकता के ज्ञान की नींव आवश्यक है। आज के मनोवैज्ञानिक बतलाते हैं कि छोटे बच्चों को शिष्ट तथा सदाचारी बनाने के लिये यह काफ़ी नहीं है कि उन्हें समय समय पर पीट दिया जाय। इसके विपरीत देखा जाता है कि जिन बालकों के साथ मीठा व्यवहार किया जाता है वे बड़े होकर मधुर और सामाजिक व्यक्ति बनते हैं। इसी प्रकार जन-साधारण को भला बनाने के लिये उन्हें कोरा उपदेश देना अथवा क़ानून से डराना काफ़ी नहीं है। आवश्यक यह है कि उनके जीवन की परिस्थितियों में सुधार किया जाये, और उनके जीवन-संघर्ष को हलका बनाते हुये उन्हें कला, विज्ञान आदि के अभ्यास के लिये पर्याप्त अवकाश तथा अवसर दिया जाय।

जिस साहित्य में असली जीवन का चित्र नहीं होता वह पाठकों के हृदय को नहीं छूता; फलतः वह उनकी भावनाओं और चरित्र पर कोई प्रभाव नहीं डालता। उदाहरण के लिये, अलिफ़ लैला तथा चन्द्रकान्ता जैसी पुस्तकें पढ़ कर हम केवल अपना मनोरंजन ही करते हैं, वे हमारे मन और बुद्धि पर कोई स्थायी महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं डालतीं। अतएव जो लेखक पाठकों से जीवनगत यथार्थ को छिपा कर केवल उपदेश देना चाहता है वह प्रायः सफल नहीं हो पाता। यदि जीवन में सदैव सत्य और न्याय की जीत नहीं होती, तो साहित्य में वैसा दिखाने से क्या लाभ?

शुभ अथवा शिव की भाँति सौन्दर्य का ठोस आधार भी सत्य ही है। वास्तविक सौंदर्य का अधिष्ठान मनुष्य का हृदय है, न कि उसकी बाहरी वेशभूषा और शिष्टता। प्राचीन कवि तथा नाटककार प्रायः राजा-रानियों एवं उच्च वर्गीय स्त्री-पुरुषों का चित्रण किया करते थे। प्राचीन लक्षण ग्रंथों के अनुसार किसी महाकाव्य का नायक धीरोदात्त राजा या देवता ही हो सकता है। इसके विपरीत आज का कथाकार छोटे से छोटे वर्ग से अपने पात्र चुनता है। उदाहरण के लिये, प्रेमचन्द के अधिकांश महत्त्वपूर्ण पात्र ग्रामीण अथवा निम्न वर्गों के हैं, जैसे "गोदान" के होरी, गोबर, झुनिया आदि पात्र।

इस दृष्टि से हम आज के साहित्य को प्राचीन साहित्य की तुलना में अधिक मानवोचित एवं सहृदयतापूर्ण कह सकते हैं। प्राचीन साहित्य में मनुष्य के शारीरिक सौंदर्य, भौतिक बल एवं ऐश्वर्य को विशेष महत्त्व दिया जाता था। प्राचीन लेखकों की दृष्टि राजभवनों के नौकर-चाकरों तथा ग़रीबों पर बहुत कम जाती थी। इसके विपरीत आज का लेखक प्रायः सब प्रकार के नर-नारियों पर दृष्टि डालता है, और मुख्यतः इस दृष्टि से कि उनकी मनुष्यता का क्या रूप है। सच पूछिये तो आज का लेखक इस मनुष्यता की रक्षा और विकास के लिये जितना चिन्तित है उतना किसी दूसरी चीज़ के लिये नहीं। आज उसकी दृष्टि में उच्च वर्गीय नायिकाओं के हाव-भाव, विरह-मिलन, ईर्ष्या-द्वेष आदि विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं रह गये हैं। आज पहली बार साहित्यकार ग़रीबों की झोंपड़ियों और मज़दूरों के थके हाथों तथा चंचलताशून्य नेत्रों की ओर दृष्टि डालने लगा है, और उन्हें देखकर उसका जी कराह उठा है। आज वह मुख्यतः इन्हीं की अवगति अपने पाठकों तक पहुँचाना चाहता है, अमीरों की रंगरलियों के चित्रण से उसे विरक्ति हो उठी है। भले ही आप कहें कि उसका काव्य-साहित्य सुन्दर नहीं है, उसे इसकी परवाह नहीं। वह युग के असौन्दर्य और क्लान्ति का चित्रण करता है, ताकि उसे समझ कर आप और हम उसके निराकरण में प्रयत्नशील हों।

संक्षेप में, आज हमारी दृष्टि में सत्य, शिव, और सुन्दर का लोकोपयोगी रूप यही है। इन

शब्दों को लेकर हम रहस्यवाद का आडम्बर नहीं खड़ा करना चाहते। आज हम जीवन के अशोभन पहलुओं की, उसकी कातरता, विकलता और गन्दगी की उपेक्षा न करके उन हेतुओं की खोज करना चाहते हैं जो इन चीज़ों को उत्पन्न करते हैं। आज का मनुष्य बड़ा सजग एवं आत्मचेतनावान् है और होता जा रहा है। यह आत्मचेतना उत्पन्न करने में साहित्य का बड़ा हाथ रहा है। मनोवृत्तियों की, उसकी धर्मपरायणता की, खुली परीक्षा होने लगी है। आज यह कहना काफ़ी नहीं रह गया है कि हम बुद्ध की महामैत्री और महाकरुणा के आदर्श को मानते हैं, कि हम वेदान्त के इस सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है। अब समय आ गया है कि हम इन सिद्धान्तों और आदर्शों का वास्तविक जीवन अथवा व्यवहार में ईमानदारी से प्रयोग करें, और सचमुच ही दीन-दुखियों के सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझते हुये उसके साझीदार बनें। यही युगधर्म है, यही सत्य, शिव और सुन्दर की युगानुकूल उपासना है।

—लखनऊ से प्रसारित

ओबला को वेस्तनिक

(कालिदास के मेघदूत का रूसी अनुवाद)

मेघदूत का रूसी भाषा में अनुवाद पी० रित्तरने अक्तूबर क्रान्ति से चार वर्ष पूर्व १९१३ में किया था। अनुवाद पद्य में है और विस्तृत टीका तथा पन्द्रह पन्नों की भूमिका से युक्त है। नमूने के तौर पर मेघदूत के अन्तिम छन्द का रूसी अनुवाद सुनिये:

इज़ द्रुझबी. इली. इज़ झालोस्ती को म्न्ये नेस्चास्तनोमू
व राजलूक्ये झेर्त्वे रोका.
इस पोलनिव फ़स्यो. ओ द्रुग ओ फ़स्योम्
प्रोशू, या ईस्क्रेन्नो स्कोम्नी.
लेती ओ ओब्लाको व भेलान्नीये क्राया
दोझदेम स्वेर्काया
स स्वोयेयू वोल्यू वलैन्नूयू मौलन्ये ना राज.
ने राज लूचायास.

इसका अर्थ है:—

हे मेघ! मेरे ऊपर मित्र भाव से अथवा विरही पर दया भाव से इस प्रार्थना को, जो आपके अनुरूप नहीं है, मेरी भार्या के प्रति पहुँचा दें तथा उसका उत्तर मेरे पास भेज कर आप कहीं भी अपने इष्ट देश में विचरण करें। मेरी प्रार्थना वहन के फलस्वरूप, हे सखे, आपको कभी भी अपनी भार्यारूपी चंचला से वियोगरूपी दुःख मेरे समान न सहना पड़े।

रित्तर लिखते हैं कि मेघदूत एक करुणा पूर्ण सन्तप्त स्वगत उद्गार है। इसमें कल्पना तथा मध्य भारत से हिमालय तक के यात्रा मार्ग के वास्तविक भौगोलिक वर्णन का अद्भुत समन्वय है।

(डबल्यू० आर० ऋषि, दिल्ली)

नये वर्ष पर

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

वे नन्हीं पंखुरियां
जिनके रेशों में
ताज़गी का रस
अभी पूरी तौर से प्रवाहित नहीं हुआ है,
वे रंग जो अभी निखरे नहीं हैं,
वह सुरभि जो अभी
अपने में ही कसी लिपटी है,
मैं वसीयत करता हूँ
इस नए वर्ष के नाम''''

मैं वे गमले सौंपता हूँ
जिनमें बीज डाले गये हैं,
वे अंकुर सौंपता हूँ
जिनमें पत्तियाँ निकल रही हैं,
वे पौधे सौंपता हूँ,
जिन्होंने कलियों के मुँह खोले हैं,
वे फूल सौंपता हूँ
जो रस और गंध की अंजलि भरे हुये खड़े हैं,
वे फल सौंपता हूँ
जो अपनी जाति की रक्षा के लिये
मिट्टी में मिलकर
फिर असंख्य अंकुरों के रूप में
फूट पड़ने की प्रतीक्षा कर रहे हैं,
मैं इस नए वर्ष को
वे हज़ारों लाखों करोड़ों उद्यान सौंपता हूँ
जो रंग-बिरंगे पाखियों के मधुर कलरव
और थके बटोहियों के
विश्राम-गीतों की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

नया वर्ष''''
जो यह अनुभव करा सके
कि उसका हर क्षण नया है
हर घंटा, हर दिन, हर सप्ताह,
हर माह नया है।
जिसका नया धन
एक वर्ष की गहरी नींद के बाद
चौंक कर जगी हुई
एक क्षणिक अनुभूति मात्र ही न हो,
जिसका नया धन
किताबों की धूल झाड़ कर
उन्हें करीने से सजा देने
मेज़ का मेज़पोश बदल देने
खिड़कियों और दरवाजों के परदे
परिवर्तित कर देने के समान ही
क्षणिक स्फूर्ति और क्षणिक ताज़गी
का ही मात्र द्योतक न हो,
जिसका नया धन
ओस की बूंदों के समान न हो
जो देखते ही देखते उड़ जाती हैं
कुहरे के जाल के समान न हो
जो बातों बातों में ही छँट जाता है।

मैं कामना करता हूँ

कि नया वर्ष
नयेपन की इस अनुभूति को
वर्ष भर जिला सके
उसकी आँखों में उत्सुकता का
काजल भर सके
उसे हर क्षण अधिक स्वस्थ
अधिक सुन्दर बना सके।

नया वर्ष....
लोहारों की दहकती हुई भट्टियों से
भोर का आलोक फला सके,
काष्ठशिल्पियों के रन्दों और बसूलों से
राजगीरों की छेनियों और हथौड़ों से
भोर का संगीत गुंजा सके।

नया वर्ष...
धोबियों के पाटों में
मल्लाहों के डांडों में
गति के घुंघरू बाँध सके।

नया वर्ष....
उन तमाम खेतों में गा सके
जहाँ हरी फ़सलें हों,
उन तमाम खलिहानों में नाच सके
जहाँ पकी बालियां हों
उन सभी घरों में सज सके
जहाँ अन्न की ढेरियां हों,
उन सभी दिलों में सो सके
जहां सुख और शान्ति हो।

नया वर्ष सबका हो
हर घर का, हर खेत का
हर खलिहान का, हर दिल का।

❀ ❀ ❀

वे पत्तियाँ, जिन्हें कीड़े खा खा कर चलनी कर देते हैं, उन पीली पत्तियों से कहीं बेहतर हैं, जो हवा के एक हल्के झोंके में ही डाल का साथ छोड़ देती हैं :
नया वर्ष आस्था और विश्वास का वर्ष हो....

अपने बिखरे हुए केश समेट लो। दुखी क्यों होती हो ? इधर देखो, मैं चट्टान सा निश्चल मौन खड़ा हूँ। मैं नहीं काँपता; वे लहरें कांपती हैं जिन में मेरा अक्स देख रही हो:
नया वर्ष प्यार और शक्ति का वर्ष हो...

मन्दिर की सीढ़ियों पर एक नन्हा बालक मूँछ लगाए और हाथ में तीर कमान लिये खड़ा है :
नया वर्ष अत्याचार के दमन और धर्म की विजय का वर्ष हो...

लड़ाई ख़त्म होने के बाद मुर्गों ने साथ-साथ चारा खाया और बोले दोस्त! इस बार और देर तक लड़ेंगे जिससे और ज़्यादा चारा मिल सके। मालिकों ने समझा मुर्गे अभी तक गर्म हैं और लड़ रहे हैं :
नया वर्ष समझदारी और भाई-चारे का वर्ष हो....

जिस देश में घोड़े नहीं होते वहाँ लोग कुत्ते जोतते हैं और कबरों पर ज़ीन कसते हैं :
नया वर्ष उद्यम और समझौते का वर्ष हो...

जब कुछ नहीं दिखाई देता तब मैं लेखनी और तूलिका उठाता हूँ और मुझे लगता है जैसे मैं सबको दिखाई देने लग गया होऊँ :
नया वर्ष कला और साहित्य का वर्ष हो...

मैं अंधेरे में लिखी गई इबारत हूँ, जिसके शब्द एक दूसरे पर पड़ गये हैं, मात्राएँ टूट गई हैं, पंक्तियाँ टेढ़ी हो गई हैं, विराम-चिह्न खो गये हैं:
नया वर्ष दर्द, गहराई और तन्मयता का वर्ष हो...

रात भर तुम सितारों की ओर देख सकते हो, लेकिन यदि तुम्हारा घर जल रहा हो तो तुम्हें दुंदुभी बजानी पड़ेगी....तब तक जब तक तुम्हारे फ़ेफड़े फट न जायं :
नया वर्ष प्रगति और ईमानदारी का वर्ष हो...

मेरा व्यक्तित्व तुम सबका हो सकता है, लेकिन मेरी एक परछाईं भी है जो मेरी अपनी है, महज मेरी अपनी है :
नया वर्ष व्यक्ति की रचा और सामाजिक चेतना का वर्ष हो...

तुम काग़ज पर पड़ी हुई अदृश्य "वाटर मार्क" हो जिसे दृश्य बनाने के लिये किसी रोशनी के छानने की ज़रूरत है:
नया वर्ष आत्मविश्लेषण और आत्म-जागरूकता का वर्ष हो....

❀ ❀ ❀

एक बौने ने
लम्बी डोर में
कंकड़ बांध कर
ऊँची डाल पर लगे
फलों की ओर फेंका,
निशाना चूका,
साधन सर आ पड़ा
लोग हँसे, फौव्वारा छूटा लहू का,
लेकिन विवशताओं
और असफल प्रयासों के बीच
हर दर्द आशा की शक्ति बढ़ा जाता है,
काल नहीं थकता ..
बौना फिर सर उठाता है,
टकटकी फलों से लदी डाल पर लगाता है,
साधन का उपयोग
फल प्राप्ति संयोग,
कभी तो होगा ही,
कभी तो होगा ही,
हर वर्ष जाता है
आँखें पोंछता है
फिर दोहराता है
जाता है।

मेरी कामना है कि यह वर्ष बौने के साधन और असफल प्रयासों के संघर्ष का वर्ष न हो:

❀ ❀ ❀

आज घर के किसी कोने से ढूँढ-ढाँढ कर
ऐंठे हुए तार का बना
छोटे छोटे खुले मुँहों वाला
यह भूखा लंगड़ा धूपदान
बहुत दिनों बाद फिर मेज़ पर
दिखाई दे रहा है,
और उखड़ी हुई कील जड़ कर
न जाने कब से झुके हुए टंगे इस चित्र को
सीधा कर दिया गया है
ताकि मुझे यह लगे
कि नया वर्ष आ गया है
ताकि मैं यह अनुभव करूँ
कि एक तरतीब, एक व्यवस्था
अपनी सीमाओं के भीतर
एक सजावट ही मेरे जीवन का उद्देश्य है,
लेकिन न जाने क्यों
मेरे जी में आता है
कि मैं यह नया कलेंडर फाड़ दूँ
और उसी पुराने कलेंडर से
लिपट जाऊँ
मगर....
अपनी व्यथा क्या कहूँ
एक था गवाह वह भी चल बसा
वर्ष भर
ठंडी दीवार से चिपका चिपका सील गया ..
जहाँ हवा मिली
वहीं फड़फड़ाया
फटा चीथड़े हुआ
पर मुक्त नहीं हो पाया
सारा रंग उड़ गया
ऊपर नीचे मुड़ गया
क्रॉस पर
वर्ष भर
काल का मसीहा झूलता रहा
कोई भी परिवर्तन देख नहीं पाया
एक एक करके
इतनी तिथियों की आँखें
पथराती चली गईं
अन्त में, एक पथड़े के साथ
गिरा दफ़न हो गया
पुरानी दीवार ने
सर झुका मर्सिया पढ़ा

❀ ❀ ❀

लाई हो मसीहा आज फिर नए वर्ष का

खुश हो लो आज के दिन विषय है यह हर्ष का
लेकिन फिर इसका भी वही हाल होना है
साथी न कोई रह पाया यही रोना है
कैसी विडम्बना है
दर्द भुगतने वाले से
दर्द का गवाह पहले चल देता है
लेकिन मैं चुप हूँ
मैं असहाय हूँ
किसी अदृश्य शक्ति ने मेरे हाथ जकड़ लिए हैं
और मुझे तुम से दूर
बहुत दूर खींचे लिये जा रही है
ओ ! मेरे वर्ष भर के साथी
मुझे क्षमा करो
मेरा प्रणाम लो
मैं तुम्हारा हूँ
तुम्हारा था
और जिस दिन एक तरतीब
एक व्यवस्था, एक सजावट
दे सकूंगा, तुम्हारा ही कहा जाऊँगा
क्योंकि तुम्हारा यही आदेश था ।

नए वर्ष के इस कलेंडर को इस आशा से मैं पुनः स्वीकार करता हूँ ताकि यह वह व्यवस्था देख सके जिसे देखने की लालसा लिये इसके इतने पूर्वाधिकारी चले गए :

इस समय रात उदास सी सर झुकाये बैठी हुई है और समीप है एक मौन दीप जो अपनी अशक्त किरणों से उसके चिंता-अंकित मस्तक पर लिख रहा है :

जीवन का वैभव
प्यार किया जाना नहीं
प्यार करना है,
पाना नहीं
देना है,
सेवा से वंचित रह कर भी
सेवा करना है,
अन्धकार में आवश्यकता के समय
दूसरों के लिये सहारे की सशक्त बाँह फैलाना है,
और संघर्ष के क्षणों में
किसी भी दुर्बल आत्मा के लिये
शक्ति का साधन बनना है
जो इसे समझता है
वह जीवन की समृद्धि को समझता है ।

नए साल की शुभकामनाएं
खेतों की मेडों पर धूल भरे पाँव को,
कुहरे में लिपटे उस छोटे से गाँव को,
नए साल की शुभकामनाएं ।
जाते के गीतों को, बैलों की चाल को,
करघे को, कोल्हू को, मछुओं के जाल को,
नए साल की शुभकामनाएं ।
इस पकती रोटी को, बच्चों के शोर को,
चौके की गुनगुन को, चूल्हे की कोर को
नए साल की शुभकामनाएं ।
वीराने जंगल को, तारों को, रात को,
ठंडी दो बन्दूकों में, घर की बात को,
नए साल की शुभकामनाएं ।
इस चलती आंधी में, हर बिखरे बाल को,
सिगरेट की लाशों पर, फूलों से ख्याल को,
नए साल की शुभकामनाएं ।
कोट के गुलाब, और जूडे के फूल को,
हर नन्हीं याद को, हर छोटी भूल को,
नए साल की शुभकामनाएं ।
उनको, जिनने चुन चुन कर ग्रीटिंग कार्ड लिखे,
उनको, जो अपने गमले में चुपचाप दिखे,
नए साल की शुभकामनाएं ।

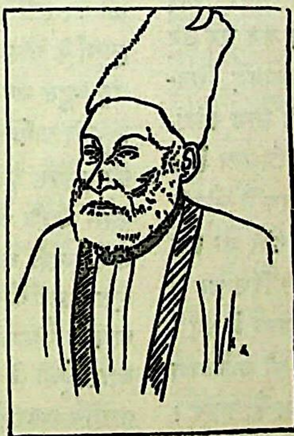
—इलाहाबाद से प्रसारित



नौकरी

'अर्श' मलसियानी

मिर्ज़ा ग़ालिब बड़ी भरपूर शख़्सियत के मालिक थे। देहली के कालेज में फ़ारसी के मुदर्रिस की असामी हासिल करने के लिये तशरीफ़ ले गये। टॉमसन साहब बहादुर पेशवाई के लिये दरवाज़े तक नहीं आये। दरयाफ्त करने पर ग़ालिब से कहा गया, "नौकरी के लिये आये हो—पेशवाई कैसी—वैसे कभी आओगे तो मुनासिब इज़्ज़त और एहतराम से इस्तक़बाल किया जाएगा।" ग़ालिब ने कहारों से कहा, "पालकी वापस ले चलो। मैं तो अपनी इज़्ज़त आबरू बढ़ाने के लिये नौकरी की तलाश में आया था। यहाँ तो रही-सही साख भी ख़त्म हुई जाती है।" यह है नौकरी का रुख़, जिसे दर्दे लादवा कहते हैं। लेकिन यही मिर्ज़ा ग़ालिब इसे दर्द की दवा भी कहते हैं। तैमूरी ख़ान्दान की तारीख़ लिखने की ख़िदमत सुपुर्द हुई। बहादुरशाह ने पचास रुपये महीने वज़ीफ़ा इसके लिए मुक़र्रिर किया। ग़ालिब जो पालकी को वापिस ले गये थे नौकरी की तारीफ पर उतर आये :—



ग़ालिब वज़ीफा ख़्वार हो दो शाह को दुआ,
वह दिन गये कि कहते थे नौकर नहीं हूँ मैं॥

ग़ालिब अपने ज़माने का जौहरे क़ाबिल था। वज़ीफ़ा मिलने पर बादशाह को दुआ भी दी। नौकरी पर ज़ाहिर में तनज़ भी कर लिया लेकिन तनज़ का वह पहलू न छोड़ा। "वह दिन गये कि कहते थे नौकर नहीं हूँ मैं", इसमें दरपर्दा नौकरी की मज़म्मत भी कर दी।

यह तो ग़ालिब की बात थी। नौकरी को किसी ने आज तक पसंद नहीं किया। नौकरी छोटी हो या बड़ी, ख़ुद नौकर के लिये ख़ुशी की वजह नहीं होती। हाली ने भी तो कहा है कि अच्छी तालीम भी हासिल करो, अच्छे ख़ान्दान में जन्म भी लो और फिर इस पर ताले बेदार (नसीबा) भी हो, "जब गुलामी कभी हासिल किसी सरकार की हो" नौकर को आज़ादी नसीब नहीं होती। वक्त पर छुट्टी नहीं मिलती। मालिक की मर्ज़ी पर ज़िन्दगी गुज़रती है। सैर व तफ़रीह, उठना, बैठना, सोना, जागना मालिक की मर्ज़ी से होता है। अगर दिल यह कहता हो कि मोरों की झंकार, पपीहों की पुकार, कोयल की कूक और किसी विरहिन के दिल की हूक सुनो, तो नौकरी पैरों की ज़ंजीरें बन जाती है। वह नौकर को कुदरत के नज़ारों, ज़िन्दगी की बहारों, मेलों-ठेलों, खेल-तमाशों से दूर रखती है। ज़िन्दगी को जहाँ सुख और चैन मिलता है, नौकरी वहाँ जाने से रोकती है। आदमी की ख़ुशज़ौक़ी पर नौकरी एक सेंसर है।

इसके बावजूद हम देखते हैं कि पढ़े-लिखे लोग ज़्यादातर नौकरी के पीछे भागते हैं और

उसे अपने दर्द की दवा, अपने मर्ज़ का इलाज और अपनी मुश्किल का हल समझते हैं। तिजारत में नफ़ा भी होता है, नुकसान भी। मेहनत मज़दूरी कभी मिल गई, कभी खाली हाथ बैठना पड़ता है। नौकरी में उतार-चढ़ाव, कमी-बेशी और नफ़ा-नुकसान को गुंजाइश बहुत कम होती है। मुस्तकिल नौकरी वालों को यह भी फ़ायदा होता है कि बुढ़ापे में पेंशन मिल जाती है। जब जिस्म कमज़ोर हो जाता है और कमाने की सकत नहीं रहती उस वक्त पेंशन एक रहमत साबित होती है। बाज़ आदमी तो नौकरी से ज़्यादा पेंशन वसूल कर लेते हैं। एक साहब रिटायर हुये तो उनके पेंशनयाफ़्ता वालिद अभी ज़िन्दा थे। दो पुश्तें इस ख़ान्दान में पेंशन वसूल करती थीं। तीसरी पुश्त नौकर थी और चौथी नौकरी के दरबार में हाज़िर होने की तैयारी कर रही थी। इन लोगों के सामने कोई नौकरी की मज़म्मत करता तो झाड़ बन कर उन से लिपट जाते। नौकरी के हज़ारों फ़ायदे गिनवाते। धूप के साथ ही साया, फूल के साथ कांटा, रोशनी के साथ ही अंधेरा भी मिलता है। इसी ख़ान्दान में एक मनचले नौजवान ने नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया। दादा जान पोते को इस हरकत पर इस क़दर नाराज़ हुये कि दो दिन घर में खाना नहीं पका। लाठी टेकते ख़ुद दफ़्तर में गए। हर अफ़सर की ख़ुशामद की। पोते को नालायक बताया, "दोस्तों के बहकाने में आया है, हज़ूर। ख़ुद तो वह मिज़ाज का बहुत गम्भीर है, ख़ुदा के लिये इसका इस्तीफ़ा वापस कर दीजिये। बिरादरी में नाक कट जाएगी, किसी को मुँह दिखलाने के नहीं रहेंगे। सब यही कहेंगे कि किसी बद उनवानी (बुरी बात), ग़लती या रिश्वत की बिना पर निकाल दिया गया होगा। हम तो पुश्ती नमकख़्वार हैं। सरकार से बग़ावत, नौकरी से नफ़रत हमारी घुट्टी में ही नहीं।

ग़रज़ हज़ारों तरीकों से इस्तीफ़ा वापस लेने का यत्न किया और आख़िर कामयाब हो गये। ऐसे लोगों से कोई पूछे कि नौकरी अच्छी है या बुरी। इनका बस चले तो नौकरी की देवी की रोज़ पूजा किया करें।

इस क़िस्म की ज़ेहनियत के लिये कुछ तरीक़ा तालीम भी ज़िम्मेदार है। जब तालीम आदमी को किसी पेशे के क़ाबिल न बनाये, महज़ दर्सी (स्कूली) किताबें पढ़ाके क्लर्की या इसी क़िस्म की नौकरी के लिए मजबूर कर दे तो इसमें ख़ुद आदमी का क्या क़सूर है?

बाज़ लोग नौकरी की बुराई करते हैं तो एतिदाल (संतुलन) की हद से गुज़र जाते हैं—वह समझते हैं कि इसे हर दुःख की दवा, हर काटे का मंत्र और हर गुत्थी का सुलझाव होना चाहिये। लेकिन ऐसा सोचना भी तो एक क़िस्म की ज़्यादती है। नौकरी माश (जीविका) का एक ज़रिया है और इसी हद तक यह आप की ज़रूरतों को पूरा कर सकती है। एक दरवेश बुज़ुर्ग के पास लोग गंडे तावीज़ लेने जाते तो वह बहुत घबराते। ख़ुदा की राह में उन्होंने दरवेशी अख़्तियार की थी, लोगों की हर क़िस्म की ज़रूरत पूरा करने के लिये नहीं। वह कहा करते थे कि अब्बासियों के ज़माने में एक शख़्स ने पैग़म्बरी का दावा किया। लोग उसके पास एक कुफ़्ल को बंद करके ले गये और कहा कि आपकी पैग़म्बरी पर हम ईमान ले आयें अगर बग़ैर कुंजी के आप इस क़ुफ़्ल को खोल दें। उन्होंने कहा कि मैंने पैग़म्बरी का दावा किया है, क़ुफ़्ल शिकनी (ताला तोड़ने) का नहीं। यह तो ख़ैर एक दास्तान है, लेकिन एक बात इस में काम की ज़रूर है कि किसी एक बात की उम्मीद ऐसे ज़रिये या मुकाम से करना जहाँ उसका मुक़ाम न हो दुरुस्त नहीं।

नौकरी को जिस क़दर हक़ारत (घृणा) से देखें उसी क़दर यह एक हक़ीकत भी नज़र आती है। ज़माना हाल में तो मुख़्तार से मुख़्तार और आज़ाद से आज़ाद मर्द एक तरह का नौकर है। बादशाही भी मुतलक अल

अनानी (एकछत्र शासन) अब कहाँ रह गई ? अब तो हर ताज़दार यह कहता है कि वह अवाम का ख़ादिम है। ख़िदमत का तसव्वुर नौकरी नहीं तो और क्या है ? गोया नौकरी अब ज़िन्दगी का जुज़ बन गई है। अब इससे छुटकारा मुमकिन ही नहीं। ज़िन्दगी और दर्द मुस्तक़िल हैं, तो नौकरी इसकी मुस्तक़िल दवा है।

इसे तस्लीम करते हुये भी हमें तसवीर का दूसरा रुख़ देखना पड़ेगा। आइने की साफ़ शफ़ाफ़ सतह इसका एक ही रुख तो है। दूसरा रुख़ तो सियाही है। अपनी तमाम खूबियों के बावजूद नौकरी अपने अन्दर ऐसी ज़रूरी बुराइयाँ रखती है कि उनसे पीछा छुड़ाया नहीं जा सकता।

अदाए फ़र्ज़ के सिलसिले में नौकरों को उन लोगों से वास्ता पड़ता है जिनसे गुफ़्तगू करना बाइसे ज़िल्लत है। किस किस की बारगाह (दरबार) में सलाम करना पड़ता है। जाइज़ सलाम कोई बुरी चीज़ नहीं, लेकिन नाजाइज़ सलाम अक्सर करना पड़ता है, और इस दौर में तो जाइज़ सलाम उतना कारगर नहीं होता जितना नाजाइज़ सलाम, इससे बेइज्ज़ती और बेहिम्मती बढ़ती है। मुक़ामे-अफ़सोस है कि नौकरी जिसे हम दर्द की दवा समझते हैं, ऐसा दर्द लादवा बन जाती है, जिससे बेइज़्ज़ती और बेहिम्मती को फ़रोग़ (बढ़ावा) मिलता है। ना-अहलों (नालायकों) की धौंस और नाजाइज़ दबाव सहना पड़ता है। और बाज़ अवक़ात सच बोलने से जान पर बनती है और झूठ बोलने से फ़ायदा होता है।

आजकल हर चीज़ क़ानून की ऐनक से देखी जाती है। चूंकि हर मुहज़्ज़ब मुल्क में हर मर्द-औरत के बुनियादी हक़ूक़ बराबर हैं, इसलिये क़ानून की ऐनक से देखने का रिवाज और भी ज़्यादा हो रहा है। नौकर और मालिक के हक़ूक़ और फ़राइज़ पर हर रोज़ हज़ारों तनक़ीदें (व्याख्यायें) होती हैं। नौकर और आक़ा के मसले ने ही दुनिया की सियासत में बड़ी बड़ी तब्दीलियाँ की हैं, बड़े बड़े फ़ल्सफ़े वजूद में आये हैं। आज भी इंसान अमन, सकून, और चैन की तलाश में उसी तरह सरगर्दां है जिस तरह हज़ारों साल पहले सरगर्दां था। लेकिन नौकर और आक़ा की बहस जिस क़दर आज अहम हो गई है इससे पहले कभी न थी। इस बहस में ज़्यादातर रोना इसी बात का है कि नौकर के हक़ूक़ की परवाह नहीं की जाती। मालिक ज़्यादती करते हैं। इनकी ज़्यादती और सख़्ती को रोकने के लिये क़ानून बनाये जायें। इन्हें बिल्कुल आज़ाद न छोड़ा जाये। हक़ बात तो यह है कि नौकरी का चक्कर कहीं ख़त्म नहीं होता। इस दुनिया में हर शख़्स किसी न किसी सूरत से दूसरे का मुहताज है। यह मुहताजी ही उसे नौकरी की हदों में ले आती है। नौकरी एक ऐसा दर्द बन गई है जिसकी दवा नहीं। बड़े बड़े अफ़सर अपने अख़्तियारात की वुस्सत (विस्तार) को देख कर खुश होते हैं; लेकिन जब वही अख़्तियारात एक मामूली से हुक्म से छीन लिये जाते हैं तो उन्हें इस बात पर ईमान लाना पड़ता है कि यहाँ हर चीज़ फ़ानी (नश्वर) है।

बहरहाल, हज़ारों ऐसे किस्से नौकरी से वाबस्ता हैं। यह हज़ारों रंगों की धनक है। इसमें सात रंगों की क़ैद नहीं। बहुत से ऐसे हैं जो इसे हासिल करके खुश होते हैं, लेकिन सब के सब ऐसे हैं कि आख़िर में यह कहने पर मज़बूर हो जाते हैं, "दर्द की दवा पाई, दर्द ला दवा पाया!"

—दिल्ली से प्रसारित



पंचतंत्र

बलदेवप्रसाद मिश्र

पंचतन्त्र के सृष्टिकर्ता के रूप में विष्णु शर्मा का नाम प्रसिद्ध है। पंचतन्त्र छोटी छोटी कहानियों का संग्रह है, जिनमें नीति, आचार, धर्म आदि की शिक्षा पर लेखक ने अपना ध्यान केन्द्रित रखा है।

पशु-पक्षियों से सम्बद्ध, विशेषतः मनुष्य की तरह बोलने वाले पशु-पक्षियों की कहानियों की नकल संसार में सर्वत्र भारत से ही की गई है। भारत ही में पशु-पक्षियों में आत्मा मानी जाती थी, अन्य देशों में नहीं। अतः अन्य देशों की बोलने वाले पशु-पक्षियों की कहानियों पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट ही है।

पंचतन्त्र की रचना के बाद ही बौद्धों ने भी ऐसी कहानियों से लाभ उठाया और ऐसी कहानियों की रचना की। उन्होंने बुद्ध देव की महत्ता प्रदर्शित करने में पशु-पक्षियों का बहुत उल्लेख किया, उन्हें एक साधन बनाया।

पंचतन्त्र की एक बहुत बड़ी विशेषता और है। इसकी कहानियां आदि से अन्त तक एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इससे लेखक की कला का परिचय भी मिलता है और कहानियां जैसे स्वतः बढ़ बढ़ कर श्रोता या पाठक का ध्यान आकृष्ट किए रहती हैं।

पंचतन्त्र राजकुमारों को नीति और व्यवहार की शिक्षा देने के लिए बनाया गया था, पर कथा रूप में। अतः लेखक ने कथातत्व पर भी ध्यान रखा है। इन कहानियों में मनुष्य की प्रकृति आदि के चित्रण की उपेक्षा नहीं है।

पंचतन्त्र में कुछ कहानियां अश्लील हैं। यह कला की या सुरुचि की कमी है या उस समय के समाज की रुचि का प्रतिबिम्ब है, यह विचारणीय है। आज भी प्रगतिवाद के नाम पर बहुत सी चीज़ें लिखी जा रही हैं जिनकी तुलना में पंचतन्त्र की ये कहानियां अश्लील नहीं हैं।

पंचतन्त्र में हास्य तथा व्यंग्य का भी यथेष्ट पुट है। उसकी एक और विशेषता यह है कि पात्रों के गुणों या अवगुणों के अनुकूल ही उनके नाम रखे गए हैं।

पंचतन्त्र का प्रभाव बहुत व्यापक है। उसके आधार पर उससे मिलती-जुलती पुस्तकें भारत तथा विदेशों में लिखी गई हैं और उसका अनुवाद भी अनेक भाषाओं में हुआ है।

भारत में इसका पुनःसंस्कार कर लिखी हुई श्रेष्ठ पुस्तक तन्त्राख्यायिका है। इस पुस्तक का समय अनिश्चित है।

माघ और रुद्रभट्ट के पहले अर्थात् ११०० ईस्वी के आस-पास किसी जैन ने भी ऐसी ही एक पुस्तक लिखी थी। सन् ११९९ में नायम जैन ने इसका पुनःसंस्कार किया। जैनों ने नीति-शास्त्र पर अधिक ज़ोर दिया।

इसी पंचतन्त्र के आधार पर क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी और सोमदेव का कथासरित्सागर बना।

दक्षिण भारत में भी पंचतन्त्र का संस्कार

हुआ। तामिल में भी एक विस्तृत पंचतन्त्र है।

नेपाल में भी इसका संस्कार हुआ था।

संस्कृत में कई प्रकार के पंचतन्त्र उपलब्ध हैं और पुरानी गुजराती तथा पुरानी और आधुनिक मराठी में एवं ब्रजभाषा में भी पंचतन्त्र हैं।

प्रसिद्ध पुस्तक वेतालपच्चीसी भी इसीके अनुकरण पर बनी है।

पंचतन्त्र का अनुवाद पहलवी में भी हुआ। उसी के आधार पर इस ग्रन्थ का प्रचार विदेशों में हुआ।

संस्कृत के पंचतन्त्र के अनुकरण तथा आधार पर बनी पुस्तक हितोपदेश है, जो अत्यन्त प्रसिद्ध है।

विष्णु शर्मा के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। वे कोई रहे हों, भारत के वे प्रथम कहानी-लेखक हैं और पशु-पक्षियों की कहानियों के लिए तो संसार उनका ऋणी है। उनका पंचतन्त्र अमर रहेगा।

—दिल्ली से प्रसारित

एक संस्मरण

महात्मा गांधी की वक्त की पाबन्दी के सैकड़ों किस्से मशहूर हैं। एक बार उन्होंने मुझे प्रातःकाल सात और सवा सात के बीच में बुलाया था। मैं आश्रम में नया नया ही गया था। दिल में यह सोच कर कि महात्मा जी तो आश्रम में रहते ही हैं, कुछ लापर्वाही कर गया। यानी पाँच सात मिनट लेट पहुँचा। महात्मा जी ने मुस्कराते हुए कहा "अब भाग जाओ। तुम्हारा वक्त तो बीत गया। फिर समय निश्चित करके आना।" मैं बड़ा लज्जित हुआ।

एक बार ऐसी ही भूल मुझसे फिर बन पड़ी जब कि एक राजा साहब को महात्मा जी की सेवा में ले जाना था। मैं उन्हें लेकर एक मिनट लेट पहुँचा। महात्मा जी ने घड़ी की ओर देखकर कहा, "मैं तो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था।"

महात्मा जी केवल उपदेश ही उपदेश देते रहे हों, सो बात नहीं। वे मजाक भी करते थे और खूब करते थे। एक बार डच गायना के एक प्रवासी भारतीय को लेकर मैं उनकी सेवा में उपस्थित हुआ था। डच गायना वालों के लिये एक सन्देश लेना था। महात्मा जी ने कहा, "अच्छा मैं बोलता हूँ, लिखो"। मैंने अपना फ़ाउन्टेन पैन निकाला। महात्मा जी ने कहा, "फ़ाउन्टेन पैन कब से इस्तेमाल कर रहे हो?" मैंने कहा, "बहुत वर्षों से।" उन्होंने कहा "कितने वर्ष हुए?" मैंने कहा, "ठीक ठीक नहीं बतला सकता।" महात्मा जी ने कहा, "दक्षिण अफ्रीका में तो मैं भी फ़ाउन्टेन पैन इस्तैमाल करता था, लेकिन अब तो कलम से लिखता हूँ। डच गायना वाले क्या कहेंगे कि इनके पास अपनी कलम भी नहीं। महात्मा जी ने कलम मंगाई और चाकू भी। मैं कलम बनाकर अपने पास के बढ़िया बैंक पेपर पर लिखने वाला ही था कि महात्मा जी ने फिर पूछा "यह कैसा कागज़ है?" मैंने कहा, "यह बैंक पेपर है और मुझे बढ़िया कागज़ पर लिखने का शौक है"। महात्मा जी मुस्कराते हुए बोले, "ठीक कहते हो, इस तरह का कागज हम लोगों को कहाँ मिल सकता है। यह कागज तो विशाल भारत आफ़िस वालों को मिलता है, जिन्हें चाय भी मिलती है। हम लोग तो सिर्फ़ पानी पीने वाले हैं"। मुझे हँसी आ गई। बात यह थी कि महात्मा जी को मेरे चाय पीने की आदत का पता लग गया था और उसका मजाक उन्होंने कई बार उड़ाया था। सुना है कि एक बार जब मिस ऐगथा हैरीसन महात्मा जी के साथ यात्रा कर रही थीं और चाय के लिये चिन्तित थीं, तो महात्मा जी ने कहा था "फ़िक्र न करो, आधा पौंड जहर मैंने आपके लिए रख लिया है।"

(बनारसीदास चतुर्वेदी, दिल्ली)

जन-नाट्य के संस्कार

दशरथ ओझा

किसी भी देश की सामान्य जनता अपने वातावरण तथा रुचि के अनुकूल विनोद का साधन निकाल लेती है। इन साधनों में नाटक का स्थान उसी प्रकार सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, जिस प्रकारं शिक्षित समाज में "काव्येषु नाटकम्" का।

साहित्यिक नाटकों की विद्यमानता में भी जन-नाटक की रचना होने का मुख्य कारण बताते हुए डा० कीथ का कहना है कि "संस्कृत में जो नाटक मिलते हैं, वे जनसंभाषा से बहुत भिन्न थे और उन नाटकों की भाषा को समझना साधारण जनता के लिए असम्भव सा था। केवल अल्पसंख्यक शिष्ट तथा शिक्षित वर्ग उस भाषा को समझने में समर्थ थे और उसी अल्पसंख्यक पंडित समाज के लिये साहित्यिक नाटक लिखे जाते थे। इसलिए संस्कृत नाटक केवल वर्गविशेष की कलाभिरुचि और हास्य-विनोद के विषय रहे, सामान्य जन-समुदाय उनके रसास्वादन से सर्वथा वंचित रहा।

यह निष्कर्ष चाहे विवाद रहित न हो, किन्तु यह मानने में किसी को भी आपत्ति नहीं होगी कि साहित्यिक नाटक जनता के दैनिक जीवन में मनोविनोद के साधन किसी युग में भी न बन पाये होंगे। अतएव अल्पशिक्षित तथा अशिक्षित जनसमुदाय में उनके जीवन के अनुरूप हास्यविनोदमय नाटक का सृजन होता चला आया है। इन नाटकों की प्रेरणा मूलतः जनसमुदाय में ही विद्यमान रहती है, और यह भी निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि साहित्यिक नाटक और जन-नाटक एक दूसरे पर प्रभाव भी डालते रहे होंगे और इनका पारस्परिक आदान-प्रदान निरन्तर होता रहा होगा। उदाहरणार्थ, हम देख सकते हैं कि संस्कृत नाटकों में मिलने वाला विदूषक जन-नाटक के हंसोड़ पात्र की प्रतिकृति मात्र है। इसी प्रकार रंगमंच की सजावट आदि साहित्यिक कलाओं का प्रवेश जन-नाटक में होने लगा है। जन-नाटक और साहित्यिक नाटक का पारस्परिक सम्बन्ध हमारे देश में ही नहीं, अन्य देशों में भी रहा है। इंगलैंड में अंग्रेज़ी नाटकों पर जन-नाटकों का प्रभाव पड़ा; इसे सभी स्वीकार करते हैं।

हमारी देशी भाषाओं में साहित्यिक नाटक के पूर्व जन-नाटक शताब्दियों से अभिनीत होते आ रहे थे। बंगला में यात्रा, कवि कीर्तनियाँ नाटक; बिहार में विदेशिया; व्रज तथा खड़ी बोली में रास, नोटंकी, स्वांग, भांड; राजस्थानी में रास, झूमर, ढोलामारू; गुजराती में भवाई; महाराष्ट्री में लळिते और तमाशा; आन्ध्र में भागव मेल आदि नाटक विद्यमान थे। जन-नाटक के उपर्युक्त सभी विभेदों में सामान्य रूप से संगीत की व्यापकता रही, किन्तु गद्य भाग प्रायः उपेक्षित रहा। रंगमंच का कोई महत्त्व नहीं था और वेश-भूषा तथा अन्य प्रसाधन अत्यन्त गौण समझे गये। आज की तरह संगीतमय वातावरण की प्रधानता होने के कारण नाटक के प्रायः अन्य सभी तत्त्व उपेक्षा की दृष्टि से देखे गये।

ऐसा कहा जाता है कि हिन्दी साहित्यिक नाटक पर लीला नाटक और स्वांग का प्रभाव

बहुत अधिक पड़ा है। ये दोनों शैलियाँ साहित्यिक नाटकों पर प्रभाव डालती और स्वयं प्रभावित होती चली आ रही हैं। इनका भी प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। अतएव हिन्दी नाटक की उत्पत्ति और विकास का विवरण रास और स्वांग आदि की परम्परा के अनुसन्धान के बिना अपूर्ण ही माना जाएगा।

जन-नाटक की प्रस्तुत शैलियों में स्वांग एक विशेष स्थान रखते हैं। स्वांग नाटक हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के साथ साथ ही जनता के सामने आगए होंगे। हिन्दी भाषा में स्वांग से प्राचीनतर नाटक का उल्लेख शायद ही कहीं मिले। सिद्ध कन्हपा विक्रम की नवीं शताब्दी में विद्यमान थे। उन्होंने डोमनी के आह्वान गीत में स्वांग का उल्लेख इस प्रकार किया है :

आलो डोंबि ! तोए संग करिव म सांग,
निधिण कन्हह कपाली जोई लाग।
एक सो पद्मा चौषट्ठि पाँखुड़ी !
ताहि चढ़ि नाचअ डोंबी वापुरी ॥

उदाहरण में 'डोमनी' के स्वांग का उल्लेख मिलता है। डोमनी के साथ स्वांग करने का आह्वान उस काल की स्वांग शैली को प्रभावित करता है। डोमनियों के स्वांग का प्रचार आज भी उत्तर भारत में प्रचलित है। यह डोमनियों का नाटक स्त्रियों के मध्य होता है। इस नाटक में डोमनियाँ ही पुरुष का वेश बना कर पुरुषों का अभिनय करती हैं। एक विशेष बात यह है कि स्वांग डोमों का और प्रहसन 'भाँड़ों' का व्यवसाय रहा है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह 'भाँड़' ही संस्कृत के 'भाण' रूप से आया है।

जायसी ने भी स्वांग का उल्लेख किया है। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ भेजने के लिये जोगिन का सफल स्वांग करने वाली एक वेश्या को राजमहल में आमंत्रित किया और उसे दूती बना कर चित्तौड़ भेजा। इसका उल्लेख रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी जायसी ग्रन्थावलि (पृ० २७५) में किया है।

जायसी के पूर्व कबीरदासजी ने भी स्वांग का उल्लेख किया है। उनके समय में स्वांग नाटक इतना प्रचलित था कि लोग रात भर जागकर उसका आनन्द उठाया करते थे। कबीरदास लिखते हैं :

कथा होय तहं स्रोता सोवै,
वक्ता मूंड़ पचाया रे।
होय जहां कहीं स्वांग तमाशा,
तनिक न नींद सताया रे ॥

कबीरदास से शताब्दियों पूर्व महाराज हर्ष के समय में जन-नाटकों का उल्लेख मिलता है। हर्ष के राज्यकाल (७वीं शताब्दी) में चीनी यात्री ह्वांगच्वांग भारत का भ्रमण कर रहा था। उसने हर्ष के साहित्यिक कार्यों का भी उल्लेख किया है। उसका कथन है कि हर्ष ने नागानन्द नाटक की रचना प्रथम संस्कृत में की, किन्तु नाटक के प्रसिद्ध पात्र जीमूतवाहन के गुणों से केवल संस्कृत के विद्वान ही लाभ उठा सके। अतः उसने जन-भाषा और जन-नाटकों की शैली में जीमूतवाहन के त्याग का वर्णन किया। सम्पूर्ण नाटक गीतवद्ध था, अतः नृत्य और संगीत के आधार पर उसका अभिनय अत्यन्त लोकप्रिय हुआ।

ह्वांगच्वांग के इस उल्लेख से यह प्रमाणित होता है कि जन-नाटकों की परम्परा कितनी पुरानी है। जिस प्रकार आज दिन स्वांग, रास, यात्रा, भवाई आदि जन-नाटकों में नृत्य-गीत की प्रधानता है, उसी प्रकार आज से १२०० वर्ष पूर्व भी जन-नाटकों में नृत्य-गीत का प्राधान्य था। अब भी उत्तर भारत में स्वांग के अतिरिक्त रास और भाँड़ नाटकों का खूब प्रचलन है। भारत-विभाजन के पूर्व इस देश के उत्तरी-पश्चिमी छोर तक रास-मंडलियां कृष्ण-लीलाएं दिखाया करती थीं। वैष्णव धर्म का जितना प्रचार इन मंडलियों ने देश के कोने कोने में रासलीला दिखा-दिखा कर किया उसकी कल्पना करना सहज नहीं। यद्यपि रासलीला का इतिहास बहुत पुराना है किन्तु वल्लभाचार्य के उपरान्त इसको जो नई

शक्ति प्राप्त हुई वही आज तक इसको देशव्यापी बनाने में समर्थ हुई है। रास अथवा रासक नाटकों का उल्लेख संस्कृत नाटकों में भी मिलता है। अपभ्रंश के सन्देश रासक से यह प्रमाणित होता है कि बहुरूपिये इसका अभिनय किया करते थे। 'बहुरूपिभिर्निबद्धो रासको भाष्यते' से प्रकट होता है कि बहुरूपिये लोग किसी समय रास या रासक नाटकों के अभिनय में प्रसिद्ध थे। जब एक वर्ग का व्यवसाय ही रासक खेलना था तो अनेक रासक लिखे गए होंगे। वे ग्रन्थ क्या हुए ? तथ्य तो यह है कि भारत में एक युग ऐसा आया जब जनता अपने साहित्य की रक्षा न कर सकी। केवल जैनी भाइयों ने जैनभंडारों में प्राचीन ग्रन्थों की रक्षा की। इन भंडारों में सैकड़ों रास ग्रथों को सुरक्षित रखा गया है। ये ग्रन्थ अभी अप्रकाशित रूप में पड़े हैं। हमें ऐसे चार सौ से अधिक रास ग्रन्थ प्राप्त हुये हैं। इनमें अधिकांश जैन रास ग्रन्थ हैं। इन रास ग्रन्थों में तीर्थंकरों की जीवन गाथा होती है, जिसमें त्याग की प्रशंसा दिखाई जाती है। एक युग ऐसा था कि इन रास नाटकों का स्थान स्थान पर प्रचार था। राजस्थानी का एक काव्य है 'कन्हड़ दे प्रबन्ध।' उसमें एक स्थान पर उल्लेख मिलता है :

फल्या मनोरथ पगी आस,
ठामि ठामि देवराई रास।
नारी करइलए लूछणां,
नगर माहि मांड्या पेखणा॥

कवि कहता है कि उस काल स्थान स्थान पर रास नाटक होते थे। जिस राजा के राज्य का यह वर्णन है वह संवत् १३६ वि० में राज्य करता था। काव्य का रचना-काल १५ वीं शताब्दी है। इस से सिद्ध होता है कि १४ वीं-१५ वीं शताब्दी में उत्तर भारत में रास नाटक खूब प्रचलित थे।

रास नाटकों की तीन पद्धतियां थीं—कृष्णरास, जैन रास, लौकिक प्रेम सम्बन्धी रास। इन तीनों पद्धतियों पर लिखे गए रास ग्रन्थों की संख्या न्यूनाधिक एक सहस्र है। इतना विशाल नाट्य साहित्य अभी पठित समाज के सम्मुख नहीं आया है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ-राशि से अनभिज्ञ इतिहास-लेखक हिन्दी नाटकों की उत्पत्ति १८ वीं शताब्दी में बताते हैं।

रास नाटकों में कृष्ण रास सबसे अधिक आकर्षक रहे हैं। कृष्ण के जीवन में ही कुछ ऐसा आकर्षण है कि जिस काव्य या नाटक ने इनका नाम स्मरण किया वह अमर बन गया। सर्वकलाविद् कृष्ण ने स्वयं रास किया। रास में भाग लेनेवाली गोपियों को अमर बनाया। आज भी भारत के दूरस्थ भागों से आनेवाले यात्री वृन्दावन में रासलीला देखकर तन्मय हो जाते हैं। मन की चंचलता छीनता है और स्थिरता पूर्णता। इस कारण कृष्ण-रास की महत्ता का क्या वर्णन किया जाय।

रासलीला नाटकों में दानलीला अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। अनेक महात्माओं ने दान लीला के आधार पर काव्य और नाटक की रचना की है। दान लीला के अनेक नाटक व्रज में हस्तलिखित रूप में विद्यमान हैं। एक नाटक का संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है :—

"एक दिन कृष्ण जी ग्वालबालों के साथ बन में खेल रहे थे। उधर ही ग्वालिनें गोरस बेचने जा रही थीं। ग्वालबालों से परामर्श करके कृष्ण ने यह निश्चय किया कि ग्वालिनों से दान अर्थात् कर रूप में गोरस लेना चाहिए। ग्वालबालों ने योजना के अनुसार गोपियों को चारों ओर से घेर लिया। कृष्ण ने राजकर के रूप में गोरस मांगा, किन्तु गोपियां कर के रूप में एक बूँद भी गोरस देना नहीं चाहती थीं। वाद-विवाद के उपरान्त छीना-झपटी प्रारम्भ हुई। अन्त में गोपियों की हार हुई।

दूसरे दृश्य में गोपियाँ अपने टूटे हारों और फूटे बर्तनों को लेकर माता यशोदा के सामने जाती हैं। उनमें इस प्रकार वार्त्तालाप होता है :—

एक गोपी : कृष्ण ऐसे गर्वीले हो गए हैं कि बन में हम गोपियों से लड़ते हैं। यह

देखिये, उन्होंने हमारे हार तोड़ दिये हैं और गोरस के बर्तन फोड़ दिये हैं। वे वन में स्त्रियों का मार्ग रोक कर दान मांगते हैं।

यशोदा : हमारा कृष्ण दस साल का है। तुम्हें लज्जा नहीं आती कि तुम एक बालक पर दोष लगाती हो।

दूसरी गोपी : सुनहु महरि तुम बात,
हरि सीखे टोना कछू,
बनहिं तरुण ह्वै जात,
बालक ह्वै आवत घरहिं।

यशोदा को यह सुन कर रोष आता है कि बालक कृष्ण का स्वस्थ शरीर देख कर ये सब नज़र लगा रही हैं। वह बोली :—

जरैं बरैं ये आँख तुम्हारी,
जो हरि को नहिं सकत निहारी।

अब गोपियों को अपनी भूल ज्ञात हुई। उन्होंने माता यशोदा से विदा ली और दूसरे दिन एक बड़ी संख्या में वन में कृष्ण का सामना करने गईं।

इस बार १६ सहस्र गोपियां गोरस बेचने चलीं। राधा, चन्द्रावली, ललिता आदि भी साथ थीं। कृष्ण और ग्वालबाल पेड़ों पर छिपे थे। जब गोपियां पास पहुँचीं तो सबके सब पेड़ों से कूद पड़े और हल्ला बोल दिया। गोपियों को विस्मय हुआ कि इतने ग्वालबाल सहसा कहां से आ गए। आमने सामने आने पर फिर वाद-विवाद प्रारम्भ हुआ। कृष्ण अपने को राजा कहते हैं, किन्तु गोपियां उनका परिहास करती हैं। एक गोपी इस प्रकार कटाक्ष करती है :—

कामरि ओढ़निहार, तुम्हें न छाजत पीत पट।
कारे तन पर चारु, कारी कामरि सोहई॥

कृष्ण अपना ब्रह्मत्व सिद्ध करना चाहते हैं तो एक गोपी कहती है :

जैसे निदरत तुम सब काहू,
तैसे निदरत मात-पिताहू।

यह कृष्ण के ब्रह्मत्व पर कैसी चुटीली चुटकी ली गई है।

बहुत वाद-विवाद के बाद गोपियां कृष्ण के चमत्कार से पराजित हो जाती हैं और स्वेच्छा से गोरस बांटती हैं। किन्तु राधिका जी चुपचाप एक ओर खड़ी हैं। कृष्ण स्वतः उनके पास जाते हैं और कहते हैं :

औरन की मटुकी को खायो।
तुम्हरे दधि को स्वादु न पायो।

अब राधिका जी प्रफुल्लित हो उठीं और उन्होंने हंसकर अपना दही बड़े प्रेम से कृष्ण को खिलाया। कृष्ण ने उस दही की भूरि भूरि सराहना की और कहा कि ऐसा मीठा दही मैंने कभी नहीं खाया। इस प्रकार कृष्ण को रिझा कर गोपियां हंसती-खेलती घर लौटीं।

जिस प्रकार ब्रज में रासलीला प्रसिद्ध है, उसी प्रकार पूर्वी भारत में यात्रा नाटक। यात्रा नाटकों की भी दीर्घ परम्परा है। डा० कीथ का तो मत है कि वैदिक काल से यह पद्धति जन नाटकों की पद्धति रही है। वैदिक संस्कृत के धुरंधर विद्वान् जब यज्ञ किया करते थे तो साधारण जनता जलूस निकाल कर उत्सव मनाती थी। उस समय नृत्य-गीत के आधार पर नाटक खेले जाते थे। वे ही जन-नाटक यात्रा कहलाते थे। चैतन्य महाप्रभु से भी पूर्व इनका प्रचार था। महाप्रभु स्वयं जगन्नाथ पुरी में अपने साथियों के साथ कृष्ण-लीला सम्बन्धी नाटक खेला करते थे। महाप्रभु के कारण यात्रा नाटकों का खूब प्रचार हुआ और सैकड़ों नाटकों की रचना हुई।

इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी रामायण के आधार पर काशी में रामलीला का प्रचार किया। आज भी यह परम्परा अक्षुण्ण बनी है और रास, यात्रा और रामलीला के द्वारा धार्मिक घटनाओं का ज्ञान अनपढ़ जनता को शताब्दियों से होता चला आ रहा है।

—दिल्ली से प्रसारित



गाती खेती

(१) पहाड़ी कृषि गीत

पहाड़ी कृषक के गीतों में उसके जीवन का स्पष्ट प्रतिबिम्ब रहता है तथा पर्वत-प्रदेश का सौन्दर्य झलकता है। उसका देश है भी नैसर्गिक सौन्दर्य में अद्वितीय। हिमालय के अंचल में एक ओर कश्मीर से लेकर दूसरी ओर आसाम तक उसके प्रदेश में जहाँ भी जाइए, उत्तर में हिमाच्छादित श्वेत पर्वत-मालाएं पृष्ठभूमि में दीख पड़ती हैं तथा दक्षिण में तराई के हरे भरे जंगल।

पहाड़ों में ज़मीदारी प्रथा नहीं है, कृषक अपने खेतों का स्वयं स्वामी होता है। लगान बहुत साधारण होता है। अतः कृषक यद्यपि दीन है, पर रहता प्रसन्न है। वह कृषि के सभी कार्य उत्सव की भाँति आरम्भ करता है।

'सेरों' में धान की खेती अति प्राचीन काल से सम्मिलित होकर की जाती है। सारे गाँव के नर-नारी मिलकर धान की फ़सल के आरम्भ की तैयारियाँ करते हैं। आषाढ़ और मास की पहिलो गते (गते या पैट तारीख का पर्वतीय नाम) की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती है। कालिदास का 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' पहाड़ी युवती के लिये एक बड़े उत्सव का आरम्भ होने के कारण और भी महत्त्वपूर्ण होता है।

खेतों में उतरते ही पहले पंच देवताओं तथा इष्ट देवताओं की आराधना के गीत गाए जाते हैं। ये 'सौगुना आखर' (शकुनाक्षर यानी मंगल गीत) कहे जाते हैं। उस सेरे के निकटवर्ती हिमशृंग या ऊँची हिमश्रेणी पर बसा हुआ



देवता ही बहुधा इष्ट देव होता है। गीत इस प्रकार है—

दैण होए दैण होए पंच देवा।
दैण होए दैण होए भूमि का भुम्याल।
दैण होए दैण होए पंच भगवान ॥१॥
दयारे की डाई को दूध पिनेर
सेमा देव, तू दैण होए दैण ॥२॥

'दैण होए' का शाब्दिक अर्थ है 'दाहिना होइए'। 'दाहिना होना' मुहाविरे का पहाड़ी भाषा में 'शुभ होना' तात्पर्य है। देवदारु वृक्ष का दूध पीने वाले हे 'श्याम' देवता तुम दाहिने होना।

इसके उपरान्त कोई वीरगाथा, मानूशाही या सुनपत शौके की चेली जैसी प्रेम की कहानियां गीतों में सुनाई जाती हैं...

मैं माँगी दियो बौज्यू सुनपत शौके की चेली।
मांगी दियो मांगी दियो सुनपत शौके
की चेली ॥

अर्थात् हे मेरे पिता सुनपति, शौक की कन्या मेरे लिए मांग दीजिए। शौक सीमान्तप्रदेशीय एक खस जाति है। उनकी कन्याएं बड़ी सुन्दर होती हैं। एक लड़का ऐसी कन्या से विमोहित होकर उससे ब्याह करने की अपने पिता से ज़िद करता है....वह विभ्रान्त सा हो बकता है....

उ देखीछ उ सुणीछ कटिया हल्द जसी,
उ देखीछ उ सुणीछ धार में शुक्र तार
जसी। मांगी...,

अर्थात् वह कटी हल्दी की भांति सुन्दर है। वह पहाड़ के ऊपर शुक्र तारे जैसी है।

उ देखीछ उ सुणीछ पूषा का पलङ्ग जसी।
उ देखीछ उ सुणीछ आषाढ़ का सुरजा जसी॥ मा०

अर्थात् वह पूस मास के पालक की तरह कोमल है और आषाढ़ के सूर्य की तरह दीप्तिमान है।

उ देखीछ उ सुणीछ रिखू का आंखला जसी।
उ देखीछ उ सुणीछ दूध की ब्याल जसी।
उ देखीछ उ सुणीछ पून्यू की जून जसी।

अर्थात् वह ईख के अंकुर सी परिष्कृत आकार की है। वह दूध भरे प्याले की भांति सुन्दर है। वह पूर्णिमा के चन्द्रमा सी है। ऐसी सुन्दर उपमाएं देकर ओजस्वी गीत को गाते गाते हुड़किया जल्दी जल्दी काम करने का आदेश देता है। नारियों की पंक्ति जब किंचित् पिछड़ती है तभी वह हुड़के पर थपकी देकर कहता है....

"सार के चलाओ हाथ सार के" या "छल हौ छल" अर्थात् "सरासर हाथ चलाइए" या "जागिए जागिए"।

ये सब तो हैं नारियों के गीत। पुरुष भी गाते हैं। जेष्ठ मास में जब गेहूँ कट कर खलिहान में आ जाता है, तो दौरी या दांव करने के लिए बैलों की जोड़ियां उनमें रौंदने के लिए छोड़ दी जाती हैं। सिर के ऊपर तेज़ धूप रहती है और खलिहान में बैलों को घुमाना बड़ा ही नीरस और उबकाने वाला काम होता है। उस समय उन्हें हांकने वाला पुरुष गाता है. ..

सैल्यौ बल्दा सैल्यौ सैल्यौ
सींग के ल्याले खुर कै ल्याले
फिर फिरि जाले खई भरी ल्याले

अर्थात् हे बैल, सीधा चल, इस खलिहान को अपने सींग से लाकर, खुर से लाकर भर दे।

खलिहान के अनाज में वृद्धि हो इसलिये फिर हांकनेवाला कहता है :

जतुक वाली ततुक डाली
जतुक खारा ततुक भखारा
सैल्यो बल्दा सैल्यो सैल्यो

अर्थात् जितनी बालियां हैं उतनी डालियां और जितने बोझ हैं उतने बखार (अनाज भरे गोदाम) हो जाएं। हे बैल, तू सीधा चल।

(यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक', लखनऊ)

(२) मालवा के कृषि गीत

कबीरदास जी ने कहा है : 'देस मालवा गहर गँभीर, डग डग रोटी पग पग नीर।' और इसी प्रकार मालवा की उर्वरता को लक्ष्य करते हुए विभिन्न प्रान्तों के लोकगीतों में कितनी ही पंक्तियां बिखरी पड़ी हैं।

सुदूर इतिहास में मालवा, जिसके निवासी यूनानी इतिहासकारों द्वारा 'मल्ल' अथवा 'मल्लोई' कहे गये हैं, सदैव अपनी उर्वरता और सौन्दर्य के कारण अनेक महत्वाकांक्षी सम्राटों का लक्ष्य रहा है—जिसकी ज़मीन पर पैदा होने वाली ऊख में तोते चोंच गड़ाते तो रस की धार फूट पड़ती थी, जिसमें कभी अकाल पड़ने की सम्भावना भी नहीं होती थी और जिसकी पशु संपत्ति सदा स्वस्थ और बेजोड़ रही है।

यहाँ की अधिकांश जनता गाँव वासी होने के कारण खेतिहर है। यहाँ का किसान काली मिट्टी पर हल चलाकर कई प्रकार की फसलें उगाता, खाता और खिलाता है। वह मौज में आकर गाता है। मन की कसक, वेदना और उल्लास को उसने बिना झिझक के खुलकर गाया है। पर उसकी अपनी आवश्यकताओं ने कभी सीमा को लांघा नहीं। वह मारवाड़ के किसान के स्वर में स्वर मिलाकर गा उठता है :

उठे ही पीर होय उठे ही होय सासरो,
अथूणो होय खेत चूवे नहीं आसरो।
नाड़ा खेत नजीक जठे हल खोलणा,
इतरा दे करतार फेर नहीं बोलणा।

अर्थात् पिता और श्वसुर का घर एक ही गाँव में हो, खेत पश्चिम में हो, झोंपड़ी टपकती न हो, खेत के पास पानी हो, जहाँ बैल खोल

दिये जाँय, ताकि उन्हें दूर नहीं ले जाना पड़े। हे भगवान् इतना दे दे, फिर कुछ नहीं माँगेंगे।

मालव धरती जैसी सरस है, वैसी ही सरस उसकी बोली भी है। गुजराती और राजस्थानी ने मिलकर उसे संवारा है। इसलिए नवेली दुलहिन की भांति वह मीठी और नाज़ुक है। तीज के त्यौहार पर गाया जाने वाला एक गीत है। पति दिनभर के श्रम से थक कर घर लौटा है। उसकी पत्नी किसी बात से रुष्ट है। पति के सम्मुख वह अपना रोष प्रकट करना चाहती है। सांझ हो गई है। आकाश में एक तारा उदित हुआ। पत्नी मन ही मन कहती है:

दल रे बादल बीज चमके तारो
सांझ पड़े पिव लागेजी प्यारो
कईसे जुवाब करूँ रसिया रे।

बादल-दल के बीच में तारा चमक रहा है। सांझ होते ही प्रियतम अधिक प्यारा लगता है। ऐसे समय में रसिया से क्या प्रश्न करूँ ?

मालवी किसान के जीवन में ऋतुओं का महत्त्व कम नहीं। सावन-भादों में वह जी भरकर गाता है। उसकी कन्यायें गाती फिरती हैं:

नींवे लिवोली पाकी सावण महीनों आयो जी,
उठो हो म्हारा वाला बीरा नीलड़ी पलाड़ो जी।

नीम पर निबोली पक गई। सावन का महीना आ गया। मेरे भाई उठो, घोड़ी तैयार करो।

एक सुखी किसान पत्नी अपनी लड़की की सगाई निश्चित होने पर अपने पति से कहती है:

हारता-हारता काकड़िया रा खेत मारू जी,
म्हारी गजब बेटी क्यों हार्‌या ?
हारता-हारता गाड़ी रा धोहरी म्हारा मारूजी
म्हारी गजब बेटी क्यों हार्‌या ?
हारता-हारता डाबामा का गेणा म्हारा मारूजी
म्हारी गजब बेटी क्यों हार्‌या ?

हे प्रियतम, तुम गाँव की सीमा के खेत हार जाते, पर मेरी लाड़िली बेटी क्यों हारे ?

तुम गाड़ी के बैल हार जाते, पर मेरी रानी बेटी क्यों हारे ?

तुम डिब्बे में रखे हुए मेरे गहने हार जाते, पर मेरी रावल बेटी क्यों हारे ?

और उधर एक गीत है जिसमें किसान अपनी बेटी से पूछता है कि बेटी, तेरे लिए मैं कैसा वर ढूँढू ? कन्या सकुचाती हुई कहती है:

गोरो मती ढूंढ जो फिरंगी केवायगो।

गोरा वर मत ढूंढना, वह फिरंगी कहलायेगा।

विदेशियों के प्रति यह घृणा क्यों पूर्व किसान के हृदय में घर कर बैठी थी, यह स्पष्ट है।

वह अपनी पकी हुई फसलों को देखकर कभी कभी गर्व से सीना भले ही फुला ले, पर दूसरे ही क्षण वह सोचेगा:

हरी खेती, ग्यावण गाय,
मत गरबै, वारा की माय।

(श्याम परमार, इलाहाबाद)

(३) भोजपुरी कृषि गीत

खेती के गीतों में भोजपुर के प्रदेश बहुत सम्पन्न हैं। यहाँ के किसान सकुटुम्ब दिन भर खेतों में जुताई, बुआई किया करते हैं। इनकी पत्नियाँ घर से रूखी मोटी रोटियाँ पका कर तथा भोजपुर प्रदेश में तो केवल सत्तू और नमक लेकर ही दोपहर के समय पति के भोजन के लिए खेतों पर जाती हैं। कटनी के समय सभी लोग मिलकर खेत में कटाई करते हैं। समय को शीघ्र बिताने, थकान मिटाने तथा अपनी आत्मा को शान्ति प्रदान करने के लिये अभाव की आत्मजा संगीत का सहारा लेकर सभी एक साथ गा पड़ते हैं।

भोजपुर हम सोहनी या खेतों को निराते समय गीत में ही एक स्त्री कहती है:

बोअलौ हम गेहुँआ उपजि गइले अंकरी,
डारांरा बइठल प्रभु भंरवै रावल मुनिया।
जनि प्रभु झंखहु जनि झंखि मरहु,
अंकरी बदलि गेहुँआ पीसवि रावल मुनिया।

अर्थात् मेरे पति ने गेहूँ बोया था, परन्तु उसके स्थान पर घास पैदा हो गई। वह खेत की मेंड़ पर बैठकर दुख प्रकट कर रहा है। पति को सान्त्वना देती हुई वह स्त्री कहती है : तुम दुख मत करो, मैं अंकरी (घास) बदलकर गेहूँ लाकर पीसूँगी।

इस पर पति कहता है :

पिसत कुटत मोर धनि दुबरइली,
कहि तू त चेरिया ले आऊँ रावल मुनिया।
चेरिया के आने गइले सवती ले अइले
सवती पइंचवा कइसे फेरिब रावल मुनिया।

गेहूँ पीसते-कूटते तुम दुबली हो गई हो। यदि कहो तो तुम्हारी सहायता के लिए दासी ले आऊँ। पति दासी लाने के लिए तो गया किन्तु परदेश से सौत ले आया। स्त्री दुखी होकर कहती है : अब मैं इस सौत को कैसे बदलूँ ?

भोजपुर प्रदेश अन्य प्रान्तों की अपेक्षा निर्धन प्रदेश है। एक गीत में निर्धनता के कारण पति का स्त्री से गहना माँगने और पत्नी के न देने का बहाना करने का सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है:—

ओरे मोरे पिछुअरवा खजुरवा,
त फरि के लटकि बलमू।
ओरे चढ़हिं के रहले देवरवा,
त चढ़ ले हमारा बलमू।
ओरे एक फलवा पकले गिरइते,
त धनिया तोहार बलमू।
ओरे जोड़ धनिया हेठ फुर हुरवा,
त पाकरन गिराइब बलमू।
ओरे पकल पकल फलवा खाला,
त काचाका गिरावे बलमू।
पियवा हँसे लगिहै देवरवा रे देयदवा,
त नथिया बिकइले बलमू।
पियवा हँसे लगिहे देवरवारे देयदवा,
त हँसुली बिकइले बलमू।
धनिया का करिहैं देवरवा रे देयदवा,
त विपति गवाऊँ रे बलमू।
धनिया संपति के हउस रे सिंगार,
त विपति गवाऊँ रे बलमू॥

अर्थात् कोई स्त्री कहती है कि मेरे घर के पीछे खजूर का वृक्ष फलों से लद जाने के कारण लटक गया था। उन फलों को तोड़ने के लिए देवर चढ़ने वाला था परन्तु मेरा पति ही पहले चढ़ गया था।

स्त्री ने पति से कहा : एक-आध पक्का फल अपनी स्त्री के लिए तो गिराओ। पति ने कहा : तुम अपने अंचल को नीचे रखो। तब मैं पक्का फल उसमें गिराऊँगा।

स्त्री कहती है : पति सब पके-पके फल खा गया और कच्चा फल मेरे लिए गिराता है। पति कहता है : ऐ स्त्री ! तुम अपने नाक की नथिया निकालो और मुझे दो। तब मैं घर का खर्चा चलाऊँगा।

स्त्री ने उत्तर दिया : ऐ पति ! मेरी नथिया और हंसुली के बिक जाने पर सब बन्धु-बान्धव हम लोगों की निर्धनता पर हँसने लगेंगे।

पति ने उत्तर दिया : लोग हँसकर क्या करेंगे ? ऐ स्त्री, सम्पत्ति में श्रृंगार करना अच्छा लगता है, विपत्ति के दिन तो किसी प्रकार से काट लेना चाहिए।

ये गीत भोजपुर की गाती हुई खेती के कुछ उदाहरण हैं। भोजपुरी किसान इन्हीं गीतों को गाते हुए अपने कठिन जीवन को रसमय बना लेते हैं, तथा अपनी थकान को मिटाकर सन्ध्या समय उत्साह भरे डगों से घर की ओर चल पड़ते हैं।

(उदयनारायण तिवारी, इलाहाबाद)



जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण

सुमित्रानन्दन पंत

कूर्मांचल की सुन्दर तलहटी में जन्म होने के कारण मुझे जीवन प्रकृति की गोद में पैंग भरता हुआ मिला। किन्तु बचपन की चंचलता भरी आंखों को बाह्य जीवन जैसा मोहक तथा आकर्षक लगता है वास्तव में उसका वैसा ही रूप नहीं है।



मेरी भीतर की दुनियां मेरे लिए इतनी सक्रिय तथा आकर्षक रही कि अपने बाहर के जगत के प्रति मैं छुटपन से ही प्रायः उदासीन रहा। मैंने अपनी उम्र का अधिकांश भाग कमरे के भीतर ही बिताया है और खिड़कियों के चौखटों में जड़ा हुआ जो पास-पड़ोस का दृश्य मुझे मिलता रहा उसी से मैं सन्तोष करता रहा हूं। और अगर कभी मुझे खिड़की के पथ से फूलों से भरी पेड़ की डाल दिखाई दी अथवा चिड़ियों का चहकना कानों में पड़ गया तब जैसे मेरी कल्पना उसमें अपना गन्ध मधु मिला कर मुझे स्वर्ग में उड़ा ले गई है और मैं बाहर के संसार के प्रति आंखें मूंद कर और भी अपने भीतर पैठ गया हूं, जहां पहुंचने पर मेरा मन धीरे धीरे जिस स्वप्न-जगत का निर्माण करने लगता है उससे मेरे जीवन के समस्त अभावों की पूर्ति होती रहती है।

आप सोचेंगे कि मैं कैसा निकम्मा और आलसी जीवन व्यतीत करता हूं, पर बात ठीक ऐसी नहीं है। वास्तव में बाहर और भीतर की दुनिया दो अलग चीज़ें नहीं हैं। केवल यथार्थ का मुख देखते रहने से ही जीवन के सत्य तक नहीं पहुंचा जा सकता, और जो स्वप्न है उसे केवल असत्य कह कर ही नहीं उड़ाया जा सकता। कोई यथार्थ से जूझ कर सत्य को उपलब्ध करता है और कोई स्वप्नों से लड़कर। तो, मैं स्वर्ण कपाट खोल कर जीवन के मर्म की ओर बढ़ा हूं, जो स्थूल यथार्थ के लौह कपाट से कहीं निर्मम तथा कठोर होता है, क्योंकि वह सूक्ष्म, मोहक तथा अदृश्य होता है।

संसारी लोग मुझ जैसे व्यक्तियों पर मन ही मन हंसते हैं, क्योंकि वे जीवन की जिन परिस्थितियों का सामना सहज रूप से बिना नाक-भौं सिकोड़े कर सकते हैं उनसे मैं बार बार क्षुब्ध तथा विचलित हो उठता हूं। जीवन में अमीरी-गरीबी, सुख-दुख, मान-अपमान, उन्हें अत्यन्त स्वाभाविक जीवन के अनिवार्य अंग से जान पड़ते हैं, और इन सब विरोधों या द्वन्द्वों को वे भाग्य की टोकरी में डाल कर सन्तोष ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु मुझ जैसे व्यक्ति के लिए जीवन के तथाकथित यथार्थ को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना कठिन हो जाता है। इसी लिए यदि वह कुरूप यथार्थ को उतना महत्व न देकर, उससे आंखें हटा कर, तथाकथित स्वप्न-जगत में उसके आदर्श रूप को चित्रित करने में व्यग्र रहता है तो वह निष्क्रिय या आलसी जीवन नहीं व्यतीत करता।

—इलाहाबाद से प्रसारित

आधुनिक तेलुगु साहित्य

वारणासि राममूर्ति

संगीत एवं साहित्य माता भारती के दो पवित्र वरदान हैं, जिनसे अनुप्राणित होकर कवियों की वाणी जग-जीवन के लिये संजीवनी बन जाती है।

आधुनिक तेलुगु साहित्य में दोनों प्रकार के गीत—काव्यगीत और लोकगीत–पाये जाते हैं। इनमें कुछ प्रेम को प्रधान विषय मान कर चलते हैं, कुछ इतिवृत्तात्मक हैं, कुछ आत्माभिव्यंजनात्मक हैं, कुछ गीति नाटक हैं, कुछ राष्ट्रीय एवं सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं और कुछ बच्चों के गीत हैं। समूचे तेलुगु गीति साहित्य के लिये पितामह स्व० गुरजाड अप्पाराव पंतुलु माने जा सकते हैं। राष्ट्रीय भावना, नीति व सामयिक समस्याओं की छाप इनके गीतों पर है। इन्हीं ने पहले निद्रामग्न जाति के कर्णविवरों में देश-प्रेम व आत्मावलोकन की शंखध्वनि पहुँचाई थी।

देशमुनु प्रेमिंचुमन्ना।
मंचियन्नदि येंचुमन्ना।
स्वंत लाभ कोंत मानुक
पोउगुवाडिकि तोड्डु पडवोय्
देशमटे मट्टि कादोय्
देशमटे मनुषुलोय्।

'भाई! देश को प्यार करो। औरों के साथ सुजनता का व्यवहार करो। कुछ अंश तक अपना स्वार्थ त्याग कर पड़ोसी के काम आओ। देश से मतलब मिट्टी नहीं है, वरंच उस पर निवास करने वाली जनता है।'

इन्हीं महाकवि के अनुसरण का प्रयत्न बसवराजु अप्पाराव ने भी किया था।

आधुनिक तेलुगु साहित्य में नये-नये प्रकार के प्रयोग करने वाले आचार्य शिवशंकर स्वामी हैं। आपने अपनी असंख्य काव्यकृतियों से साहित्य-बाला को बड़े चाव के साथ सँवारा है। साहित्य का कोई भी ऐसा अंग नहीं है, जिसमें आपने अपनी अपूर्व प्रतिभा का प्रदर्शन न किया हो। विशेषकर गीति नाटक आपके नवीनतम सुन्दर प्रयोग हैं, जिनमें आपको आशातीत सफलता मिली है। आपकी रचनाओं का विषय बहुधा प्रेम रहा करता है।

प्रेम को प्रधानता देकर गीति-रचना करने वाले आधुनिक कवियों में देवुलपल्लि कृष्णशास्त्री का नाम आदर के साथ लिया जायगा। आपके प्रेम की पृष्ठभूमि ब्रह्मसमाज की विचारधारा है। अतः अपने उपास्य देव के प्रति कभी प्रिया के रूप में, कभी पुत्र बन कर, और कभी सेवक के नाते ये अपना प्रेम व्यक्त करते हैं। शास्त्री जी के गीतों में स्वतन्त्रता की भावना प्रबल एवं प्रचुर मात्रा में परिलक्षित होती है। आप किसी का लिहाज़ नहीं करते, दबाव नहीं मानते, हुक्म की तामील नहीं करते। समाज के अभिनन्दन व अभिशंसन से आपको मतलब नहीं। अपनी मौज में मस्त होकर गा लेते हैं:—

नव्वि पोदुरु गानि नाकेटि सिग्गु!
नाइच्चये गानि नाकेटि वेरपु!

ग्रामीण जीवन, वातावरण तथा पात्रों को कविता का प्रधान विषय मान कर गीत रचने वालों में नंडूरि वेंकट सुब्बाराव अग्रणी हैं। 'येंकि' नामक देहाती नायिका आपकी सुन्दर सृष्टि है। कर्णमधुर संगीत के साथ-साथ कमनीय एवं कोमल भावविन्यास वाली रचना

'येंकि पाटुल' के लिये अनुपम लोकप्रियता कमा चुके हैं। यह पुस्तक एक अद्भुत चरित्रप्रधान गेय काव्य है। भोली भाली, पवित्र प्रेम के रंग में रँगी ग्रामीण बाला 'येंकि' तथा उसके प्रियतम 'नायुडु बावा' के प्रेम-संलाप अत्यन्त संक्षिप्त, सीधे मन पर प्रभाव डालने वाले, एवं लम्बे-लम्बे समास व अलंकारों के बोझ से सर्वथा मुक्त, ठेठ तेलुगु की मिठास लिये रहते हैं। 'येंकि' 'पूल मनुसुलु पूल बासलु' फूलों के मन तथा उनकी बोलियाँ जानती है। अपने गीत वह उन्हीं को सुनाया करती है। जब कि नेत्र की पुतलियाँ हैं, उन दोनों प्रेमी जनों को अपने सौंदर्य का अवलोकन करने के लिये शीशों की जरूरत नहीं पड़ती।

स्वर्गीय अडिवि बापिराजु आंध्र-भारती के गौरव, सिद्धहस्त चित्रकार एवं गीतिकार थे। आप कविता के स्वप्न-लोक में विहार किया करते थे। वहाँ आपको जिस स्वाप्निक कलातत्व का दर्शन हुआ उसे 'शशिकला' का नाम दिया गया है। 'शशिकला' एक रूपबाला है। उसके स्वरूप-स्वभाव समझाते हुये आप कहते हैं: 'शशिकला' मेरे जीवन का सत्य है; मेरे प्रेम का सर्वस्व है; मेरे कण्ठ से निकलने वाली प्रत्येक छोटी तान, मेरी आँखों में प्रतिबिंबित होने वाला हर एक रंगीन चित्र उसी सुन्दरी का मुग्ध मनोहर विलास है। जिन घड़ियों में उसके सामीप्य का भान मुझे नहीं हो पाता, वे मेरे लिये बहुत ही भयंकर हो जाती हैं। जब से मैंने जीवन में प्रथम बार नेत्र खोले, वही सुन्दरी मुझे करावलंबन देती आ रही है। हम दोनों एक दूसरे की बाँह पकड़ कर एक दूसरे के अभाव की पूर्त्ति करते आ रहे हैं। आनन्द ही हमारा ध्येय है।' अपने इन 'शशिकला' गीतों में आपने अपने शिल्प तथा चित्रकार होने का परिचय दिया है। प्रत्येक गीत एक सुन्दर कटी-छँटी, नपी-तुली पुतली बनकर श्रोताओं के हृदय मंच पर अद्भुत नर्तन करने लगता है।

पुट्टपर्ति नारायणाचार्य एक प्रतिभाशाली नवयुवक कवि तथा गायक हैं। आपकी रचना 'शिवतांडवमु' तेलुगु गीति काव्यों में अपना सानी नहीं रखती? उसमें भगवान् शिव के तांडव तथा माता गौरी के लास्य के अत्यन्त आधिकारिक एवं हृदयहारी वर्णन हैं। जब स्वयं कवि अपने उन अमर गीतों का गान करते हैं तो श्रोताओं के नेत्रों के समक्ष प्रत्यक्ष चित्र सा खिंच जाता है। तांडव एवं लास्य का बोध कराने-वाले पारिभाषिक शब्दों के जैसे कुशल प्रौढ एवं सफल प्रयोग इस पुस्तक में हुए हैं वैसे अन्यत्र सम्भव नहीं हो सके।

अब वर्तमान तेलुगु साहित्य के अत्यन्त लोकप्रिय कविसम्राट् विश्वनाथ सत्यनारायण की अमर कृति की चर्चा उदाहरणों के साथ प्रस्तुत की जायगी। आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। आपकी अमर कल्पना में आकर जड़ पाषाण भी बोल उठते हैं। आंध्र प्रदेश का एक पहाड़, भद्राद्रि, श्री रामचन्द्र जी की पवित्र निवास-भूमि है। उससे कुछ ही दूर एक छोटा सा टीला है, जिसकी परिक्रमा करते हुये एक स्रोतस्विनी निकलती है। यह कुछ दूर जाकर महान् नदी गोदावरी में मिल जाती है। बस यही टीला और झरना, जिसका नाम किन्नेरसानि वागु है, कवि की अमर कृति की आधार-शिला बने हैं। कई बार उन्हें देखने का संयोग कवि को हुआ। अज्ञात रूप से उनके मन में भावों व विचारों का मंथन शुरू हो गया। उत्तरोत्तर वह बढ़ता ही गया। परिणामस्वरूप एक सुन्दर रसायन, नवनीत तैयार हो उठा। उपर्युक्त मूर्त्त दृश्य को गृहीत कर उस तलस्पर्शी कहानी का जो स्वरूप दिया गया है वह संक्षेप में यों है:—

किन्नेरा (झरना) बड़ी पतिव्रता है और सभी तेलुगु बालाओं की भांति उद्विग्नहृदया है। प्रायः सभी परिवारों में देखे जाने वाले सास और पतोहू के झगड़े उस घर में भी चलते हैं। आत्मज के सुख का ध्यान न रखने वाली सास के लिये मृदुलहृदया किन्नेरा पर नित्य दोषारोप करना जीवन का पहला काम हो गया। एक अभागे क्षण में उस धूर्त स्त्री ने ऐसा

भयंकर लांछन लगाया जिसे वह पतिप्राणा किसी भी तरह न सह सकी। उसका हृदय दुःखातिरेक से प्रलय का समुद्र बन गया। बेचारा उसका पति आखिर क्या करता? माँ की बातों का प्रतिवाद करने की और पारिवारिक शान्ति में विघ्न डालने की धृष्टता व साहस उससे न हो सका, न अपनी निर्दोष पत्नी को ही समझा पाया। किन्नेरा घर छोड़ कर वन-पथों में दौड़ पड़ी। वह मिथ्या आरोप से लांछित अपना मुख समाज को न दिखा सकी। बेचारा पति उसके पीछे दौड़ा, लाख मनाया, उसको आलिंगन-पाश में बांध कर रोकने का यत्न किया, मगर व्यर्थ। मोम जैसे अन्तरंग वाली किन्नेरा प्रियालिंगन में ही गल गई, पानी पानी हो गई, स्रवंती बन कर प्रवहमाना बनी। और पति बेचारा रो रो कर जड़ पाषाण बन गया और अपने अपवित्र प्रेम का प्रमाण प्रस्तुत कर गया।

साधारण रूप से समाज में देखा जाता है कि घर से निकल भागने वाली लड़कियों को लेकर तरह तरह की झूठी अफवाहें उड़ाई जाती हैं। ऐसे सहृदयों से भी समाज रिक्त नहीं जो ऐसी दीनाओं को आश्रय दिया करते हैं। इस सारे सामाजिक मनस्तत्व का समावेश कवि ने अपनी काव्य वस्तु में कर दिया है।

सती किन्नेरा के गृहत्याग की चर्चा पवन बालक व पयोद बालायें नदियों के पति सिंधु से जा कर करती हैं। बहुपत्नीव्रत सिंधु पति औचित्य का ध्यान छोड़ कर सौन्दर्य की पिटारी किन्नेरा को अंकशायिनी बनाने का कुसंकल्प कर के उमंग में आ जाता है। दूर ही से प्रतापी सागर का कुविचार भाँप कर असहाया किन्नेरा काँप उठती है; बीच ही में रुक जाना चाहती है; छोटे छोटे पत्थरों व झाड़-झंखाड़ की आड़ में ठिठक जाती है; अपनी क्षणिक सफलता पर हर्षोल्लसिता बन उछल पड़ती है; हाय! उमड़ बहती है। कितना आत्मघाती है उसका हर्षोल्लास!

रायड्डमुग जेसि निलुचू पोद लड्डमुग जेसि
निलुचू।
हृंत निल्किति नंचु नंचि लोनुप्पोंग
पोमुत पोंसलु राव्वु पोदलु पे पे पोंगि
अडवि परिगंत्तू अंतलो निगुरुचु।

अहा! प्रकृति के व्यापारों का मानव स्वभाव के साथ कैसा सुन्दर अप्रतिम समन्वय है।

अपनी तरलसलिलता से अभिशप्त, करुणा की जंगम प्रतिमा किन्नेरा, समस्त नदियों की रानी, सागर की महीयसी राज्ञी एवं समस्त मर्यादाओं की सीमा गोदावरी के कर्णविवरों में जा शरण लेती है। दया से उस दयावती का अन्तर द्रवित हो उठता है। उमड़-घुमड़ कर वह आगे बढ़ती है; तरंग-हस्त फैला कर दुखियारी किन्नेरा को अपने क्रोड में छिपा लेती है; धूर्त्त पति सागर की उमंग पर पानी फेर देती है और पत्नीभीरु सागर भी लहू का घूंट पी कर रह जाता है।

इस प्रकार इस सुन्दर कृति के द्वारा सत्य-नारायण जी ने वर्तमान सामाजिक मनस्तत्व व सतीत्व के भव्य आदर्श का सुन्दर चित्रण व्यंजित कर दिया है। किन्नेरा की गति, नृत्य, संगीत एवं गोदावरी के साथ संगम आदि प्रसंगों के वर्णन बड़े ही मार्मिक, भव्य, करुण व तलस्पर्शी हो उठे हैं। नदी-नृत्य की एक बानगी लीजिये। भाषा के समझ में न आने पर भी शब्दों की ध्वनि मात्र से ही वर्ण्य विषय का बिम्बग्रहण हो जाता है:—

जिगि वेव्वकुला धगा
धग तव्वतुला जगा
जागे कुल्कुला क्रिन्ने
अटु नव्वि इटु नडिचि
अललुपेन्नुरुगुतो सेलल पेन्नुरुगुतो
तेलुगु वोतुलु वोयेने.... किन्नेरा ....
तेलुगु तीपुलु चिम्मेने।

—दिल्ली से प्रसारित

मेरी रचना

(रमानाथ अवस्थी)

मेरी रचना के अर्थ अनेकों हैं,
जो भी तुम से लग जाय लगा लेना।

मैं गीत लुटाता हूँ उन लोगों पर,
दुनिया में जिन का कुछ आधार नहीं।
मैं आंख मिलाता हूँ उन आंखों से,
जिनका कोई भी पहरेदार नहीं।

आंखों की भाषायें तो अनगिन हैं,
जो भी सुन्दर हो वह समझा देना।

पूजा करता हूँ उस कमजोरी की,
जो जीने को मजबूर कर रही है।
मन ऊब रहा है अब इस दुनिया से,
जो मुझे सत्य से दूर कर रही है।

दूरी का दुख बढ़ता ही जाता है,
जितना तुम से घट जाय घटा देना।

चन्दन चढ़ाता हूँ उन चरणों पर,
जो अपनी राहें आप बनाते हैं।
आवाज लगाता हूँ उन गीतों को,
जिन को मधुवन में भौंरे गाते हैं।

मधुवन में सोये गीत हजारों हैं,
जो भी तुम से जग जायं जगा देना।

—इलाहाबाद से प्रसारित

जादू के पुतले

अमृतलाल नागर

मुँह अंधेरे पाँच बजे के लगभग पूजा की घंटी-चौपड़ी लेकर गोमती जाने के लिए लाले दलाल की घरवाली ने दरवाजा खोला। छूटते ही चौखट के बाहर दोनों तरफ रक्खे पुतलों पर नज़र गई। डर के मारे उन्होंने अपना पैर अन्दर खींच लिया और घबरा कर बाहर की लाइट का स्विच दबाया। अपने घर के लिये किये गये मारक प्रयोगों को बिजली के उजाले में साफ़ साफ़ देख कर उनके दिल की बढ़ी हुई धड़कन में और तेज़ी आ गई। वे एकाएक डकरा पड़ीं, "हाय, हाय, ये कौन ने दुश्मनी निकाली, रांड की? अरे बहुवा, ओ बहुवा!"

अंदर से खाँसी के साथ साथ बुढ़ापे से काँपता हुआ एक स्वर बोला, "अरे क्या है, बहू?"

"अरे हियां आओ जल्दी से, गजब हुई गया।" कहकर श्रीमती लाले बीच बीच में शब्दों को गले में घोंट कर जल्दी जल्दी प्रार्थना करने लगी - "हे सत्तनराइन स्वामी, अरे तुम्हारी कथा बोलति हुँ; हे बजरंगबली, तुम्हारा सवा पाँच रुपैया का परसाद; मातेसरी, हमारी रच्छा करो, हुँः हुँः हुँः।"

"अरे क्या भया बहू?" बहुवा जाड़े में झुरझुराती हुई आई।

"अरे बहुवा, ई देखो तौ तनी कौनो निपूती रांड हमरे दरवज्जे पर ई पुतले धरि गई हैगी। जिसने हमरे लिये किया होय, ईसुरनाथ उसी के आगे आवे। चोट्टी निगोड़ी ये नंदो मरी का काम हैगा, वही ताई से कराय के धरि गई है।"

"उसी हत्यारी के कुनबे पै गाज गिरी है। औ ताई निगोड़ी का तो जलम बीता एही सब लच्छन में", दरवाजे से चिपक कर खड़ी हो, पल्ले से मुँह-नाक ढंक कर बाहर देखती हुई बहुआ बोलीं।

"ए बहुआ, तनी इन्हें उठाय के चउराहे पै धरि अउतीं। हमें गोमती जाने को देर हुइ रही हैगी।"

जाड़े और बुढ़ापे से कांपती हुई बहुआ में भय का कम्प बढ़ा, वे बोलीं, "ई तो बहू मेहतर आवेगा वही उठावेगा। की जाने बीच में कौनों गैया-बैया आय के खाय जाय तो सबसे अच्छा होय।" कहकर ताई फिर अन्दर चलीं।

लाले की घरवाली के इत्ते-पित्ते जल गये, बोलीं, "चिता किनारे आईं, आज मरी कल दूसरा दिन होयगा।"

बहुआ दहलीज के दरवाजे पर ज़रा ठिठकीं। लाले की घरवाली ने उनकी तरफ देख कर फिर अपील की: "अरे, बुड्ढी-ठुड्डिन को नाहीं लागत जादू-टौना। उठाइ देओ तनी, हमका गोमती जान की अबिरिया हुई रही हैगी।"

बहुआ बिना कुछ कहे अन्दर चली गईं। लाले की बहू का पारा और चढ़ा: "जमाना निगोड़ा ऐसा नाफरामोस हुइ गया हैगा। इत्ती इत्ती खुसामद करी कि बहुआ तनी उठाय देओ, उठाये देओ। औ कान में ठेठड़ा खोंसे चली गईं एँ। हम तो इनका इत्ता-इत्ता भला करें। उद्दिन इनकी बिटिया आई, दोहते आये। हम कहा जैसी इनकी बिटिया वैसी हमरी; चार

डबल की जलेबी मंगाय के दोहतन का खिलाई। ऐं! औ हमका अंगूठा दिखाय के चली गई। हमरा माह महीने का नेम टूटा जात हैगा।"

ऊपर से लाले का लिहाफ़ बोला, "अड़े क्या भया?" संतो छज्जे पर आके खड़ी हो गई और बोली, "अम्माँ, हम आमैं?" "तुम अय कै का करि हौ? नंदो निगोड़ी हमरे संग ऐसा कर गई। राम करे इसका बाप महतारी आधी रात को मर जायं। राम करे इसके कुनबे भर का सतियानास होय!···ऊँह, हमरा बखत निकला जात हैगा।····आदमी पास-परोस किरायेदार रक्खत हैं तो कौन दिन के लिए?····अरे, जो अपने बखत पै काम न आवै, ऐसे किरायेदार का रख के हम का करेंगे? बहुआ, हमारा घर आजै खाली कर देना। हमें नहीं रखने ऐसे किरायेदार।"

उनकी ऊँची आवाज़ ने लिहाफों में दुबके हुए पास-पड़ोस को चौंका दिया। दुमंजले से पति और लड़की और तिमंजले से लड़का सब "क्या हुआ, क्या हुआ, हम आवैं?" कहकर ही रह गये, कोई नीचे न उतरा। लाले की घरवाली धमधम करती फिर दरवाज़े पर आ गई।

कुलिया में बाकी तीन घरों के दरवाज़े अभी तक बन्द थे। पड़ोस के घरों से खाँसी, बच्चों के रोने की आवाज़, नल की तड़तड़ाहट, बाल्टी की खनक, सामने वाले घर की कानिस पर दो-चार गौरैयों की "चूँ चूँ" के गुँजार में खौलते हुए दिल की धड़कन का प्रतिनिधित्व करने वाली अपनी गूँजती हुई, तीखी, बारीक आवाज़ को बीच बीच में मिलाती हुई, लाले की घर वाली बड़ी बेसब्री से मेहतर के आने का इंतज़ार करने लगी।

सामने कुहासे-भरी गली में दो-चार लोगों की आवाजाई शुरू हो गई थी। "जिनके हिरदै में सिया-राम बसैं तिन और का नाम लिया न लिया", किदारनाथ का भजन सुनकर लाले की घरवाली को गुस्से के मारे रुआई छूटने लगी। बाबू किदारनाथ का यह भजन उन्हें गोमती जाते हुए कम्पनी बाग़ के ढाल पर और कभी कुरियाघाट के रास्ते में बनी रामआसरे की पुलिया पर मिला करता था। सो आज वे लौट भी आये और वे अभी तक घंटी-चौपड़ी लिये दरवाज़े पर ही खड़ी हैं। खीझ में फिर नंदो, ताई, और लपेट में बहुआ को तीखे स्वरों में कोसने लगी। सामने के घर का दरवाज़ा खुला, गुबिन्दे की बहू ने बाहर झाँक कर पूछा: "चाची क्या भया? किस पर बिगड़ रही हो सवेरे ही सवेरे?"

लाले की घरवाली फिर एक बार अपनी शिकायत-रामायण की पुनरावृत्ति कर गई। कुलिया के सामने गली में एक गाय की दुम का हिस्सा दिखाई दिया। लाले की घरवाली शिकायत भूल कर तुरन्त बड़ी ललक के साथ उसे चुमकारते हुए 'आ, आ, ले ले' करने लगीं। जोश के मारे उनकी हंफ़नी चढ़ने लगी।

गाय के खुर ईंटों जड़ी गली के फ़र्श पर खड़खड़ाये। उसने मुँह फेर कर कुलिया में पुकारने वाली को ताका। लाले की घरवाली हुमस कर उसे बुलाने लगीं। खुशामद में उनकी कत्थेरंगी बत्तीसी खिली जा रही थी। गालों के गेंद ऊपर चढ़कर उनकी छोटी-छोटी आँखों को और भी चिया जैसी बनाने लगे। उनकी बड़ी गोरी, बड़ी मोटी देह गाय को बुलाने के उछाह में दरवाज़े के बाहर निकली पड़ती थी।

खड़बड़-खड़बड़ करती हुई गाय कुलिया की तरफ़ बढ़ी। लाले की घरवाली बड़े ज़ोर से पुलकीं। हाथ बढ़ा गाय को और उत्साह से बुलाने लगीं: आ, आ, ले ले।

गाय उनके दरवाज़े के सामने खड़ी हो गई। लाले की घरवाली सहम कर दो पग पीछे हो गईं। उसे चुमकारते हुए, दूर से ही पुतलों की तरफ़ इशारा कर कहा "खाओ! खाय जाओ।"

गाय ने एक बार झुक कर, दोनों तश्तरियों के पास मुँह ले जा कर, नाक से फुफकार छोड़ते हुए सूँघा, फिर गर्दन ऊँची उठाकर, बड़ी बड़ी काली आँखों से लाले की घरवाली का मुँह ताकने लगी। लाले की घरवाली ने खीझ कर कहा "हियंन क्या धरा है? हमरे हाड चाबोगी खसोटी? खउती नाहीं हैं, जो खान को धरा दैगा।....अरे खाय जाओ रंडो, इत्ती इत्ती खुशामद कर रहे हैंगे। हमरे गोमती जान की अविरिया हुई गई है, महारानी...गौमाता.... किरपा करौ।"

गोमाता मुँह फेर कर चल दी। लाले की घरवाली के सारे शरीर में भूडोल व्याप गया। उनके स्वर ने फिर सिर पर आसमान उठा लिया।

धूप केसर सी खिलने लगी, गली गुलज़ार हो गई। घरों के दरवाज़े खुल गये। पड़ोस के घरों की औरतों ने लाले की घरवाली से चर्चा चलाई, परनिंदा पाठ किया। ऊपर से लाले, संतो, सिंभू भी उतर आये। बात छज्जे, दरवाज़े पर खड़े मर्दों में भी छिड़ी। ज़माने की नीचता का बखान हुआ। गली में रामलोटन महाराज का "चाह गरम, बिस्कुट नरम" स्वर गूंजने लगा। शाह जी का टीपदार गला "गुरू ने कहा था मेरी झोली भर कर लाना रे" सुबह की हवा में लहरें उठाने लगा। पास ही, नुक्कड़ पर दूसरी गली से "ताई ले ले। ताई छू छू" का शोर भी हस्ब मामूल रोज़ के समय पर ही आ गया, पर मेहतर की सूरत अभी तक नहीं दिखाई दी। सिंभू ने सामने के घर में भोले से, भोले ने गली के सामने वाले घर में सिरीकिशन से पुकार कर कह दिया कि जैसे ही गली में मेहतर दिखाई दे वैसे ही उसे यहाँ भेज दिया जाय। राह चलतों में चर्चा फैल गई कि लाले दलाल के यहाँ जादू के पुतले रक्खे हैं। छोटी सी कुलिया में दो चार की भीड़ बड़ा मजमा सा बनकर पुतलों को इस तरह देख रही थी, मानो दो कत्ल हुई लाशें रक्खी हों। बड़े बड़े चर्चे हो गये, तब कहीं जाकर मेहतर आया।

पुतले हटते ही झट से बाल्टी ला कर लाले की घरवाली ने दरवाज़े पर पानी छोड़ा, फिर घर से यों निकली जैसे तोप के मुहाने से गोला निकलता है।

नंदो के घर पर उसके बाप भभूती नीचे नल के पास बैठे मिट्टी से हाथ धो रहे थे। मनिया का बड़ा लड़का ऊपर जंगले के पास खड़ा होकर दादी का पल्ला खींचते हुए जलेबी खाने की ज़िद कर रहा था, दादी उसे समझा रही थीं कि बुखार उतर जाने पर ही जलेबी मिलेगी, और जब तक वह चुपचाप खाट पर जाकर लेट नहीं जायगा तबतक उसका बुखार जल्दी से अच्छा नहीं होगा। अपने कमरे में बड़ी अपनी छोटी बच्ची को पैरों की अटकन पर बैठाये हुए उससे सुबह का फ़र्ज़ अदा करा रही थी। मनिया लिहाफ ओढ़कर, बायें हाथ के सहारे सिर ऊँचा उठाये, मुट्ठी बाँधकर सिगरेट का कश खींचते हुए अपनी बच्ची को हँसा रहा था। बच्ची की हिलती हुई गर्दन पोपली हँसी से झूल जाती थी। उसके पैरों में पड़े लच्छे और हाथों में सोने के कड़ों के घुँघुरू नन्हीं सी देह की चंचलता से ठुमक पड़ते थे। बड़ी उसे निहार कर रीझ रही थी। ....और शंकर के कमरे में अभी भी रात गरमा रही थी। नंदो के गोमती से नहाकर लौट जाने की वेला निकट आ गई थी। नौकर बीच का खन करीब करीब पूरा बुहार चुका था।

सहसा लाले की घरवाली ने ऐटम बम की तरह बीच चौक में फटकर भभूती के घर को हिरोशिमा बना दिया। नल के पास बैठे घरधनी को सुना कर लाले की घरवाली ने कहाः "कहाँ हैं तुमरी लाड़िली बिटिया?...हमरे घर में चलित्तर उछाल कर आई हैं। औ जौ हमरे घर में जादू-टोने

करवायेगा उसी के घर उलट के वंसनास होयगा, कहे जाती हूँ। हाय, हमरा बुरा चीता। हमने कब किसके साथ कौन सी बुराई की हैगी आज तलक, जो हमरे घर पर ताई से पुतले कराय के रख गईं। अरे, आवे तो चोट्टी बेइमान। नउकर से साझेदारी करके अपने घर में चोरी कराइन औ अब हमरे ऊपर जादू चलउती हैं कि हम उनकी सोने की करधनी बेचन खातिर काहे नाहीं रक्खा। अरे, हम काहे रखते किसीं के घर कीं फूट लड़ाई चोरी का माल? हमरे घर का ई सब पैदा नहीं हैगा? जिनके घर में चोरी का रुजगार होत है उनही की बिटियां ऐसा करत हैंगीं। ऊपर से भगतिन बनती हैंगीं, चोट्टी कहीं की।

जब पहले पहल ही ऐटमबम फूट गया, तब अम्मा की मशीनगन ऐसी फिट-फिट कहा-सुनीं भला क्या असर करती? भभूती कान में तेल डालकर चुपचाप दाँतुन करता रहा। मनियां, और मनियां की बहू तिमंजले के जंगले से झुक कर देखते रहे। फिर ज्योंही नंदो ने रण-क्षेत्र में जाकर गांडीव टंकारा तो शंकर और शंकर की बहू भी कमरे के बाहर आ गये। नंदो ने बड़े बड़े ब्रह्मास्त्र छोड़े, अम्मा की फिट फिटिया भी बीच बीच में दग जाती थी, मगर लाले की घरवाली ने वैज्ञानिक युग की तरह गांडीव और ब्रह्मास्त्रों को खिलौना साबित कर दिया। अपराध के खूंटे से जकड़ी हुई नंदो अपनी उग्रता के नाटक में अपने प्रति न्याय की निष्ठा लिये "चाउं-चाउं, झांउ-झांउ" की गूंज बनकर मीनार सी उठ रही थी। तिमंजले से तैश में आकर मनियां भी लाले दलाल को बेईमान सिद्ध करता हुआ नीचे उतर आया। शंकर भी जेब में हाथ डाले तमाशा देखने चला आया। नीचे की घटना का खुस-फुस विवेचन होने लगा :—

छोटी बोली—"हाय, ये नंदो कैसी मजबूत हैं लड़ने में, कि निकली निकली पड़ती हैं"।

बड़ी ने कहा—"सच्ची बात है, भाई। अभी हमारे तुम्हारे लिए कोई बुरा कर जाय तो हमें तुम्हें क्या गुस्सा नहीं चढ़ेगा? और ये नंदो बीवी तो महा ही कुटांट हैं; हर एक से जलना, हर एक का बुरा चीतना, यही इन का काम है......"।

नीचे आंगन में झल्ला से पूजा की गड्डुई थाली फेंक कर नंदो ने कोसने काटने शुरू किये। माँ-बाप की उपस्थिति में रो-रोकर अपने पक्ष को प्रबल करने के लिये उसने महाभारत मचा दिया।

लाले की घरवाली अपनी थकी आवाज़ को खींच-खींचकर ऊपर चढ़ा रही थीं। हंफनी के कारण उनके शब्द अस्पष्ट हो जाते थे, पर घृणा और क्रोध का वेग उनकी भीमकाय देह में उबला उबला पड़ता था।

अपनी छत की मुंडेर फलांग कर तारा चोर की तरह भभूती की ऊपरवाली छत पर आई। छोटी बड़ी को देखकर हाथ के इशारे से पास बुलाया। युद्ध का कारण जान कर तारा बोली "हमारे घर के दरवाजे पर भी रख गईं थीं। मैं दूध वाले को दरवाज़ा खोलने गई तो बाहर देख कर सहम गई। दूध वाले ने भी जाने क्या क्या डरा दिया।"

"डराने की तो बात ही है, भाई। जब तुम्हारा आठवां महीना चढ़ रहा है और......" बड़ी की बात पूरी होने से पहले ही तारा ने कहा "हमारे वो तो कहने लगे कि बेकार का "सुपरइस्टीशन" है, इन सब बातों पर ध्यान न दो। हमने अपने मन में कहा कि हां, वैसे तो आज के ज़माने में......"।

नीचे का शोर इस बार तमाम पिछले रिकार्ड तोड़ कर नई सीमा स्थापित करने लगा। छोटी बड़ी दौड़ कर फिर जंगले के पास आकर नीचे की ओर झुककर देखने लगीं। तारा ऊपर की छत पर ही बैठकर कौतूहल से

छोटी बड़ी का मुँह देखने लगी।

नीचे लाले की घरवाली ने झपट कर नंदो का गला पकड़ लिया। नंदो अपने घुटे गले से गोंगियाते हुए दोनों हाथ श्रीमती लाले की ठोड़ी पर अड़ा कर पूरी शक्ति से उसे पीछे ढकेलने का प्रयत्न करने लगी। भभूती, अम्मा, मनियां, शंकर सभी के चिचियाते हुए स्वर एक साथ गुथकर भयंकर हुल्लड़ का रूप धारण कर रहे थे। मनियां ने आगे बढ़कर किसी तरह अपनी बहन को छुड़ाया। लाले की घरवाली जब अपने ज़ोम में मनियां से उलझी तो उसने मारने के लिए हाथ उठाया। भभूती ने फौरन आगे बढ़कर अपने बेटे का हाथ पकड़ लिया और उसे पीछे ढकेलते हुए लाले की घरवाली से बोला "हम तुम्हारे हाथ जोड़ते हैं, बहू जी। जो गलती हुई उसे छिमा कीजिये"......"नंदो, जा यहां से। मनियां इसे पकड़ के ऊपर ले जा। चुप नहीं रहती, चुड़ैल। बक बक, बक बक किये ही जाती है"।

किसी तरह लाले की घरवाली घर से अनिष्टकर ग्रह की तरह टलीं।

छोटी बड़ी रिपोर्ट करने के लिए फिर ऊपर की छत पर आ गईं।

खुसफुस बातों के दौर में छोटी ने कहा "अगर उसके गला घोंटने से ये नंदो बीवी मर जातीं तो मैं बड़ी खुश होती। कहने को तो बहन हैं, पर हमारे वो इनसे सख्त नफ़रत करते हैं।"

"और ये करधनी चुराने की क्या बात है?" तारा ने पूछा। बड़ी बोली—"हमारी शादी के पहले यहां बड़ी भारी चोरी हुई थी। अम्मा जी बतलाती थीं कि नौकर चुरा कर भाग गया! सो, अब देखो इतने बरसों बाद आज ये बात खुली कि ये भी नंदो बीवी जी का ही काम था।"

नीचे घर के दुमंजले पर दूसरी लड़ाई का दौर आरम्भ हो चुका था। छै बरस पहले की चोरी का नुकसान अम्मा के कलेजे में इस समय मां की ममता से अधिक कचोट रहा था। मनियाँ को भी धन-हानि और अपमान दोनों की ही तड़प खौला रही थी। शंकर भी नंदो के पक्ष में नहीं था। नंदो सारे परिवार के विरुद्ध अकेली मोर्चा ले रही थी।

अम्मा ने कहा—"अरे अपने ही अंस में खोट होय तो किस को कहन जांयें। ज़रूर इसी ने चोरी कराई......।"

"हां हां, हमने कराई चोरी। हम तो चोर, बदमाश सभी कुछ हैं।" नंदो बोली।

मनियां चीख कर बोला—"हां हां, है। हम कहते हैं कि तुम ज़रूर करधनी लेकर लाले के यहां गई होगी"।

"और नहीं तो क्या?" अम्मा बोली। "पहले बहुत घुस-घुस के जात रहीं लाले के हियां। वहीं धर आई। जब वो नामुकर गई तो इस ने जलन के मारे जादू-टोना किया"।

"हम काहे करें जादू-टोना। जिन्हें अपने लड़कन बहुअन के लिये सोना चांदी बटोरना ...."।

तड़ातड़ तमाचे लगा कर मनियां ने नंदो का मुँह तोड़ दिया। "अम्मा को कहती है बदमास। हम तुम्हारी हड्डी पसली तोड़ डालेंगे। एक तो पांच हज़ार का नुकसान कराया ....।"

भभूती ने डांटकर कहा "अच्छा, अच्छा, हो गया। जाओ, सब जने अपने अपने काम पर लगो। लाले दलाल ससुरे से इसकी दूनी रकम निकाल लूंगा, मैं।" नंदो का रोना धोना चलता ही रहा।

जीवन-क्रम अभी भी अपनी परम्परा में हमारे भारतीय समाज में घरों मुहल्लों में बहुत सी उन आदतों को लादे चला जा रहा है जो हमारे लगभग आठ दस हज़ार बरस पहले के पुरखों ने डाली थीं। ज़ादू-टोनों की पत्थर युग वाली निष्ठा से निकल कर सत्य, दर्शन, कला, साहित्य, संस्कृति का तीर्थ बने भारत को हजारों साल हो गये ; इस के आगे दुनियां सिर झुकाती है; पर आश्चर्य है कि अधिकांश भारतीय जन समाज अभी भी अपनी पुरानी संस्कृति से दूर नहीं हुआ और रूढ़ियों में बँधा है। भारत न जाने कब तक अपने उन जादू के पुतलों से बँधा रहेगा जिन में अब जादू नहीं है।

—लखनऊ से प्रसारित

समाज-शिक्षा

देश के स्वतंत्र होने के बाद तो इस बात की ओर भी आवश्यकता बढ़ गई है कि प्रत्येक नागरिक शिक्षित हो। वह साक्षर तो हो ही, परन्तु इसके साथ ही उसको इतनी योग्यता हो कि वह उन समस्याओं को समझ सके जिन को सुलझाने का काम उसके देश की सरकार को करना पड़ता है। उसको अपने देश के संविधान का, देश की राजनीतिक व्यवस्था में अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का, अपने देश और दूसरे बड़े देशों के सम्बन्ध का, कुछ न कुछ ज्ञान होना चाहिये। अर्थशास्त्र का विशेष ज्ञान न होते हुए भी इस बात की थोड़ी बहुत परख होनी चाहिये कि पूंजीवाद, समाजवाद और समष्टिवाद में से उसके समाज के लिये कौन सा हितकर है। उसको अपने ग्रामीण अथवा शहरी जीवन के सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने में रुचि होनी चाहिये और उसमें स्वदेश रक्षा की जागरूक भावना होनी चाहिये ।

नागरिक अपने वोट से व्यवस्थापकों को चुनता है और व्यवस्थापकों के बल पर सरकार काम करती है। अन्ततोगत्वा सरकार नागरिक के नाम पर ही शासन करती है। नागरिक उसका स्वामी है। इसलिये अंग्रेजी शब्दों में (We are to educate our masters) हमको अपने स्वामियों को शिक्षित बनाना है। जनता के अनुरूप ही सरकार होती है। यदि साधारण नागरिक स्वाभिमानी, जागरूक, सावधान और स्वतंत्रचेता न हुआ तो सरकार लापरवाह और स्वेच्छाचारी हो जायगी। वह जनता की यथोचित सेवा न कर सकेगी और जनता की अपार शक्ति से उसको बल प्राप्त न हो सकेगा। इसलिये अगर हमको अपने देश का शासन ठीक रखना है और उसको उन्नति के पथ पर ले चलना है तो हमारे नागरिकों का बौद्धिक और नैतिक स्तर बहुत ऊँचा होना चाहिये। भारतीय नागरिक अपने नेताओं की बनाई हुई अपनी राष्ट्रीय सरकार का आदर करेगा। परन्तु भेड़ की भाँति किसी का भी अनुयायी न होगा। उसकी आलोचना रचनात्मक होगी, इसलिए उससे सरकार को लाभ होगा। हम आज के अशिक्षित प्रौढ़ को कल का कुशल नागरिक बनाना चाहते हैं। हम केवल सरकारी और अर्ध-सरकारी संस्थाओं और व्यक्तियों के बल पर सफल नहीं हो सकते। यह काम समस्त जनता का है।

(सम्पूर्णानन्द, लखनऊ)

न्याय दर्शन

सुरेन्द्रनाथ शास्त्री

प्रत्येक विचारशील पुरुष के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस जगत् का स्वयं वह एक अवयव है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है। आखिर प्रतिक्षण परिवर्तनशील इस संसार का संचालक कौन है और इसका नियामक कहाँ है। इस जगत् की उत्पत्ति क्यों, कैसे और कब हुई और यह किस काल तक किस आधार पर स्थित रहेगा? वर्त्तमान जगत् में विचित्र विषमता दीख पड़ती है। कारण, प्रत्येक पुरुष की स्थिति अपने साथी से बिलकुल भिन्न है। यद्यपि हर व्यक्ति की इच्छा केवल सुख प्राप्त करने की है और अधिक से अधिक सफलता चाहना ही पुरुष की अभिलाषा की सीमा है, तथापि इस संसार में किसी पुरुष को बिना परिश्रम के ही सुख के साधनों की उपलब्धि हो जाती है, किसी को महान् प्रयत्न करने पर भी सुख प्राप्त नहीं होता, और कोई नित्य कठिन परिश्रम करने पर भी केवल आवश्यकता मात्र जैसे-तैसे पूरी कर पाता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति की सुख-सामग्री, विद्याध्ययन, द्रव्यलाभ, यश एवं कीर्ति में परम विभेद है। यदि समस्त जीवों का स्रष्टा एक ही परमपिता है तो उसके यहाँ विषमता और निर्दयता होने का कारण क्या है? साथ ही यदि विविध क्लेशों से यह जीवन भरा हुआ है, तो इस क्लेश-समूह के निवारण का मार्ग भी कोई है या नहीं? मानव जीवन की इस जटिल समस्या ने प्रत्येक काल के विचारशील पुरुषों को गम्भीर विवेचना में लगाया। मनुष्य निसर्ग से ही विवेकशील प्राणी है और वह हर वस्तु की, हर कार्य की, हर स्थिति की अपनी विवेक-शक्ति से छान-बीन करता है और यथामति उसके सार को देखने की चेष्टा करता है। सार को देखना ही दर्शन है और दर्शन ही मनुष्य की अन्य प्राणियों से विशेषता बताता है। यही उसका धर्म है। इस परिदृश्यमान जगत् के सच्चे स्वरूप का अवलोकन और जीवन को सुचारु रूप से व्यतीत करने के हेतु सुन्दर मार्ग का अन्वेषण ही दर्शन है। युक्ति एवं अनुभव से सिद्धान्तों को स्थिर कर विचारधारा को प्रस्तुत करना यह ज्ञानी की वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय पद्धति है, अतएव दर्शन को शास्त्र के अन्तर्गत माना गया है। "शासनात् शंसनात शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते" शास्त्र शासक है और शास्त्र शंसक अर्थात् प्रतिपादक है।

भारतवर्ष में द्रष्टा और वस्तुस्वरूप के विवेचक अनेक हुए हैं, किन्तु विवेचना की धारा दो प्रवाहों में बही है—एक केवल युक्ति विवेचना मात्र के आधार पर विचार करने वालों की पद्धति और दूसरी प्राचीन ग्रन्थों में प्रतिपादित तथ्यों की स्वतःप्रमाणता स्वीकार कर तद्नुसार युक्ति एवं तर्क को प्रस्तुत करने वाले विवेचकों की पद्धति। भारत का सब से प्राचीनतम ग्रन्थ है वेद, जिसे निगम कहते हैं तथा स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। अर्थात् इस देश में दर्शन का एक परिसर केवल युक्तिवादियों का है और दूसरा वेद शास्त्र को प्रमाण मानकर चलने वालों

का है। केवल युक्तिवादी तथा वेद को स्वतः प्रमाण न मानने वाले दर्शन नास्तिकवादी शाखा के अन्तःपाती हुए और वेदशास्त्र अर्थात् शब्द को प्रमाण मानने वाले दर्शन आस्तिकवादी कहलाये। बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि केवल युक्तिवादी और प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रमाता अनेक दर्शन उपलब्ध हैं। साथ ही वेद-वाक्यों को परम प्रमाण और स्वतः सिद्ध मानने वाले परन्तु वैदिक तत्वों को युक्ति, तर्क तथा अनुभव के बल से समझने वाले ज्ञानियों के दर्शन भी इस देश में मौजूद हैं। इन आस्तिकवादी दार्शनिकों ने वस्तु स्थिति को भिन्न-भिन्न पहलुओं से देखने की चेष्टा की है और इन सब का आधार-स्तम्भ वेद होने के कारण इनमें परस्पर सामंजस्य भी है। ये विविध दर्शन एक प्रौढ़ विचारधारा को उपस्थित करते हैं। आस्तिकवादी दार्शनिकों के द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों में ६ सिद्धान्त प्रमुख हैं, जो कि भारत के प्रमुख षड्दर्शनों के नाम से सुप्रसिद्ध हैं। जगत् के स्वरूप का विवेचन, जगत् के कारण का अन्वेषण, नित्य एवं अनित्य वस्तुओं का निर्धारण, पदार्थों की परिगणना, ज्ञेय का ज्ञान करने के साधनों अर्थात् प्रमाणों का निश्चय, आत्म-तत्व का विवेचन, दुःखों के प्रणाश तथा असीम सुख की प्राप्ति के उपाय और पुनर्जन्म तथा कर्म-बन्धन से मुक्ति, मुक्ति का स्वरूप एवं साधन––ये सब ही इन दर्शनों के विचारणीय विषय हैं। और विचार करने की पद्धति वस्तु विशेष का निरीक्षण कर सामान्य तत्त्व के निर्धारण करने की है। ये षड्दर्शन विविध आचार्यों के द्वारा स्थिर किये गये हैं। इनके नाम हैं—न्याय और वैशेषिक, सांख्य और योग, मीमांसा और वेदान्त।

न्याय दर्शन के रचयिता अक्षपाद मुनि हुए हैं जिनका गोत्रनाम गौतम है। वैशेषिक दर्शनकार कणाद है। सांख्य दर्शन के प्रणेता कपिल हैं। योग दर्शन के विधाता महामुनि पतंजलि हैं। मीमांसा दर्शन की रचना जैमिनी ने की और वेदान्त दर्शन का प्रादुर्भाव कृष्णद्वैपायन वेदव्यास द्वारा हुआ। मीमांसा और वेदान्त मिल कर एक ही दर्शन माना जाता है। वेद का विधि भाग मीमांसा की आधार-शिला है और उसका उपनिषद् भाग वेदान्त की आधार-शिला है। मीमांसा कर्मप्रधान है और वेदान्त ज्ञान-प्रधान। आत्म-तत्त्व का विवेचन तथा ब्रह्म ज्ञान वेदान्त दर्शन का प्रधान प्रतिपाद्य है। परन्तु आत्म-दर्शन शारीरिक एवं मानसिक अनुशासन पर निर्भर है। आध्यात्मिक सिद्धि को हस्तगत करने से पूर्व चित्तवृत्ति पर परम अधिकार पाना पूर्वतन सिद्धि है। इसी अनुशासन को स्थिर करने वाला शास्त्र योग दर्शन है। परन्तु मानसिक स्थिति की स्थिरता, बुद्धि की निर्मलता तथा विभिन्न वस्तुओं की संख्या उनके तात्त्विक ज्ञान पर अवलम्बित है। अतएव महामुनि कपिल ने सांख्य शास्त्र प्रस्तुत किया। वस्तुओं की परिगणना करते हुए उनमें विशेष द्रव्य को ढूँढ़ निकालने का महत्त्वपूर्ण कार्य कणाद ने किया, अतएव उनका शास्त्र वैशेषिक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इनका परमाणुवाद सुप्रसिद्ध है।

समस्त वस्तु का अवलोकन इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से होना सम्भव नहीं, प्रत्यक्ष के बल से अप्रत्यक्ष का ज्ञान किये बिना जगत् की अन्तर्व्यवस्था का ज्ञान सम्भव नहीं। अतएव प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान को स्थापित करना परम आवश्यक हुआ। वह अनुमान सच्चा अनुमान और शास्त्र के अनुकूल होना चाहिए, तभी वह सम्यक् ज्ञान को उपस्थित कर सकेगा। इसी तार्किक प्रणाली का नाम है न्याय। जिसके द्वारा वस्तु का निर्णय किया जा सके—निर्णय की इस पद्धति का नाम है न्याय। न्याय का व्यापक अर्थ है विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तु-तत्त्व की परीक्षा। वात्स्यायन भाष्य में लिखा है "प्रमाणैः अर्थपरीक्षणं न्यायः"। प्रमाणों का स्वरूप वर्णन कर तार्किक प्रणाली का व्यावहारिक रूप प्रकट

करने से यह दर्शन न्याय दर्शन नाम से प्रसिद्ध हुआ। संकीर्ण अर्थ में न्याय शब्द अनुमान का ही नाम है। इस अर्थ में प्रस्तुत न्याय शास्त्र को ही आन्वीक्षिकी विद्या कहते हैं।

न्याय दर्शन का लगभग दो हज़ार वर्षों का इतिहास है। इसकी विचारधारा दो प्रणालिकाओं में वह निकली है। पहली धारा सूत्रकार गौतम से प्रारम्भ हुई, जिन्होंने जगत् के स्वरूप को सोलह पदार्थों में विभक्त कर समझा। अतएव वे षोडशपदार्थवादी माने गये और पदार्थों की विवेचना की उनकी प्रणाली पदार्थमीमांसा के नाम से विख्यात है। दूसरी प्रणाली में पदार्थों की मीमांसा की अपेक्षा उनके ज्ञान के साधन प्रमाणों का विश्लेषणात्मक अध्ययन ही प्रधान है। इस प्रणाली को प्रमाण मीमांसा कहना ठीक होगा। प्रमाण मीमांसा को प्रवृत्त करने वाले विद्वान् गंगेशोपाध्याय हुए जिनका उद्भट ग्रन्थ तत्त्वचिन्तामणि के नाम से प्रसिद्ध है। गौतम के द्वारा प्रवर्तित पदार्थ मीमांसा को प्राचीन न्याय कहते हैं और गंगेशोपाध्याय की प्रमाण मीमांसा ने नव्य न्याय को जन्म दिया। गौतम का काल विक्रम पूर्व चौथी शताब्दी में माना गया है। इनके अनुयायी वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट, उदयनाचार्य आदि विद्वान् हुए। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में मिथिला में गंगेशोपाध्याय का जन्म हुआ, जिन्होंने न्याय शास्त्र की प्राचीन विचारधारा को परिवर्तित कर नवीन युग का प्रवर्तन किया। उनके हाथों में पड़ न्याय दर्शन एक पदार्थ शास्त्र के स्थान पर प्रमाण शास्त्र बन गया। उनके अनुयायी पक्षधर मिश्र जैसे विद्वान् हुए। लगभग दो सौ वर्ष तक मिथिला देश न्याय शास्त्र का एक अप्रतिम केन्द्र बना रहा। १५ वीं शताब्दी में बंगाल के नवद्वीप में एक विद्यापीठ की स्थापना हुई और १६ वीं तथा १७ वीं शताब्दी न्याय विचार विद्या के प्रसार में एक स्वर्ण युग कही जा सकती हैं। जहाँ देखो वहीं तर्कविद्या एवं आन्वीक्षिकी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता था। यहां तक कि "अन्ये घारट्टिकाः सर्वे नूनं शास्त्रकृतो वयम्" अन्य सब मतवादी केवल चक्की के पीसने वाले हैं, शास्त्रकार तो केवल तार्किक ही हैं—इस प्रकार का दिगन्त डिण्डिम घोष फैल गया था। इसी युग में बंग देश में नैयायिकों ने अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना की और नवद्वीप (नदिया) को वह गौरव प्राप्त हुआ जो आज भी अविच्छिन्न है। नवद्वीप के आचार्यों में वासुदेव सार्वभौम सर्व प्रथम हुए, और तदनन्तर रघुनाथ, मथुरानाथ, जगदीश और गदाधर भट्टाचार्य आदि पण्डितों ने मिलकर नव्यन्याय का एक विशालकाय वटवृक्ष स्थिर कर दिया।

न्यायदर्शन में बुद्धि की बड़ी प्रतिष्ठा है। जिस प्रकार दीपक अपने सामने उपस्थित समस्त पदार्थों को आलोकित कर देता है उसी प्रकार बुद्धि अखिल पदार्थों को प्रकाशित कर देती है। बोध का अधिष्ठान आत्मा है, अतएव समस्त पदार्थ विषयक ज्ञान आत्माश्रय है। ज्ञान दो प्रकार का होता है– स्मृति और अनुभव। पूर्व अनुभूत पदार्थ के संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं और स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभव। अनुभवात्मक ज्ञान भी दो प्रकार का होता है—यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं। प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान के साधनों को प्रमाण कहते हैं जिनके आधार पर प्रमेय की सिद्धि की जाती है। न्याय दर्शन बाह्यार्थ को सत्परा मानता है और इस अंश में वह बौद्धदर्शन से मतभेद रखता है। न्याय दर्शन मीमांसा शास्त्र की तरह स्वतः प्रमाण में विश्वास नहीं करता, हर वस्तु प्रमाणों के द्वारा सिद्ध होनी चाहिये। इन सिद्धान्तों के अवलम्बन के कारण नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी कहे गये हैं।

यथार्थ ज्ञान को पाने के लिए अयथार्थ ज्ञान से बचना परम आवश्यक है। अयथार्थ अथवा मिथ्या ज्ञान को भ्रान्ति कहते हैं। भ्रान्ति के विषय में न्याय दर्शन ने बड़ी विवेचना की है

दूसरे गुणों का अन्य वस्तु में प्रतीत होना भ्रान्ति का एक स्वरूप है, जिसे वे अन्यथाख्याति कहते हैं। इसी भ्रान्ति को दूर कर सच्चे ज्ञान अर्थात् प्रमा को हासिल करना न्यायदर्शन का मुख्य ध्येय है।

प्रमा चार प्रकार की मानी गई है, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा पदार्थ का जो बोध होता है वह प्रत्यक्ष प्रमा है, सत् हेतु के बल से प्रत्यक्ष के द्वारा परिगृहीत व्याप्ति ज्ञान के बल से अप्रत्यक्ष पदार्थ का जो बोध होता है वह अनुमान, सादृश्य के बल से प्राप्त ज्ञान उपमान तथा आप्तवाक्य से उपलब्ध ज्ञान शाब्द प्रमा कहलाता है। इन चार प्रकार के सम्यक् ज्ञानों को प्राप्त कर अपनी प्रवृत्तियों को शुद्ध करना यही न्यायदर्शन का लक्ष्य है।

प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है पापिका और पुण्या। कायिक, वाचिक तथा मानसिक इसके तीन भेद माने गये हैं। पापिका प्रवृत्ति से दुख और पुण्या प्रवृत्ति से सुख होता है। दुःख से बिल्कुल छूट जाना ही विमोक्ष है, जिसे न्याय दर्शन में अपवर्ग कहते हैं। वर्त्तमान जन्म का परिहार और भावी जन्म का न होना यही दुःख विमोक्ष का लक्षण है। वासनाओं के कारण दुःख का परिहार नहीं हो पाता और वासनाएँ मिथ्या ज्ञान के कारण उत्पन्न होती रहती हैं। अतएव संसार के क्लेश से बचने के लिए मिथ्या ज्ञान का नाश आवश्यक है जो केवल तत्व-ज्ञान से ही हो सकता है। आत्मना आत्म-साक्षात्कार होता है।

—दिल्ली से प्रसारित

द्रौपदी का उपदेश

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधा—
नसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः॥

जो छलियों के साथ भी छल नहीं करते, वे मूर्ख पराजय को प्राप्त होते हैं, क्योंकि धूर्त लोग उनके भेदभाव को जानकर उनको इस प्रकार नष्ट कर देते हैं, जैसे तीक्ष्ण बाण कवचहीन शरीर में प्रविष्ट होकर उसको छिन्न-भिन्न कर डालते हैं।

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते,
निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशाः,
विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि॥

सन्धि अथवा समझौते की बातों की रक्षा सज्जनों के साथ की जाती है। जो शत्रु निरन्तर छल-कपट में लगा रहे उससे समझौते के अनुसार समय की प्रतीक्षा करना उचित नहीं, क्योंकि विजय की कामना करने वाले राजा लोग छल से सन्धि को तोड़कर भी शत्रु का नाश कर डालते हैं।

(गंगाशरण 'शील', दिल्ली)

भारतीय संस्कृति का ताना-बाना

भगवतशरण उपाध्याय

इतिहास के निर्माण में विविध जातियों का योग सदा होता है। भारतीय इतिहास में भी इसी प्रकार से प्रगति हुई है और विविध जातियों ने समय-समय पर अपना योग देकर इतिहास का निर्माण किया है। इनमें सभी हैं : काली, गोरी, पीली, द्रविड़, आर्य, ईरानी, यूनानी, शक, पल्लव, कुषाण, हूण, अरब, पठान, मुग़ल और अंग्रेज़ आदि जातियाँ।

भारतीय इतिहास और संस्कृति की पहली इकाइयां श्यामवर्ण आदिवासियों और द्रविड़ों ने प्रस्तुत कीं। आदिवासी द्रविड़ नहीं हैं और आज भी वे मध्यभारत तथा छोटानागपुर आदि में अपनी आदिम सभ्यता में जीते जागते देखे जा सकते हैं। भारत में खेती का बीज इन्होंने ही बोया। यह कहना कठिन है कि द्रविड़ मूलतः भारतीय हैं या अभारतीय, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आदिवासियों की सभ्यता के वहन का भार उन्हीं पर पड़ा। सभ्यता के उषाकाल में कृषि के लिए नदियों के प्रवाह को रोक, बांधों से रुके जल को झीलों में परिवर्तित कर द्रविड़ों ने कृषि का महान उपकार तो किया ही, निःसन्देह इस दिशा में उन्होंने इंजीनियरिंग के क्षेत्र में भी असाधारण डग भरे। आज भी हमारी संस्कृति में अनेक प्रकार की जो नाग और वृक्ष आदि की पूजा है वह प्रधानतः द्रविड़ों के ही विश्वास का परिणाम है, और चाहे वह बहुत कुछ आर्यों के योग से ही क्यों न हुआ हो, दक्षिण के पहाड़ों को काट कर बनाये गये



विशाल मन्दिर द्रविड़ों की मेधा और अध्यवसाय से ही खड़े हुए।

भारतीय इतिहास को द्रविड़ों की असाधारण देन तो हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सैन्धव सभ्यता है, जिसकी नगर-निर्माण-पद्धति, स्नान-सरोवर, मुहर, मूर्त्ति-कला आदि आज से प्रायः पाँच हजार वर्ष पहले कलियुग के उस प्रारम्भ काल में संसार के इतिहास में बेजोड़ हैं। उन्हीं दिनों शायद समकालीन सुमेरी, बाबुली, असुरी सभ्यता का भी हमारी इतिहास-धारा को सबल योग मिला।

कुछ ही काल बाद आर्य जाति ने भारत की नगरप्रधान भूमि पर अपने गाँवों के बल्ले गाड़े। संस्कृतियों के तात्कालिक संघर्ष के बाद इस देश में जो एक नई चेतना जन्मी वह भारतीय संस्कृति की रीढ़ बन गई। इतिहास में नई चेतनाएं जगती-सोती रहीं, नई जातियां आती-जाती रहीं, परन्तु इस द्रविड़-आर्य की सम्मिलित मेधा ने एक बार जिस आधार को

प्रस्तुत किया वह साधारणतः बना रहा। इस संयोग से आचार-विचार, धर्म, विज्ञान, दर्शन, चिन्तन आदि सभी दिशाओं में दूरगामी प्रेरणा मिली और एक नया संसार भारत की धरा पर अभिसृष्ट हुआ।

भारतीय इतिहास के सन्धिकाल में जब जब विदेशी जातियों ने हमारी प्रगति में सहयोग दिया तब तब हमने क्रान्तिकारी प्रतिभा अर्जित की। ईरानियों के साथ तो हमारी उत्तर-पश्चिमी सीमा का सम्पर्क सदा से रहा है, पर जब दारा ने सिन्ध और पश्चिमी पंजाब जीत कर उसे अपने साम्राज्य की बीसवीं क्षत्रपी घोषित किया तब से तो वह सम्पर्क भारतीय इतिहास में अमर हो गया। हमारी मूर्त्तिकला और अभिलेख-पद्धति को उससे बड़ा लाभ हुआ।

ग्रीको-यूनानियों के सम्बन्ध ने भी हमारी ऐतिहासिक प्रगति में योग दिया। सिकन्दर का आक्रमण तो किसी प्रकार टिकाऊ न हो सका, और चन्द्रगुप्त मौर्य ने हमलावर के लौटने के शीघ्र बाद उस हमले के सारे चिह्न मिटा दिये; परन्तु बाख्मी बदख्शा के आमू तट से जिन ग्रीकों ने भारत पर हमला किया वे हमारे होकर ही रहे। पंजाब, सिन्ध, काबुल में उन्होंने अपने नगर बसाये और वहाँ के रंगमंचों पर अपने महान् नाटककारों के नाटक खेले। हमारे थियेटर का ड्रापसीन भी उन्हीं यवनों के नाम से 'यवनिका' कहलाया। उनकी मुद्राशैली ने तो हमारे सिक्के ढालने की विधि में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये ही, उनको गणित-ज्योतिष ने हमारी ज्योतिष की नींव खड़ी कर दी। वराहमिहिर ने इसलिए अपने पाँच ज्योतिष सिद्धान्तों में दो के नाम इन्हीं ग्रीकों के नामों पर रखे। इसी कारण हमारे ज्योतिष ग्रंथ गार्गी-संहिता में लिखा है कि यवन अर्थात् ग्रीक म्लेच्छ तो हैं परन्तु ज्योतिष-शास्त्र का आरम्भ करने वाले होने के कारण वे ऋषिवत् पूज्य हैं। बिना किसी मीन-मेख के हमने उनका राशिचक्र स्वीकार किया। हमारी जन्म-पत्रियों का लाक्षणिक नाम आज भी ग्रीकों का होराचक्र (हारसकोप) है। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण योग हमारे इतिहास को मूर्त्तिकला के क्षेत्र में मिला। उनके केन्द्र गान्धार से मूर्तिकला में एक नई ग्रीक शैली ही चल पड़ी, जो गान्धार शैली कहलाई। मिनेन्डर शकों ने पहली सदी ईस्वी पूर्व में भारत में प्रवेश कर पाँच राजकुल स्थापित किये और यद्यपि विक्रमादित्यों ने उनकी राजनीतिक शक्ति तोड़ दी, फिर भी उनके सांस्कृतिक योग से हम वंचित न रहे। उज्जैन में ज्योतिष का केन्द्र स्थापित कर उन्होंने उस विज्ञान में जो प्रगति की वह तो प्रमाणित ही है। संस्कृत भाषा को अपनाकर शकराज रुद्रदम्या ने अपने गिरिनार के अभिलेख में गद्य की जो पहली शैली प्रस्तुत की वह साहित्य में शकों की असामान्य देन है। गुप्तकालीन ज्योतिषी वराहमिहिर भी, जिसने हमारी ज्योतिष को वैज्ञानिक रुख दिया, ईरानी शक ही माना जाता है। सूर्य की मूर्त्तिपूजा का आरम्भ भी शायद शकों ने ही इस देश में किया। पहली सदी ईस्वी की कुषाण-कालीन प्राचीनतम भारतीय सूर्य-मूर्त्ति अपने कनिष्कवत् चोगा-पाजामे की पोशाक से इस निष्कर्ष को पुष्ट करती है। पल्लवों ने भी इसी प्रकार ईरान के नए रूप को भारतीय धरा पर उतारा।

स्वयं उन कुषाणों ने भी हमारे इतिहास की प्रगति की कड़ियाँ प्रस्तुत कीं, जो हूणों की चोट से चमक कर चीन की ओर से इस देश में उतर आये थे और जिनका अग्रणी कनिष्क था। इस धरा की प्रकृति (स्पिरिट) के अनुकूल ही उसने अपने भी सिक्कों पर सारे देवताओं की आकृति लिख कर भारतीय धर्म का उसी प्रकार अनुशासन माना जिस प्रकार कभी ग्रीकों ने माना था। शक-कुषाणों के चलाये चोगे-पाजामे को ही मुग़लों ने सुधार कर भारत को राष्ट्रीय लिबास दिया। कनिष्क ने अशोक की ही भाँति बौद्ध धर्म का प्रचार किया और उसके नाम से उस धर्म का एक विशिष्ट सम्प्रदाय, महायान, सम्बद्ध हुआ। उसी के तत्त्वावधान में बुद्ध की पहली मूर्त्ति

बनी। मथुरा के केन्द्र से कुषाणों ने मूर्तिकला को जो चेतना दी वह भारतीय कला के क्षेत्र में सर्वथा नई थी। उनके सिक्के अभी हाल तक पैसों के रूप में पंजाब में चलते रहे हैं। शक-कुषाणों को जब भार शिवनागों की राष्ट्रीयता की चोट खाकर सीमा की ओर भागना पड़ा तब उन्होंने सदियों साहित्य वंश के नाम से क्षत्रिय होकर भारत के सिंहद्वार की काबुल में रक्षा की। महमूद गज़नवी से लोहा लेने वाले जयपाल, आनन्दपाल आदि उन्हीं कुषाणों के वंशधर थे।

हूणों का सम्पर्क कुछ लोग घातक रूप में मानते हैं, क्योंकि वे यह नहीं देख पाते कि हमारी उन सुदृढ़ और सबल राजपूत तथा तत्सम अन्य जातियों का उदय उन्हीं हूणों के आधार पर हुआ जो हमारी वीरता के प्रतीक बन गए। आज भी हमारे अहीर, जाट और गूजर राजपूतों की ही भांति पुष्टि और रूप की दृष्टि से पृथ्वी की जातियों में लासानी हैं। अहीरों ने तो एक बार मध्य भारत और दक्षिण में अपना साम्राज्य भी खड़ा किया था।

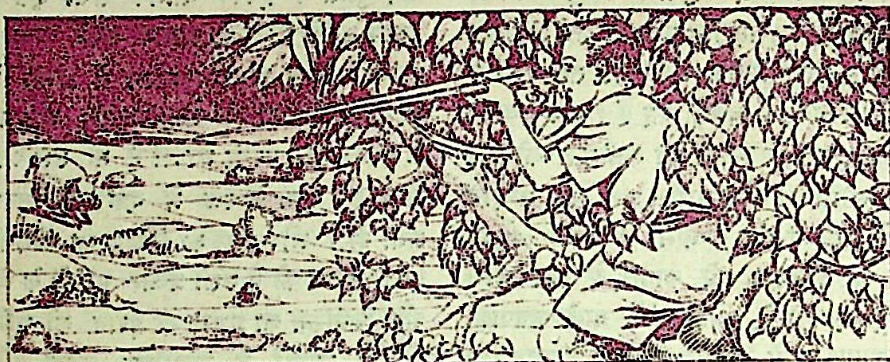
आठवीं सदी में सिन्ध में एक नई शक्ति इस्लाम की उतरी। कुछ काल पहले अरब के रेतीले मैदानों में जो चिनगारी अग्नि-ज्वालाओं के रूप में भड़क उठी थी, उसने शीघ्र ही संसार के इतिहास का रुख बदल दिया। अरबों की शक्ति तत्काल एक ओर तो चीन की सीमा से अटलांटिक महासागर तक, और दूसरी ओर कास्पियन सागर से मिस्र के नील नद तक स्थापित हुई। इस्लाम के पास जीवन का अपना दर्शन था, अपनी प्रेरणा थी; इससे अन्य जातियों की भांति उसके लड़ाके भारतीय जातियों में घुल-मिल कर अदृश्य तो न हो सके, परन्तु उन्होंने भारतीय इतिहास की एक प्रबल कड़ी प्रस्तुत की और इस देश की राजनीति और संस्कृति में अनेक परिवर्तन किये।

अरबों के बाद पठान आए और पठानों के बाद मुग़ल। इनकी धार्मिक सत्ता एक थी, यद्यपि उसके प्रचार के साधन अपने अपने थे। पठानों ने जिस वस्तु का भारत में प्रचार किया वह मध्य एशिया की कला का ही, एक प्रकार से प्रसार था। परन्तु मुग़लों ने तो उस आधार से उठकर कला के क्षेत्र में एक नई चेतना ही जगा दी। मौर्य-कला की निखार का श्रेय जिस प्रकार ईरान को है उसी प्रकार मुग़लों के शिल्प और चित्रांकन का प्रचार भी ईरान की भूमि से ही है। मुग़लों ने ताजमहल, जामा मस्जिद आदि की अपनी इमारती निपुणता से कला के इतिहास में नए पाए तो रखे ही, चित्रण के क्षेत्र में भी उन्होंने एक अमर मुग़ल शैली का प्रादुर्भाव किया। उनकी चेतना ने इसी भांति भारतीय मूल संगीत के प्रवाह में भी ग़ज़ल, क़व्वाली, ध्रुपद, ख़याल आदि की अपनी धारायें बहाई हैं। यूनानी चिकित्सा के प्रयोग भी अधिकतर उन्होंने ही इस देश में किए उसी प्रकार जैसे अरबों ने भारतीय गणित का प्रचार यूरोप में किया था।

इस्लाम का मध्य एशिया में प्रभाव भारत और यूरोप के इतिहास में एक अमर मंज़िल है। उसी के कारण यूरोपियनों को भारत आने के लिये नई समुद्री राह खोजनी पड़ी और तब इस देश का इतिहास एक नई दिशा में चला। यूरोपीय विविध जातियों के पारस्परिक संघर्ष के बाद अंग्रेज़ इस देश पर क़ाबिज़ हुए और साम्राज्यवादी शोषण का रूप जो हुआ करता है वह इस देश की मजबूरी ने भी धारण किया। पर उस जातीय सम्पर्क का परिणाम भी कुछ बुरा नहीं हुआ। भारत यूरोप के प्रगतिशील देशों के जाग्रत सम्पर्क में आ गया। वहाँ की राजनीति, साहित्य, जीवन सभी कुछ इस देश में प्रतिबिंबित हुए। एक नई राष्ट्रीय चेतना जगी, नया सवेरा हुआ।

—इलाहाबाद से प्रसारित





शिकार का शौक़

गजराज सिंह

जब मैं छोटी ही उम्र का था तभी से मुझे यह रोग लग गया था। हां भई रोग, क्योंकि यह एक ऐसा रोग है जो एक बार लग जाये तो फिर बढ़ता ही जाता है। फिर, इसमें दिन और रात अपने नहीं रहते। चाहे जो वक़्त हो, धुन सवार हुई, बन्दूक उठाई और हो गये जंगल की तरफ़ रवाना। मैं ज़्यादातर छोटे जानवरों का ही शिकार खेला करता था। और यह शौक़ मेरे सर पर मामा जी की वजह से सवार हुआ था। मेरे ये मामू कोटा रियासत में एक ज़मीदार थे; और उन्हें सिर्फ यही एक शौक़ था।

एक दिन की बात है, शाम का वक़्त था। मैं अपने मामू के साथ चबूतरे पर बैठा चाय पी रहा था। यकायक मुझे ख्याल आया, क्यों न दिन छिपे गाँव के पास की नदी के किनारे जाकर एक हिरन या चीतल मार कर लाया जाय। मामू से ज़िक्र किया, इजाज़त मिल गई और गाँव के दो शिकारी जो हमेशा साथ जाया करते थे फ़ौरन आ गये। जब मैं बन्दूक उठाकर बाहर लाया तो मामू ने आग्रह किया, 'गजराज ज़रा चौकन्ने रहना। तेंदुए वग़ैरा तुम्हारी तरह अक्सर इसी वक़्त चीतल का शिकार करने की टोह में निकलते हैं।'

हम चल पड़े। रास्ते में शिकारियों ने बताया कि यह वक़्त चीतल के अलावा जंगली सुअरों के निकलने का भी है और आज तो एक भी हाथ लग गया तो सारे गाँव को दावत हो जाएगी। पर आज मेरे दिल में रोज़ से कहीं अधिक धुक-धुक हो रही थी। मेरा ध्यान रह-रह कर तेंदुए की तरफ जा रहा था। तेंदुआ शेर की नस्ल का ही जानवर है। और इसकी और शेर की आदतों में फ़र्क सिर्फ इतना है कि यह पेड़ पर चढ़ जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि कुछ हालतों में यह शेर से भी ज़्यादा ख़तरनाक साबित हो सकता है। यह बड़ा बदमाश और चालाक जानवर होता है। अमूमन इसकी सुनहरी खाल पर काले धब्बे होते हैं। मगर कई जगह काली जिल्द वाले भी पाये जाते हैं। यह क़द में चीते से कुछ छोटा होता है। मैंने कहा न कि यह बड़ा चालाक जानवर है और इसे बड़े दाव-पेंच आते हैं। यह हवा का रुख़ देख कर बैठता है यानी अन्दाज़ा लगा लेता है कि उधर से उसका शिकार आने वाला है।

और हवा के मुख्तलिफ़ रुख़ पर आड़ लेकर बैठ जाता है।

खैर साहब, गाँव से एक मील ही चले होंगे कि हम घने जंगल के बीच में पहुँच गये। दिन क़रीब-क़रीब छिप चला था। पर इतना उजाला ज़रूर था कि निशाना साध कर जानवर को गिराया जा सके। सरदी का मौसम था और हल्की-हल्की हवा चल रही थी। इतने में शिकारियों में से एक चौंका और बोला, भाया जी! वह देखिए, चीतल खड़े हैं। मैंने सोचा, चलो शिकार जल्दी हाथ लग गया, और एक तरफ़ से उन्हें भेज कर मैं नदी के किनारे-किनारे झाड़ियों की आड़ लेकर दूसरी तरफ़ से उन्हें घेरने के लिए चल पड़ा। पता नहीं कैसे, उन्हें कुछ आहट मिल गई और वे धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे। बस, मैंने भी एस० जी० दोनों नालियों में भर लिए और दबे पांवों उनका पीछा करने लगा। कोई दो फ़र्लांग मैं उनके पीछे गया हूँगा कि क्या देखता हूँ कि एकदम वे चौंक पड़े और चौकड़ी भरने लगे। मैंने सोचा कि यह शिकार तो हाथ से गया, अब नदी के किनारे चला जाये और अगर पानी पीने कोई और जानवर आये तो मार लिया जाये। मेरे साथी भी आँखों से ओझल हो गये थे। मैं इत्मीनान से नदी की तरफ़ बढ़ा। सामने एक पुराना बड़ा दरख्त था। मैं उससे करीब पन्द्रह गज़ के फ़ासले पर होऊँगा कि इत्तिफ़ाक से मेरी नज़र टहने पर गई। और क्या देखता हूँ कि एक तेंदुआ साहब उल्टा मेरा ही शिकार करने की घात लगाये बैठे हैं। और क्या देखता हूँ कि कान दबे हुए हैं और दोपहली आँखें मशाल की तरह दमक रही हैं। आँखें चार होने की देर थी। एक लहमे में पता नहीं कैसे बन्दूक कन्धे पर जा लगी और मैंने दनदना कर दोनों फ़ायर उसके ऊपर कर दिये। वह हड़बड़ा कर कूदा। पर मुझ पर नहीं गिरा, एक कांटेदार झाड़ी पर जा गिरा। उसमें गिर कर निकलना कुछ आसान काम नहीं था। फिर, फ़ायर क्योंकि पूरे ज़ोर से उसके सिर पर ही पड़े थे, एक दो मिनट में जनाब भाई उछल-कूद कर ठंडे हो गये। देखा आपने, शिकारी और मौत का कितना क़रीब का रिश्ता है? हां, तो यह मेरा पहला शिकार था, जिसे मैं कभी नहीं भूल सकता। इसके बाद मेरी शिकार खेलने की आदत में एक बड़ा फ़र्क़ यह नज़र आया कि मैंने छोटे-छोटे जानवरों का शिकार करना तो क़रीब-क़रीब बन्द कर दिया और बड़े जानवरों के शिकार में तवज्जो देने लगा।

जंगली सुअर के बारे में कहते हैं कि जंगल के पोखर यानी तालाब में जहाँ दो जंगली सुअर पानी पी रहे हों, वहाँ शेर की भी पानी पीने की हिम्मत नहीं होती और अगर दो शेर पानी पी रहे हों तो एक सुअर इत्मीनान से पानी पी कर लौट जाएगा। गन्ना, मूँगफली, शकरकन्दी और अलसी इसका मनभाता खाजा है। अगर आप गाँवों में जाएँ तो अक्सर गाँववालों से इसके खेती उजाड़ने के कारनामे सुनेंगे। सुअर डार में यानी अपनी सेना के साथ खेतों पर धावा बोलता है, और उसके धावे का वक्त वह है जब कि गाँवों के मवेशी दिन छिपे जंगल से वापस आते हैं। तब यह जंगल को सुनसान देखकर धीरे-धीरे चरने के लिए खेतों की तरफ़ बढ़ता है। जब इसकी डार में से कोई सुअर ज़्यादा बदमाश हो जाता है तो वह डार के साथ रहना पसन्द नहीं करता। वह खेतों में अकेला ही चरने के लिए जाता है। जंगली सुअर बहुत मोटा और तगड़ा जानवर है। मगर उसकी आँखें और टाँगें बहुत छोटी होती हैं। क्योंकि छोटी टाँगें एकदम मुड़ने पर भारी जिस्म का वज़न नहीं सँभाल सकतीं, इसलिए यह भागते वक्त मुड़ नहीं सकता। मगर इस दौरान में कोई भी चीज़ इसके सामने आ जाए वह इसका रास्ता नहीं रोक सकती। सुअर अपने आगे निकले हुए दाँतों से हर चीज़ को फाड़ता हुआ आगे बढ़ जाता है।

एक वक्त की बात है जब हल्का हल्का

जाड़ा पड़ रहा था और मैं अपने छोटे भाई के साथ अलमोदा गाँव में गया हुआ था। रातें चाँदनी थीं, और हम घोड़ों पर सवार रात के क़रीब आठ बजे इस गाँव में पहुँचे। आवभगत के बाद कुछ गाँव के बुज़ुर्ग चबूतरे पर मेरे साथ हुक्का पी रहे थे। मेरे शिकार के किस्से उन में से कुछ साहबान सुन भी चुके थे। उन में से एक ने जिक्र किया "भाया जी! इस गाँव के पास गन्ने के खेत में एक बहुत बड़ा जंगली सुअर खूब उधम मचाता है और आहट पा कर भाग खड़ा होता है। एक-आध बार शिकारियों ने बल्लम ले कर उसे मारने की कोशिशें भी की थीं, पर वह हाथ न आया; और एक बार तो शिकारियों के एक कुत्ते को जो सामने आ गया था अपने दाँतों से फाड़ता हुआ चला गया और एक बार इसने शिकारियों को भी चोट पहुँचाई"। मैं सफ़र की थकावट और लम्बी घुड़सवारी की वजह से थक गया था। इसलिए यह खयाल करके कि कल इसका कोई इलाज सोचेंगे सो गया, और थोड़ी सी देर में खुर्राटे भरने लगा।

रात के तीन बजे के करीब मेरे भाई राजेन्द्र ने मुझे अचानक झिंझोड़ कर जगाया और बोला कि सुना है वही सुअर जिसका ज़िक्र हो रहा था ईख के खेत में घुसा हुआ है और गन्ने तोड़ रहा है। मैं झटपट तैयार हुआ। बन्दूक और कारतूस की पेटी सँभाली और पास के घर में से शिकारी जवान को जगाया। वह फ़ौरन बल्लम ले कर साथ हो लिया। मैंने उसे खेत के ऊपर के रुख से जाने के लिए इशारा किया और मैं खुद दूसरी तरफ जंगल के रुख वाले कोने की तरफ बढ़ा। एक जगह कुछ टूटी हुई बाड़ नज़र आई। मैं इस खयाल से कि शायद वह इसी जगह से लौटेगा, उससे कुछ फ़ासले पर आड़ लेकर बैठ गया। हिदायत के मुताबिक शिकारी ने सुअर को मेरी तरफ से निकालने की ग़रज से कुछ आहट की। सुअर चुपचाप टूटी हुई बाड़ के पास आ पहुँचा और इधर उधर निगाह दौड़ाने के बाद आगे बढ़ा। कुछ कदम चलने के बाद वह भाग निकला। मैंने आव देखा न ताव निशाना मिलाया और एक बॉल शॉट यानी गोली उस पर दाग दी। गोली खाते ही सुअर ने कलाबाज़ी खाई और अब उसका मुँह मेरी तरफ था। तजुर्बे ने इस खतरे से मुझे आगाह किया ही हुआ था और मैं जानता था कि अगर मैंने मौके पर पैंतरा नहीं बदला तो मैं न बच सकूंगा। सुअर सीधा मेरी तरफ झपटा। जब वह मुझ से करीब दस गज के फासले पर था, मैंने भाग कर एक मेंड़ की आड़ ली और सुअर जब अपनी साइड देता हुआ सीधा निकल रहा था तो मैंने एल० जी० जो मेरी दूसरी नाल में था दाग दिया। मुझे पता नहीं, मेरा यह शाट उसको लगा या नहीं, क्योंकि वह सीधा भागता ही चला जा रहा था। इस अरसे में मेरे भाई ने गाँव के कुछ शिकारियों को जगा लिया था जो बल्लमों समेत इधर ही आ रहे थे। दूसरी आवाज़ सुन कर वे भाग पड़े और सबने सुअर का पीछा किया। आपको ताज्जुब होगा कि डेढ़ मील तक उसकी खोज सिर्फ पैरों की तो मिलती रही पर खून की एक बूंद भी नज़र न आई। इतने में पौ फटने लगी और उजाला हो चला। हम खोज लेते लेते पीछा कर ही रहे थे कि सामने खून के निशान भी नज़र आने लगे। उम्मीद बढ़ गई कि गोली लगी ज़रूर है। आध मील और चलने के बाद निशान साफ साफ दीखने लगे। मैं अचानक क्या देखता हूँ कि कोई सौ गज़ के फासले पर वही सुअर पड़ा हुआ रेंग रहा है। फिर भी उससे हमले का ख़तरा था, और गाँव वाले उसके पास जाते घबराते थे। मैं फ़ुरती से आगे बढ़ा और तीसरी गोली भी उसके जिस्म में रख दी।

—दिल्ली से प्रसारित

Printed at the Coronation Printing Works, Delhi and edited and published by Director, Publications Division, Ministry of Information & Broadcasting, Government of India, Old Secretariat, Delhi-8.

MAHATMA GANDHI

A FORTHCOMING PUBLICATION

A comprehensive album depicting the life and work of Mahatma Gandhi

From among the thousands of photographs that were lent to us by the Gandhi Smarak Sangraha and by some of the more intimate associates of Mahatma Gandhi, over 600 photographs have been carefully selected and laid out chronologically.

Tastefully printed on art paper and bound in rexine with a gold embossing, this volume is probably the first of its kind to be published in the country.

A brief survey of Gandhiji's life and his great contribution to humanity written by one of his eminent followers, [illegible] to the value of this album.

price Rs. 35/-



THE PUBLICATIONS DIVISION
OLD SECRETARIAT, DELHI-8

वर्ष १

अंक ४

प्रसारिका

जुलाई-सितम्बर, १९५४



आठ आने

पब्लिकेशन्स डिवीज़न, दिल्ली।

प्रसारिका

जुलाई-सितम्बर, १९५४

विषय-सूची

परिचय

विश्वम्भरनाथ पाण्डे—पत्रकार, सम्पादक, नया हिन्द
वृन्दावनलाल वर्मा—ऐतिहासिक उपन्यासकार
श्रीराम शर्मा—सम्पादक, विशाल भारत, शिकार साहित्य में अग्रगण्य
वाचस्पति पाठक—आलोचक और साहित्यकार
धीरेन्द्र वर्मा—भाषाविज्ञान वेत्ता, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्व विद्यालय
स० ही० वात्स्यायन—'अज्ञेय', कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, साहित्य-विचारक
चन्द्रकिरण सौनरिक्सा—हिन्दी कहानी लेखक
सागर निज़ामी—उर्दू के शायर
प्राणनाथ निकोर—इंजीनियर, पंचचूली शिखर अभियान के सफल नेता
सतीशचन्द्र काला—क्यूरेटर, इलाहाबाद म्यूज़ियम
नर्मदेश्वर उपाध्याय—नवोदित कवि
रघुवीर (डा०)—भाषाविज्ञान शास्त्री, भारतीय संस्कृति संबन्धी अन्तर्राष्ट्रीय अकादमी के अध्यक्ष
श्रीपतराय—मुन्शी प्रेम चन्द के सुपुत्र, कहानीकार और उपन्यासकार
हरिचन्द अख़्तर—हास्य-व्यंग्य साहित्यकार, उर्दू-शायर
सैयद महमूद (डा०)—बिहार के भू० पू० मंत्री
विनयेन्दु भट्टाचार्य—मछली शिकार प्रवीण, भारत सरकार के उद्योग-व्यापार मंत्रालय में उप-सचिव
विजयदेव नारायण साही—प्रयोगवादी कवि, कहानीकार
शिवदानसिंह चौहान—प्रगतिशील आलोचक और लेखक
भागीरथ मिश्र (डा०)—लखनऊ यूनिवर्सिटी में हिन्दी के प्रोफ़ेसर

अन्य परिचय पिछले अंकों में देखिए

—०—

प्रसारिका (रेडियो संग्रह) में आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से प्रसारित स्थायी महत्त्व की सामग्री यथोचित सम्पादन के साथ प्रकाशित की जाती है। इस पत्रिका में व्यक्त किये गये विचारों की ज़िम्मेदारी प्रकाशकों पर नहीं है।

प्रसारिका में प्रकाशित सामग्री चाहे जहाँ उद्धृत की जा सकती है, परन्तु प्रसारिका का हवाला देना आवश्यक है।

प्रसारिका के वार्षिक चन्दे और विज्ञापन-दर के बारे में निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करें:—

डिस्ट्रिब्यूशन ऑफ़िसर, पब्लिकेशन्स डिवीज़न, मिनिस्ट्री ऑफ़ इन्फ़र्मेशन एण्ड ब्रॉडकास्टिंग, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली-८

विनोबा

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

सन् १९४३ की बात है, हम लोग केन्द्रीय कारागार बरेली में थे। साथ में बहुत से गुरुजनों और मित्रों का आवास था। श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास जी टंडन, श्री रफीअहमद किदवई, स्वर्गीय भाई रणजीत सीताराम पंडित, सम्पूर्णानन्द जी, श्री गंगाधर गणेश जोग, डा० मुरारीलाल, डा० जवाहरलाल आदि बन्धु बान्धव वहाँ एक ही बैरक में थे। टंडन जी महाराज तो सन्त वाणी के निष्ठामय पाठक हैं। उन के पास स्वर्गीय डा० बड़थ्वाल द्वारा सम्पादित 'गोरख-वाणी' नामक पुस्तक थी। उसे मैंने वहाँ ध्यान-पूर्वक पढ़ा।

एक स्थान पर योगीश्वर सन्त गोरखनाथ ने अपने शिष्यों को सच्चे गुरु के कुछ लक्षणों के सम्बन्ध में कुछ बातें बताई हैं। उन्होंने कहा है—

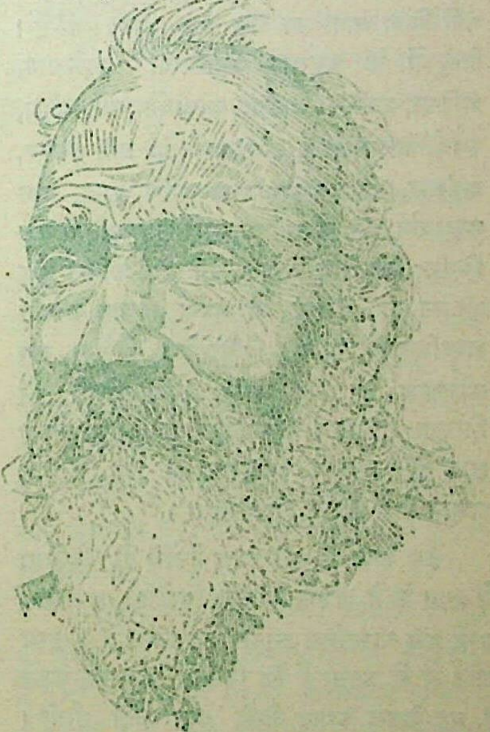
मोटे मोटे कूल्हे लम्बे लम्बे पेट,
नहीं रे पूतां गुरु से भेंट।
खड़ खड़ काया निर्मल नेत,
भई रे पूतां गुरु सों भेंट॥

अर्थात् हे पुत्रो! जिस साधु के मोटे-मोटे कूल्हे हों, और लम्बा-लम्बा पेट हों, तो समझ लो कि गुरु से भेंट नहीं हुई......समझ लो कि वह गुरु करने के योग्य नहीं। पर जिसकी काया खड़-खड़ हो, सुती हुई लोचदार दुबली-पतली हो, और जिसके नेत्र निर्मल हों, तो समझ लो, हे पुत्रो, कि गुरु से भेंट हो गई।

उस दिन कुछ क्षणों को राजघाट पर सन्त विनोबा के निकट बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। विनोबा के एक पुराने साथी विनोबा से विचार विमर्श करने आये थे। उन्होंने विनोबा को देख कर कहा—विनोबा आप दुर्बल हो गये हैं। विनोबा ने नितान्त निःसंग भाव से अत्यन्त सहज रूप में कहा—कृशता तपस्विनः। तपस्वियों के लिए तो कृशता है ही।

जब विनोबा के श्रीमुख से कृशता तपस्विनः ये आर्ष वचन सुने तो अपने आप ही गोरख बाबा की वाणी ध्यान में आ गई, खड़-खड़ काया निर्मल नेत, भई रे पूतां गुरु सों भेंट। प्रायः आठ-नौ वर्ष पूर्व पढ़ी हुई ये पंक्तियाँ किसी अर्द्धचेतन मनस्तर से उठ कर चेतन स्तर पर उभर आईं। विनोबा सम्मुख विराज-मान थे। उनकी खड़ खड़ काया और उनके मैत्र-करुण रस स्निग्ध निर्मल नेत्र देखकर मैंने अपने आप से कहा—भई रे पूतां गुरु सों भेंट।

विनोबा का सन्देश सनातन अभिनव सन्देश है, उनकी वाणी में वही सरलता है जो आप को परमहंस रामकृष्ण और गांधी के वचनामृत



टंडन जी

में मिलेगी। वही सरलता, वही गहनता, वही पैठ, वही अनुभूति। भाषा भी तो दो प्रकार की होती है न। कबीर एक स्थान पर कहते हैं, "तू कहता है कागद लेखी, मैं कहता हूँ आँखिन देखी"। सो सन्त विनोबा आंखिन देखी कहते हैं, वे कागद लेखी नहीं कहते। उनका पुस्तक पांडित्य निःसन्देह अगाध है। पर वे जो कुछ कहते हैं, वह अनुभूत तत्त्व होता है, केवल पोथी ज्ञान नहीं।

आर्य-हिन्दू विचारकों के अनुसार ज्ञान वास्तविकता को, याथातथ्य को, सत्य तत्त्व को बुद्धि ग्राह्य करने का ही क्रियाकलाप नहीं है... ज्ञान है उस बुद्धिगम किये हुए तत्त्व को हृदयंगम एवं आत्मसात् कर लेना। अतः वेदतीर्थ, सांख्यतीर्थ, न्यायाचार्य, साहित्यविशारद, एम० ए० डी० लिट० आदि हो जाने की संज्ञा हिन्दू विचारकों के अनुसार ज्ञान नहीं है। बुद्धिगम सत्य तत्त्वं जब तक जीवन में व्यवहृत नहीं किया जाता तब तक वह ज्ञान नहीं है। हिन्दुओं के अनुसार अनामित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, शान्ति, आर्जव, आचार्योपासन, शौच, स्थैर्य, आत्म-निग्रह, इन्द्रियार्थों के प्रति वैराग्य, अहंकार, जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, दुःख, दोष अनुदर्शन, अनासक्ति, पुत्र, दारा, गृह आदि में अनभिषंग, नित्य समचित्तत्व, चाहे इष्ट अनिष्ट कुछ भी आ पड़े, अनन्य योगपूर्वक भगवान के प्रति अव्यभिचारी भक्ति, विविक्तदेश सेवित्व, जन कोलाहल के प्रति अरति, अध्यात्मज्ञान की नित्यता, तत्त्वज्ञान, अर्थ दर्शन ये बीस लक्षण ज्ञान के हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह अज्ञान है। अज्ञानं यदतोन्यथा।

इस दृष्टि से यदि आप देखेंगे तो विनोबा में ज्ञान के ये लक्षण आपको मिलेंगे। इस लिये उन्हें हम वास्तविक ज्ञानी कह सकते हैं। इसी दृष्टि से मैं कहता हूँ कि विनोबा जो कुछ कहते हैं, वह केवल कागद लेखी बात नहीं होती। वह आंखिन देखी होती है। इसीलिए उनके वचनों में सामर्थ्य है....अद्भुत सामर्थ्य है। उनके वाक्यों में जो ऋजुता है, उनके शब्दों में जो शक्ति है, उनके विचारों में जो निःशंकता है, उनकी कंठ ध्वनि में जो प्राण मन्थनकारी प्रभाव है...., वह केवल इसीलिए कि वे शुद्ध अर्थों में ज्ञानी हैं।

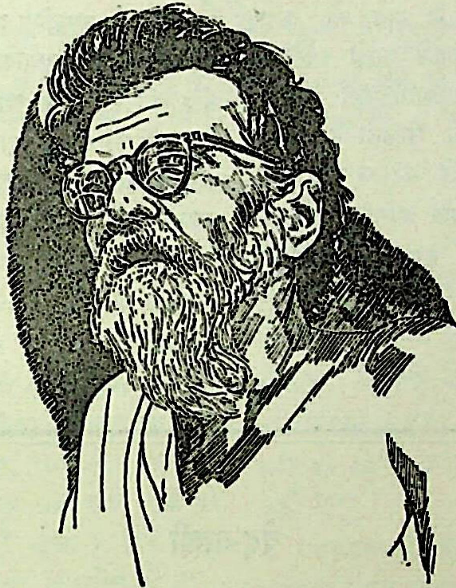
लोग चाहे न मानें, विनोबा भारतीय जीवन के प्रत्येक अंग का स्पर्श कर रहे हैं। वे वास्तव में इस या उस धर्म के उपदेष्टा नहीं हैं। वे तो मानव धर्म के उपदेष्टा हैं। हाँ, उनके तात्त्विक सिद्धान्त भारतीय-हिन्दू विचारों की भित्ति पर आधारित हैं। पर इसका कारण यह नहीं है कि उनके मन में हिन्दू विचार प्रणाली के प्रति कोई अविचारपूर्ण आग्रह है। इसका कारण विनोबा के क्रान्तिमय विचारों की पृष्ठभूमि वेदान्त दर्शन है।

वेदान्त को मानव धर्म की आधारशिला के रूप में संसार के सम्मुख रखने का जो प्रयत्न वर्त्तमान युग में केशवचन्द्र सेन, विवेकानन्द, रामतीर्थ, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, भगवानदास, राधाकृष्णन प्रभृति सन्तों और विद्वज्जनों ने प्रारम्भ किया, उसे एक डग और आगे ले जाने का काम विनोबा कर रहे हैं। भारत के अगणित ग्रामों के अगणित जनों के हृदय में राम नाम ध्वनि की पीयूष वर्षा अमल, सजलघनश्यामवपु विनोबा कर रहे हैं। और वे इस अमृत वारि-वर्षण के साथ ही जनगणों के जीवन क्षेत्र में वेदान्त विचारों के बीज भी बोते चले जा रहे हैं। पर ज्ञानी विनोबा जानते हैं कि भूखे भजन न होहि गुपाला। वे अन्नं वै प्राणाः के उपनिषद वाक्य की महिमा समझते हैं, इसलिए जनता को नव-नव सनातन विचारों का दान देते समय विनोबा जननारायण के निमित्त भूदान भी ले रहे हैं। भारतवर्ष के आकाश में वेदान्त केसरी का गर्जन सदा गूँजता रहा है। इस बार विनोबा के गम्भीर करुण कण्ठ से वेदान्त माता की वत्सल लोरियाँ विनिःसृत हो रही हैं।

हम भारतवासियों को एक बड़ा भारी अभिशाप है। वह यह कि हमारा धर्म भाव औपचारिक बनकर रह गया है। शंख, घंटा, घड़ियाल

बजाना, स्तोत्र पाठ करना, चन्दन, अक्षत फूल आदि मूर्ति पर चढ़ाना, आरती करना, व्रत, उपवास रख लेना, गंगा स्नान कर आना, बस धर्म-कर्म हो गया। हमारे धर्म के जो मूलभूत तत्त्व हैं, उनके ऊपर न हम मनन करते हैं, और न उन्हें अपने जीवन में उतारने का प्रयास करते हैं। ऐसी अवस्था में यह क्यों न कहा जाय कि हमारी धर्म भावना छिछली है? उसमें गहराई नहीं है। हमारे ऋषियों ने हमें क्या दिया है, इसका भान ही हमें नहीं है। हिन्दू समाज में पाठ करने की यांत्रिक प्रथा ने भी हमारी बड़ी हानि की है। पाठ करना, यानी गीता-रामायण आदि को दोहराते जाना बस। यंत्रवत् जीभ चल रही है, पर "चित्त चन्देल, मन मालवे, हिय हाड़ौती जाय" मन चित्त हृदय सब भटक रहे हैं। इस तरह कैसे काम चलेगा? शब्दों का क्या अर्थ है, इसका विचार ही नहीं।

ऋषि विनोबा ने हमारी यह दुर्बलता देखी है। ऋषि का अर्थ ही है देखने वाला। निरीक्षण करने वाला। इसीलिए वे हमारे बीच वेदान्त निर्दिष्ट रहनी रह रहे हैं। और बार-बार वे यह कहते नहीं अघाते कि नर नारायण स्वरूप हैं, सारी दुनिया में परमेश्वर भरा है, उस परमेश्वर की सेवा हमारे हाथों होनी चाहिए। परमेश्वर की पूजा, यानी दीन दुखी जनों की सेवा। यही तो उपनिषद् धर्म है। ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किंचित् जगत्यां जगत्। नारायण की सेवा तुलसी, बेलपत्र या फूल से नहीं होगी। दुखग्रस्तों को सन्तोष पहुँचाने से ही भगवान को सन्तोष पहुँचेगा।



सन्त विनोबा

ऐसा लगता है कि गांधी ने जो काम अधूरा छोड़ा था, उसे विनोबा ने उठा लिया है।

यह हमारे देश का सौभाग्य, यह हमारा अहोभाग्य है कि हमारे बीच आजकल सन्त विनोबा विचरण कर रहे हैं। विनोबा का यह विरथ भ्रमण, उनका यह पाँव-पाँव परिव्रजन, हमारे देश की अतीत परिव्राजक परिपाटी का पुनरुद्धार है। और इतना ही नहीं कि यह उस परम्परा का पुनरुद्धार मात्र ही हो, उनका यह दैननदिन मार्गक्रमण उस पुरातन "चरैवेति, चरैवेति" चलते जाओ, चलते जाओ के आदर्श का अभिनव विकास भी है। पुरातन काल में इन्द्र ने रोहिताश्व को उपदेश दिया था। इन्द्र ने कहा था सोते रहना कलियुग है, कुनमुना कर अंगड़ाई लेना, जग जाना द्वापर है, उठ कर खड़े हो जाना त्रेता है और सतयुग है मार्ग पर चल पड़ना।

एकनिष्ठ बालब्रह्मचारी, तपोधन, सन्त शिरोमणि विनोबा हमारे देश में सतयुग की स्थापना के अर्थ नित्य प्रति चल रहे हैं, चल रहे हैं। और सच मानिए, इस प्रकार वे हमारे हृदय के प्रमाद, आलस्य, निद्रा-युक्त कलियुग को, निरुद्देश्य जागरणमय द्वापर को, गतिशून्य, प्रगतिविहीन उत्थापनमय त्रेता को, इन सब को सत्-संचरणशील कृत युग में परिवर्तन कर रहे हैं।

वे हिमालय की खोह अथवा परधाम पवनार की कुटिया में बैठकर आत्मचिन्तन के अधिकारी हैं। गीता का अकर्म उनका जन्मसिद्ध अधिकार बन चुका है। पर वे ऐसा नहीं करते। वे आज हमारे देश के गाँव-गाँव की धूल छान रहे हैं।

क्यों ? हीरा खो गया है, और वे धूल को छान कर उस हीरे को हमें फिर से दे जाना चाहते हैं। जब तक हमें अपने आत्माराम का हीरक कण पुनः प्राप्त न हो जायगा, तब तक विनोबा अपने निज के आत्माराम की प्राप्ति का मोह अपने निकट नहीं आने देंगे।

मैं वह सवेरा नहीं भूलूँगा। वह जीवन पुण्य विहान था। उस प्रातःकाल को पाँच बजे कर्मयोगी विनोबा उत्तर प्रदेश की सीमा पार करके दिल्ली की सीमा में प्रविष्ट होने वाले थे। मेरी पत्नी ने रात को कहा कि प्रातः विनोबा के दर्शन करने चलेंगे। शीतकाल था। शाहदरा के आगे जहाँ दिल्ली और उत्तर प्रदेश की सीमा मिलती है, पहुँच गए, देखा कि वहाँ दिल्ली कांग्रेस कमेटी के कार्यकर्ता तो थे ही, पर उनके अतिरिक्त सैकड़ों की संख्या में आस-पास के देहातों के किसान भाई भी विद्यमान थे। अंधेरी रात, कड़ाके की सर्दी। पर लालटेन जलाए सन्त के स्वागत को वे खड़े थे जो कवि रवीन्द्र के शब्दों में भगवान की पाद पीठ, चरण चौकी हैं। रवि ठाकुर ने कहा है न कि हे प्रभु तेरी पाद पीठ वहाँ है, जहाँ दीनातिदीन नीचातिनीच और हताश जन निवास करते हैं। और पाँच बज कर दो तीन मिनिट हुए होंगे कि दूर से एक भीड़ लालटेनों को लिए तीव्र गति से चली आ रही है। राम नाम स्मरण की ध्वनि उस ब्रह्म-मुहूर्तकालीन स्तब्धता को मुखरित कर रही है। भीड़ के आगे की पंक्ति में एक कृशकाय तेजस्वी सौम्य महात्मा तीर के सदृश चले आ रहे हैं, और उनके पीछे किसानों का समूह दौड़ता सा आ रहा है। ये आये विनोबा मानो यह छाया एक तूफान जिसकी सम्भावनाएँ भविष्य के गर्भ में निहित हैं।

—दिल्ली से प्रसारित

वेद-वाणी

संगच्छध्वं संवदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे, संजानाना उपासते ॥ ऋग्वेद ॥

परस्पर मिलकर रहो। परस्पर संवाद किया करो। तुम्हारे मन परस्पर मिले हुए रहें। यही तुम्हारे अनुसरण करने योग्य मार्ग है। परस्पर सहयोग करते हुए अपना अपना कर्त्तव्य 'पालन करने के इसी ऊंचे आदर्श को, और कोई तो क्या, स्वयं देवता लोग भी अनादिकाल से अपना लक्ष्य बनाये हुए हैं।

(विश्वबंधु शास्त्री, जालंधर)

धन और श्रम

विश्वम्भरनाथ पांडे

उपनिषद् की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कथा है।

स्वर्ग और नरक का निर्माण करने के बाद निर्माता ने धर्म और यम को उन प्रकाशवान और अन्धकारमय पुरियों का अधिपति नियुक्त किया। यह उस समय की बात है जब काल मन्वन्तरों के बन्धनों में नहीं बंधा था। जब कि एक ओर धर्म के राज्य में नित नूतन अतिथियों का आगमन, उल्लास, चहल-पहल और रौनक थी, दूसरी ओर यम के प्रहरियों को अतिथियों की प्रतीक्षा में जम्हाइयाँ लेते-लेते बहुकाल बीत गया और यमपुरी के फाटक पर एक भी अतिथि की दस्तक नहीं सुनाई दी। जब वीराने की निस्तब्धता सहनशीलता की सीमा लाँघ गयी तो यमराज अपना इस्तीफ़ा लेकर भगवान की सेवा में उपस्थित हुए और कहा, "भगवन्! यमपुरी सुनसान पड़ी हुई है। अब तक वहाँ एक भी आत्मा का पदार्पण नहीं हुआ। मुझे उस उजड़े ग्राम के अधिकार-भार से मुक्ति दें।"

कर्तव्य-कठोर भगवान ने धीर गम्भीर भाव से यम की याचना सुनकर कहा, "इसमें खेद की क्या बात है? तुम्हें तो प्रसन्न होना चाहिए कि मर्त्यलोक के निवासी कितना धर्ममय जीवन बिता रहे हैं।"

भगवान के इस तर्क से यमराज बहुत दुखी हुए। उनके दुख को देखकर सरल हृदय लक्ष्मी को बड़ी दया आई। बोलीं, "भगवन्! एक बार मर्त्यलोक चलकर देखा जाय कि मानव के धर्ममय आचरण का मूल स्रोत क्या है? संभव है, वहाँ कुछ ऐसे व्यक्ति मिल जायें जिनसे यमराज के दुख का निवारण हो सके।"

भगवान् लक्ष्मी के साथ मर्त्यलोक की ओर रवाना हुये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि आदि पुरुष की प्रथम सन्तानों की समाज-व्यवस्था, कठोर श्रम की आधार-शिला पर संचालित हो रही है। जीवन-निर्वाह के लिये स्त्री और पुरुष सभी शरीर-श्रम में प्रवृत्त दिखाई दिये। पसीने की बूँदें, आबदार मोतियों की तरह नर-नारियों के कपोलों पर उभरी हुई बड़ी सुन्दर प्रतीत हुईं।

श्रम की इतनी भव्य प्रतिष्ठा देखकर भगवान् लक्ष्मी से बोले, "मानव के स्वर्गाधिकारी होने का यही मूल रहस्य है। जिन मोतियों के विमानों पर बैठकर ये स्वर्ग जाते हैं, जानती हो वे इनके श्वेतकणों से बनते है।"

लक्ष्मी ने कहा, "नाथ, यदि आप की अनुमति हो तो मैं प्रकट होकर इनसे कुछ बातें करूँ?"

भगवान की सहमति से लक्ष्मी उन मानव पुत्रों के समक्ष प्रकट हुईं। लक्ष्मी को देखकर मानव पुत्रों में दो प्रकार की भावनायें आईं। कुछ तो उनको देखकर भी अपनी श्रम-साधना में तल्लीन रहे और कुछ उनकी अलौकिक रूप राशि को देखकर इतने विमोहित हुए कि आग्रह करने लगे कि लक्ष्मी उनके घर में जाकर निवास करें। वे लक्ष्मीभक्त भगवान की पतिव्रता पत्नी को अपने वश में करने की योजना बनाने लगे। श्रम साधना को छोड़कर वे लक्ष्मी की साधना में लग गये।

भगवान लक्ष्मी की इस सारी माया को कौतूहल से देख रहे थे। उन्होंने यम से कहा, "वत्स! इन समस्त लक्ष्मीभक्तों

और लक्ष्मी पुत्रों के नाम अपनी सूची में लिख लो।" थोड़े समय के पश्चात् यमपुरी लक्ष्मी भक्तों से आबाद हो गयी और फिर उसके बाद लक्ष्मी पुत्रों के आगमन का जो सिलसिला चला, वह अब तक अटूट बना हुआ है। 'छान्दोग्य उपनिषद्' के अनुसार श्रम मुक्ति द्वार है और धन गमनागमन में फँसानेवाला चक्र व्यूह।

बाइबिल में एक जगह आया है कि "यह सम्भव है कि कोई ऊँट सुई के नाके में से निकल जाय, लेकिन यह सम्भव नहीं है कि कोई धनी व्यक्ति स्वर्ग के प्रवेश-द्वार से भीतर जा सके।"

इस्लाम की एक हदीस में श्रम और धन की विवेचना करते हुए कहा गया है कि जब एक धनी आकबत के दिन अल्लाह के रूबरू खड़ा होता है तो अल्लाह उससे पूछता है, "ऐ आदमी के बेटे। मैं भूखा था और तूने मुझे खाना नहीं दिया।" आदमी हैरान होकर कहता है, "ऐ मेरे अल्लाह! कब तू भूखा था? कब तूने मुझ से खाना माँगा और कब मैंने तुझे खाना नहीं दिया?" अल्लाह जवाब देगा, "ऐ आदमी के बेटे! पसीने से लथपथ एक भूखे मज़दूर के रूप में मैं तेरे पास गया लेकिन तूने मेरे श्रम का मुनासिब मुजरा नहीं दिया और मैं भूखा रह गया।" फिर अल्लाह कहेगा, "ऐ आदमी के बेटे! मैं प्यासा था और तूने मुझे पानी नहीं दिया?" और आदमी हैरान होकर पूछेगा, "ऐ मेरे अल्लाह! कब तू प्यासा था, कब तूने मुझसे पानी मांगा और कब मैंने तुझे पानी नहीं दिया?" और अल्लाह जवाब देगा, "ऐ आदमी के बेटे! मेहनतकश मज़दूर की शक्ल में कड़ी धूप में पत्थर तोड़ने के बाद मैं प्यासा तेरे दरवाजे पर गया, मैंने तुझसे पानी मांगा पर तूने मुझे पानी नहीं दिया।"

भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में लिखा है कि यज्ञ किये बिना खानेवाला चोरी का अन्न खाता है। यहाँ यज्ञ का अर्थ कायिक श्रम ही शोभा देता है। मज़दूरी न करनेवाले को खाने का क्या अधिकार हो सकता है?

बाइबिल कहती है कि "अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना।"

गांधी जी ने कायिक श्रम के संबन्ध में कहा है—यदि सब अपनी रोटी के लिये खुद मेहनत करें तो ऊँच-नीच का भेद दूर हो जाय और फिर जो धनी वर्ग रह जायगा, वह अपने को मालिक न मानकर उस धन का केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा, और उसका उपयोग मुख्यतः केवल लोक-सेवा के लिये करेगा। जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है, उसके लिये तो कायिक श्रम रामबाण रूप हो जाता है। यह श्रम वास्तव में देखा जाय तो खेती ही है। पर आज की जो स्थिति है, उसमें सब उसे नहीं कर सकते। इसलिये खेती का आदर्श ध्यान में रखकर, आदमी एवज़ में दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगीरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है। सबको अपना-अपना भंगी तो होना ही चाहिए।"

धन के साथ धन के संग्रह की भावना ही श्रम और धन के बीच संघर्ष की भावना पैदा करती है। यही भावना सामाजिक विषमता को जन्म देती है। यही विषमता बढ़कर वर्ग विग्रह का रूप लेती है। भारत की नीतिमत्ता ने इसका हल निकाला "अपरिग्रह"। धन संग्रह का अर्थ है "परिग्रह"। परमात्मा परिग्रह नहीं करता, वह अपनी आवश्यक वस्तु रोज़ की रोज़ पैदा करता है। रोज़ के काम भर के लिए रोज़ पैदा करने के ईश्वरीय नियम को हम नहीं पालते। अतः जगत् में विषमता और उससे होने वाले दुख भोगते हैं। धनी के घर में अनावश्यक चीज़ें भरी रहती हैं, मारी-मारी फिरती हैं, खराब होती हैं, दूसरी ओर उनके अभाव में करोड़ों मनुष्य भटकते फिरते हैं, भूखों मरते हैं, ठंड से ठिठुरते हैं। गुरु नानक कहते हैं—"जिस तरह रुके हुए जल में कीड़े पड़ जाते हैं और वह विषैला हो जाता है, उसी तरह एकत्रित धन

समाज को विषैला बना देता है।" एक बार गुरु नानक के किसी धनी भक्त ने गुरु को भोजन के लिये निमंत्रण दिया। कहा जाता है कि गुरु ने रोटी का ग्रास तोड़ा, उसे नाक के पास लेजाकर सूँघा और फिर रख दिया। गृहस्वामी ने हाथ जोड़ कर कहा, "गुरु जी, बहुत साफ़ गेहूँ को मेरी धर्मपत्नी ने अपने हाथ से पीसा और ताजे पिसे हुए आटे को स्वयं रोटी बनाई है। "नानक ने जवाब दिया कि इसमें से रक्त की गंध आ रही है। भक्त गृहस्थ चकित रह गया। नानक ने एक कपड़े में सब टूटी हुई रोटियों को डाल कर कपड़े को दबाया तो उसमें से रक्त की लाल लाल बूँदें चूने लगीं। नानक ने भक्त को उपदेश दिया, "तेरी यह रोटी शोषण किये हुए धन की है। गरीबों का रक्त इसमें से चू रहा है। बगैर श्रम के जो अन्न खाता है वह शोषित मानवों का रक्त खाता है।"

ऋषि टाल्स्टाय के अनुसार 'प्रत्येक मनुष्य को आजीविका पाने का अधिकार हैं, मगर धनसंग्रह का अधिकार किसी को नहीं है। सच कहें तो धनसंग्रह चोरी है। जो आजीविका से अधिक धन लेता है, वह जान में हो या अनजान में, दूसरों की आजीविका छीनता है।'

गांधी जी जैसे रामभक्त भी श्रम और धन के विग्रह से व्यथित होकर कहते हैं, "जिन्हें दोनों जून भूखे रहना पड़ता है उनसे मैं ईश्वर की चर्चा कैसे करूँ? उनके सामने तो परमात्मा केवल दाल-रोटी के रूप में ही प्रकट हो सकते हैं। समाज में आर्थिक समानता होनी चाहिए। किसी स्वस्थ समाज के अन्दर चन्द आदमियों में धन का केन्द्रित हो जाना और लाखों का बेकार होना एक भयंकर सामाजिक रोग है, जिसका तुरन्त इलाज होना चाहिए। आज श्रमजीवियों को अपने श्रम की प्रतिष्ठा पहचाननी चाहिए। श्रम की प्रतिष्ठा पहचानते ही धन अपने उचित स्थान पर आ जायेगा। धन से श्रम का मूल्य निश्चय ही अधिक है।"

शुरू-शुरू में आदमी जब इस धरती पर आया तो न तो वह किसी का मालिक था और न किसी का गुलाम। उसकी ज़िन्दगी उसके अपने श्रम पर टिकी हुई थी। उस समय सभी मजूर थे, कोई हुज़ूर नहीं था। एक दिन ऐसा आया कि मजूरों ने अपनी ही गलती से एक हुज़ूर को पैदा कर दिया। इस हुज़ूर का नाम पड़ा सरदार या राजा। सरदार या राजा ने धीरे-धीरे श्रम कार्य छोड़ दिया। वह दूसरों के श्रम पर फलने-फूलने लगा। धीरे-धीरे इन हुज़ूरों की संख्या बढ़ती गयी। राजाओं के लिये प्रबन्धकों का दल बढ़ा। चपरासी आये, दरबारी आये, अफ़सर और जज आये, और यह दल ऐसा था जो खाता-पीता तो था, किन्तु शरीर श्रम नहीं करता था। फिर विज्ञान ने भाप और बिजली पैदा की। बड़े पैमाने पर उत्पादन शुरू हुआ। इस उत्पादन के वितरण के लिये एक नया हुज़ूर दल पैदा हुआ। फिर धीरे-धीरे राजसत्ता भी इन्हीं व्यापारी हुज़ूरों के हाथ में आ गयी। और इन्होंने राज्य प्रबन्ध चलाने के लिये एक शिक्षित हुज़ूरवर्ग को पैदा किया। जैसे-जैसे हुज़ूरों की संख्या बढ़ती गयी, मजूर के ऊपर उत्पादन का भार भी बढ़ता गया। यहाँ तक वह भार बढ़ा कि असहनीय हो गया। मजूरों की इस पीड़ा के निवारण के लिये मजूरों से कहा गया कि हुज़ूरों का गला काटने से ही उद्धार होगा। लेकिन गांधी जी ने कहा, नहीं, समवाय नीति से काम लो। हुज़ूरों का गला काटने की ज़रूरत नहीं। हुज़ूरों को जीने दो, किन्तु हुज़ूर की हैसियत से नहीं मजूर की हैसियत से। और जहाँ लोगों ने हुज़ूरों के गले काट डाले वहाँ हम देखते हैं कि मजूरों के नाम पर हुज़ूरों का एक नया दल शासन करने लगा। केवल पुराने हुज़ूरों के बदले नये हुज़ूर आ गये। वितरक, प्रबन्धक और सैनिक बिना शरीर श्रम किये हुज़ूर बन बैठे। अन्तर इतना है कि उत्पादन, वितरण एवं प्रबन्ध की देखभाल वहाँ पूँजीपति नहीं

दलपति करता है। इस तरह हम देखते हैं गला काटने से हुज़ूरों का नाश नहीं हुआ। केवल रूप बदल गया।।

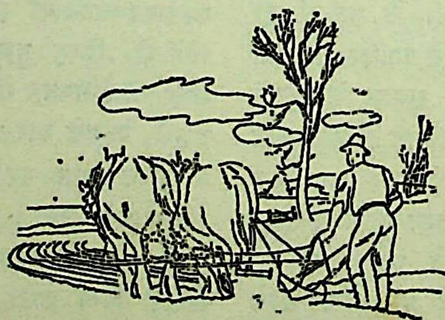
इसके विपरीत सर्वोदय व्यवस्था के अन्दर प्रत्येक गाँव, यों कहिये कि मानव समाज की छोटी से छोटी इकाई आत्म-निर्भर होगी, स्वयं पूर्ण होगी। उत्पादन, वितरण, प्रबन्ध आदि के द्वारा जो जीवन-रस हुज़ूर-वर्ग को मिलता रहा है, वह आप से आप बन्द हो जायगा।

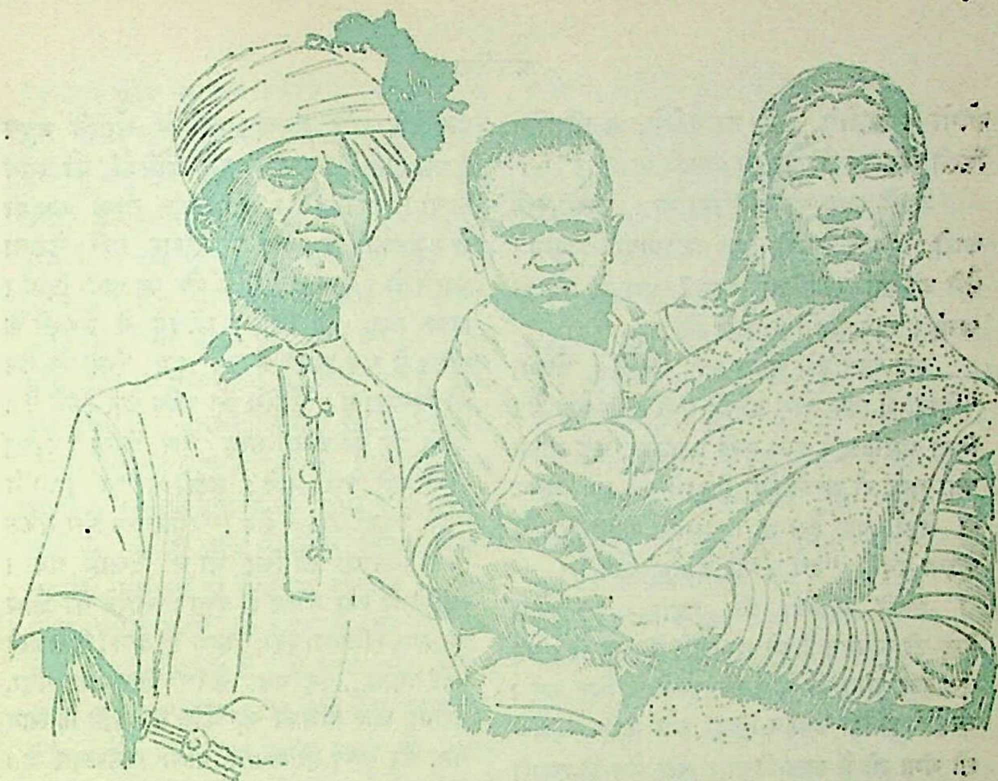
श्रम और धन की समवाय नीति का उल्लेख करते हुए गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने कहा था—"बाज़ मनुष्य ही मनुष्य का प्रबल शत्रु है और उसका एक मात्र हेतु धन का लोभ है। धन लोभ के समान निष्ठुर और अन्यायपरायण प्रवृत्ति और नहीं। धन बिना हमारा काम नहीं चलता। संसार-यात्रा के लिए वह अपरिहार्य है। ठीक अग्नि के समान होता है यह धन। चूल्हा और दीपक दोनों जगह आग का नित्य प्रयोजन होता है। किन्तु छप्पर के ऊपर चढ़ते ही वही आग सर्वनाशी हो जाती है। आग को मनुष्य ने चूल्हे और दीपक के अन्दर संयत करके जीवन के लिये उसे निरापद कर दिया है। लेकिन धन के लोभ को तो हम इस प्रकार आज भी संयत नहीं कर पाये हैं। पाश्चात्य देशों में आज जो धनी हैं उनका और श्रमिकों का विरोध निरन्तर बढ़ता जा रहा है। आज योरप की व्यवस्था में देखा जाता है कि असंख्य दासों को लगाम के द्वारा बाँध कर चाबुक की ताड़ना से चलाया जाता है। सभी हतभागों को एक ही आँगन में एकत्रित करके उनके रक्त-शोषण का नारकीय धन्धा चला है। इसी आँगन का नाम है फैक्टरी। इन कंकाली मानवों का क्रन्दन जब धनिकों ने नहीं सुना तब मरणोन्मुख श्रमिकों ने कहा, 'ना। इस सब दुहाई से कुछ होगा नहीं। आओ हम सब एक जगह एकत्रित हों। हमारा शोषण करके ही तो ये लोग धनी हैं। हम अपने को अधिक शोषित नहीं होने देंगे। आओ हम सब सम्मिलित भाव से धन की सृष्टि करें और सम्मिलित भाव से ही उसका उपयोग करें। किसी भी प्रकार के लोभ अथवा संचय प्रवृत्ति को हम प्रश्रय न देंगे।' इसी का नाम समवाय नीति है।

श्रम और धन के संघर्ष ने आज संसार में एक विषम परिस्थिति पैदा कर दी है। वह संघर्ष आज अन्तर्राष्ट्रीय विग्रह के रूप में प्रकट हो रहा है।

किन्तु श्रम और धन का पारस्परिक सम्बन्ध मरण युद्ध से निश्चित न होगा। वह निश्चित होगा। दोनों के समन्वय से, दोनों के समवाय से, दोनों के सामंजस्य से।

—इलाहाबाद से प्रसारित





हमारे आदिवासी

वृन्दावनलाल वर्मा

तुलसीदास जी ने रामायण में बतलाया है कि रामचन्द्र जी ने शवरी के जूठे फल खाए थे। भक्त पर भगवान प्रसन्न होते हैं, कारण यह था। आज भी शवर अपनी ईमानदारी के लिए विख्यात हैं। बुन्देलखण्ड में ये बहुतायतसे पाए जाते हैं। सागर, दमोह, जबलपुर मध्यप्रदेश में होते हुए भी बुन्देलखण्ड में गिने जाते हैं। इन जिलों में शवर प्रचुर संख्या में हैं। इनको बुन्देलखण्ड में सौंरियां या सौंर कहते हैं।

सौंरिये बहुत दरिद्र अवस्था में रहते हैं। जंगल और पहाड़ उनको प्रिय हैं। कुछ वर्षों से वे गाँवों में भी बसने लगे हैं, परन्तु घर बनाते हैं गाँव के बाहर ही। पढ़े-लिखे उनमें बहुत ही कम हैं। बाल इनके घुँघराले होते हैं, शरीर साँवला, आँखें बड़ी, गाल की हड्डी उठी हुई, नाक चपटी। एक दिन एक सीधी सुन्दर आकृति के युवक को देखा। जांघिया और अद्धा कमीज पहिने हुए था।

मैंने पूछा, "कुछ पढ़े हो"? उत्तर मिला, "हाँ, दूसरे दर्जे तक। घर का काम करने के लिए पढ़ना बीच में ही छोड़ देना पड़ा, नहीं तो मैं झाँसी जाकर पढ़ता और कहीं ऊँची नौकरी पा जाता।"

अधिक पढ़ना ऊँची नौकरी के लिए। यह अभिशाप देश में व्यापक रूप से छाया हुआ है। बिचारे सौंरिये उससे कैसे बचें?

मैंने कहा, "तुम्हारे लिए विन्ध्यप्रदेश की एसेम्बली में कुछ जगहें सुरक्षित हैं। खड़े होना चाहते हो?"

वह बैठे-बैठे बात कर रहा था। तुरन्त खड़ा हो गया। और बोला, "असेम्बली क्या?"

मैंने बतलाया, "वहाँ पहुँचकर बड़े-बड़े

लोगों से मिलोगे, कुर्सी पर बैठोगे, मन्त्री लोग किसी दिन तुम्हारे घर भी आवेंगे।"

उरूके साथ एक सहरिया था। उसने बात काटी, "वहाँ इससे हाथ उठवाया जायगा। वैसे भी यह समझेगा क्या? हम तो ऐसे ही अच्छे। आप लोगों के मैल जो ठहरे।"

यह बात उस युवक को अखरी। बोला, "हिन्दी में सब लोग बोलते होंगे असेम्बली में। बिना समझे-बूझे हाथ नहीं उठाऊँगा, एक मन्त्री क्या चाहे दो मन्त्री मेरी चिरौरी करें।" युवक के चेहरे पर तेज था। उसके साथी से मुझे पूछना पड़ा, "हम लोगों के मैल कैसे?"

उसने व्याख्या की, "हम लोग राजा वेणु की सन्तान हैं जो सतयुग में हुए थे। वह एक बार गंगा जी में स्नान करने के लिए गए। उन्होंने अपना उबटन किया और शरीर के मैल को गंगा जी में डाल दिया। उस मैल से हमारी जाति का जन्म हुआ!"

मालूम होता है कि किसी भूले-बिसरे युग में ये लोग गंगा के आस-पास से इस ओर के जंगलों में चले आए। कहते हैं कि राजा वेणु की राजधानी बिजनौर के आसपास थी। सम्भव है वेणु की स्मृति सौंरियों ने अपने गंगा प्रदेश के पुरातन निवास के साथ सम्बद्ध की हो। ये लोग स्वच्छता के साथ नहीं रह पाते, इसलिए वेणु के उबटन से अपनी जाति का जन्म स्थापित करते हों।"

जंगलों में प्रातःकाल से संध्या तक घूम-घूम कर फल-फूल-मूल एकत्र करके और थलचरों, नभचरों का शिकार करके अधिकांश सौंरिये अपना पेट पालते हैं। बहुत से खेती भी करने लगे हैं, और गाय-भैंस आदि का पालन भी। परन्तु वन-पर्वत-भ्रमण और शिकार उनको अब भी बहुत प्रिय है। स्वभाव में स्पष्टवादिता और रहन-सहन में सिधाई बहुत है।

ओरछा राज्य के भूतपूर्व वृद्ध राजा के सम्बन्ध में एक कहानी बहुत प्रसिद्ध है। राजा शेर का शिकार खेलने गए। जानवरों की घात लगाने, पता देने और हंकाई करने में सौंरिये बहुत कुशल होते हैं। राजा ने कुछ सौंरियों को साथ लिया। राजा वृद्ध होने पर भी बहुत साहसी थे। मचान पर बैठकर शिकार नहीं खेलना चाहते थे। एक सौंरिये ने शेर का पता दिया। राजा साथ हो लिए। सौंरिये ने उँगली के संकेत से एक झाड़ी में पड़े हुए दीर्घकाय शेर को दिखलाया। सौंरिये की आँख तेज़ होती है। उसने शेर को अच्छी तरह देख लिया। परन्तु राजा नहीं देख पाये। इशारे में ही राजा ने पूछा, "कहाँ पड़ा है शेर?" सौंरिये ने फिर संकेत किया। राजा को फिर भी न दिखाई पड़ा। सौंरिये से फिर संकेत में पूछा। सौंरिये को क्रोध आ गया। चिल्ला पड़ा, "अन्धे हो क्या? दिखलाई नहीं पड़ता....वह पड़ा है।" शेर जाग पड़ा, गुर्राया, और बिजली की कौंध की तेज़ी के साथ भाग कर लुप्त हो गया। राजा समझदार थे। सौंरिये की बात पर उनको क्षोभ नहीं हुआ। हँस दिए। सौंरिये को इनाम दिया। परन्तु वह असन्तुष्ट था। बोला, "तुमने शेर को भगा दिया"। राजा हँस पड़े।

सौंरिये अपने को "रावत" कहते हैं और जहाँ इनकी बस्ती होती है उसको "रावत-खाना।" "रावत" राव या राजा से मिलता-जुलता है। ये अपनी मस्ती से अपने को किसी राव या राजा से कम नहीं समझते। परन्तु जब से खेती करने लगे हैं तब से ज़मींदार, पटवारी, कानूनगो, तहसीलदार, लगान, कचहरी इत्यादि ने इनके रावतपने को बहुत नीचा कर दिया है।

जब से खेती करने लगे हैं तब से अन्न और वस्त्र अधिक सुलभ हो गया है। पहले लंगोटी और साफा अन्य ऋतुओं में, और मोटी चादर या पतला कम्बल जाड़ों में—ये इनके परिधान थे। गुज़रे ज़माने में बेटा-बेटी की सगाई दो पैसे के नेग-दस्तूर से करते थे। अब चार आने, आठ आने से लेकर पाँच रुपये तक के नेग होने लगे हैं। पहले ब्याह में एक दावत काफी समझी जाती थी। अब कम से कम दो चाहिएँ।

मेरे प्रश्न करने पर एक सौंरिये ने बतलाया कि जब आप लोग व्याह-शादियों में इतना खर्च करते हैं तब हम ही क्यों हेटे रहें। पहले इन लोगों में स्त्री-पुरुष काफी आमोद-प्रमोद-रत रहते थे। अब कुछ लजाने लगे हैं। फिर भी नाचते-गाते हैं। उस दिन तो अब भी इनकी बाँछें खिल-खिल जाती हैं, जब जंगल में बड़ी गोय-गुहेरे की एक जाति की मादा इनके हाथ पड़ जाती है। इनको विश्वास भर हो जाय कि किसी झिटे या बिल में गोय हैं, फिर सब काम छोड़कर, खुनीता हाथ में ले, उसी के पीछे पड़ जाते हैं। किसी युग में इनका खुनीता पत्थर का था, पर अब तो लोहे का होता है। उससे ये लम्बे-चौड़े गड्ढे कर डालते हैं, और गोय को मार कर ही दम लेते हैं। ये लोग नाहर, तेंदुआ आदि सब पशुओं का माँस खाते हैं, परन्तु गो-माँस नहीं खाते। एक हलके प्रकार की शराब इनको पसन्द है, परन्तु शिकायत है कि मिलती नहीं। गांजा-चरस भी पीते थे—अब बिलकुल छोड़ दिया है।

एक कुल की उसी कुल या गोत्र में सगाई-शादी नहीं हो सकती। उनके कुछ कुल ये हैं—जाचैरिया, सनोरिया, सिलगिलिया, मुड़कटिया इत्यादि। जाचैर एक वृक्ष का नाम है। यह छायादार होता है और बड़ा। बुन्देलखण्ड में यह पेड़ बहुतायत से नहीं होता। जंगलों से बाहर बहुत कम। इनका एक गोत्र इसी वृक्ष के नाम से प्रसिद्ध है।

सनोरिया सन के पौधे के नाम से चला है। जंगल में सन यहाँ अब कहीं नहीं पाया जाता। सम्भव है किसी युग में यह पौधा जंगली रहा हो। सनोरिया गोत्र वाले इस वृक्ष को नहीं काटते और न उसके पत्तों को रोंदते हैं। वे सन के खेत में इसलिए नहीं जाते कि कहीं सन का पौधा पैर तले न आ जाय। सिलगिल एक चिड़िया होती है। सिलगिल चिड़िया से सिलगिलिया गोत्र का नाम पड़ा है। ये लोग सिलगिल चिड़िया को न तो मारते हैं और न खाते हैं और यदि कहीं इनको मरी पड़ी मिल जाय तो उसका मानव-शव की तरह दाह कर देते हैं। मुड़कटिया गोत्र का नाम पड़ा है खेती की एक क्रिया से, जैसा कि मुझे बतलाया गया है, पौधों के ऊपरी सिरों को काटकर बाकी पौधों को वैसा ही छोड़ देने से इस गोत्र का नाम मुड़कटिया पड़ा है। मुझे इसमें सन्देह है। खेती तो सौंरिये अपेक्षाकृत आधुनिक काल में करने लगे हैं। इससे पहले भी यही नाम रहा होगा, जो शत्रुओं के सिर काटने के कारण पड़ा होगा, जैसा कि आसाम की कुछ पहाड़ियों के निवासियों का नाम हैड-हन्टर्स सुना गया है। शत्रुओं के शिरोच्छेदक जब सभ्यता के अधिक निकट सम्पर्क में आए और जंगल के बीजवाले पौधों के सिर काट कर जीवन यापन का एक सहारा पा गए तब उनका नाम तो वही रहा, परन्तु स्रोत और व्याख्या दूसरी हो गई। जंगल के बीज वाले पौधों के सिर काटते-काटते जब खेतों के गेहूँ, चने और चावल के पौधों के सिर



काटने में निरत हुए तब कृषि से सम्बन्ध रखने वाली अभिधा और व्याख्या काम में आई।

इन गोत्रों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध होते हैं, परन्तु जैसा कि बतलाया जा चुका है सगोत्रजों में नहीं। ब्याह के अवसर पर आनन्द की आँधी-सी आ जाती है। ग़रीबी उस आँधी को नहीं रोक पाती। अधनंगे, अधभूखे भी आनन्द मना लेते हैं। ब्याह के अवसर पर अत्यन्त अश्लील गालियाँ साधारण प्रथा की बात है। अन्य अवसरों पर अश्लील गालियाँ बिलकुल नहीं गाते। सौंरियों में प्रचलित लोक-गीत वे ही हैं, जिन्हें बुन्देलखण्ड की साधारण जनता गाती है। आल्हा-गायन इन्हें विशेष प्रिय है। ये गीत भी लोकप्रिय हैं—

सदा तुरैया ना बन फूलैं,
सदा न सावन होय,
सदा न छत्री रन चढ़े,
सदा न जीवन होय।
असाढ़ बरसें सब रस बूँदें,
सावन पवन झकोर,
भादों भयंकर गरजन लागे,
चारों ओर कूक रहि मोर।
असाढ़ उतरे सावन लागे,
घर-घर घले हिंडोर,
नींद सेज पै नाहिं रे आवै,
पापी करत पपीहा सोर।

पहले इनकी भाषा में कुछ शब्द ऐसे थे जो बुन्देलखण्ड की बोली में साधारण तौर पर प्रयुक्त नहीं होते थे। ये शब्द संस्कृत-जन्य नहीं थे। अब ये लोग उनका व्यवहार नहीं करते। भूल गए हैं, धुंधली स्मृति रह गई है।

सौंरियो की काया लम्बी-चौड़ी नहीं होती। देखने में कृश, किन्तु छरेरी। सौंरियों के वास्तविक बल का अनुमान तभी किया जा सकता है जब उनको कोई भारी काम करते हुए देखा जाय। इनको मीलों भारी बोझ उठाए लिए जाते हुए देखा है। काया के अनुपात से बल इनमें कहीं ज्यादा होता है।

शिक्षा और आर्थिक अवस्था दोनों में यह जाति बहुत पिछड़ी हुई है। जब महामारियाँ फैलती हैं तब ये महादेव और दुर्गा की पूजा बहुत करते हैं। वैसे भी ये इनके इष्टदेव हैं। दवा-दारू अपने आप कुछ कर लेते हैं। सयानों और मन्त्र-तन्त्र की शरण अधिक ढूंढ़ते हैं, क्योंकि अस्पताल और वैद्य इनसे बहुत दूर हैं। निकट भी हों, तो उनके पास उनकी सहायता पाने के साधन नहीं। महामारियों में ये बहुत मरते हैं। बालमृत्यु भी सौंरियों में काफ़ी होती है।

बुन्देलखण्ड का जो भाग अब तक रियासतों में बँटा था उसमें अस्पताल, वैद्य, पाठशालाएं आदि समाज सेवा के साधन थोड़े-बहुत इखरे-बिखरे रहे हैं। जनता के साधन-सम्पन्न अंग को भी ये साधन सहज ही उपलब्ध न थे, इन बेचारों के लिए तो लगभग असम्भव ही थे।

फिर भी दूर के गाँव में जाकर वह युवक दूसरे दर्जे तक की शिक्षा प्राप्त कर आया और उसके मन में ठसक है कि यदि विन्ध्यप्रदेश की असेम्बली का मेम्बर हो गया तो यों ही हाथ न उठा दिया करेगा।

क्या हमारा राज्य और समाज इस सीधी-सादी शूरवीर जाति के उठाने का प्रयास करेगा ?

—लखनऊ से प्रसारित



बाघ से भिड़न्त

श्रीराम शर्मा

पच्चीस वर्ष के शिकारी जीवन में बाघ, शेर, सुअर, साँप और घड़ियाल से इतनी बार बाल-बाल बचा हूँ कि यह फैसला करना मुश्किल है कि कौन-सी घटना सबसे अधिक रोमांचकारी कही जाय। हर घटना के अलग-अलग पहलू हैं। पर आज बाघ से बचने की रोमांचकारी घटना पेश करता हूँ।

बाघ शब्द यों तो व्याघ्र से बना है, पर गवढ़ाल में अंग्रेज़ी के लेपर्ड या पैन्थर को बाघ कहते हैं। देहरादून तथा तराई के इलाकों में उसे गुलदार या गुलबघा कहते हैं। मैदानी क्षेत्रों में उसे तेंदुआ या बघर्रा कहते हैं। लेपर्ड और पैंथर में कोई भेद नहीं है, अनेक शिकारियों और अनेक लेखकों ने लेपर्ड तथा पैंथर को अलग-अलग दो जानवर माना है। यह उनकी भूल है। भारत के बर्फानी इलाकों से लगाकर ठेठ दक्षिण तक, और पंजाब से आसाम तक बाघ पाया जाता है। बाघ के शरीर पर चकत्ते होते हैं, और इससे स्पष्ट है कि वह चट्टान और झाड़ी में रहने वाला जानवर है।

बर्फ़ानी इलाके के बाघ को बर्फ़ानी बाघ "स्नो लेपर्ड" कहते हैं। उसका रूँआं मुलायम और अपेक्षाकृत बड़ा होता है। काला बाघ भी होता है। उसकी कोई अलग किस्म नहीं है। बाघ का औसत वज़न डेढ़ मन होता है। और लम्बाई नाक से लेकर पूँछ के सिरे तक साढ़े छः फुट। यों साढ़े सात फुट लम्बाई तक के बाघ होते हैं, और वज़न में दो सवा दो मन के। सबसे बड़ा बाघ जो मैंने मारा, आठ फुट दो इंच लम्बा था। वह भैंसों तक को मारा करता था। इतने लम्बे बाघ अपवादस्वरूप ही हैं।

सन् १९२४ की बात है। समय सायंकाल के साढ़े चार बजे। टिहरी गढ़वाल का इलाका। महीना दिसम्बर का। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था और चाय पीने में मज़ा आ रहा था कि किसी ने बाहर से पुकारा, "ज़रा बाहर आइए। एक आदमी आया है और बाघ की खबर लाया है।" बाघ का नाम सुन कर मैं उछल पड़ा। चाय का प्याला वहीं रख कर झट से बाहर आ गया।

बाहर आकर देखा कि पश्मीने की चादर ओढ़े मेरे शिकारी मित्र लक्ष्मीदत्त थपलियाल खड़े हैं और उनकी बगल में एक हाड़ का कंकाल बूढ़ा खड़ा है। उसकी मुखाकृति उसकी अंतर्वेदना की द्योतक थी। कष्ट, विपत्ति और समय के उलट-फेर ने उसकी गति तूफ़ान में फँसे जहाज़ की सी कर दी थी।

एक तो दिन भर की थकावट, दूसरे कुसमय और उस पर कड़ाके का जाड़ा। तबियत बाहर निकलने को न करती थी। पर उस बूढ़े की आँखों में एक खिंचाव था जो हृद्तंत्री के तारों को अपनी ओर खींचता था। वह खिंचाव प्रेम का आकर्षण सा न था, वरन् कंपायमान, भावी आशंका से भयभीत बलिपशु की आँखों से निकलती हुई मूक याचना सा खिंचाव था।

वन-बीहड़-सहचरी बन्दूक उठाई। कारतूस जेब में डाले और लक्ष्मीदत्त जी तथा किसान के

साथ चल पड़ा। पहाड़ी पर कुछ ही आगे गए होंगे कि बूढ़े ने कंधे पर हाथ रख कर कहा, "मालिक! ऊपर देखो। ठीक उस डांडे पर मेरी गाय मरी पड़ी है और वहाँ से चार फर्लांग पर पहाड़ के दूसरी ओर दूसरी गाय मरी पड़ी है।" बूढ़े की बात सुनकर बाघ मारने की योजना बनाई। लच्मीदत्त जी और मुझ में चार पाँच मिनट तक परामर्श हुआ। परामर्श क्या था, एक प्रकार की युद्ध-कांफ्रेंस थी जिसमें अपने शत्रु की सब चालों का ख़्याल किया गया।

परामर्श से हम लोग इस नतीजे पर न पहुँचे कि एक ही बाघ ने दो गायों को मारा होगा। दो बाघों की आशंका से हम लोगों ने अपने दल को दो भागों में विभक्त किया। लच्मीदत्त जी दूसरी गाय की लाश की ओर चले। मैं डाँडे की ओर चला और यह निश्चय हुआ कि समय अधिक हो जाने पर लाश पर आज बैठना ठीक नहीं, क्योंकि बैठने के लिए स्थान दिन में चार बजे तक बन जाना चाहिए, जिससे बाघ को किसी बात का शक न हो।

स्मरण रहे, बाघ जंगल का कूटनीतिज्ञ चाणक्य होता है। छोटी-सी हिलती पत्ती से, आसन बदलने से और कोई-कोई तो कहते हैं कि पलक की आवाज़ से बाघ अपने शत्रु को पहचान लेता है, और फिर लाश पर नहीं आता। इसलिए बाघ को मारने के लिए झाड़ी और काँटों का जो स्थान बनाते हैं वह दिन में चार बजे तक बना लेते हैं। बनाते समय कुछ आदमी इधर-उधर बैठे रहते हैं जिससे बाघ यह समझे कि किसान घास काट रहे हैं। जब शिकारी छिप कर बैठ जाते हैं तब और लोग बातें करते चले जाते हैं जिससे बाघ समझे कि घास काटने वाले चले गए और उसका भोजन बेखटके पड़ा है। ऐसा होने पर भी बाघ एकदम लाश पर नहीं आता। छिप-छिप कर, रुक-रुक कर और देख-देख कर वह एक-एक गज़ बढ़ता है।

लच्मीदत्त जी बूढ़े के साथ छोटी गाय की लाश की ओर चले। हम दोनों को गाँव में मिलना था।

मुझे एक मील के लगभग पहाड़ की चोटी पर पहुँचना था और समय तंग हो रहा था। जंगल में बाघ अपने शिकार पर चार-पाँच बजे ही आ जाता है इसलिए मैं बड़ा चौकन्ना होकर चल रहा था। पहाड़ की चोटी पर डूबते हुए सूरज की लाल किरणें ग़ज़ब ढा रही थीं। रात्रि आगमन के चिन्ह चारों ओर दृष्टिगोचर हो रहे थे। चिड़ियाँ झाड़ियों में चहचहा रहीं थीं, किसान थके-माँदे घर लौट रहे थे। मैं चढ़ाई पर एक-एक पैर संभाल कर रख रहा था कि कहीं चुपचाप बाघ दिखाई पड़ जाय और बाघ मुझे न देख पावे तो फिर एक बार जीवन की बाज़ी लगाकर फ़ायर कर दिया जाय। आधी चढ़ाई के उपरान्त मैं एक चट्टान के किनारे रुका और गिद्ध-दृष्टि से पहाड़ की चोटी की ओर देखा। एक झाड़ी के आस-पास चिड़ियाँ कुछ विचित्र रूप से चहचहा रही थी। उधर जो देखा तो हृदय की धड़कन एकदम बढ़ गई। सामने तीन सौ गज़ पर झाड़ी के सहारे बाघ खड़ा हुआ दिग्दर्शन कर रहा था और चिड़ियाँ अपनी शक्ति भर उस विरोध का प्रदर्शन कर रही थीं। मेरे पास राइफ़ल न थी, बन्दूक थी। राइफ़ल न लाने की मूर्खता पर अपने को हज़ार बार कोसा क्योंकि १२ नम्बर यानी ट्वैल्व बोर बन्दूक की मार इतनी दूर नहीं होती।

बाघ थोड़ी देर बाद अपने शिकार की ओर शाही शान से चला। मैंने अपना मार्ग छोड़कर कुछ चक्कर काट कर पहाड़ की चोटी पर पहुँचने की ठानी जिससे बाघ पर बगल से छिप कर फ़ायर किया जा सके। बाघ मुझसे तीन सौ गज़ ऊपर था। वह पहाड़ के ऊपर से ही अपने शिकार की ओर जा रहा था। मैंने आगे बढ़ कर उसके रास्ते में जाना चाहा।

दोनों को एक ही स्थान पर पहुँचना था,

जिस प्रकार दो गलियों से कोई चल कर गलियों के मोड़ पर मिलते हैं और जब तक आमने-सामने नहीं आ जाते तब तक एक-दूसरे को नहीं देख सकते, ठीक इसी प्रकार मैं इस विचार से मोड़ की ओर चला कि कहीं पीछे से पचास-साठ गज़ की दूरी पर बाघ दिखाई पड़ा और मौका हुआ तो उसे मारने की चेष्टा करूँगा। यह केवल अंदाज़ ही अंदाज़ था। यह स्वप्न में भी विचार न था कि अंदाज़ इतना ठीक निकलेगा। जूते उतार कर मैं ऊपर की ओर लपका। जूते इसलिए उतार दिये कि तनिक भी आहट न हो। जब पहाड़ की चोटी का मोड़ पचास-साठ गज़ रह गया, मैं धीरे-धीरे एक-एक पैर गिन कर बंदूक को बगल में दबाए और हाथ बंदूक के घोड़े पर रक्खे आगे बढ़ा। पर ज्यों ही मैं मोड़ पर पहुँचा त्यों ही दूसरी ओर से बाघ आ गया। जंगल में स्वच्छन्द रूप से अभिमान के साथ मस्त चाल से चलते हुए बाघ को इतने समीप से मैंने कभी न देखा था। झुकी हुई अधखुली आँखें, श्वेत दाँतों से कुछ बाहर निकली हुई लाल जीभ—साक्षात् यमराज की मूर्त्ति मेरे सामने आ गई। हृदय की धड़कन कुछ सैकिण्ड के लिए न मालूम कितनी तीव्र हो गई। बाघ से मुझे सहसा भय नहीं लगता, पर इस आकस्मिक भिड़न्त के लिए मैं तैयार न था। पीछे हटने का समय न था। ऐसे अवसरों पर मनुष्य की सहायक पशु बुद्धि ही होती है, और प्रेरक कोई विशेष शक्ति। ज्यों ही बाघ की दृष्टि मुझ पर पड़ी त्यों ही वह गरज कर पिछले पाँव पर खड़ा हो गया। वह मेरे इतने समीप था कि मैं बन्दूक की नाल से उसे छू सकता था। पहले तो मैं काँपा और यह मालूम होता था कि हृदय नीचे पैरों की ओर भीतर ही भीतर सरक रहा हो। बाद को निराशा-जन्य साहस अथवा उद्वेग ने मुझे मृत्यु का सामना करने योग्य बना दिया। मैंने समझ लिया कि मैं फ़ायर करूँ या न करूँ, बाघ मुझे मार ही देगा।



उधर बाघ ने भी समझा कि यह दो पैर का प्राणी काली-काली लोहे की वस्तु लिए उसकी जान की खातिर आया है, उसके खून का प्यासा है। उसके मुँह से ग्रास छीने तो छीने, पर उसकी जान का ग्राहक दो पैरों का यह जीव इस प्रकार अपमान करके उसे मारने आया है। यह नहीं हो सकता। इस अपमान और धृष्टता का एक ही उत्तर था और वह यह कि वह अपने शत्रु की हस्ती को ही मिटा दे।

इधर मैंने ख्याल किया कि बाघ गिरते हुए भी एक चोट करेगा और यदि वह मेरे खून को न भी पी सकेगा तो नीचे खड्ड में तो गिरा ही देगा। खड्ड में एक मील नीचे गिरने पर मेरे अन्त का पता भी कोई न देगा। यद्यपि मैं बंदूक का घोड़ा चढ़ाए खड़ा था, मैंने निश्चय कर लिया था कि पहले मैं आक्रमण नहीं करूंगा। यदि बाघ मुझ पर झपटा तो फायर करूंगा और आत्म-रक्षा के लिए जो कुछ बन पड़ेगा, करूंगा।

एक मिनट तक हम दोनों डटे रहे। बाघ गुर्रा रहा था। उसकी आँखों से ज्वाला-सी निकल रही थी। मैंने न फ़ायर किया और न उसने आक्रमण। वह एक मिनट युग के समान था। ज्यों ही वह मुड़ा मैंने समझा कि बस मेरे ऊपर आया। बंदूक दाग़ ही तो दी। जंगल गूँज गया। गोली बाघ के पेट में लगी। मैंने बाघ को गिरते देखा। बन्दूक छोड़ मैं नीचे को दौड़ा पर गिर कर लुढ़कने लगा। जिस बात का डर था, वही हुआ। खड्ड की ओर मैं फुटबाल की भांति लुढ़कने लगा। चालीस पचास गज़ लुढ़का हूँगा कि हृदय दहलाने वाली बाघ की गर्जन कान पर मालूम हुई।

मौत के अनेक बहाने होते हैं और जीवन रक्षा के अनेक सहारे। यदि जीवन होता है तो मनुष्य पहाड़ की चोटी से गिर के बच जाता है और मरने के लिए तो सीढ़ियों से गिरना ही काफ़ी है। मुझे बचना था। सामने खड्ड की ओर तेज़ी के साथ लुढ़कने के मार्ग में एक चीड़ का वृक्ष था। इतना होश-हवास तो था ही। आठ दस गज़ ऊपर से पेड़ देख लिया। उसी ओर जाने के लिए हाथ-पैर पीटे और उसी पेड़ से जा टकराया। पीछे से बाघ के घसीटने की सरसराहट आ रही थी। पेड़ से ठोकर खा कर रुका, झटपट ऊपर चढ़ा। इतने ही में विद्युत गति से बाघ भी आ गया और उचक कर मुझ पर पंजा मारा। उसके पंजे में मेरा नेकर आ गया। नेकर फट गया, पर मैं ऊपर निकल गया।

बाघ की कमर टूट गई थी। इसीलिए वह पेड़ पर न चढ़ सका। पेड़ पर ऊपर बैठ कर मैंने दम लिया। नीचे बाघ अन्तिम साँसें ले रहा था। एक झटके से बाघ का दम निकल गया।

रात के नौ बजे लालटेन लेकर कुछ पहाड़ी उस रास्ते से होकर निकले। पेड़ से मैंने आवाज़ दी और बड़ी कठिनाई से मैं पेड़ से उतर कर हाथ पैरों के बल रास्ते पर पहुँचा। बाघ की लाश उठाने का काम सुबह पर छोड़ा गया और बन्दूक की तलाश भी प्रातःकाल पर।

इतने दिनों बाद भी बाघ से उस दिन बाल-बाल बचने की घटना ताज़ी है।

— दिल्ली से प्रसारित



प्रसाद जी

वाचस्पति पाठक



हिन्दी साहित्य की भूमिका में जयशंकर प्रसाद नयी भावनाओं के कवि के रूप में अवतरित हुए। उस समय तक खड़ी बोली में शिशुता की झलक शेष थी। हाँ, यौवनोन्मेष की स्पष्टता का प्रारम्भ अवश्य हो चुका था। ऐसे समय जिन नये उपकरणों से प्रसाद जी अपने साहित्य को सँवारते थे, उनके प्रशंसक इने-गिने पाठक ही थे। पर इससे प्रसाद जी के मन में अपने साहित्य के प्रति कोई शंका उत्पन्न नहीं हुई, प्रत्युत खूब खुल कर लिखने की आकांक्षा हुई। उस समय के पत्र-संपादकों के ननुनच से बच कर काम करने की इच्छा के कारण प्रसाद जी ने अपने भानजे अम्बिकाप्रसाद गुप्त के द्वारा 'इन्दु' नामक मासिक पत्र निकलवाया था। पत्र का अधिकांश कलेवर उन्हीं की चीज़ों से भरा रहता था। जहाँ तक मुझे स्मरण है, 'अजातशत्रु' तक का प्रकाशन 'इन्दु' के द्वारा ही हुआ था।

प्रसाद जी की रुचि झगड़े में न पड़ने की रही थी। वैसे तो अपने साहित्य के सम्बन्ध में या हिन्दी-साहित्य-सम्बन्धी उठे प्रश्नों पर अपने को अलग ही रखना वे श्रेयस्कर समझते थे, पर 'इन्दु' के सम्पादकीय में सामयिक साहित्य-सम्बन्धी प्रश्नों पर वे 'इन्दु' के सम्पादक की ओर से विचार प्रकट करते रहते थे। इस तरह का अवसर दो एक पत्रों में भी उन्हें मिला था। प्रसाद जी की प्रेरणा से विनोद शंकर व्यास ने शिवपूजन सहाय के सम्पादकत्व में 'जागरण' नामक पाक्षिक पत्र निकाला था। शिवपूजन सहाय जी प्रायः प्रसाद जी से आग्रह करके सामयिक विषयों पर कुछ लिखवा ही लेते थे। उन दिनों 'हिन्दी में कलाकार और चरित्र' तथा कैसे लोग आत्मकथा लिखें इन विषयों पर अच्छी चर्चा हुई थी। प्रसाद जी ने 'जागरण' के सम्पादकीय में इन दोनों विषयों पर बहुत सुन्दर टिप्पणियाँ लिखी हैं। इस तरह की उनकी टिप्पणियाँ बड़ी तर्कपूर्ण, चुटीली और विषय का अतलान्त स्पर्श करने वाली होती थीं।

प्रसाद जी स्वभावतः अपनी रचनाओं की आलोचनाओं का उत्तर नहीं देते थे। बहुत आवश्यक होने पर वह जितना आगे बढ़ सकते थे, उसका एक ही उदाहरण उपलब्ध है। प्रसादजी का 'आँसू' काव्य प्रकाशित हुआ जिसका प्रकाशन हिन्दी-साहित्य में एक विशेष घटना माना गया उस काव्य के पक्ष और विपक्ष में भी खूब समालोचनायें निकलीं। एक समालोचक ने 'आँसू' के कवि से अपने लेख में प्रश्न किया—

शशि मुख पर घूंघट डाले,
अंचल में दीप छिपाए,
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आए।

इन पद्यों का लक्ष्य स्त्री है या पुरुष? इसकी स्पष्टता न होने से उन समालोचकों के लिए यह सारा काव्य रहस्य-जाल बन गया था। पर प्रसाद जी ने इसका स्पष्ट उत्तर नहीं

दिया। हाँ, कुछ दिनों बाद उनकी एक कविता अवश्य छपी जिसकी प्राथमिक चार पंक्तियों में ही समालोचक महोदय की संपूर्ण शंकाओं का सुन्दर उत्तर दे दिया गया। वे चारों पंक्तियाँ यों हैं —

'ओ मेरे प्रेम बता दे—
तू स्त्री या कि पुरुष है।
दोनों ही पूछ रहे हैं,
कोमल है या कि परुष है।

प्रसाद जी के लिखने में स्वान्तःसुखाय मूलमंत्र था। वे अपने साहित्य को अपने बुरे से बुरे समय में भी अर्थ-प्राप्ति का साधन नहीं बनाना चाहते थे। फिर भी कभी-कभी अपने ही साहित्य-देव की कृपा से अर्थ खिंचा चला आता था। ऐसे आए हुए अनाहूत अतिथि को किसी दूसरे को सौंप कर ही उन्हें चैन मिलता था। उन्होंने अपने अनेक पुस्तक के प्रकाशकों से कोई रॉयल्टी नहीं ली। अपने जीवन-काल में मिली रॉयल्टी की रक़म भी उन्होंने अपने निजी काम में खर्च नहीं की। उन्होंने अपने प्रकाशक को आदेश दे रखा था कि उनकी कोई पुस्तक किसी पुरस्कार-प्रतियोगिता में न भेजी जाय। इसी के परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्यसम्मेलन को यह नियम बनाना पड़ा कि 'कामायनी' खरीद कर ही प्रतियोगिता में भेजी जाय। खड़ी बोली का वह सर्वप्रथम काव्य था, जिस पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ। 'कामायनी' प्रसाद जी की अंतिम पूरी कृति है। उसकी छपी हुई प्रति उन्हें अपनी मरण-शय्या पर ही प्राप्त हुई थी। उसका छपा हुआ रूप देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई।

प्रसाद जी को पदों से भी बड़ी विरक्ति थी। किसी सभा-समिति में आना-जाना उतना न अखरता था, जितना कि उनके किसी पद पर प्रतिष्ठित हो कर वहाँ रहना। यही कारण है कि श्यामसुन्दर दास जी के न डिगने वाले हठ के कारण किसी प्रकार नागरी प्रचारिणी सभा, काशी का उप-सभापतित्व एक बार उन्होंने स्वीकार कर लिया था, परन्तु सभापति तो कभी बनने को तैयार नहीं हुए। पदों के सम्बन्ध में उप-सभापति का पद ग्रहण करना उनके जीवन में एक अपवाद है। सार्वजनिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले व्यक्ति के लिए आज की दुनिया में अपने को इस तरह अलग रखना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता; पर प्रसाद जी से यह सब सधता नहीं था। वे थे अलमस्त प्राणी। पत्रों का उत्तर तक नहीं दे पाते थे। इसी तरह पुस्तकों की भूमिका लिखना अथवा किसी पत्र-पत्रिका के लिए सम्मति लिख देना भी उन्हें अभीष्ट नहीं था। इससे उनके मित्रों अथवा साथी लेखकों को कष्ट तक पहुँच जाता था। उनके इस नियम में भी कविवर निराला की 'गीतिका' के लिए लिखी गयी भूमिका अपवाद है।

प्रसाद जी को अपने मित्रों एवं परिचितों की गोष्ठी में अपनी कविता सुनाना अच्छा लगता था। जिन दिनों 'आँसू' या 'कामायनी' काव्य लिखा जाता रहा, उन दिनों हर दूसरे-तीसरे सप्ताह हम लोग आग्रह करते थे कि काव्य कुछ आगे बढ़ा हो तो सुनाइए, और प्रसाद जी अगर रचना कुछ आगे बढ़ी होती तो अवश्य सुना देते थे। उनके पढ़ने का ढंग भी बड़ा निराला था। अत्यन्त मधुर और मादक, जिसे सुन कर लोग आत्मविभोर हो जाते थे, झूम उठते थे। एक बार की घटना मुझे ही नहीं, संभवतः अनेक लोगों के ध्यान में चढ़ी होगी। काशी नागरी प्रचारिणी सभा का कोई उत्सव मनाया जा रहा था। पंडाल आगन्तुकों एवं दर्शकों से खचाखच भरा था। वहाँ मंच के निकट चिकों का घेरा बना कर महिलाओं के बैठने का प्रबन्ध किया गया था और उसमें भी तिल रखने की जगह नहीं थी। चारों ओर से शोर उठ रहा था। 'हरिऔध' आदि दो-चार सम्भ्रांत लोगों की कविताएं हो चुकी थीं। उस समारोह में न जाने क्या सोच कर प्रसाद जी अपनी कविता सुनाने को तैयार हो गए, यद्यपि यह उनके स्वभाव के विरुद्ध ही था। वे मंच पर पहुँचे और बैठकर

अपने नये लिखे जाने वाले काव्य 'कामायनी का लज्जावाला अंश पढ़ने लगे। फिर क्या कहना! उस स्वर की बरसात में कौन नहीं भीग उठा। चिकों के घेरे के भीतर बैठी हुई महिलाएँ भी उठकर खड़ी हो गयीं। वे सभी उस स्वर के गायक को उत्सुकतापूर्वक देखने लगीं। सारा वातावरण उस कविता के रस से सराबोर हो उठा।

प्रसाद जी अत्यन्त सुरुचि-सम्पन्न व्यक्ति थे। उन्हें सुन्दर वस्त्र पहनने का शौक़ था। वे खादीधारी थे, और खादी का अच्छे से अच्छा माल उन्हीं के हाथों बिकता था। सुन्दर वस्त्र को देखकर वे अपने को रोक नहीं सकते थे। कस्तूरी, केसर, पश्मीना या रेशम हाथ में लेते ही वे उसका अस्तित्व जान जाते थे। रत्नों के भी वे अच्छे पारखी थे।

उन्हें खाने और खिलाने का बहुत शौक था। वे स्वयं भी पाकविद्या में अत्यन्त निपुण थे। मित्रों के आने पर प्रायः वे कुछ न कुछ ऐसी चीज़ें अवश्य खिलाते-पिलाते जिसकी याद कुछ दिनों मन में बसी रहती। इस सम्बन्ध में उनके नये-नये अनुसन्धान भी चलते रहते।

वे इत्रों के भी अच्छे पारखी माने जाते थे। उन्होंने विविध इत्रों के मेल से अनेक नये इत्र तैयार किये थे। पान की गिलौरियाँ खाना उनका प्रिय व्यसन था।

संगीत में उन्हें लोक-गीतों से विशेष प्रेम था। यों तो शास्त्रीय संगीत भी उन्हें अच्छा लगता था पर सीधे-सादे ढंग से मधुर गले से गाया हुआ भावपूर्ण गान ही उन्हें खींचता था। वाद्य में वे सारंगी को बहुत पसन्द करते थे; यों दूर से आती हुई शहनाई की आवाज़ भी उन्हें विभोर कर देती थी।

प्रसाद जी भारतीय संस्कृति के सच्चे अनुयायी थे। उनकी आस्था शैव मत में थी, जो उन्हें कुल-परम्परा से मिली थी। भारतीय दर्शन शास्त्र और उपनिषदों का वे निरन्तर अध्ययन करते रहते थे। उनके ग्रन्थों की विचार धाराओं से कभी-कभी लोगों को बहुत भ्रम होता था। 'अजातशत्रु', 'राज्यश्री' आदि के प्रकाशन के बाद तो कुछ लोग उन्हें बौद्ध ही समझने लगे थे। यह भ्रम 'कामायनी' के प्रकाशन के बाद ही दूर हुआ। वे किसी तरह भी रूढ़िवादी नहीं थे। गांधी जी की विचारधारा से भी वे प्रभावित हुए, अन्यथा ढाके के मलमल के कुरते और जरी के किनारे की धोतियाँ छोड़ कर वे खद्दर धारण न कर पाते।

प्रसाद जी को बनारस से विशेष प्रेम था। अपने अंतिम दिनों में बीमार पड़ने पर उन्हें निश्चय हो गया था कि वे अब बचेंगे नहीं। उन्हें यक्ष्मा हो गया था। यक्ष्मा के इलाज के लिए लोगों की राय थी कि वे पहाड़ पर अथवा कहीं शहर के बाहर जाकर रहें, किन्तु यह उन्हें स्वीकार नहीं था। वे वाराणसी के भीतर ही अपना प्राण त्याग करना चाहते थे। इसीलिए वे पहाड़ या घर छोड़ कर अन्यत्र जाने की बात स्वीकार नहीं कर सके। इससे लोग समझने लगे कि आर्थिक संकट अथवा हठवश ऐसा कर रहे हैं। पर बात ऐसी नहीं थी। उन दिनों मैं भी कालाजार से पीड़ित था। किसी को विश्वास नहीं था कि मैं बच जाऊंगा। तभी एक दिन बनारस से किसी मित्र ने सूचना दी कि प्रसाद जी तुम्हें बहुत याद करते हैं। मैं यह जानते ही अशक्त होने पर भी तत्काल बनारस गया। वहाँ पहुँचने पर जो कुछ देखा, वह नश्वरता की चरम सीमा थी। वह शरीर, वह स्वास्थ्य, वह मुस्कराहट—सब रोग के भयानक तुषारपात के कारण विनष्ट हो गया था। कुछ न कह सका, न पूछ सका, केवल सिर झुकाया और पीछे लौट पड़ा। अब वहाँ जैसे कुछ शेष न था।

— इलाहाबाद से प्रसारित

हिन्दी में शोध कार्य

धीरेन्द्र वर्मा

हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित शोध-कार्य का प्रारम्भ एक प्रकार से १६वीं शताब्दी में ही हो गया था। प्रसिद्ध भक्त नाभादास ने जब भक्तमाल में हिन्दी के भक्त कवियों की जीवनी और आलोचना का समावेश करने का यत्न किया होगा, तब उन्हें पर्याप्त खोज करनी पड़ी होगी। इस समस्त परिश्रम का सार हमें उनकी सुन्दर कृति के रूप में आज भी उपलब्ध है। इसी प्रकार ८४ तथा २५२ वार्ताओं तथा इन पर लिखी गई हरिराम जी की भावना नाम की महत्त्वपूर्ण टीका में खोज द्वारा उपलब्ध प्रचुर सामग्री सुरक्षित है। किन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित नियमित खोज १९वीं शताब्दी में शिवसिंह सेंगर ने प्रारम्भ की थी, जिसका परिणाम उनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' है। इस परम्परा को ग्रियर्सन ने अग्रसर किया। इस क्षेत्र से सम्बन्धित सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य मिश्र बन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न' तथा चार भागों में प्रकाशित 'मिश्रबन्धु-विनोद' है। विनोद की सामग्री का आधार पूर्ववर्ती लेखकों की कृतियों के अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा किया गया हिन्दी हस्त-लिखित पोथियों की खोज का कार्य था, जिसकी त्रैवार्षिक तथा वार्षिक रिपोर्टें १९०० ई० से ही प्रकाशित होने लगी थीं।

विश्वविद्यालयों में हिन्दी-शोध सम्बन्धी कार्य प्रारम्भ होने के पूर्व की पृष्ठभूमि का यह साहित्यिक पहलू है। हिन्दी भाषा से सम्बन्धित शोध कार्य यूरोपीय विद्वानों की प्रेरणा से १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हो सका था। इस क्षेत्र में कीथ का 'आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण', हार्नली का 'पूर्वी हिन्दी का व्याकरण', जो वास्तव में भोजपुरी तथा पूर्वी अवधी का व्याकरण है, ग्रियर्सन का 'मैथिली व्याकरण' तथा उसके बाद उनकी 'भारतीय भाषा सर्वे की रिपोर्ट' जो ११ भागों में धीरे-धीरे प्रकाशित हुई, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

देवनागरी लिपि सम्बन्धी सबसे महत्त्वपूर्ण शोध कार्य गौरीशंकर हीराचन्द ओझा की अमर कृति 'प्राचीन भारतीय लिपिमाला' के रूप में है। इसके उपरान्त इस क्षेत्र के कार्य को किसी अन्य विद्वान ने विशेष अग्रसर नहीं किया।

हिन्दी भाषा तथा साहित्य के क्षेत्रों में शोध की नियमित परम्परा भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी के पठन-पाठन के इतिहास से प्रारम्भ हुई। यों तो कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रथम भारतीय विश्वविद्यालय है, जिसने बंगला, हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं को एम० ए० की परीक्षाओं के लिए पहले पहल स्वीकृत किया, किन्तु बी०ए० तथा एम० ए० में हिन्दी के पठन-पाठन का प्रबन्ध पहली बार बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में कदाचित १९२२ में तथा दो वर्ष बाद १९२४ में प्रयाग विश्वविद्यालय में हुआ। डा० श्यामसुन्दर दास के पथप्रदर्शन में पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'हिन्दी काव्य में निर्गुणधारा' विषय पर डी० लिट्० के लिये हिन्दी का प्रथम 'थीसिस' प्रस्तुत किया था, जिस पर उन्होंने डाक्टरेट की उपाधि

पाई थी। इसी प्रकार कुछ वर्ष बाद प्रयाग विश्वविद्यालय से रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने हिन्दी अलंकार शास्त्र पर प्रथम खोज सम्बन्धी 'थीसिस' प्रस्तुत करके डी० लिट्० की उपाधि ली थी। इसके बाद तो इस मार्ग के पथिकों की संख्या दिन-दिन बढ़ती गई। अकेले प्रयाग विश्वविद्यालय से अब तक ७ विद्यार्थी डी० लिट्० तथा २१ विद्यार्थी डी० फ़िल० की उपाधियाँ ले चुके हैं तथा लगभग ६० विद्यार्थी खोज कार्य में लगे हुए हैं। बनारस, लखनऊ, आगरा, पटना, दिल्ली, राजस्थान, सागर, नागपुर, कलकत्ता आदि अन्य विश्वविद्यालयों से शोध कार्य करने वाले विद्यार्थियों की यदि गणना की जावे, तो यह संख्या सैंकड़ों तक पहुँचेगी। कुछ विश्वविद्यालयों में एम० ए० की परीक्षा में भी 'थीसिस' दिया जा सकता है। फिर इसके अतिरिक्त अन्य विषयों के विभागों में जैसे अंग्रेज़ी, इतिहास आदि के विभागों में भी हिन्दी से सम्बन्धित कार्य होता रहा है तथा लन्दन, पेरिस, रोम आदि विदेशी केन्द्रों में भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है, और आज भी हो रहा है। हिन्दी शोध सम्बन्धी इस बढ़ते हुए कार्य ने अनेक समस्याएँ पैदा कर दी हैं, जिनमें से केवल कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

हिन्दी-शोध सम्बन्धी कार्य करनेवालों के सामने पहली समस्या अब तक हो चुकने वाले अथवा इस समय चलने वाले खोज कार्य की जानकारी की है। पुनरावृत्ति अथवा पिष्टपेषण को बचाने के लिये तथा शोध कार्य को उचित मार्ग में अग्रसर करने के लिये इस प्रकार की जानकारी नितान्त आवश्यक है। इंटर-यूनीवर्सिटी बोर्ड की रिपोर्टों में इस प्रकार के कार्य का संक्षिप्त उल्लेख रहता है। इसके अतिरिक्त भारतीय हिन्दी परिषद् की त्रैमासिक पत्रिका 'हिंदी अनुशीलन' में भी खोज कार्य की सूचियां जब तब प्रकाशित होती रहती हैं, किन्तु ये इतिवृत न पूर्ण हैं और न साधारण विद्यार्थी को सुलभ ही हैं। वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि १९५० तक के हिन्दी-शोध कार्य का पूर्ण विवरण पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हो जावे, तथा उसके बाद त्रैवार्षिक विवरण नियमित रूप से निकलते रहें। शोध के महत्व को समझने वाली हिन्दी की किसी मान्य संस्था को अथवा किसी भारतीय विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग को यह कार्य शीघ्र संपन्न कर डालना चाहिये।

इसी कार्य का उत्तरार्द्ध हिन्दी में हो चुकने वाले समस्त शोध कार्य को भावी कार्यकर्त्ताओं के लिये सुलभ करना है। अधिकांश स्वीकृत हिन्दी 'थीसिस' अभी भी अप्रकाशित हैं। इन अप्रकाशित 'थीसिसों' में से बहुत से तो विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों में भी सुरक्षित नहीं हैं। कुछ तो रजिस्ट्रारों के दफ्तरों की पुरानी फाइलों और काग़ज़ों की अलमारियों में पड़े सड़ रहे हैं, और कुछ बिलकुल ही लुप्त हो गये हों तो कोई आश्चर्य नहीं। अतः उपर्युक्त खोज-विवरण के अतिरिक्त तीन-चार जिल्दों में अब तक के स्वीकृत 'थीसिसों' का संक्षिप्त परिचय निकल जाना चाहिये जिससे कोई भी शोधप्रेमी इनकी जानकारी आसानी से प्राप्त कर सके। यदि प्रत्येक विश्वविद्यालय वार्षिक खोज का परिचय प्रकाशित करता रहे, तथा महत्वपूर्ण 'थीसिसों' को भी प्रकाशित कराने के सम्बन्ध में सहायता देता रहे तो भविष्य में यह कठिनाई बहुत कुछ सुलझ सकती है।

लगभग पचास वर्ष पूर्व प्रारम्भ किए गए हिन्दी हस्तलिखित पोथियों के खोज के कार्य को भी पूर्ण करना तथा महत्त्वपूर्ण पोथियों अथवा उनकी प्रतिलिपियों को कुछ केन्द्रीय पुस्तकालयों में संग्रह करने का कार्य भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अपने देश में कोई भी पुस्तकालय ऐसा नहीं है, जो हिन्दी खोज सामग्री की दृष्टि से पूर्ण अथवा साधारणतया संतोषजनक कहा जा सके। सच तो यह है कि आप इंडिया आफ़िस लन्दन अथवा बिब्लियोथेक नाशियोनाल पेरिस में बैठ कर अनेक हिन्दी ग्रन्थों

पर खोज सम्बन्धी कार्य अधिक सुचारु रूप से कर सकते हैं। यह स्थिति अपने देश के लिए संतोषजनक अथवा गौरवपूर्ण नहीं कही जा सकती।

भारतीय भाषायों तथा साहित्यों के क्षेत्र में तुलानात्मक शोध सम्बन्धी कार्य करने के लिए अन्य भारतीय भाषाओं की जानकारी आवश्यक है। भारत में किसी विश्वविद्यालय में देश की प्रमुख भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के साधन अभी तक नहीं हैं। कम से कम पाँच-छः आधुनिक प्रतिनिधि भारतीय भाषाओं के पठन-पाठन का सुचारु प्रबन्ध प्रत्येक विश्व-विद्यालय में होना चाहिए। हमारे विश्वविद्या-लयों में प्रायः जर्मन, फ्रेंच, रूसी, चीनी आदि विदेशी भाषाओं के सिखलाने का प्रबन्ध तो रहता है, किन्तु तमिल, गुजराती, बंगाली, मराठी आदि देशी भाषाओं के सिखलाने का प्रबन्ध नहीं है। अब समय आ गया है जब ऐसा प्रबन्ध प्रत्येक भारतीय विश्वविद्यालय में होना चाहिए।

इसी के साथ-साथ भारत की प्राचीन भाषाओं के पठन-पाठन की व्यवस्था की आव-श्यकता है। संस्कृत के अध्ययन का तो प्रबन्ध प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय में है, किन्तु पाली, प्राकृतों अथा अपभ्रंशों के पठन-पाठन की व्यवस्था संतोषजनक नहीं है। यदि बी० ए० में संस्कृत के अतिरिक्त पाली, प्राकृत और अपभ्रंश भी वैकल्पिक विषय हो जावें, तो भविष्य में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भारतीय भाषाओं और साहित्यों के सम्बन्ध में शोधकार्य करने वाले विद्यार्थियों की संख्या काफ़ी बढ़ सकती है।

भाषा के क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए उत्तर भारत में कहीं भी प्रयोगात्मक ध्वनि विज्ञान के प्रयोगों के लिए कोई प्रयोगशाला नहीं हैं। हिन्दी की बोलियों की ध्वनियों के अध्ययन के लिए आज भी विद्यार्थियों को लन्दन या पेरिस जाना पड़ता है। विदेशों में जाकर जो इस प्रकार का कार्य होता है, वह केवल कुछ पढ़े-लिखे हिन्दी भाषियों की बोली पर हो सकता है। ग्रामीण जनता की बोलियों पर कार्य तो तभी संभव हो सकेगा जब ये प्रयोगशालायें हिन्दी प्रदेश में लखनऊ, प्रयाग, काशी, पटना, जयपुर जैसे केन्द्रों में हों, किन्तु अभी तक ज्ञान के इस महत्त्वपूर्ण अंग की ओर शिक्षासंचालकों का ध्यान नहीं जा सका है।

पिछले वर्षों में हिन्दी लोक-वार्ता तथा लोक-साहित्य के क्षेत्रों में कुछ बहुत अच्छा कार्य हुआ है, और इधर अनेक विद्यार्थी इस कार्य में लगे भी हुए हैं। इस कार्य के लिए गाँवों में घूमने तथा मौखिक सामग्री को लिपि-बद्ध करने की आवश्यकता पड़ती है। ये यात्रायें विद्यार्थियों को निजी व्यय करके करनी पड़ती हैं, तथा हाथ से सामग्री को लिपिबद्ध करना पड़ता है। यदि शोध केन्द्रों में सामग्री एकत्रित करने के लिए कुछ धन सुरक्षित रहे, तथा रिकार्डिंग मशीन का प्रबन्ध हो सके, तो यह कार्य अधिक सुचारु रूप से आगे बढ़ सकता है, और अधिक वैज्ञानिक रूप भी ग्रहण कर सकता है।

हिन्दी पोथियों के वैज्ञानिक संपादन के कार्य को भी कुछ हिन्दी विद्वानों ने उठाया हुआ है, और धीरे-धीरे संपादन एक विज्ञान होता जा रहा है। इस कार्य के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता प्राचीन हिन्दी पोथियों के माइक्रो-फिल्मिंग के सुभीते की है। यह सुभीता भी अभी किसी भी हिन्दी के शोध केन्द्र को प्राप्त नहीं है। हाथ द्वारा कराई गई प्राचीन पोथियों की प्रतिलिपियाँ व्ययसाध्य तो होती ही हैं, इसके अतिरिक्त पूर्ण रूप से प्रामाणिक भी नहीं होतीं, फिर माइक्रो फिल्मिंग से अनेक प्रतियाँ बहुत थोड़े व्यय से तैयार की जा सकती हैं।

हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास गत सात-आठ सौ वर्षों में बिना किसी शासन अथवा विद्यापीठ की संरचकता प्राप्त किए हुए हुआ है। हिन्दी-शोध कार्य का पौधा भी इसी प्रकार स्वतंत्र रूप से लगा और धीरे-धीरे पनपा। इस कार्य को आज भी वैसी संरचकता प्राप्त नहीं है, जैसी १५-१६ करोड़ जनता की भाषा को मिलनी चाहिए। आश्चर्य तो यह है कि उपेक्षा के इस वातावरण में इतना कार्य भी हो सका है। वर्तमान प्रगति हिन्दी भाषा और साहित्य की आन्तरिक शक्ति तथा कार्यकर्ताओं के त्याग, तपस्या और सच्ची लगन की द्योतक है। समुचित सुभीता प्राप्त होने पर निकट भविष्य में हिन्दी-शोध कार्य अनेक दिशाओं में विकसित और पल्लवित होगा तथा अधिक पूर्ण और वैज्ञानिक रूप धारण कर सकेगा इसकी पूर्ण आशा है।

—इलाहाबाद से प्रसारित

माटी नये-नये रूप धरे

चिरंजीत

माटी नये-नये रूप धरे,
कर्ता की यह करनी सारी माटी मान करे,
माटी नये-नये रूप धरे।

घड़ा सीस पै चढ़े, गगरिया गलबाहीं पा झूमे,
प्याला मदसे छलक – छलक कर होंठ गुलाबी चूमे,
जग के कारे अंधियारे को दीपक दूर करे,
माटी नये-नये रूप धरे।

चाहे कितने रंग रूप हों, माटी एक रहे,
जैसे कितनी उठे लहरियां, जल तो एक बहे,
बाहर सौ – सौ किरनें, भीतर एक ही जोत जरे,
माटी नये-नये रूप धरे।

पांच तत्व का पुतला मानस, सूरत न्यारी-न्यारी,
कोई उजला, कोई गोरा, काला, बहु रंगी संसारी,
इक ही मिट्टी की यह माया, काहे भेद करे,
माटी नये-नये रूप धरे।

चले चाक ज्यों जन्म – मरण का चक्र चले दिन राती,
घड़ा बने, फिर टूटे, बिखरे, बन-बन बिगड़े माटी,
राम कृपा बिन कैसे भाई! जीवन-कष्ट टरे,
माटी नये-नये रूप धरे।

—दिल्ली से प्रसारित

शिलङ्

स० ही० वात्स्यायन

ऐसा अनुभव कम लोगों को हुआ होगा कि रेलवे के पूछताँछ के दफ्तर में कहीं जाने का मार्ग और गाड़ियों का अतापता पूछने गये हों, और वहाँ क्लर्क पूछी हुई बात का उत्तर देने के बजाय आग्रह करने लगा हो कि 'आप अगर अमुक जगह जा रहे हैं तो उसके पास अमुक-अमुक और स्थान भी ज़रूर देखिएगा।' मैं पहले-पहल शिलङ् गया था तब यही अनुभव मुझे दिल्ली स्टेशन पर हुआ था, और असम देश की स्मृति ताज़ा करने बैठता हूँ तो उस क्लर्क का प्रसन्न आग्रहपूर्ण चेहरा बरबस सामने आ जाता है।

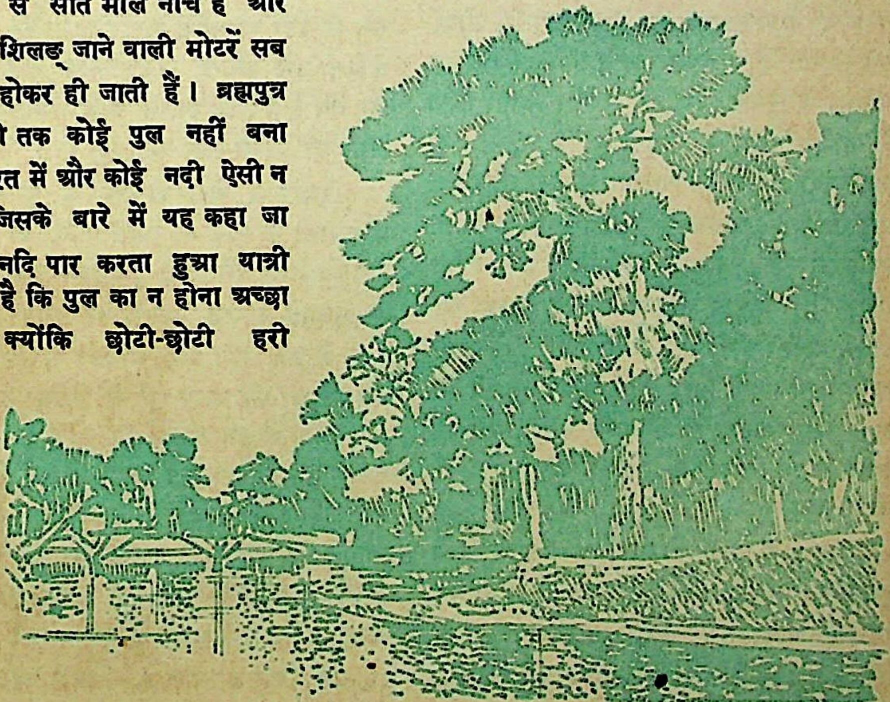
शिलङ् जिसे उत्तर भारतीय प्रायः शिलांग कहते हैं, जैसे वे असम को आसाम कहते हैं, असम देश की राजधानी है, यह उसके वर्णन में सबसे कम महत्व की बात है। इस बात का भी विशेष महत्व नहीं कि वह खासी जयन्तिया पर्वतीय प्रदेश का केन्द्र है। जहाँ तक खासी जाति के सांस्कृतिक जीवन का प्रश्न है उसका वास्तविक केन्द्र अब भी चेरापुंजी ही है। छोटे से खासी प्रदेश में भी केवल चेरापुंजी की खासी भाषा शुद्ध और प्रामाणिक भाषा मानी जाती है और बाकी सब उसकी प्राकृतें हैं। अंग्रेज़ी ज़माने में उसे 'क्वीन ऑफ़ हिल स्टेशन्स' कहते थे। वह कुछ अधिक काम की बात होती यदि विज्ञापन बाज़ी के इस युग में हर पर्वतीय केन्द्र को ऐसे अतिरंजित नाम न दे दिये गये होते। कोई भू स्वर्ग है तो कोई भारत का स्विट्ज़रलैंड, और रानियों का तो अन्त नहीं, मसूरी भी पर्वतीय स्थलों की रानी है और महाबलेश्वर भी, ऊटकमंड भी और कोडैकानल भी। लेकिन सच पूछिये तो शिलङ् जैसा केन्द्र दूसरा नहीं है—यानी भारत में नहीं है, और जो भारत जैसे अद्वितीय देश में नहीं है वह फिर है कहाँ?

इस अद्वितीयता की परिभाषा आसान नहीं है यह मैं जानता हूँ। और उस रेलवे क्लर्क ने जब कहा था कि "शिलङ् से उन्नीस मील आगे डम्पेप नाम की जगह ज़रूर जाइयेगा, वैसी जगह दुनिया में दूसरी नहीं मिलेगी"—अब मेरी जो सहज प्रतिक्रिया थी कि "क्यों, उसमें क्या खास बात है?" वही मेरी बात सुन कर आपकी भी हो सकती है कि "क्यों, शिलङ् को ऐसे क्या सुर्खाब के पर लगे हैं?" खासी पर्वत श्रेणी हिमालय श्रेणी से असंलग्न है और चारों ओर मैदानी क्षेत्र के बीच अकल्पित भाव से उठ खड़ी होती है। यह तो अद्वितीयता के लिए काफ़ी नहीं है। दक्षिण की शिवराय पर्वत माला भी तो ऐसी ही है। घास की वैसी हरियाली अधित्यका-उपत्यकाएं—जिन्हें अंग्रेज़ी में डाउन्स कहते हैं—ऊटकमंड में भी मिल जाती हैं। छोटी कृत्रिम झीलें तो कई जगह हैं और गोल्फ कोर्स, घुड़दौड़ के मैदान, झरने और जल प्रपात, सैर के लिए जंगली पगडंडियां–इन सबका उल्लेख ही क्या करना? असल में एक–एक बात गिनायें तो हर बात किसी न किसी

दूसरे स्थान पर भी पायी जा सकती है। शिलङ् की अद्वितीयता इसी में है कि आमोद और आध्यात्मिक आनन्द की सामग्री का जैसा घना संपुंजन शिलङ् और उसके आस-पास के पर्वतीय प्रदेश में है, वैसा और शायद ही कहीं मिले। यों दक्षिण के पर्वतीय केन्द्र और विशेष रूप से ऊटकमंड की प्राकृतिक छटा कुछ-कुछ शिलङ् से मिलती है।

शिलङ् अब तो वायु मार्ग से भी जा सकते हैं—कलकत्ता से गौहाटी तक विमान जाता है जहाँ से आगे साठ एक मील मोटर की सड़क है। रेल से जाने का पहला जो मार्ग था उसका कुछ अंश अब पूर्वी पाकिस्तान में पड़ता है इस लिए कलकत्ते से जाने में तो काफी चक्कर पड़ता है, लेकिन उत्तर प्रदेश या पश्चिम भारत से जाने वालों के लिए विशेष कठिनाई नहीं है। पूर्वोत्तर रेलवे से कटिहार होते हुए अमीनगाँव और वहाँ से स्टीमर या नाव से ब्रह्मपुत्र पार करके पांडु घाट जाते हैं, जहाँ से शिलङ् जाने वाली बसें या मोटरें मिल जाती हैं। पांडु घाट गौहाटी से सात मील नीचे है और यहाँ से शिलङ् जाने वाली मोटरें सब गौहाटी होकर ही जाती हैं। ब्रह्मपुत्र पर अभी तक कोई पुल नहीं बना है। भारत में और कोई नदी ऐसी न होगी, जिसके बारे में यह कहा जा सके। नद पार करता हुआ यात्री सोचता है कि पुल का न होना अच्छा ही है क्योंकि छोटी-छोटी हरी पहाड़ियों के बीच में से बहता हुआ विशाल जल-प्रवाह अपना एक अनूठा सौन्दर्य रखता है। पांडु घाट का यह नाम इसलिए पड़ा कि पूर्व को जाते हुए पांडवों ने यहीं पर नद पार किया था। घाट के ऊपर ही नद के मोड़ से घिरा हुआ नीलाचल पर्वत है जिस पर कामाख्या का मंदिर स्थित है। असमिया लोग तो निराकारोपासक वैष्णव हैं। इसलिए उनके निकट अब मंदिर का उतना महत्व नहीं है, लेकिन बाहर बड़ी दूर-दूर से यात्री वहाँ आते हैं। नीलाचल के शिखर से ब्रह्मपुत्र के विस्तार का और कामरूप प्रदेश का दृश्य अत्यन्त मनोहारी है और यात्री को चढ़ाई से डर कर अपने को उससे वंचित नहीं करना चाहिए।

गौहाटी या गुवाहाटी (गुवा अर्थात् सुपारी, जिसके निर्यात का यह बहुत बड़ा केन्द्र रहा है) आधुनिक असमिया प्रदेश की सांस्कृतिक राजधानी है। प्राचीन कामरूप राज्य की भी राजधानी यही थी और महाभारत कालीन घटनाओं का स्मरण दिलाने वाले अनेक नाम



इसके आस-पास मिल जायेंगे। ब्रह्मपुत्र के बीच में एक चट्टान है जिसे उर्वशी कहते हैं। उर्वशी का घातक आकर्षण प्राचीनकाल के नाविकों के लिए एक बड़ा परीक्षास्थल था। इससे बच कर निकल जाने वालों को नदी की मुख्य धारा पार करनी पड़ती थी, जो कर्म नाशा कहलाती है। इसे पार करके, अर्थात् कर्म-मुक्त होकर ही कोई उमानन्द भैरव के पवित्र मंदिर तक पहुँच सकता था जो ब्रह्मपुत्र के बीचों-बीच एक द्वीप पर स्थित है। वहीं से ब्रह्मपुत्र के पार अश्वक्लान्त नाम का शिखर है। किंवदन्ती है कि कृष्ण जब कुंडिनपुर से रुक्मिणी को लेकर आये और उनके रथ के घोड़ों ने कूद कर ब्रह्मपुत्र पार किया तब इसी शिखर पर उन्होंने थोड़ी देर विश्राम किया था। इस कथा के अनुसार कुंडिनपुर कहीं उस प्रदेश में था जो अब सदिया कहलाता है।

लेकिन हमें तो शिलङ् जाना है। असमिया प्रदेश के और उससे सम्बन्ध पौराणिक गाथाओं के अन्वेषण में तो हम वर्षों अटके रह सकते हैं।

पांडु या गौहाटी से दिन में दो सर्विसें शिलङ् जाती हैं। जोड़ा बाट से शिलङ् तक की सड़क पर एक समय एक ही दिशा में मोटरें चल सकती हैं, इसलिए जाने और आने वाली सर्विसों के समय बँधे हुए हैं और दोनों तरफ की गाड़ियाँ बीच में नाङ्पो में मिलती हैं जहाँ चाय-पानी किया जा सकता है या मौसम के अनुसार पपीते, अनन्नास, केले और नारंगियाँ ली जा सकती हैं। नाङ्पो के अनन्नास और पपीते प्रसिद्ध हैं, नारंगीं चेरापुंजी की तरफ की अधिक अच्छी होती है। नाङ्पो में ही यात्री पहले-पहल खासी पान और कच्ची सुपारी का सेवन कर सकता है, जिससे ऐसा नशा चढ़ सकता है कि इस पान को प्रायः 'गरीब की ब्रांडी' कहा जाता है।

शिलङ् में अनेक होटल हैं और यात्री अपने वित्तानुसार कहीं भी रह सकते हैं। अधिक दिन रहने वाले लोग बँगले भी किराय पर ले सकते हैं। जाने के लिये कोई भी समय अनुकूल है। इतना ही है कि जुलाई अगस्त में वर्षा बहुत होती है और कभी-कभी कई दिनों तक सूर्य भगवान के दर्शन नहीं होते। सितम्बर से नवम्बर या अप्रैल मई का समय सर्वोत्तम होता है। यों वर्षा से घबराने की कोई बात नहीं है और कोई बहुत ही नाजुक न हो तो भीग-भाग जाने से बीमार होने का भी डर नहीं है। चेरा पुंजी में संसार में सबसे अधिक वर्षा होती है, लेकिन वह स्वास्थ्य की दृष्टि से उत्तम प्रदेश है। कम से कम हमारी तो कभी समझ में नहीं आया कि खासी प्रदेश की राजधानी चेरा पुंजी से शिलङ् क्यों ले आयी गयी—शायद इसीलिए कि शिलङ् की ऊँचाई कुछ अधिक है और वहाँ नगर के विस्तार की गुंजाइश भी अधिक है। जो हो, शिलङ् आप घूम लीजिए वहाँ की सैरगाहें और अनेक जल प्रपात देख लीजिये तो चेरा पुंजी हुए बग़ैर लौटिये नहीं: वैसा करना दिल्ली में बारह बरस रहकर भाड़ झोंकने से कम नहीं होगा। शिलङ् के जल प्रपातों में से एक जिसे अंग्रेज़ी में 'स्प्रेड ईगल फ़ॉल' और वैसे सती प्रपात कहते हैं, वहाँ का सब से बड़ा या सबसे सुन्दर प्रपात तो नहीं है लेकिन उसे कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर अमर कर गये हैं क्योंकि उनकी कविता 'निर्झरेर स्वप्न भंग' का प्रेरणा-स्रोत यही रहा।

शिलङ् से चेरापुंजी तक के दुर्गम रास्ते और रास्ते के साथ की गहरी घाटी का सौन्दर्य रोमांचित कर देने वाला है। इसी घाटी के छोर पर मुशमई के जल प्रपातों का समूह है। वर्षा काल में जब सारी घाटी बादलों से भर जाती है तब बादलों की चादर में से झाँक कर लुप्त हो जाने वाले इन प्रपातों का सौन्दर्य शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता। इतना ही कहूँ कि अगर विराट् के स्पर्श से आप संप्रिक्त होना चाहते हैं—क्योंकि हर कोई नहीं चाहता और हर किसी में उसकी क्षमता भी शायद नहीं होती— अगर आप विराट् का संस्पर्श चाहते हैं तो बादलों से भरे हुएँ उस विशाल प्याले के किनारे जाकर बैठ

जाइये जिसमें ये प्रपात गिरते हैं। कहते हैं कि जो सरस्वती का साक्षात्कार करता है वह गूंगा हो जाता है। यूनानी विश्वास है कि उनकी देवी डायाना को जो देख लेता है वह अंधा हो जाता है। विराट् के संपर्क से दृष्टि चौंधिया जाये या वाणी मूक हो जाये तो कोई आश्चर्य नहीं। सुशमई से कोई गूंगा या अंधा होकर लौटेगा ऐसा कोई अंदेशा नहीं है। लेकिन अछूता नहीं लौटेगा यह मेरा अटल विश्वास है। वह निरंतर ही अपने भीतर उस विराट् की गूंज सुनता रहेगा, ज्योति देखता रहेगा, रस पाता रहेगा जिसे अनुभव तो किया जा सकता है लेकिन बाँधा नहीं जा सकता, शब्दों से नहीं, रंगों से नहीं। मैं कहूँ कि यही बात मैंने उस रेलवे क्लर्क के चेहरे पर देखी थी जो मुझे शिलङ् की गाड़ियों के समय न बताकर अपनी स्मृति में विभोर हो गया था।

चेरापुंजी के आस-पास अनेक दर्शनीय स्थल हैं। लिकाई का जल-प्रपात 'नो का लिकाई' अपने सौन्दर्य के लिये जितना प्रसिद्ध है, उतना ही अपने से सम्बन्ध करुण गाथा के लिए, क्योंकि यह झरना वास्तव में अभागी और पुत्र-शोकाकुला लिकाई के आँसुओं को ही धारा है। बाहर से आकर पहाड़ की ओर बहती हुई पहाड़ के गर्भ में लुप्त हो जाने वाली एक आश्चर्यमयी नदी भी आपको यहाँ मिलेगी, और लताच्छादित स्वाभाविक गुफाएँ भी। दूर नदी-नालों, तड़ाग-सरोवरों और जल-प्लावित धान के खेतों से भरे हुए समतल प्रदेश का धुंधले क्षितिज में खो जाने वाला विस्तार, निकट घाटियों पर मीलों तक नारंगी के झाड़, चेरा पुंजी से शिलङ् जाने वाली पुरानी पगडंडी के साथ बहती हुई नदी की मनोरम घाटी और उसी के पार्श्व में स्थित माफ्लांग—ये भी उल्लेख्य हैं। माफ्लांग का अर्थ है 'घास भरी पहाड़ी'—और यह नाम कितना सार्थक है यह वहीं जाकर जाना जा सकता है। खासी नामों में कविता है, खासी स्वभाव में बड़ी रसिकता और आमोद-प्रियता, खासी लोकोत्सवों में एक रहस्यमय आकर्षण, और खासी लोक-गाथा में गहरी रोचकता—और कभी-कभी किसी गम्भीर सत्य का ऐसा संस्पर्श कि चमत्कृत कर दे। खासी विश्वास है कि कभी आकाश और पृथ्वी एक थे, एक धमनी उन्हें मिलाती थी और एक ही रक्त दोनों लोकों में बहता था। अब वैसा नहीं रहा—और यही हमारे कष्टों का रहस्य है। लेकिन शिलङ् का यात्री थोड़ी देर के लिये उस धमनी का स्पन्दन अनुभव कर सकता है, आकाश-चारी देवताओं का समकक्ष हो सकता है।

—दिल्ली से प्रसारित



कालिदास को श्रद्धांजलि

बच्चन

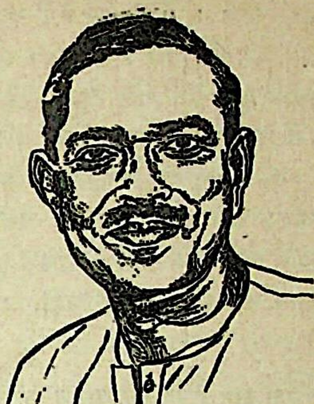
ओ उज्जयिनी के वाग्जयी जगवंदन!
तुम विक्रम नवरत्नों में,
यह इतिहास पुराना,
पर अपने सच्चे राजा को
अब जग ने पहचाना,
थे तुम वह आदित्य, नवग्रह
जिसकी देते फेरी,
तुमसे लज्जित शत विक्रम के सिंहासन।
ओ उज्जयिनी के वाग्जयी जगवंदन!
तुमने किस जादू के बिरवे से
वह लकड़ी काटी,
छूकर जिसको गुण–स्वभाव तज
काल–नियम परिपाटी,
बोली प्रकृति, जगे मृत, मूर्छित
रघु–पुरु–वंश पुरातन,
गंधर्व, अप्सरा, यक्ष, यक्षिणी, सुरगण।
ओ उज्जयिनी के वाग्जयी जगवंदन!
सूत्रधार, हे चिर उदार, दे
सब के मुख में भाषा,
तुमने कहा, कहो अब अपने
सुख–दुख, संशय, आशा,
पर अवनि से, अंतरिक्ष से,
अंबर, अमरपुरी से
सब लगे तुम्हारा ही करने अभिनन्दन।
ओ उज्जयिनी के वाग्जयी जगवंदन!

बहु वरदानमयी वाणी के
कृपापात्र बहुतेरे,
देख तुम्हें ही पर वह बोली,
कालिदास तुम मेरे,
दिया किसी को ध्यान, धैर्य,
करुणा, ममता, आश्वासन,
किया तुम्हीं को उसने अपना
यौवन पूर्ण समर्पण,
तुम कवियों की ईर्ष्या के विषय चिरंतन।
ओ उज्जयिनी के वाग्जयी जगवंदन!



—इलाहाबाद से प्रसारित

आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रेम और नारी



रामधारीसिंह 'दिनकर'

शुद्ध भारतीय प्रणय काव्य की एक विशेषता यह थी कि उसमें प्रेम की अभिव्यक्ति पहले नारी करती थी। यह प्रथा कैसे चली, यह बताना कठिन है। किन्तु तथ्य यह है कि मौन आकर्षण नर और नारी दोनों में होता है और स्वभाव से लजीली होने के कारण नारी अपने पूर्व राग को अधिक काल तक छिपा सकती है। फिर भी कवियों ने जो नायिका के पूर्व राग का पहले कथन किया, उसका एक कारण यह रहा होगा कि नारी इस देश में गौरव के पद पर कम रही और लोग उसे बराबर भोग की वस्तु अथवा आनन्द का खिलौना समझते थे। और कवियों ने नायिका की प्रणय-पीड़ा के उत्तर में नायकों के पूर्व राग का जो वर्णन किया, वह अधिकांश में सवाल का एक ज़रूरी जवाब बन कर रह गया; उसमें वह वेधकता नहीं उत्पन्न हुई जो पुरुष के ज्वलन्त प्रेम के वर्णन में होनी चाहिये।

प्रेमिका के प्रति प्रेमी का यह आकर्षण स्वाभाविक और स्वस्थ है, किन्तु यही दृष्टिकोण है जो रीतिकाल यानी हिन्दी के शृंगार-काल में एक दो कवियों को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलता।

रीतिकाल के बाद भारत में नवयुग का प्रवेश हुआ और नारी को देखने की हमारी दृष्टि बदलने लगी। जो नारी पहले केवल भोग की वस्तु समझी जाती थी, वह अब कुछ-कुछ मानवी के रूप में दिखाई पड़ने लगी। और कवियों को यह अनुभूत होने लगा कि भारत की अनेक समस्याओं के बीच एक बड़ी समस्या नारी जाति के उद्धार की भी है। भारतेन्दु ने भारत-दुर्दशा में नारियों के साथ होने वाले अत्याचारों और प्रेम के मार्ग में जाने वाली सामाजिक बाधाओं का उल्लेख एक साथ किया है—

जन्मपत्र बिन मिले ब्याह
    नहिं होन देत अब,
बालकपन में ब्याहि प्रीति
    बल नास कियो सब।
करि कुलीन के बहुत ब्याह
    बल बीरज मार्‍यो।
विधवा ब्याह निषेध कियो,
    बिभिचार प्रचार्‍यो॥

नारियों के लिए सहानुभूति की जो धारा भारतेन्दु युग में फूटी वह आज तक बहती और चौड़ी होती ही आई है। रीतिकाल की अश्लीलता की निन्दा रीतिकाल के अन्तिम चरण में ही आरम्भ हो गई थी। उधर हिन्दी प्रान्तों में स्वामी दयानन्द सरस्वती के पवित्रतावादी सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार

हो रहा था, और लोगों के कान में ब्रह्मचर्य, कन्या शिक्षा, समाज-सुधार और वैदिक संस्कार के नारे अनवरत वृष्टि की तरह बरस रहे थे। इस समय से साहित्य का संस्कार भी पवित्रतावादी हो गया और रीतिकालीन निरुद्देश्य कला से आजिज़ समाज बड़े वेग से कला की सोद्देश्यता की ओर बढ़ने लगा। द्विवेदी युग में आकर साहित्य का ध्येय आनन्द नहीं, उपयोग हो गया।

किन्तु एक बात है द्विवेदी युगीन कवियों को हम अभुक्त प्रेम से पीड़ित नहीं देखते। न उन में यौन वृत्ति के दलन की ही कोई वेदना है। इस युग के कवियों की मुद्रा उस वयस्क गृहस्थ की मुद्रा है, जिसे अब अपनी पत्नी से अधिक बेटियों का ध्यान है और जो प्रेम से अधिक समाज-सुधार का अभिलाषी है। किन्तु नर-नारी के बीच चलने वाले स्वाभाविक आकर्षण को कला कब तक भुला सकती थी ? अतएव द्विवेदी युग में हम यह जानने का प्रयास देखते हैं कि कौन वह पावन प्रसंग है जिसमें लाकर वर्णन करने से प्रेम दूषित नहीं होता और न नारी रूप ही कलंकित होता है। युग की इस समस्या का हल निकालने में श्रीधर पाठक द्वारा प्रस्तुत गोल्डस्मिथ के "हरमिट" के अनुवाद "एकान्तयोगी" ने बड़ी सहायता पहुँचायी। एकान्तवासी योगी में प्रेम भोग से मुक्त होकर पवित्र उद्देश्यों की ओर प्रेरित होता है, यह बात हिन्दी कवियों को बहुत पसन्द आयी।

एकान्तवासी योगी वह मोड़ है, जहाँ से हिन्दी का प्रेम-काव्य एक नयी दिशा की ओर मुड़ता है। यहीं से वह धारा शुरू होती है जिसमें सौन्दर्य का ध्येय वानप्रस्थ धर्म और प्रेम का अर्थ अपरिमित त्याग हो जाता है। नारी केवल भोग की वस्तु नहीं है, और प्रेम शरीर संपर्क से विहीन भी हो सकता है। हिन्दी में यह सत्य पहले-पहल द्विवेदी युग में ही ध्वनित हुआ। नारीत्व और प्रेम का जो नया क्षितिज प्रकट हुआ, उसी का आभास हम रामनरेश त्रिपाठी के "मिलन" और प्रसाद के "प्रेम पथिक" में देखते हैं। "मिलन" में सौन्दर्य लोक-सेवा की ओर प्रवृत्त होता है और इस प्रवृत्ति को प्रेरणा इस भाव से मिलती है कि सारी सृष्टि में एक ही आत्मा व्याप्त है और विश्व की सेवा अन्ततः अपने प्रियतम की ही सेवा है—

जन जन में प्रेमी को दिखती
　　　　है प्रियतम की कान्ति,
इससे उसे लोक सेवा में
　　　　मिलती है अति शान्ति।

स्पष्ट ही इन पंक्तियों के भीतर से सर्वात्मवाद छिपे-छिपे हिन्दी की नयी कविता में प्रवेश कर रहा था।

यह भी ध्यान देने की बात है कि नारी रूप का परिष्कार प्रेम के परिष्कार की अपेक्षा अधिक कठिन कार्य था। इसलिये नारी रूप की शुद्धि से पूर्व प्रसाद जी ने प्रेम को शुद्ध किया और उनके "प्रेम पथिक" में वे पंक्तियाँ ऐसी उतर पड़ीं जो आगे की कविता के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम देती रही हैं—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है
　　　　श्रान्त भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर
　　　　जिस के आगे राह नहीं।

इन पंक्तियों ने सिर्फ़ प्रेम की ही संभावनाओं का द्वार नहीं खोला, प्रत्युत उनके भीतर से नवीन हिन्दी कविता ने भी उस अनन्तता की पहली झाँकी ली जो सारे छायावाद-काल में कवियों के विस्मय का कारण बनने वाली थी।

द्विवेदी युग में नारी का रूप-चित्रण कम, प्रेम की महिमा का बखान अधिक हुआ है। नारी की ओर भोग की दृष्टि से देखना दुःशीलता है, इस अनुभूति के प्रबल हो उठने से कवियों ने कामिनी नारी की ओर आँख उठा कर देखना छोड़ दिया और चूंकि नर-नारी के पारस्परिक आकर्षण को अकलंक विधि से लिखने की परम्परा का विकास तब तक नहीं हुआ था, इसलिये

उन्होंने उसे कविता में कभी आने नहीं दिया। वे कर्त्तव्य भाव से सती साध्वी और वीर रमणियों की ओर आकृष्ट हो गये। इस प्रकार साहित्य में वे नारियाँ प्रधानता पाने लगीं जो प्रेम नहीं, सौन्दर्य नहीं, केवल पुण्य प्रताप, वीरता और त्याग के कारण प्रसिद्ध हुईं थीं।

नारी का शक्ति रूप यथेष्ट नहीं है, यह अनुभूति भी द्विवेदी युग में अनुपस्थित नहीं थी। विरहिणी व्रजांगना का हिन्दी में अनुवाद होना यह बतलाता है कि पाठक उन नारियों का भी कुछ हाल सुनना चाहते थे जिनकी सिद्धि का कारण प्रेम था। उसी प्रकार शंकर जी की "केरल का तारा" और "वसन्त सेना" तथा गुप्त जी की "शकुन्तला"—इन कविताओं से द्विवेदी युग की रसिकता का थोड़ा आभास ज़रूर मिलता है। ऐसा लगता है, मानो कवि ने अपने मित्रों के मनोरंजन के लिए रमणीक रूप का भी कुछ चमत्कारपूर्ण वर्णन कर दिया हो। "मिलन" काव्य की विजया, मैथिलीशरण जी की "द्रौपदी" और भगवानदीन की "वीर क्षत्राणियाँ", ये द्विवेदी युग की प्रतिनिधि नारी कल्पनायें हैं। स्वामी दयानन्द के सुधारों का एक उद्देश्य वीर रमणियों का भी प्रादुर्भाव था। ऐसा लगता है कि समय के हृदय में उन्होंने जो आग्नेय कल्पना भरी, वही हिन्दी में विजया, सुमना, द्रौपदी और वीर क्षत्राणी बन कर अवतीर्ण हो गयी।

आधुनिक हिन्दी काव्य में नारियों के प्रति सम्मान का भाव कैसे बढ़ा, इसके प्रमाण मैथिली-शरण गुप्त की कविताओं में सुस्पष्टतया मिलते हैं। उनकी "भारत भारती" में भारतीय नारी की दुर्दशा का चित्र बेधक बनकर आया है। कवि ने उसकी ज़िम्मेदारी पुरुषों पर डाली है। नारियों की अवनति अन्ततः पुरुषों की ही अवनति है, यह अनुभूति जगाते हुए उन्होंने कहा—

सर्वांग के बदले हुई
यदि व्याधि पक्षाघात की।
तो भी न क्या दुर्बल तथा
व्याकुल रहेगा वातकी॥

"साकेत" में नारीत्व के सम्मान का एक दूसरा पक्ष भी है। प्राचीन विश्व में जब लोग संन्यास लेकर घर छोड़ते थे, तब उन की पत्नियों की अवस्था असह्य हो जाती थी। वैराग्य की प्रवृत्ति के साथ नारियों की परा-धीनता एक विचित्र प्रकार से जुड़ी हुई थी। पति को छोड़ कर पत्नी संन्यास नहीं लेती थी, और लेती भी तो इस से पति का जीवन कुंठित नहीं होता था, क्योंकि वह आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र था और दूसरे विवाह की भी उसे पूरी स्वतन्त्रता थी। किन्तु पति के संन्यास लेने पर पत्नी की स्थिति दयनीय हो जाती थी, समाज में उसे न तो आर्थिक स्वतन्त्रता ही प्राप्त थी और न दूसरा विवाह करने का अधि-कार ही। अतएव संन्यासी की पत्नी को जीवनभर कुंठाओं में छटपटाते रहने के सिवा और कोई चारा नहीं था। नारी की यही वेदना "साकेत" के मूल में काम करती है। ऊर्मिला के विरह-प्रसंग को सर्वाधिक प्रमुखता देकर गुप्त जी ने नारी की इसी निस्सहायता को समाज के सामने रक्खा है। राम कथा में प्रसंग न रहने के कारण गुप्त जी को इस प्रश्न के समाधान करने का अवसर नहीं मिला।

गुप्त जी के हृदय में नारी जाति के प्रति जो अगाध करुणा और सम्मान है, वह खुल कर "यशोधरा" में व्यक्त हुआ है। स्त्रियों के प्रति जिस सहानुभूति से भर कर कवि ने यशोधरा की रचना की है उस की पहली कड़ी यह है—

अबला जीवन, हाय, तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

और उस की अंतिम कड़ी यह है कि जब बुद्धदेव सिद्ध महात्मा होकर कपिलवस्तु लौटे, तब उन्हें देखने को सारा नगर उमड़ पड़ा, किन्तु यशोधरा अपने स्थान से नहीं हिली। वह उसी स्थान पर बैठी रह गयी,

जहाँ एक बार सिद्धार्थ उसे छोड़ कर चोर के समान निकल भागे थे। उद्वेग के मुहूर्त्त में यशोधरा ने अपरिमेय धीरज से काम लिया--

यदि वो चल आये हैं इतना,
तो दो पग उन को है कितना ?

और जब शुद्धोदन यह कहते हैं कि—

गोपा बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको,

तब तो एक तरह से पुत्री का स्थान पुत्र से ऊपर चला जाता है। इस प्रसंग में यह भी ध्वनित होने लगता है कि जो श्रेष्ठता गौतम को इतनी तपस्या के बाद प्राप्त हुई, वह यशोधरा को धीरज के साथ घर बैठे-बैठे हासिल हो गयी।

और जब गौतम यशोधरा के सामने यह स्वीकार करते हैं कि—

आया जब मार मुझे मारने को बार बार,
अप्सरा अनीकनी सजाये हेम हीर से,
तुम तो यहाँ थीं, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ,
जूझा मुझे पीछे कर पंचशर वीर से।

तब विवाह का नैतिक महत्त्व और एक-पत्नीव्रत की महिमा प्रोज्ज्वलता के साथ उद्भासित हो उठती है।

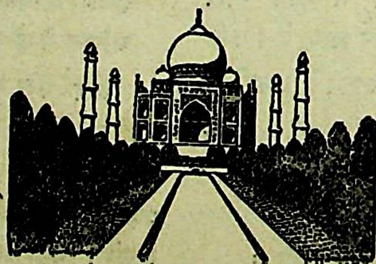
प्रेम की देवी राधा का चरित्र तो गुप्त जी ने द्वापर काव्य में भक्ति की परम्परा में अंकित किया है। किन्तु विधृता के उद्गारों की चोट नवयुग की नारी समस्या पर खुलकर पड़ती है।

विधृता कृष्ण के रास में सम्मिलित होना चाहती थी, किन्तु उसके पति ने उसे रास में जाने से रोक दिया। कथा है कि विधृता का तत्क्षण देहान्त हो गया और शरीर को पति के सम्मुख छोड़कर आत्मा के द्वारा वह कृष्ण से जा मिली। द्वापर काव्य में दृश्य यह है कि विधृता का मृतक शरीर पति के सामने पड़ा हुआ है और उसकी आत्मा पति को धिक्कार रही है कि तुम जो मुझ पर इतना प्रेम दिखाते थे, वह तुम्हारी चाटुकारिता थी, तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं था—

कामुक चाटुकारिता ही थी
क्या वह गिरा तुम्हारी ?
एक नहीं दो दो मात्रा से
नर से भारी नारी।
हा अबला, हा अरी अनादर
अविश्वास की भारी,
मर तो सकती है अभागिनी
कर न सके कुछ नारी।
अधिकारों के दुरुपयोग का
कौन यहाँ अधिकारी ?
कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या
अर्द्धांगिनी तुम्हारी ?

विधृता के मुख से जो प्रश्न उठाये गये हैं, वे बड़े ही गहन और गम्भीर हैं और भारत में ही नहीं, सारे संसार में आज उनका समाधान खोजा जा रहा है। विवाह के बाद नारियों की स्वतन्त्रता पर कहीं कोई रेखा खींची जाय या नहीं ? यह समस्या कठिन हो रही है और उसकी आग में घर के घर स्वाहा होते जा रहे हैं। हिन्दी कविता में इस समस्या के भी समाधान प्रकट होने लगे हैं।

—दिल्ली से प्रसारित



गान्धी जी की विभूति

काका कालेलकर

जब-जब गान्धी जी का स्मरण करता हूँ, तब तब उनकी उत्तुंग विभूति के लिए मन में एक ही विश्लेषण आता है—भव्य। उनका जीवन भव्य था, उनकी शहादत भी भव्य थी। जिस हिन्दू धर्म के वे नैष्ठिक उपासक थे, उसकी विशुद्धि के लिए उन्होंने अपने प्राण दे दिए। मुझे विश्वास है कि गान्धी जी के बलिदान के कारण हिन्दू धर्म का पुनर्जन्म हुआ है।



हमारी संस्कृति में बारह वर्ष की अवधि को एक तप कहते हैं, और मनुष्य के पुरुषार्थ का काल पाँच तप का यानी साठ वर्ष का गिना जाता है। हमारे संवत्सर के नाम भी साठ हैं। साठ वर्ष में एक ज़माना बदल जाता है। पिछले साठ वर्ष के ज़माने को हम स्वराज्य युग कह सकते हैं। इस स्वराज्य युग में हिन्द के स्वराज्य की एकनिष्ठ उपासना करने वाली दो विभूतियां पैदा हुईं—लोकमान्य तिलक और कर्मवीर महात्मा गान्धी। तो भी दोनों की दृष्टि में और कार्य पद्धति में बहुत फ़र्क था। किसी ने इस भेद को स्पष्ट करने के लिए एक सूत्र बनाया, जिसकी उन दिनों बड़ी चर्चा हुई थी। सूत्र था कि हिन्दुस्तान के स्वराज्य के लिए ज़रूरत पड़ने पर लोकमान्य सत्य को भी तिलांजलि दे देंगे, और महात्मा गान्धी इतने सत्यनिष्ठ हैं कि सत्यनिष्ठा की वेदी पर हिन्द के स्वराज्य को भी बलिदान में चढ़ायेंगे। ऐसे सूत्र बड़े ख़तरनाक होते हैं। कौन नहीं जानता कि निर्भय लोक मान्य कठोर से कठोर सत्य बोलते कभी हिचकिचाये नहीं, और सारी दुनिया आश्चर्य चकित होकर क़बूल करती है कि गान्धी जी ने अपनी सत्यनिष्ठा के बल पर अहिंसा के रास्ते अपने ही जीवन-काल में हिन्दुस्तान को स्वराज्य दिलाया। गान्धी जी की भारत निष्ठा की भव्यता इस बात में थी कि वे सत्य को, अहिंसा को, विश्व प्रेम और सेवा को भारत की आत्मा ही मानते थे।

यहाँ पर मुझे एक भव्य प्रसंग याद आता है। गान्धी जी भंगी कॉलोनी के अपने कमरे में बैठे थे। बड़े-बड़े मुलाक़ातियों का ताँता लगा हुआ था। इतने में अमेरिका के चन्द प्रतिष्ठित नर-नारियों का मण्डल गान्धी जी से मिलने आया। एशिया के देशों में जो महान् संकट है, ख़ास करके जो अन्न संकट है, उसे दूर करने के लिए अमेरिका क्या कर सकता है, उस पर सोचने के लिए यह मण्डल आया था। उनकी बात से मालूम हुआ कि ये लोग अपने क्षेत्र में सर्वाधिकारी थे।

उन्होंने गान्धी जी से कहा कि हम देखते हैं कि संकट भारत में तो है ही, पर जापान में भी है। दोनों को पूरी सहायता हम दे सकें इतने साधन हमारे पास नहीं हैं। फिर पूछा अब कहिए कि ऐसी हालत में हम किस राष्ट्र को मदद करें ?

उन लोगों की कठिनाई सच्ची थी। वे सचमुच असमंजस में थे। भारत का संकट कम नहीं था। गान्धी जी का उत्तर सुनने के लिए सब लोग एकाग्र हो गए। मैं अपने लिए कह सकता हूँ कि मेरी बुद्धि और मेरा हृदय दोनों एकाग्र होकर कान में आ बैठे।

गान्धी जी ने एक क्षण के लिए ही सोच कर निःशंक भाव से कहा आपको अपनी मदद जापान को ही पहुँचानी चाहिए, और तुरन्त उन्होंने अपना कारण भी दे दिया। गान्धी जी ने कहा कि भारत को मदद करना दया धर्म होगा, मानवता का पालन होगा, किन्तु जापान को मदद करना आपके लिए प्रायश्चित रूप है। पिछले महायुद्ध में आपने उस शक्तिशाली और मानधनी राष्ट्र का नाश किया है, उसके प्रति महान् द्रोह किया है। उस पाप का आज आप कुछ प्रायश्चित कर सकें तो आपका भला होगा। यही आपका धर्म है।

दक्षिण अफ्रीका के दो किस्से सबको याद हैं, जब गान्धी जी ने अपने पर हमला करने वालों पर मुकद्दमा चलाने से इन्कार कर दिया और उनको हृदय से माफ़ी बख़्शी।

भारत में अनेक महात्मा हो गए हैं। उनमें से चन्द तो जीवन विमुख थे। चन्द केवल आत्मोद्धार के पीछे पड़े हुए थे। कइयों ने लोकोत्तर शक्तियाँ हासिल कीं। अनेक दयामय महात्मा थे, जिन्होंने लोगों का दुख दूर किया। ऐसे भी विज्ञान वीर महात्मा थे, जिन्होंने योग द्वारा या प्रयोग द्वारा मनुष्य की गूढ़ शक्तियाँ ढूंढ निकालीं। लेकिन, जीवन के सब स्तरों में अपने जीवन द्वारा प्रवेश करके जागतिक सवालों की बुनियाद तक पहुँचने वाले महात्मा तो गान्धी जी ही हुए। इसी लिएउन्हें हम जीवनवीर और जीवनयोगी कह सकते हैं।

गान्धी जी के विश्वात्मैक्य में किसी का भी बहिष्कार नहीं था। हीन से हीन, पतित से पतित, दुष्ट, दुर्जन सबके प्रति उनके मन में आत्मैक्य का प्रेम था।

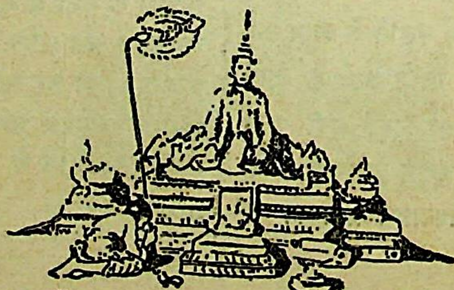
यही कारण था कि अन्तर में परम शान्ति रखते हुए भी वे अपने हृदय में समस्त संसार की वेदना अनुभव करते थे।

हमारे बीच एक वर्ग ऐसा है जिसकी संख्या सबसे अधिक है, जिसे किसी ने बहिष्कृत नहीं किया है, जिसे हम पिछड़ी हुई जाति भी नहीं कह सकते, किन्तु जिसे सारी दुनिया में योग्य स्थान नहीं मिला है। वह है स्त्री जाति। इस जाति के उद्धार के लिए गान्धी जी ने कोई खास प्रवृत्ति नहीं शुरू की, किन्तु इस जाति के उद्धार के लिए गान्धी जी ने जीवन भर अनेक कोशिशें कीं।

गान्धी जी ने कई बार कहा है कि भगवान ने मुझे स्त्री का हृदय दिया है। यही कारण है कि मैं स्त्रियों के प्रश्न आसानी से समझ सकता हूँ, और स्त्रियाँ भी माता रूप से अपना दिल मेरे सामने खोलती हैं।

गान्धी जी की नारी सेवा का इतिहास आज बहुत कम लोग जानते हैं। पता नहीं कि वह लिखा जायेगा या नहीं। किन्तु जब वह दुनिया के सामने प्रकट होगा, सब लोग कह उठेंगे कि सचमुच यह सबसे भव्य है।

—दिल्ली से प्रसारित



दो फूल

चन्द्रकिरण सौनरिक्सा

राजेन्द्र ने तीसरी बार घड़ी की ओर देखा और बेचैनी से करवट लेकर पड़ रहा। माह-पूस के जाड़े हों अथवा जेठ-बैसाख की गर्मी, उसे सवेरे सात बजे और शाम को चार बजे दो कप चाय अवश्य चाहिए। भोजन की एक समय की नाग़ा वह भले ही सह ले, पर एक समय चाय की नाग़ा हो जाय, इसकी कल्पना भी वह नहीं कर सकता था। पाँच मिनट और निकल गये। उसने लेटे-लेटे ही पुकार लगाई, अम्मा! "क्या आज चाय नहीं मिलेगी? पाँच बज रहा है।" नीचे से अम्मा की खीझ भरी सन्तप्त वाणी सुनाई पड़ी, "हाय राम, पाँच बज गये! यह मुआ रमचन्ना घंटा भर से दूध लेने गया है, अभी तक नहीं लौटा। राजू बेटा मेरे! जरा जाकर देख तो सही, यह कर क्या रहा है?"

मां के बेटे को उनका यह सम्भाषण तनिक भी न रुचा। उसने वहीं से उत्तर दिया, "अम्मा? तुम भी ग़ज़ब करती हो। भला मैं उसे कहाँ-कहाँ ढूंढूँगा? क्या जाने, कहाँ गुल्ली डण्डा खेल रहा होगा?"

"नहीं रे, तू कुम्हार-टोले-में जाकर देख, वहीं मिलेगा। आज देखना, उसकी कैसी मरम्मत करती हूँ। दिनों-दिन कामचोर होता जा रहा है।"

अब तो उठना ही पड़ा। मन ही मन रमचन्ना को गाली दे राजेन्द्र ने किंवाड़ खोले। दिन भर की धूप से जली-तपी लू का एक थपेड़ा उसके नाक-कान गरम कर गया। राजन को पाँच बजे भी बाहर निकलना अखर गया। उसका सारा क्रोध उसी बारह वर्षीय नौकर रामचन्द्र पर, जिसे सब रमचन्ना कहते थे, जा पड़ा। आज वह अच्छी तरह उसके कान ऐंठ देगा।

सदर द्वार से निकल, गलियों से होता हुआ, वह कुम्हार टोले में पहुँचा। उस जेठ की तपती-झुलसती तिपहरी में कुम्हारों के काले, साँवरे, गोरे बालक प्रायः एक एक लँगोटी लगाये, कमर तक मिट्टी से सने, जगह जगह मिट्टी गूंध रहे थे। बीच में पुराने बरगद के नीचे कई कुम्हार अपने-अपने चाक रक्खे घड़े, मटके, कुल्हड़ तालमय गीत से उतार-उतार कर धरती पर बिछाते थे। बूढ़ा छेदी कुम्हार अपने सामने गीली मिट्टी रक्खे खिलौने बना रहा था। राजेन्द्र ने देखा उसी के पास रमचन्ना बैठा बड़ी तन्मयतापूर्वक कोई खिलौना कोरने में लगा था। पंजे दबाये राजेन्द्र चुपचाप उसके पीछे जा खड़ा हुआ। डूबते सूरज की तीखी, आग बरसाती किरणें रमचन्ना की गरदन और नंगी घुटी चाँद पर नाच रही थीं। अनवरत पसीने की धार से उसकी पहनी हुई फटी कमीज़ और नेकर भीग कर उसकी पीठ व कमर से चिपक गये थे। पास में दूध लाने का लौटा नौ मन धूल से भरा रक्खा था। उस धूल भरे नन्हे मूर्तिकार की एकाग्र तन्मयता देख राजेन्द्र का क्रोध पानी-पानी हो गया। उसने स्नेह से पुकारा "रमचन्ना!"

"अरे बाप!" रमचन्ना मानो स्वर्ग के कल्पना-लोक से मृत्यु-लोक में लौट आया।

हाथ की मूर्त्ति छूट पड़ी। दूसरे ही क्षण वह पास रक्खा लोटा उठा, सिर पर पाँव रख, भाग चला दूध लेने। राजेन्द्र ने तब झुक कर उसी गीली मूर्ति को उठा लिया, वह गणेश जी थे अधबने।

बूढ़े छेदी ने स्वर से पहिचान कर आदर-पूर्वक कहा, "कौन? बड़के भैया हैं? राम राम भैया। कहो लखनऊ से कब लौटे? इस रमचन्ना की खोज में आये होगे न? बड़ा बदमास है ये लौंडा भी। जहाँ निगाह बची और बस यहाँ आकर खेल में लगा। कितना ही कहो, मानता ही नहीं।"

राजेन्द्र ने बूढ़े की बात काट कर कहा, "छेदी काका! मूर्ति तो रमचन्ना ने बड़ी सुन्दर बनाई है।"

छेदी ने तनिक गर्व से उत्तर दिया, "सो तो लौंडे का हाथ उस्तादी है। जैसी मूर्ति दे दूँ, वैसा ही नमूना उतार देता है।"

"बच्चों की बातें!" छेदी मुस्कराया, "रमचन्ना तो मूरत के साथ खिलवाड़ करता है, सूंड ज़रा सुघड़ हुई तो क्या है? और एक आँख तनिक छोटी-बड़ी हो गई तो क्या हरज है? ग्राहक तो रंग की चमक देखते हैं। अच्छी मूरत होने से चार पैसे की मूरत के दो आने तो कोई देगा नहीं। फिर एक ही मूरत में सारा दिन खपा दें तो भला काम कैसे चले। बैठो भैया, खड़े क्यों हो?" राजेन्द्र बैठा नहीं। चलते हुए बोला, "अब चलूँ। वह दूध लेकर घर पहुँचने वाला होगा। मैं रहूँगा तो अम्मा के थप्पड़ों से उसे बचा लूँगा।"

सचमुच ही राजेन्द्र ने घर जाकर अम्मा की दो-चार झिड़कियों से अधिक रमचन्ना की पूजा न होने दी। अम्मा मशीन पर कपड़ा सीने बैठी थीं। परन्तु कैंची का पता न था। इधर-उधर ढूंढ़ कर अन्त में वे बड़बड़ाईं, "ये रमचन्ना कहाँ है? कमबख्त हर समय घर से ग़ायब रहता है। ज़रूर इसी ने कहीं कैंची रक्खी है। इसके मारे अब कैंची चाकू भी ताले में बंद करने पड़ेंगे।" अब घर भर में कैंची की जगह रामचन्द्र की तलाश होने लगी। थोड़ी खोज से वह मिला। पीछे वाली छत पर बरसाती के तौर पर जो टीन पड़ी थी, उसी धूप से तपी टीन और लू के झकोले से झुलसता रमचन्ना कैंची व कागज लिये फूल-पत्तियां बना रहा था। आगे-आगे अम्मा और पीछे राजेन्द्र, वीरू व पुष्पा। "क्यों रे पाजी! फिर तूने मेरी कैंची छुई? कागज काट-काट कर सारी धार बरबाद कर दी।" अम्मा ने जाते ही उससे कैंची छीन ली। रमचन्ना ने सिर झुका लिया। अम्मा ने गोंददानी व कैंची उठा ली और बड़बड़ाती हुई नीचे चली गयीं। उस धूप में टीन तले खड़े रहना किसी साहसी का ही काम था। उदास रमचन्ना ने सभी काग़ज़ी फूल अपने कुर्ते में डाल लिये और उन्हें मसोसने लगा।

"यह क्या करते हो", राजेन्द्र ने टोका, "बने बनाये फूल मसल कर नष्ट मत करो। मैं तुम्हें दूसरी कैंची ला दूँगा। ये कितने सुन्दर फूल हैं।"

रमचन्ना का मुख एक फीकी भोली मुस्कान से खिल उठा। उसने कुर्ते की एंठन खोलकर दिखाया। सबने देखा उन फूलों में विचित्र प्रकार के लहरिये पड़ गये थे।

"शाबाश!" राजेन्द्र ने उसकी पीठ ठोंकी, "वाह, तू तो बड़ा भारी कारीगर है। इतने सुन्दर लहरिये कैसे डाल लिये। ये फूल तू क्या बेचने को बना रहा है?"

रमचन्ना ने लजाकर उत्तर दिया, "नहीं, बड़े भैया! परसों पुष्पा जीजी की गुड़िया की बरात आयेगी न। उसी की फुलवाड़ी बना रहा हूँ। क्यों भैया, अपने काग़ज़ों में से चार सफ़ेद बारीक काग़ज़ दोगे? चमेली के फूल तो सफ़ेद होते हैं न। उनकी माला बनेगी बरातियों के लिये।" कमरे में सफ़ेद बारीक टाइप के काग़ज़ कम होने का रहस्य राजेन्द्र की समझ में अब आया। हँसकर बोला, "दो, चार, छः, जितने

तुम्हें चाहिये उतने दे दूँगा। पर देख, जब तुझे काग़ज़ चाहिये, मांग लेना। चुराना मत।" रमचन्ना ने हँसकर सिर झुका लिया।

उसके तीसरे दिन दोपहर की बात है। राजेन्द्र सिरहाने फुल-स्पीड से पंखा छोड़े, द्वार बंद किये, सोने की चेष्टा कर रहा था। नीचे आँगन में बीरू के शोरगुल ने जब लेटना असम्भव कर दिया, तो वह उठकर झाँकने लगा। देखा, मोहल्ले के बच्चे तथा बीरू रमचन्ना को घेरे खड़े हैं, तथा बीरू उसका कान एँठता हुआ कह रहा है, "तू बड़े भैया के दुलार से बिगड़ गया है। सीधी तरह दुअन्नी दे दे।"

रमचन्ना अपराधी की मुद्रा में खड़ा था, न हिलता था न बोलता था। बीरू ने उसकी गरदन पकड़ कर कहा, "देता है या नहीं? कि बनाऊं मुर्गा?"

राजेन्द्र ने ऊपर से कहा, "बीरू! यह क्या शैतानी है?" सकपका कर बीरू ने गरदन छोड़ दी। परन्तु स्वर को एक सप्तक चढ़ाकर बोला, "बड़े भैया! देखिये न, इस रमचन्ना ने मेरी दुअन्नी बस्ते में से चुरा ली है। अब माँगता हूँ तो बोलता नहीं। बोल बे! कहाँ रक्खी है दुअन्नी?"

रमचन्ना चुप सिर झुकाये खड़ा था।

राजेन्द्र नीचे आया। उसकी पीठ पर हाथ रख कर बोला, "रम्मू! सच बताओ तो, तुमने चुराई है? पैसे चाहिये थे तो मुझसे माँग क्यों न लिये? चोरी क्यों करी। छीः!"

रमचन्ना की आँखें डबडबा आईं।

बीरू ने उसके निकट की जेबों में हाथ डाल, तलाशी लेते-लेते कहा, "रोकर डराता है। दुअन्नी भला तेरे सिवाय कौन ले सकता है?" फिर जेब से चार छोटी पुड़ियाँ निकाल, विजय-भाव से राजेन्द्र को दिखाते हुए बोला, "पकड़ गयी न चोरी? यह देखिये, रंग की पुड़ियाँ। मेरी दुअन्नी चुराकर यह उसके रंग खरीद लाया है। चोट्टा! बेईमान। चल तो अम्मा के पास।" वह उसका हाथ खींचकर भीतर ले चला।

"ठहरो!" राजेन्द्र ने उसे रोका। "रम्मू! भला रंग तुझे किस लिये चाहिये थे?" अब रम्मू रो पड़ा; सिसक कर बोला, "बड़े भैया, बीरू भैया ही तो कल कह रहे थे कि जो खिलौने तूने बनाये हैं, उन्हें दशहरे के मेले में बेचने चलेंगे। भला बिना रंग के खिलौने कहीं बिकते हैं?"

"मैंने क्या यह कहा था कि बस्ते से मेरी दुअन्नी चुरा कर रंग ले आना? वाह।" बीरू ने सफाई दी। "बहाना तो देखो, तेरे रद्दी खिलौने के लिए मैं अपनी दुअन्नी क्यों बरबाद करने लगा?"

राजेन्द्र ने तब उस नन्हें मूर्तिकार को बीरू के लौह-बन्धन से मुक्त करते हुए कहा, "तू अपनी दुअन्नी लेगा या और कुछ? ले।" उसने जेब से दुअन्नी निकाली और दे दी, "और रमचन्ना! देख, दो चार पैसे चाहिए, तो मांग लिया कर मुझ से। इस तरह रक्खे-धरे पैसे मत उठाया कर।"

रमचन्ना ने मैले कुरते के छोर से आँसू पोंछते हुए आगे ऐसा न करने का वचन दिया।

उस समय बात आई गई हो गई। पर सन्ध्या को चाय पीते समय बाबू जी ने राजेन्द्र से कहा "बेटा, तुम तो छुट्टियाँ बिता कर चले जाओगे। घर के नौकर को पैसों की शह देकर क्यों बिगाड़े दे रहे हो? जब से तुम आये हो, रमचन्ना बिलकुल भी काम नहीं छूता। चोरी करने लगा सो अलग।"

राजेन्द्र ने प्रतिवाद में कहा," पिता जी! उस लड़के में एक कलाकार की प्रतिभा है। आपने कभी उसके हाथ के बने खिलौने और काग़ज़ की फुलवाड़ी नहीं देखी। इसे आप मेरे साथ लखनऊ भेज दें, वहाँ आर्ट स्कूल में भरती करा दूँगा।"

"बच्चों की बातें! उसका खर्चा कौन उठायेगा?"

राजेन्द्र ने कहा, "फीस तो माफ़ हो जायगी, बस खाने-रहने पर कोई पच्चीस-तीस रुपये मात्र खर्च आयेगा।" "पच्चीस-तीस रुपये? सिर्फ़!" बाबूजी हँसे, "बेटा, तुम्हें दुनिया की मुसीबतों का अभी पता नहीं। उसकी ग़रीब मां के पास उसे खिलाने भर को होता तो स्कूल छुड़ा कर दस रुपये महीने पर हमारे यहाँ नौकरी क्यों कराती? वह ग़रीबिनी चार घर के बासन माँज कर अपने दूसरे बच्चों का पेट पालती है। और कला-वला की कुछ नहीं जी, ये तो लड़कपन के शौक हैं। जहां चार बरस बीते, घर-दुआर की चिन्ता सिर पड़ी, तो सब भूल जायगा।"

छुट्टियाँ बिता कर राजेन्द्र पढ़ने चला गया।

लखनऊ से राजेन्द्र ने घर पत्र डाला तो रमचन्ना को भी स्नेह और प्यार भेजा। साथ ही बीरू को लिखा कि उस पर बेकार का रौब न जमाया करे। नौकर है तो क्या, वह उसका समवयस्क है। उत्तर में बीरू ने लिखा, रमचन्ना दिनों-दिन कामचोर होता जा रहा है। अम्मा को बहुत झिकाता है और बीच-बीच में कुम्हार-टोले भाग जाया करता है।

तीन महीने बाद बीरू ने जो पत्र भेजा, उसमें घर के कुशल-समाचारों के पश्चात् लिखा था—"बड़े भैया, आपके रमचन्ना ने तो बड़े-बड़े चोरों को मात कर दिया। जानते हैं उसने क्या चुराया? ड्राइंग रूम में जो पन्द्रह रुपये वाली गाँधी जी की मूर्ति रक्खी थी, जिसे चाचा जी बम्बई से लाकर दे गये थे, उसने चुरा ली। बड़ी सफ़ाई से चुरा कर उसे भूसे वाली कोठरी में छिपा कर रख दिया। वह तो गनेशी भूसा लेने घुसा, तो अँधेरे में उसका पाँव मूर्ति पर जा पड़ा। वह तड़-तड़ करके टूटी, तब पता चला। रमचन्ना पर खूब मार पड़ी। आप उसे सीधा समझते थे, अम्मा ने उसकी मां को बुलाकर कहा तो उसने भी उसे खूब पीटा। रमचन्ना उसी रात भाग गया।

पत्र पढ़ कर राजेन्द्र सन्न रह गया।

लम्बे-लम्बे आठ वर्ष निकल गये। देहरादून में चित्रों की बड़ी भारी प्रदर्शनी हो रही थी। राजेन्द्र अभी अपने कुछ चित्र लेकर आया था। वह अब लखनऊ में अपना स्टूडियो खोल कर स्वतन्त्र फ़ोटोग्राफ़ी करता था। ऑयल पेंटिंग में भी उसकी अच्छी गति थी। दिन भर प्रदर्शनी की भीड़-भाड़। जून मास की धूप, लू, तपन। रात को नौ बजे जब राजेन्द्र वहाँ से निकला तो उसके आतिथेय शंकर ने कहा, "चलो, एक एक गिलास बर्फ़ की लस्सी पी जाय। वहाँ का झम्मन हलवाई बहुत बढ़िया बनाता है।"

राजेन्द्र ने हामी भर दी। दोनों झम्मन की दुकान पर पहुँचे। गरमी के दिन। लस्सी पीने वालों की भीड़। झम्मन फुरती से ग्राहकों को निबटा रहे थे।

दुकान से तनिक हट कर एक युवा लड़का मैली कीचट धोती की कांछ मारे, फटी गन्दी बनियान पहने एक बड़ी कढ़ाही माँजने में जुटा था।

"दो गिलास लस्सी!" शंकर ने प्रतिदिन के परिचित, अधिकारी स्वर से पुकारा, "ज़रा केवड़ा अच्छी तरह बसाना, झम्मन; और पिस्ते के वर्क भी डालना। छोटे नहीं, बड़े वाले गिलास, बारह आने वाले बनाओ, हां।"

झम्मन ने फ़ुरती से हाँडी में दही, बर्फ़, चीनी मिलाई और मथानी फेरने लगा। पिस्ता छिड़क, केवड़ा बसा, उसने दो बड़े गिलासों में लस्सी भर दी। ऊपर आये मक्खन पर छोटे-छोटे दो चमचे रख उसने शंकर व राजेन्द्र को गिलास थमा दिये। भीड़ से हट, कढ़ाही वाले लड़के के पास पड़ी बैंच पर बैठ, घूँट-घूँट भर सुगन्धित लस्सी की शीतलता से दिन भर के थके मन और प्राणों पर सुधा की बूँदें छहराने लगे।

"है न मज़ेदार?" शंकर ने पूछा।

"हाँ, बढ़िया है।" राजेन्द्र ने घूंट भरते हुए कहा। "दिन भर की थकान मिट गई। पर

तुम्हारा देहरा भी हमारे लखनऊ से कुछ कम गरम तो है नहीं। दो डिग्री टैम्परेचर इधर-उधर होने से क्या होता है।"

वह कढ़ाही माँजता हुआ युवक एकदम उठकर राजेन्द्र के समीप आ गया। ध्यान से उसका मुख ताक पुलक भरे स्वर में बोला, "कौन, बड़े भैया? नमस्ते बड़े भैया।"

राजेन्द्र ने आश्चर्य से उसे ताका।

"मैं हूँ, बड़े भैया! रमचन्ना।"

"रमचन्ना?" राजेन्द्र के नेत्रों में आठ वर्ष पहले के रमचन्ना का कच्चा मुखड़ा घूम गया। "अरे रमचन्ना तू? वाह खूब मिला, अब तो तू बहुत बड़ा हो गया। मुझसे भी ऊँचा निकल गया?"

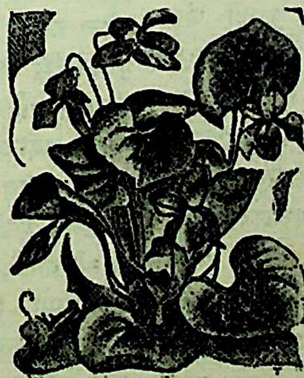
सजल स्वर में रमचन्ना बोला, "नहीं भैया, मैं तो आपका वही गुलाम हूँ। अच्छे तो रहे भैया? पुष्पा बीबी, बीरू भैया, माँ जी, बाबू जी, सब राज़ी खुशी तो हैं?"

"हाँ, हाँ सब प्रसन्न हैं। पुष्पा का विवाह होगया, ससुराल में है। बीरू बी० ए० में पढ़ता है। पर तू तो हमारे घर से ऐसा ग़ायब हुआ, जैसे गधे के सिर से सींग। चोरी भी करी तो मूर्ति की? और हाँ, वह तेरा खिलौने बनाने का शौक क्या हुआ?"

"अरे बड़े भैया," आहत स्वर में रमचन्ना बोला "हम गरीबों का क्या शौक? वह तो लड़कपन था। जबसे गिरस्ती सिर पड़ी, कैसे खिलौने और कैसी मूर्त्ति? पेट भरने की खातिर चौबीसों घण्टे तो हाथों में जूना और राख रहती है। पर भैया, यकीन मानो। मैंने वह मूरत बेचने को नहीं चुराई थी, वह मूरत ही ऐसी सुघड़ बनी थी कि उसकी नकल उतारने का मेरा लोभ किसी तरह रुकता ही न था। पर भला डिराइंग रूम में बैठकर मैं ये काम कैसे करता? वह तो कई दिनों तक घण्टों सामने रखने पर बनती। माँ जी टूटने के डर से वह मूरत किसी को छूने तो देतीं नहीं थी, मुझे माँगने पर काहे को देतीं। मेरी भी आप जानें तब बाल-बुद्धि थी। सोचा मूरत चुरा कर किसी निराली जगह रख लूँ। जब मेरी मूरत पूरी हो जायगी, तब उसे ठिकाने पहुँचा दूँगा। बड़े जतन से उसे भूसे में छिपाकर रखा भी, तो उस अभागे दूध वाले ने मेरे पीछे घुस कर उस पर पाँव रख दिया। गंगा माई की क़सम, बड़े भैया, गाँधी जी की उस मूरत के टूटने का दुख मेरा आज तक न गया, तिस पर सबने मुझे चोर समझा," कहते-कहते रमचन्ना का स्वर भर आया। राजेन्द्र भी उस कभी के भूतपूर्व कलाकार के कोहनियों तक राख से भरे हाथों को देखता चुप रहा आया। पीछे से झम्मन चिल्लाया, "अबे ओ रामू, ये तू कढ़ाही माँज रहा है या बाबू लोगों से गप्पाष्टक लड़ा रहा है?"

रमचन्ना धीरे-धीरे जाकर फिर कढ़ाही रगड़ने लगा।

—लखनऊ से प्रसारित



हमारे दीवानख़ाने

सागर निज़ामी

आजकल के ड्रॉइंगरूम हमारे पुराने दीवानख़ानों का रूप नहीं ले सकते। उनकी हैसियत बज़ाहिर आज के ड्रॉइंगरूम ही जैसी थी, लेकिन वह एक कमरा नहीं, पूरे महल होते थे। वह होते थे ईंट, पत्थर, चूने और ग़ारे के, लेकिन उनके दरोदीवार में इन्सानी जिस्म की तरह एक दिल धड़कता रहता था।

यह दीवानख़ाने हमारे बुज़ुर्गों की ज़िन्दगी-अमल और क़िरदार (चरित्र) के फ़िरदौस (स्वर्ग) थे। इन्सानियत और नेकी के स्रोत थे, जिनसे ख़ुशी और राहत उबलकर समाज को सैराब (सिंचित) करती थी। वह देखिए आलीशान दरवाज़ा, दरवाज़े से दालान दर दालान सहनचीयाँ (आंगन) और कमांचों का मनज़र (नज़ारा), ऊँची कुर्सी का चबूतरा, चबूतरे से गुज़रकर दीवानख़ाने का बड़ा कमरा, कमरे के दरोदीवार, हांड़ियों और दीवारगीरों से सजी हुई रौग़नी (चित्रित) छतें, झाड़ों और फ़ानूसों से चौदहवीं का आसमान बनी हुई छत और इस आसमान की ज़मीन पर सफ़ेद बुर्राक चाँदनी का फ़र्श, फ़र्श पर ईरानी और मख़मली क़ालीन, गुलकारी के शहकार (मास्टरपीस), क़ालीनों पर चौपड़ की गोट का मख़मली गावतकिया, ज़ानूओं के नीचे ज़रबफ़्त की तकीनियाँ (छोटे तकिये), फ़र्श के कोनों पर चाँदनी को दबाने के लिये आबनूसी मेज़पोश, रंग-बिरंगे ज़ेर अन्दाज़, कारनस (मैंटलपीस) पर पड़ा आईना, आईने के इधर-उधर नादिर और क़ीमती सनअत (उद्योग धन्धे) के नमूने और कारनस के नीचे आतशदान में दहकते हुये कोयले और कमरों के दरवाज़ों पर रूई के दबीज़ (मोटे) पर्दे। और उन पर्दों से लगे वफ़ादार मुलाज़िम हुक्म के मुंतज़िर। आवाज़ सुनी और हाज़िर।

नीचे सहन में मुस्कराती बहारें, बेले और चमेली की क़तारें, गुलमेंहदी और लाजवन्ती के ख़ूबसूरत पौदे, मेंहदी के फूलों की ख़ुशबू और उस चमन के बीच पक्का हौज़ और हौज़ में फव्वारों की कतारें जिनसे पानी नहीं, हर दम चाँदनी उबलती रहती। ज़रा शाम का धुंदलका हुआ, और अहबाब आने शुरू हुये। उनमें अमीर और ग़रीब की क़ैद न थी। क़ैद थी तो एक। जो दीवानख़ाने में आ रहा है, उसे इंसान होना चाहिये, मुहज़्ज़िब (सभ्य) होना चाहिये, मजलिसी तहज़ीब का माहिर होना चाहिये। आनेवालों में कोई बज़्लासंज (विनोदी) होता, तो कोई सख़ुन-फ़हम (काव्य-प्रिय), कोई शतरंज और चौसर का खिलाड़ी तो कोई अदीबो शायर (साहित्यकार और कवि), कोई संगीत का विद्वान, कोई सितार का उस्ताद, कोई जोतशी और कोई इल्म-जफ़र जानने वाला, कोई पंडित कोई आलिम, कोई दास्तानगो (किस्सा कहनेवाला), कोई लतीफ़ागो, कोई करतबी, कोई सुरीला, कोई सजीला, कोई अलबेला, कोई बांका, कोई छैला और कोई

सिर्फ़ गर्ज़मन्द, मगर तहज़ीब की दौलत से बहरामन्द। गर्ज़ कि हर तरह के लोग आते और साहबे दीवानख़ाना अनजान महमानों का ख़ैर मक़दम (स्वागत) भी उसी ख़न्दापेशानी से (हँसमुख होकर) करता जिस तरह जाने-पहचाने दोस्तों का। सबके साथ उसके दर्जे के मुताबिक सुलूक किया जाता, और उस सुलूक पर लोग फ़ख्र (गर्व) करते।

शतरंज की बाज़ी जमती, क़हवा के जाम चलते, शायरी का दौर होता, पूरी ज़िन्दगी और खुलूस के साथ आनेवालों की खातिर की जाती। बनारसी पानों पर चाँदी के वरक चढ़े हुए, रोली की लचका लगी साफ़ियों में सब्ज़ गिलोरियाँ, लिपटी हुई चाँदी के ख़ासदानों और काबों में भूमर और इनमें सब्ज़ बीड़े, इलायचियों की खुशबू से कमरा महक जाता। सद्र (बीच में) में चाँदी का पेचवान (हुक्का) जिसकी नै (नल) पेच दर पेच घूमी हुई, अलग अपनी बहार दिखा रही है। चिलम का सरपोश आग की तेज़ी से शोले की मानिन्द चमक रहा है और उसके साये में सियाह कपड़े की नै पर कलाबतून का काम चाँद की किरन को मात कर रहा है। फ़रशी उगालदान और पीकदानियाँ सलीक़े से रखी हुईं। क्या मजाल जो पान की एक हल्की-सी छींट भी चाँदनी पर गिर जाये।

जितने लोग आते, उन के आने और उठने का एक वक्त होता. एक निज़ाम होता। साहबे दीवानख़ाने की यह हिम्मत कहाँ कि उसको रोक ले। हर साँस वज़ेदारी की लाज, हर क़दम तहज़ीब का पास, खाने तक जो लोग बाक़ी रह जाते वह सब दस्तरख़ान पर बैठते। कैसी मेज़ और चौकी, दस्तरख़ान फर्श ही पर बिछता और हवेली के अन्दर से सरपोश से ढकी प्लेटें ख़्वान में रख कर आतीं, उन पर खूबसूरत ख़ानपोश पड़े होते। और फिर वह दस्तरख़ान पर चुन दी जातीं। इस के बाद मुलाज़िम सलपची (चिलमची) और आफ़ताबा (लोटा) लेकर गरदिश करता। दूसरे मुलाज़िम के हाथ में बेसनदानी और कुटी हुई खुशबूदार खली होती, हाथ पोंछने के लिये तौलियों को सख़्त समझते थे। आह! बड़े-बूढ़ों की नज़ाक़त और नफ़ासत का बयान करने के लिये कहाँ से ज़बान लाऊँ! बारीक़ खासे के इस्त्री शुदा रूमालों से वह हाथ साफ़ करते थे!! खाने के बाद कुछ देर लतीफ़ागोई होती, पेचवान का दौर चलता, फिर कोई शेर ख़्वानी शुरू कर देता, कभी मौज आती तो तिलस्मे होश रूबा या दास्ताने अमीर हमज़ा छिड़ जाती, नहीं तो चौसर बाज़ी तो जम कर ही रहती।

इल्मो फ़न और तहज़ीब ओ तमद्दुन के पुजारियों की ज़िन्दगी बड़ी अजीब थी। इनकी रात ऐश और आसूदगी में बसर होती, और सुबह होती तो यही दीवानख़ाने मन्दिर और मसज़िद बन जाते। अपना-अपना मज़हबी फ़र्ज़ अदा करके रूहानी सुकून हासिल करते। सुबह से इन दीवानख़ानों में मुहल्ले और शहर के ज़रूरतमन्दों, ग़रीबों, मुसाफ़िरों और सैयाहों का तांता लगा रहता। किसी को अनाज के लिये रुपया, तो किसी को लिबास के लिये कपड़ा दिया जा रहा है। एक को नौजवान बेटी की शादी के लिये माली इमदाद दी जा रही है तो दूसरे को वतन वापस जाने के लिये किराया अता हो रहा है।

लीजिये दोपहर हो गई। हवेली से खासे (खाने) के लिये बुलावा आ गया। कोई नहीं है तो खैर मजबूरी होती। और अगर कोई दोस्त मौजूद है, तो खासा बाहर ही मंगवा लिया जाता। गर्मियों में सहन में पाँच बजे शाम से छिड़काव होता और उसके बाद आराम कुर्सियाँ, सफ़ेद चाँदनी के तख़्त और चाँदी के पायों की पलंग गीरियाँ चबूतरे पर बिछा दी जातीं। बेले और चमेली की लपटों में खस के इत्र और कोरे प्यालों में लखलखा (सुगन्धित वस्तु) बनता। सुराहियाँ और कोरे कपड़ों पर जूही के हार पड़े हुए सफेद साफ़ियाँ बन्धी हुईं, उन पर क़लमीदार कटोरे ढके हुये। तरबूज़ और दूध

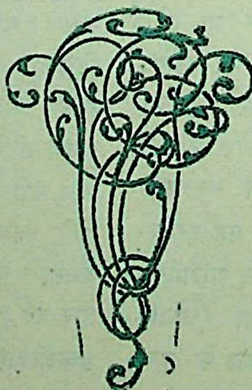
का शर्बत बन रहा है। केवड़े की खुशबू से दिमाग़ महका जा रहा है। पानी में तर ख़स के पंखे झले जा रहे हैं, या एक शबनम की पत्तियों दार कुर्ते अपनी बहार दिखा रहे हैं।

लीजिये दोस्तों की आमद शुरू हो गई। हर एक की ज़बान पर गरमी की शिकायत है। शाम के छः बजे तक ख़स ख़ाने से निकले नहीं, मगर अब भी चैन नहीं है। ठण्डा पानी पी पीकर पेट भर गया, मगर जी नहीं भरा। शाम होते होते नाच गाने की महफ़िल जम गई, कोई भी गाने वाला आ गया, उसने अपना कमाल दिखाया, दाद भी ली, इनाम भी पाया और दुआयें देता हुआ चला गया। कोई साहबे फ़न, साहबे कमाल इन दीवानख़ानों से कभी ख़ाली हाथ नहीं गया।

वह दीवानख़ाने जिस निज़ाम की पैदावार थे, उसमें आम इन्सान के लिये रहम व इन्साफ़ की कमी ज़रूर थी। मगर उन दीवानख़ानों से आम और ख़ास दोनों को गहरा रब्त था। यह हमारी तहज़ीब, हमारे अख़लाक़ और शराफ़त के ज़ामिन थे। इनमें आने जाने वालों के लिये वक्त और इजाज़त की क़ैद नहीं थी। मज़हब और क़ौम की क़ैद नहीं थी, हर शख़्स आता और साहबेख़ाना उसके मरतबे के लिहाज़ से उससे मिलता और उसको खुश-खुश भेजता। लेकिन अंग्रेज़ी पॉलीसी और सरमायादारी के निज़ाम के तुन्द झोंकों ने दीवानखानों की शमा को बुझा दिया। रफ़्ता-रफ़्ता मग़रिबी रहन-सहन हम पर छाता चला गया। माली पॉलिसी के (आर्थिक) शिकंजे ने अख़लाक़ व तहज़ीब सब का कचूमर निकाल दिया। मुफ़लिसी का सैलाब चारों तरफ़ उमड़ने लगा। और हमारा सारा अख़लाक़ सिर्फ़ यह रह गया कि हमें वह काम करना चाहिये जिससे हम साहब की निगाहों पर चढ़ें।

हमने अपने दीवानख़ानों के मज़ार पर आज के ड्राइंगरूम का संगे बुनियाद रखा। जहाँ हाज़िरी के लिये घण्टी बजाने की ज़रूरत है, नाम बताने की ज़रूरत है, काम बताने की ज़रूरत है, वक्त की क़ैद है, मुलाक़ात की शर्त है, फिर भी कोई ज़रूरी नहीं है कि साहब से मुलाक़ात हो ही जाय। ड्राइंग रूम में तने हुए छुरे हमारा इस्तक़बाल करते हैं। ख़न्दा पेशानी की जगह माथे पर बल, मुस्कराती आँखों के बजाये खुश्क और बेनूर आँखें। आदमी की हैसियत को पढ़ती हुई निगाहें दिल में चुभ जाती हैं। आम आदमी तो इन ड्राइंगरूमों की शक्ल भी नहीं देख सकते। आज हम अपने मरतबे से कम दर्जे लोगों से मिलना भी पसन्द नहीं करते। इन ड्राइंगरूमों में फ़नकारों और हुनरमन्दों के बजाये कारोबारी जमा हो सकते हैं। बराबर वाले बैठ सकते हैं। बेज़रूरत और खुशपोश आ सकते हैं। लेकिन पुराने दीवानख़ानों की तरह शेर अली को बेटी की शादी के लिए रुपया नहीं दिया जा सकता। कलुवा तेली और मंगू चमार बीवी की बीमारी और बेटे की बेकारी का रोना रोकर मदद नहीं ले सकते।

—बम्बई से प्रसारित



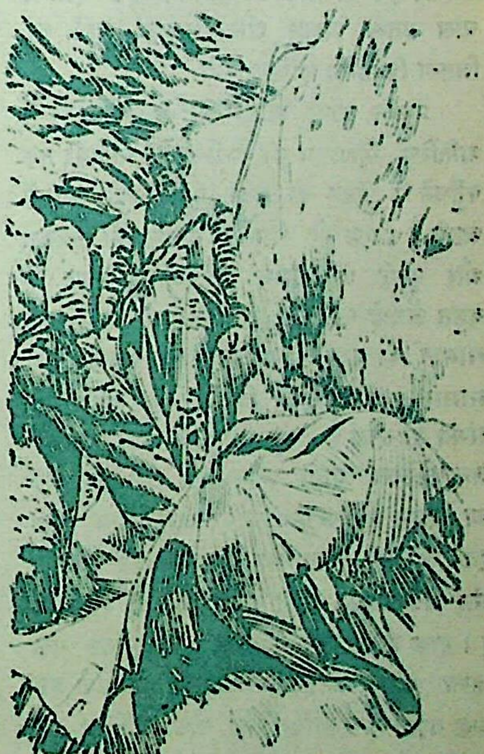
भारत में पर्वतारोहण

प्राणनाथ निकोर

भारत में पर्वतारोहण की कहानी भी कुछ कम पुरानी नहीं है। ऋषि, मुनि और हमारे देवता सदा से ही हिमालय की चोटियों पर जा-जा कर जप-तप करते रहे हैं। कुरुक्षेत्र के महा-युद्ध के बाद, महाराज युधिष्ठिर, आज से कोई पाँच हज़ार वर्ष पहले, अपना सारा राजपाट छोड़कर शान्ति की खोज में पांडव भाइयों और द्रौपदी के साथ हिमालय की बर्फ़ीली चोटियों की ओर ही चल पड़े थे। कहा जाता है कि शेष सबने मार्ग में ही प्राण त्याग दिये, और केवल युधिष्ठिर पर्वत शिखर तक पहुँचे। यह चोटी आज भी मध्य हिमालय में पंचचूली के नाम से पुकारी जाती है। मुझे यह कहते हुए हर्ष होता है कि पिछले वर्ष एक भारतीय दल, जिसका मैं नेता था, उस शिखर पर विजय पाकर लौटा।

आप सब जानते ही हैं कि हिमालय की ऊँची-ऊँची बर्फ़ीली चोटियों के निकट ही अनेक तीर्थ स्थान हैं जैसे मानसरोवर, बदरीनाथ, केदारनाथ, अमरनाथ आदि। यहाँ विदेशों से अनेकों दल वैज्ञानिक सामग्री के साथ ही पहुँच पाते हैं, जबकि प्राचीनकाल के भारतीय थोड़े से आवश्यक सामान लेकर इन चोटियों के निकट तक पहुँच जाया करते थे। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि पर्वतों के शिखरों तक पहुँचने का शौक भारतीयों के लिए कोई नई बात नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि पहले भारतीय वहाँ धार्मिक भावनाओं को लेकर और प्रकृति के मनोरम स्थलों की स्तुति करने जाया करते थे और अब यह एक 'स्पोर्ट' (विहार) गिना जाने लगा है।

बीसवीं शताब्दी को हम विज्ञान का चमत्कारिक युग कहते हैं। यूरोप के लोग तो पहले ही पर्वतारोहण में रुचि रखते थे और सदा ही वे इस बात की फ़िक्र में रहे कि उन्हें विश्व की ऊँची से ऊँची चोटियों पर चढ़ने का अवसर मिले। १९वीं सदी के अन्त में, जब ब्रिटिश साम्राज्य के पैर भारत की भूमि पर मज़बूती से जम चुके थे, इन लोगों को हिमालय की ऊँची-ऊँची चोटियों पर पहुँचने की प्रेरणा और अवसर मिले। उसके बाद निस्संकोच १९०१



निकोर पंचचूली यात्रा में

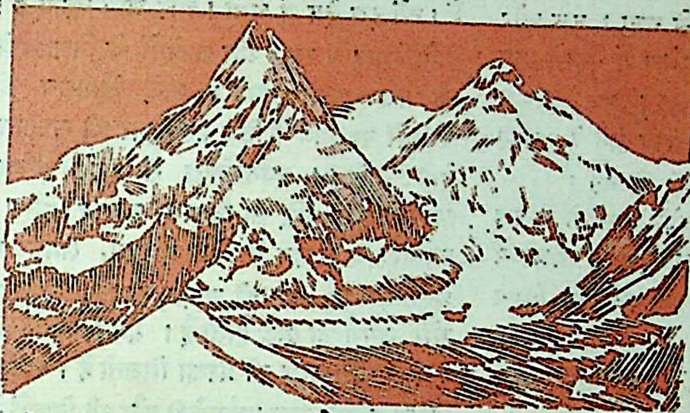
से भारत में ये लोग पर्वतारोहण के लिये आते रहे हैं, कभी इस चोटी पर पहुँचने के विचार से, तो कभी उस चोटी पर पहुँचने के उद्देश्य से।

हिमालय में लगभग ८० चोटियाँ हैं जो २८,००० फुट से ऊँची हैं और उनमें से कुल छः चोटियों पर ही अब तक विदेशी पर्वतारोही पहुँच पाये हैं। कुछ चोटियों पर लगातार कई बार प्रयास करने के बाद इन्हें सफलता मिली—जैसे एवरेस्ट पर्वत पर ब्रिटिश दल दस बार कोशिश करने के बाद विजयी हुआ और नागा पर्वत पर जर्मन लोगों को ६ प्रयासों के बाद सफलता मिली। इसी प्रकार कामेट, नंदादेवी और अन्नपूर्णा आदि पर्वत शिखरों पर भी निरन्तर कई प्रयास करने के बाद सफलता मिली। इतनी बार लगातार कोशिशें इस लिए करनी पड़ीं कि शुरू-शुरू में पर्वतारोहण का आवश्यक सामान इन दलों के पास इतना अच्छा और उपयुक्त नहीं था, जितना कि होना चाहिए था।

प्रकृति, यानी मौसम की ख़राबी आदि के अतिरिक्त, हिमालय की ऊँची-ऊँची चोटियों तक पहुँचने के लिए दो बड़ी कठिनाइयाँ सामने आती हैं। एक तो सामान उठाने की दिक्कतें और दूसरे ऑक्सीजन की कमी की वजह से बहुत ऊँचाई पर साँस का फूलना। जहाँ तक सामान का प्रश्न है, वैज्ञानिकों ने इतना हल्का सामान बना डाला है जितना कि आज तक संभव हो सका है। उदाहरण के लिए 'ऑक्सीजन ऐपेरेटस' यानी ऑक्सीजन लेने के आले का वज़न जो कि ऐवरेस्ट पर जाने वाले पहले दलों के काम आता था, लगभग १४ पौंड था और अब उसका वज़न केवल दो पौंड रह गया है। हाल ही में हुई एवरेस्ट विजय का एक रहस्य यही है। इसके अलावा आजकल बड़े हल्के वज़न के स्लीपिंग बैग, ऊँची चोटियों पर लगाये जाने वाले कम वज़न के खेमे और बहुत ही हल्के वाटर प्रूफ सूट बनने लगे हैं। बर्फ के बड़े-बड़े दर्रों को पार करने के लिए अब रस्सियों के पुल बाँधने के बजाय, पर्वतारोही फ़ोल्डिंग बैगेज़ को प्रयोग में लाने लगे हैं और आजकल शेरपा लोग भी बड़े अनुभवी मिलने लगे हैं।

पिछले कई वर्षों के अनुभव के साथ-साथ हिमालय पर पर्वतारोहण की कला में भी बड़ी प्रगति हुई है। 'आइस ऐक्स' (बर्फ़ काटने की कुल्हाड़ी) की मदद से बर्फ़ पर रास्ता बनाने व कदम बढ़ाने के लिए और बर्फ की ऊँची-नीची ढलानों पर रस्सी की मदद से चलने के तरीकों में भी बहुत तरक्की हुई है। इन्हीं सब सुविधाओं के कारण भारत में पिछले कुछ वर्षों से हिमालय की चोटियों पर पहुँचने की उत्कंठा से पर्वतारोही दलों की संख्या बढ़ गई है। सन् १६५० में एक फ्रांसीसी दल ने, पहली बार २६,००० फुट से ऊँची किसी चोटी पर विजय पाई। इस दल के नेता मोरिस हरज़ौग थे, जिन्हें इस प्रयास में फ्रौस्ट बाइट (बर्फ से सुन्न हो जाने) के कारण अपने दोनों हाथ की उँगलियाँ कटानी पड़ीं। इसके बाद ही पर्वतारोहियों की विजय की इच्छा और प्रबल हो गई, और इससे प्रेरणा पाकर पिछले दो तीन वर्षों में ही कई दल भारत में हिमालय की अविजित चोटियों तक पहुँचने की लालसा से आये। इनमें कुछ तो सफल रहे और कुछ को निराश लौटना पड़ा। इनमें से कई एक दल ऐसे थे जिन में सभी भारतीय पर्वतारोही थे।

आशा है आप इनके बारे में कुछ जानना चाहेंगे। सन् १६५२ में पहला भारतीय दल, जिसके बहुत से सदस्य भारतीय सेना के इञ्जीनियर थे, २१,२४७ फुट ऊँचे कामेट पर्वत पर चढ़ा। इसी वर्ष एक और भारतीय दल २२,६५० फुट ऊँची पंचचूली चोटी पर विजय पाने की इच्छा से गया। ये दोनों चोटियाँ मध्य हिमालय में हैं और बड़ा प्रयास करने के बाद भी ये दोनों दल लक्ष्य से कुछ नीचे ही रह गये। सन् १६५२ में दो पर्वतारोही दल स्विट्ज़र-



एवरेस्ट

लैंड से एवरेस्ट पर्वत पर विजय पाने के लिए उस नये मार्ग से आये जो कि एक विख्यात ब्रिटिश पर्वतारोही ऐरिक शिपटन ने सन् १९५१ में खोज निकाला था। परन्तु मौसम ख़राब होने के कारण ये भी असफल रहे।

फिर आया १९५३, भारत में पर्वतारोहण के इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ। इस वर्ष अनेक विदेशी और भारतीय दल हिमालय की ऊँची ऊँची चोटियों पर विजय पाने आये। इनमें से कइयों ने अविजित चोटियों पर विजय-पताका फहराई। ब्रिटिश दल ने विश्व की सबसे ऊँची पर्वत चोटी एवरेस्ट पर विजय पाई, तो आस्ट्रो-जर्मन, फ्रांसीसी और एक भारतीय दल ने क्रमशः नांगा पर्वत, नानकुन और पंचचूली की अविजित चोटियों तक पहुँचने में सफलता पाई। सन् १९५३ में ही पर्वतारोहियों के दो भारतीय दल सफल रहे, जिनमें से अबिगामन पर्वत पर जाने वाले दल के नेता तो मेजर जयाल थे और पंचचूली चोटी पर जाने वाले दल के नेता बनने का सौभाग्य मुझे मिला। इसके अलावा दो जापानी दल मनसालू पर्वत पर गये, पर असफल रहे। एक और भारतीय दल भी प्यूमोरी पर्वत पर सफलता न पा सका।

इस वर्ष १९५४ में सबसे अधिक संख्या में पर्वतारोहियों के दल भारत आये और कुछ आने वाले हैं। इनमें से एक दल नेपाल में एवरेस्ट विजेता सर हिलेरी के नेतृत्व में बारेन ग्लेशियर की कुछ चोटियों पर गया, एक अमेरिकन दल मकालू पर्वत पर, एक जापानी दल मनसालू पर्वत पर, एक ब्रिटिश दल कांचनजंगा पर, एक अर्जनटायिना का दल धौलगिरी पर, एक इटालियन दल आपी पर्वत पर और एक अन्य ब्रिटिश दल बाघा चोटी



तेनज़िंग

पर विजय पाने की लालसा से गया। एक और ब्रिटिश दल हिम मानव की खोज में नेपाल की ऊँची बर्फ़ीली घाटियों में गया। पर लगभग सभी असफल रहे। मौसम खराब होने के कारण कई पर्वतारोहियों की मृत्यु भी हो गई।

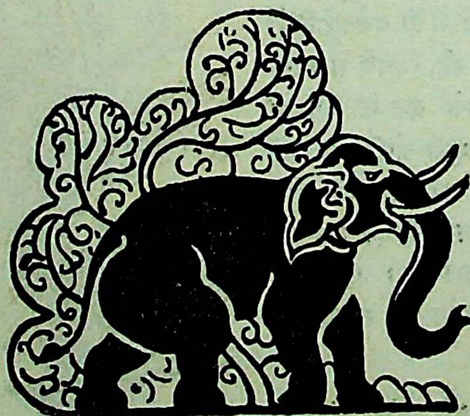
यह सब सुनकर आप बड़ी आसानी से कह सकते हैं कि भारत में पर्वतारोहण के क्षेत्र में रुचि बढ़ती जा रही है। बड़े हर्ष का विषय है कि इसकी आवश्यकता का ध्यान करके ही भारत सरकार ने दार्जिलिंग में एक मौन्टेनियरिंग स्कूल खोलने का प्रबन्ध कर दिया है। ऐवरेस्ट विजेता वीर तेनज़िंग को इस स्कूल का चीफ़ इन्स्ट्रक्टर बना कर ट्रेनिंग के लिए स्विट्ज़रलैंड भेजा है। मेरा विचार है कि इसके अलावा भारत में पर्वतारोहण की शिक्षा के लिए और भी बहुत से स्कूल और क्लबों की आवश्यकता है। एक दो क्लब तो इस क्षेत्र में अब भी दिलचस्पी ले रहे हैं, पर इन्हें सरकार का आश्रय अभी तक नहीं मिला है।

आपने देखा होगा कि भारत में कितने ही विदेशी पर्वतारोहियों के दल हर वर्ष हज़ारों मील दूर से आते हैं, लेकिन इसके विपरीत भारतीय दलों की संख्या बहुत ही कम है जब कि हिमालय की चोटियाँ हमारे इतनी निकट हैं। हमें इस क्षेत्र में अभी। और आगे बढ़ना है। पर्वतारोहण में स्कूल और कालेजों के विद्यार्थियों की रुचि बढ़ानी होगी। उन्हें हिमालय की चोटियों पर जाने के लिए हर प्रकार की सहायता देनी चाहिए। पर्वतारोहण से इनके चरित्र, स्वास्थ्य और बुद्धि का विकास अवश्य होगा। पर्वतारोहण से हम में मिल जुलकर, समय के अनुसार काम करने की आदत, साहस, उत्साह, और उमंग की वृद्धि होती है। हमें ज़िन्दगी की दौड़ में आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है। पर्वतारोहण के साथ-साथ पर्वतारोही और भी विषयों में अपना ज्ञान बढ़ा सकता है जैसे फ़ोटोग्राफ़ी, वनस्पति का अध्ययन आदि।

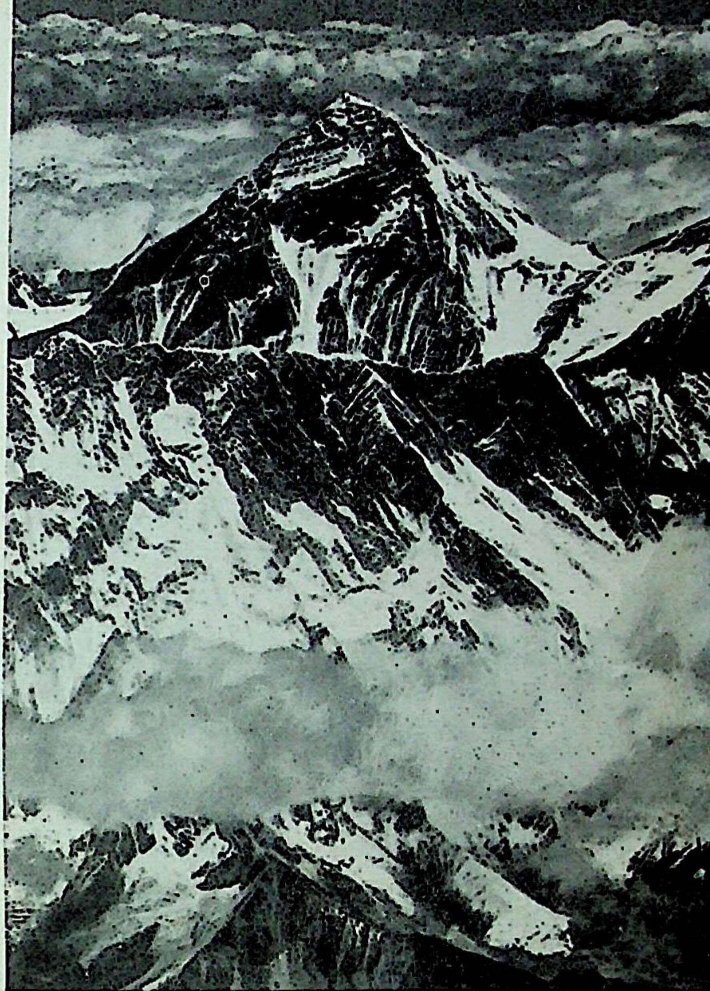
आप पूछेंगे, मनुष्य बिना किसी कारण, इतने कष्ट उठाकर, जान हथेली पर रखकर, क्यों इतनी ऊँची-ऊँची चोटियों पर पहुँचने का कष्ट करता है?

एवरेस्ट के प्रसिद्ध पर्वतारोही, जॉन मेलोरी के शब्दों के साथ मैं इस वार्ता को समाप्त करता हूँ। एक बार उनसे पूछा गया कि 'पर्वतों की चोटियों पर ऐसा रक्खा ही क्या है जो आप उन तक पहुँचना चाहते हैं', तो उन्होंने तुरन्त उत्तर दिया, "ये चोटियाँ हैं ही इसीलिए कि उन पर चढ़ा जाये।"

—दिल्ली से प्रसारित

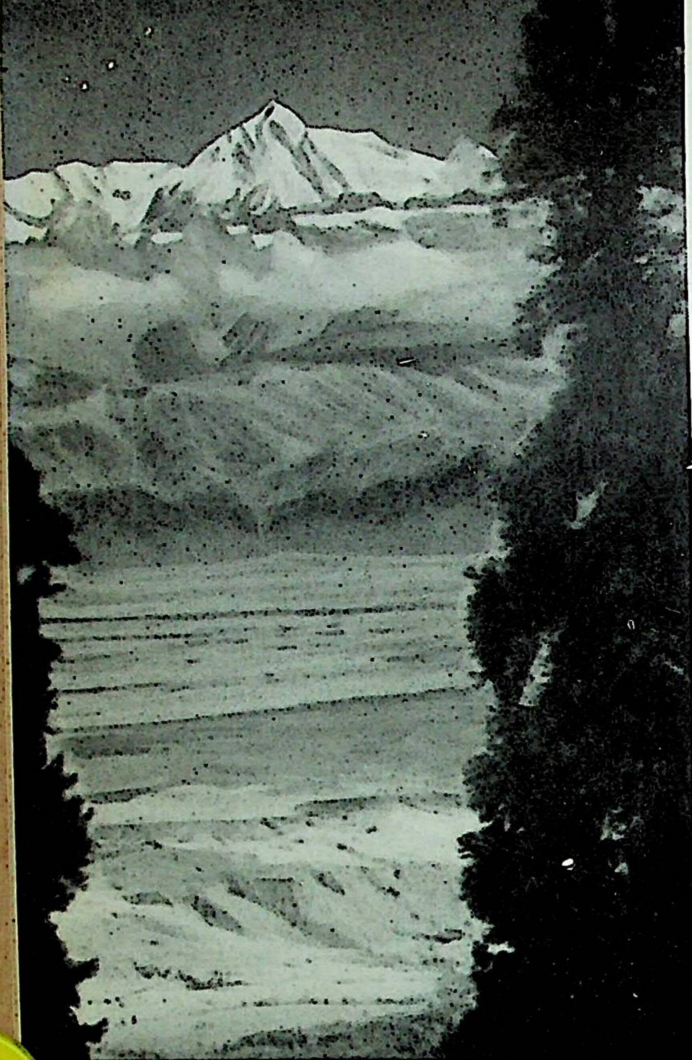


हिमालय की झाँकियाँ

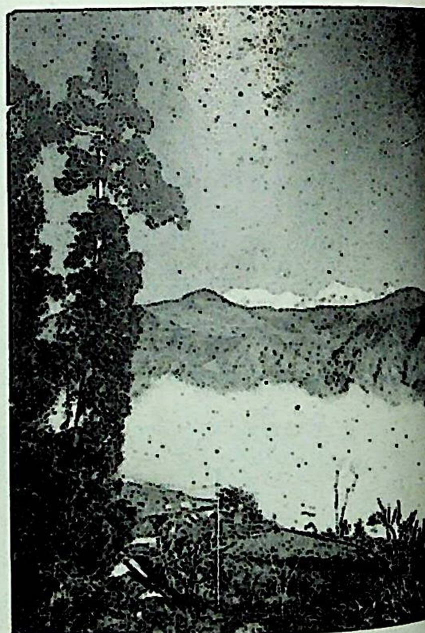


संसार का सर्वोच्च शिखर माउन्ट एवरेस्ट

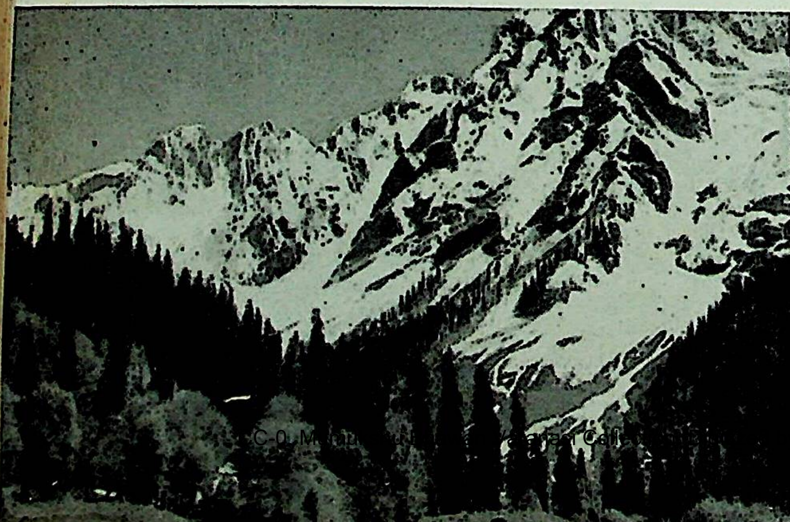
नेपाल नरेश श्री त्रिभुवन वीर विक्रमशाह से सम्मानित एवरेस्ट विजयी टीम



काश्मीर का नाँगा पर्वत (२६,६२७ फुट) संसार के सर्वोच्च शिखरों में से एक है



कालिम्पौंग से उत्तुंग हिमश्रृंगों का भव्य दृश्य



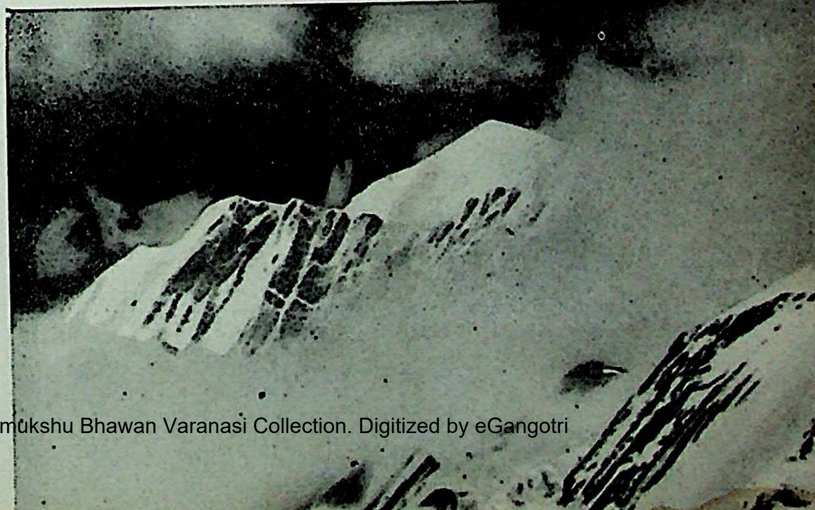
सोनमर्ग (सुनहरी घाटी) काश्मीर का एक प्रसिद्ध सुरम्य स्थान है, जहाँ प्रायः अधिकतर पीले फूल खिलते हैं ।

ऑस्ट्रिया के प्रसिद्ध पर्वतारोही हर्बर्ट टिखी और पर्वत प्रेमी भारतीय युवक चतुर्भुज कपूर कैलाश मार्ग में एक साधु का सत्संग करते हुए





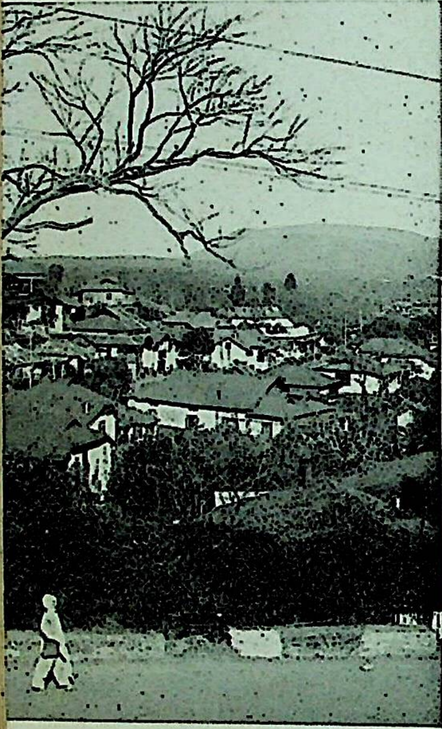
कुल्लू घाटी क
एक बर्फ़ानी पु



कुमाऊँ की प्रसिद्ध चोटी पंचचूली, जिस पर पंजाबी इंजीनियर प्राणनाथ [illegible] पिछले वर्ष पहुँच गये



दार्जिलिंग से कंचनजंघा
शिखर का मनोहारी दृश्य



असम की राजधानी शिलङ

लद्दाख (काश्मीर) का एक बौद्ध
लामा अपनी धार्मिक वेशभूषा में

प्राचीन भारत में जलयान

सतीशचन्द्र काला

भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति विलक्षण है। तीन ओर विशाल समुद्रों तथा एक ओर उच्च पर्वत शृंखलाओं से घिरा होने के कारण इस देश को अपना निजी अस्तित्व रखने में कोई कठिनाई नहीं पड़ी। उच्च दर्शन, उच्च परम्परायें, धार्मिक एवं सांस्कृतिक सहिष्णुता तथा विश्वजनीनता के उच्चतम सिद्धान्तों से दूर-दूर देशों के व्यक्ति भारत से प्रभावित हुए। पारस्परिक आदान-प्रदान से वणिक वर्ग आगे बढ़ा। कालान्तर में पेगू, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, जापान, फ़ारस, अफ्रीका, रोम आदि-आदि देशों में भारत के उपनिवेश स्थापित हो गए। केवल एशिया मात्र से ही नहीं वरन् तत्कालीन 'ज्ञात संसार' के अन्य देशों के साथ भी भारत का समुद्री सम्बन्ध स्थापित हो गया।

भारतीय साहित्य में जलयानों के यत्र-तत्र उल्लेख मिलते हैं। ये उल्लेख संक्षिप्त हैं, अतः इनसे जलयान या जलयात्रा के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त नहीं होती। संस्कृत, पाली तथा फ़ारसी साहित्य के अतिरिक्त जलयान सम्बन्धी कुछ संकेत मराठी, बंगला और तमिल साहित्य में भी मिलते हैं। विदेशी पर्यटकों, इतिहासज्ञों तथा पुरातत्ववेत्ताओं से भी इस दिशा में कुछ प्रकाश पड़ता है। क्षेमिक की पुस्तक 'बोधिसत्त्वावदान कल्पलता' के ७३ वें अध्याय में अशोक काल की समुद्री यात्रा का विशद उल्लेख है। ईसा की दूसरी-तीसरी सदी में आंध्र देश रोम से व्यापार कर रहा था। गुप्त काल में बर्मा तथा मलय में अनेक भारतीय उपनिवेश स्थापित हुए। अगली शताब्दियों में भी पूर्व तथा पश्चिमी देशों से भारत व्यापार करता रहा। इन्हीं दिनों बौद्ध धर्म की पताका जावा में दृढ़ता के साथ फहराई गयी। इसका प्रतीक आज दिन भी बोरुबुदूर नामक स्थान पर स्थित बौद्ध स्तूप है। यवन काल में सिन्ध की ओर से भारतीय व्यापार अन्य देशों के साथ चलता रहा।

प्राचीन काल में जलयानों का कैसा रूप था, इस सम्बन्ध में हमारी जानकारी अति सीमित है। कलकत्ते के प्रसिद्ध संस्कृत पुस्तकालय में 'युक्तिकल्पतरु' नामक एक हस्तलिखित ग्रन्थ है। इसका रचयिता भोज नाम का कोई व्यक्ति है। भोज ने इस ग्रन्थ में जलयानों की निर्माण कला पर कुछ प्रकाश डाला है। लेखक के अनुसार भारत में जलयान सदैव लकड़ी के बनते रहे। चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के आधार पर ही लकड़ी को चार वर्गों में बाँट दिया जाता था। यह वर्गीकरण वृक्ष—आयुर्वेद पर ही आधारित था। जिस लकड़ी में दो प्रकार के तत्व रहते थे उसे द्विजातीय कहते थे। भोज के अनुसार क्षत्रिय वर्ग की लकड़ी प्रसन्नता तथा आनन्दसूचक होती थी। इस वर्ग की लकड़ी से बने जहाज़ गहरे से गहरे जल में आ-जा सकते थे। भोज ने जलयानों की दृढ़ता पर विशेष ज़ोर दिया है। उसने सुझाव दिया है कि जलयानों के तले लकड़ी को जोड़ने में लोहे का प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि चट्टान से टक्कर खाकर कभी भी उसमें अग्नि उत्पन्न हो सकती है।

'युक्तिकल्पतरु' में आकार के आधार पर भी जलयानों का वर्गीकरण हुआ है। जलयान

प्रधानतया द। प्रकार के (१) सामान्य तथा (२) विशेष होते थे।

इसमें सामान्य वर्ग के जलयान केवल नदियों में ही जा सकते थे। विशेष वर्ग के जहाज़ गहरे तथा विशाल सागरों में चलते थे।

प्राचीन काल के जलयानों को विभिन्न उपादानों से अलंकृत किया जाता था। यह इस देश की परम्परा के अनुकूल ही था। 'युक्तिकल्पतरु' में लिखा है कि धातुओं में केवल स्वर्ण, रजत, ताम्र, या इन तीनों के मिश्रित रूप का ही जलयानों में प्रयोग होना चाहिये। इसी प्रकार चार प्रमुख रंगों को लगाने का भी नियम भोज ने बतलाया है। चार मस्तूलवाले जलयानों में श्वेत, तीन वाले में लाल, दो वाले में पीला तथा एक वाले में नीला रंग लगाना चाहिए। जलयानों के आकारों को भी दर्शनीय रूप दे दिए जाते थे। इनके मुँह प्रायः शेर, हाथी, भैंसे, नाग आदि के धड़ जैसे होते थे। इनके अतिरिक्त जलयानों पर अलंकृत हार तथा पुष्पमालाएँ भी लटकाई जाती थीं।

उस काल में भी जलयानों में स्थान विभाजन कर वर्तमान जहाज़ों के केबिन जैसा रूप दिया जाता था। केबिन के स्थान तथा लम्बाई-चौड़ाई के आधार पर जलयानों को सर्वमंदिरा, मध्यमंदिरा, तथा अग्रमंदिरा नाम दिए जाते थे। इनमें, सर्वमंदिरा में केबिन जलयान की पूरी लम्बाई तक फैले होते थे। मध्यमंदिरा में केबिन केवल मध्य में रहते थे। इस वर्ग के जलयानों को राजा-महाराजा केवल क्रीड़ा तथा विहार के लिए प्रयोग में लाते थे। अग्रमंदिरा जलयान समुद्री युद्ध तथा लम्बी यात्राओं के लिए बनाये जाते थे।

पाली तथा अन्य ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि उस काल में लोग बहुत लम्बी-लम्बी यात्राएँ करते थे। इन जलयानों का आकार बहुत बड़ा होता था। राजवल्लिय के अनुसार, जिस जलयान से राजकुमार विजय तथा उसके अनुगामी बंगाल से गए थे, उसमें ७०० से अधिक यात्री थे। इसी तरह जिस जलयान से वे सिंहल (लंका द्वीप) की यात्रा को गए थे, उसमें भी ५०० के लगभग वाणिज्य व्यवसायी व्यक्ति थे। जनक जातक में लिखा है कि बुद्ध भगवान के किसी पूर्व जन्म के समय एक जहाज डूब गया जिसमें तथागत के अतिरिक्त ७०० और व्यक्ति समाप्त हो गए। इन चुने हुए उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत के जलयान दृढ़, विस्तृत तथा दर्शनीय होते थे।

भारत के शिल्प यानी मूर्त्ति तथा चित्रकला के कुछ दृश्यों में भी जलयान अंकित हैं। कुछ सिक्कों पर भी जलयानों के चित्र हैं। सबसे प्राचीन उदाहरण ई० पू० दूसरी सदी में निर्मित सांची के पूर्वी द्वार पर मिलते हैं। इस दृश्य में सादी लकड़ी को ग्रतसी से जोड़ कर नाव बनायी गयी है। नाव के ठीक बीच में एक मनुष्य बैठा है। उसके दाएँ-बाएँ दो व्यक्ति पतवार चला रहे हैं। दूसरा दृश्य स्तूप के पश्चिमी द्वार पर है। इसमें नाव का अग्र भाग चंचुधारी जीव के शरीर जैसा बना है। पिछला भाग मछली जैसा है। नाव के बीच में खंभों के ऊपर एक चंदोवा तना है। इसके नीचे एक खाली गद्दी बनी है। दृश्य में दो सहायक छत्र तथा चँवर पकड़े तथा एक नाविक खड़ा दीख पड़ता है।

जलयान का एक अन्य मनोरंजक दृश्य बम्बई के निकट साल्सट टापू में स्थित कन्हेरी की गुफ़ा पर अंकित है। इन गुफ़ाओं की आयु ईसा की दूसरी सदी मानो गयी है। उत्कीर्ण दृश्य में एक जलयान विशाल सागर की उन्मत्त तरंगों से खंडित हो गया है और निकट ही दो असहाय प्राणी पद्मपाणि से रक्षा के लिये याचना कर रहे हैं। दृश्य का वास्तविक चित्रण तो भूलने से भी नहीं भूला जाता। पुरी के जगन्नाथ मंदिर पर एक शिला है जिस पर एक विचित्र शाही नाव अंकित है। १२ वीं सदी के लगभग निर्मित यह शिला कोणार्क के मंदिर से लायी गयी बतलायी जाती है। नाव तीव्रता के साथ पानी को आगे काटती दीख पड़ती है। इसमें ५ नाविक सवार हैं।

अजन्ता की दो नंबर की गुफा के भीतर अंकित चित्रों में जलयान अंकित हैं। इस गुफा का निर्माण ५२५ ई० से लेकर ६५० ई० के बीच हुआ था। इस युग में भारत का सम्बन्ध अन्य बाहरी देशों से तेज़ी से बढ़ रहा था। भारतीय राज दरबारों में उस समय ईरान से भी राजदूत आये हुये थे। पुरी के बंदरगाह में कई प्राचीन समुद्री बेड़े तथा जलयान थे, जिन्हें पुलकेशी द्वितीय ने ध्वस्त कर डाला था। अजन्ता के दृश्य में कुमार विजय का अपने बेड़े सहित लंका में प्रविष्ट होने का अनुपम दृश्य है। इस बेड़े में कम से कम १,५०० व्यक्ति थे। चित्र में कुछ हाथी भी जलयानों पर खड़े हैं।

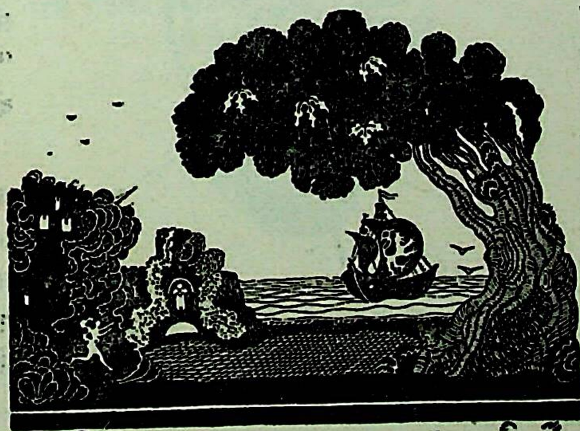
जलयानों के कुछ सुन्दर उदाहरण सुदूर दक्षिण में स्थित जावा द्वीप में मिलते हैं। ईसा की प्रारम्भिक सदियों में भारतीय जन जलयानों द्वारा उपनिवेश स्थापित करने के हेतु जावा पहुँचे थे। जावा के बोरोबुदूर मंदिर पर, जिस पर भारतीय तक्षण कला की अमिट छाप है, कई जलयान सम्बन्धी दृश्य अंकित हैं।

इन माध्यमों के अतिरिक्त सिक्कों पर भी जलयानों का चित्रण हुआ है। भारत के पूर्वी तट पर आंध्रवंशीय राजाओं के दूसरी-तीसरी सदी के कई सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिन पर दो मस्तूलों वाला जहाज़ चित्रित है। इन सिक्कों से प्रकट है कि इन सदियों में भारत पश्चिमी एशिया, यूनान, रोम, चीन, मिस्र तथा जापान से समुद्री सम्बन्ध स्थापित कर रहा था। आंध्रों के अतिरिक्त पल्लव वंशीय राजाओं के भी कुछ सिक्के हैं। इन पर भी दो मस्तूलों वाले जहाज़ अंकित हैं।

प्राचीन भारत में जलयान संभवतः राज्य की ओर से बनते थे। नदी तथा समुद्री व्यापार का बहुत बड़ा महत्त्व था और इस उद्योग से सैंकड़ों प्राणियों की जीविका चलती थी। टालमी ने २,००० जलयानों का सिंधु-उपत्यका में वर्त्तमान रहना बतलाया है। जलयानों की महत्ता के कारण मौर्य्य काल में एक जलयान समिति का निर्माण हुआ। विभाग का प्रधान नौकाध्यक्ष हुआ करता था। उस समय प्रत्येक बंदरगाह पर चुंगी भी ली जाती थी।

मौर्य्य काल से लेकर मुग़ल काल तक समुद्री व्यापार निरन्तर चलता रहा। प्लिनी ने एक स्थान पर लिखा है कि भारत की प्रचुर ऐश्वर्ययुक्त व्यापारिक सामग्री ने रोम को स्वर्णहीन कर दिया था। भारत से कई भौतिक रसायन सम्बन्धी वस्तुएँ भी बाहरी देशों को गईं। क़ारोमंडल तट से बहुत महीन सूती कपड़ा भी विदेशों को जाता था। मुग़लकाल में बंगाल तथा सिंध में बहुत से जलयान बने, किन्तु इनका अधिकतर प्रयोग नदियों में स्थानीय व्यापार के लिये ही होता था। मुग़ल साम्राज्य के अवसान पर जनसत्ता अंग्रेज़ों के हाथ में आई, तो उन्होंने इस देश के बेड़े को संभाला और उसे उन्नति की ओर ले चले।

—इलाहाबाद से प्रसारित



मोतीलाल नेहरू

मोहनलाल नेहरू

वह ज़माना ऐसा था जब हिन्दोस्तानियों को भी अपनी इज़्ज़त का ख्याल होने लगा था। जब मोतीलाल नेहरू कॉलेज में पढ़ते थे तो कम्पनी बाग़ में टहलने जाया करते थे। एक दिन उन्होंने देखा कि ४-५ एंग्लो-इण्डियन लड़के कुछ देसी लड़कों के पीछे चल कर उनके जूतों को अपने जूतों के पंजों से दबाते हैं और जब वे पैर से निकल जाते हैं तो हँसी उड़ाते हैं। उन्हें क्रोध आ गया और उन्होंने उनके पीछे जाकर एक-एक लात जमाई। उसके भी पहले जब वे छोटे थे, खुसरू बाग में हर क्रिस्मस पर रेलवे के अंग्रेज़ कर्मचारी एक मेला किया करते थे, जहाँ सरकार से उन्हें जुआ खिलाने की इजाज़त मिला करती थी। इसमें एक बड़ी सी मेज़ पर कीलें जड़ी रहती थीं, जिस पर पहिये-दार घोड़े दौड़ाये जाते थे। वे इस मेज़ के पास खड़े होकर सैर देख रहे थे कि एक लम्बे अंग्रेज़ लड़के ने उनका कॉलर पकड़ कर पीछे खींच लिया और खुद वहाँ खड़ा होकर सैर देखने लगा। उन्हें ताव आ गया। वे एक स्टूल उठा लाये और उस लड़के के पीछे रखकर उस पर खड़े हो गये और मौका पाकर दाँत से उसका कान पकड़ लिया। वह चिल्लाया जिस पर भीड़ जमा हो गयी और दोनों लड़कों को छोड़ उनके बड़ों में झगड़ा होने लगा।



घर में एक बहुत तेज़ घोड़ी थी, जिसे टम-टम में जोत कर वे खुद हाँकते हुए जाया करते थे। एक दिन किसी साहब की गाड़ी से आगे निकाला तो साहब बहुत नाराज़ हुए। वे खुद शहर के कलक्टर थे। इन पर रैश ड्राइविंग का मुकदमा कायम कर दिया मगर कुछ हुआ नहीं।

जब वे कानपुर में वकालत करते थे, तो एक मुकदमे में अंग्रेज़ जज के यहाँ पैरवी करने खड़े हुए और बहस अंग्रेज़ी में करनी शुरू की। साहब ने नाक-भौं चढ़ाकर कहा कि अदालत की ज़बान फ़ारसी है। इस पर वे फ़ारसी ज़बान में बोलने लगे। साहब बोले, "यह क्या है?" उन्होंने कहा, "फ़ारसी।" कहने लगे, "अच्छा अंग्रेज़ी बोलो।"

कांग्रेस का आन्दोलन बड़े ज़ोर पर आ गया। गान्धी जी भारत आ चुके थे, मगर उस वक्त तक मोतीलाल आन्दोलन

में भाग नहीं लेते थे। उनके मित्रों को इस पर बड़ा दुख हुआ और वे बराबर इस बात की कोशिश करते कि वे भी उसमें भाग लें। जवाहरलाल विलायत से लौट चुके थे और गान्धी जी के नेतृत्व में काम करने लगे थे। एक दफ़ा तो वे किसी सभा में भी, जहाँ अंग्रेज़ी राज्य ने गोली चलाई थी, मौजूद थे। घर लौटने पर बाप बेटे में कहा-सुनी भी हुई, फिर दो एक दफ़ा उनको जेल भी जाना पड़ा। इन बातों का असर मोतीलाल पर बहुत पड़ा। यहाँ तक कि वे खुद गान्धी जी के असर में आ गये और वकालत छोड़ने को तैयार हो गये। घर में मित्र-गण रोज़ शाम को जमा होते थे और इसी आन्दोलन की चर्चा रहती थी। अन्त में उन्होंने एकाएक बढ़ी-चढ़ी वकालत को लात मार दी और कांग्रेस में शामिल हो गये।

प्रिंस ऑफ़ वेल्स के आने की घोषणा हो चुकी थी। उसके बायकाट पर ज़ोर दिया जा रहा था। मगर उस जुलूस का रास्ता इन्हीं की कोठी के सामने रखा गया। उसके एक दिन पहले पुलिस ने इनके घर पर छापा मारा और सैंकड़ों वालेन्टियरों के घर पर भी। कितने ही लोग पकड़कर जेल भेज दिये गये। इनकी कोठी के सामने पुलिस तैनात थी और कांग्रेस वालेन्टियर, जो उस वक्त तक पकड़े नहीं गये थे, बॉयकाट करने को दीवार पर लिख रहे थे। वे लिखते "बॉयकाट प्रिंस।" पुलिस वाले उसके पहले Don't और लिखकर उसे Don't Boycott कर देते और लिखने वालों को थाने में बन्द कर देते।

जेल में हर बात की ख़बर पहुँच जाती थी। प्रिंस आये और गए, मगर हज़ारों आदमी जेल में भेज दिए गए। जवाहरलाल कहीं बाहर थे, वहाँ से पकड़कर आये और दो चार रोज़ में लखनऊ जेल में कांग्रेसियों और ख़िलाफ़तवालों की भीड़ जमा हो गयी। लखनऊ जेल क्या था, सैरगाह हो रहा था। जो भी कह दे कि मोतीलाल से मिलेंगे उसे भीतर आने देते थे। कोई मिठाई लाता, कोई फल उनके सामने चढ़ाकर दिन भर जेल में वैसे ही घूम सकता था जैसे चिड़िया घर में। हाथ पर घर वापिस जाने की मुहर छपी होती थी। वही दिखाकर शाम को घर जा सकता था। यह उस वक्त की गवर्नमेंट की आज्ञा से होता था। जितने बड़े अफ़सर थे वे सब उनके किसी न किसी वक्त मेहमान रह चुके थे क्योंकि उन्हें बड़ी पार्टियाँ करने का शौक था, जिसमें हर किस्म के अंग्रेज़ बुलाये जाते थे और तरह-तरह के स्वादिष्ट भोजन खाने को पाते थे। जब तक वे लखनऊ जेल में रहे, किसी कांग्रेस के आदमी को, जो 'ए' या 'बी' क्लास में होता था, जेल नहीं मालूम होता था। शुरू-शुरू में तो २ रु० रोज़ फ़ी आदमी खाने को मिलता था। जो अंग्रेज़ी खाना चाहे तो उसे रोटी मक्खन मिलता था। किसी-किसी वक्त तो इतनी रोटियाँ जमा हो जाती थीं कि अंबार लग जाता। तब वे 'सी' क्लास के कांग्रेसी कैदियों को खाने को भेजी जाती थीं।

—इलाहाबाद से प्रसारित

विश्व दर्शन को भारत की देन

भीखनलाल आत्रेय

आधुनिक विज्ञान की खोजों और आविष्कारों के कारण आज किसी प्राचीन संस्कृत कवि की 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की कल्पना वास्तविक होती जा रही है। वायुयान, रेडियो और सिनेमा ने आज मानव मात्र को एक दूसरे के सम्पर्क में इतना अधिक ला दिया है कि अब प्राचीन काल के जाति, रंग, भाषा और धर्म आदि के भेदों का विशेष प्रभाव नहीं रह गया। चारों ओर 'विश्व शान्ति', 'विश्व राष्ट्र', "विश्व संस्कृति', 'विश्व धर्म', 'विश्व साहित्य' और 'विश्व दर्शन' की चर्चा होने लगी है। कुछ दिनों में ही यदि ऐटम बम और हाइड्रोजन बम आदि जैसे विनाशकारी महा भयंकर आविष्कारों ने मानव समाज का अन्त न कर दिया तो पृथ्वी मंडल पर रहने वाला प्रत्येक मनुष्य समस्त भूमि को अपना घर और समस्त मानवों को अपने भाई-बहन समझ कर एक ऐसी सार्वभौम संस्कृति की रचना करने में सहयोग देगा जिसमें संसार के सभी देशों और कालों में उत्पन्न विज्ञान, धर्म और दर्शनों को यथोचित स्थान प्राप्त होगा और उन सबका सुन्दर समन्वय भी हो सकेगा।

इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुये हमें सभी देशों और कालों में प्राप्त ज्ञान और उत्पन्न विचारों का अध्ययन करना चाहिये और यह देखना चाहिए कि आगामी विश्व संस्कृति में उनका क्या स्थान होगा।

संस्कृति के आवश्यक अंगों में दार्शनिक विचारों का अधिकमहत्व है, क्योंकि इनके आधार पर ही मनुष्य का जीवन निर्मित होता है। साधारणतः मानव मात्र की विचार पद्धति सदा सर्वत्र समान रूप की ही होती है, तो भी समय-समय पर देश-देश में और भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियों में मानव जीवन की भिन्न समस्यायें और उनके भिन्न-भिन्न प्रकार के हल होते हैं। भिन्न-भिन्न मनुष्यों के अनुभव भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हुआ करते हैं। अनुभव समान प्रकार के होते हुये भी उनके भिन्न-भिन्न अंगों की ओर कम या ज्यादा ध्यान जाता है, और कहीं किसी और कभी और कहीं दूसरे अंगों को अधिक महत्व देकर विचार किया जाता है। एक दृष्टि से जो बात महत्वपूर्ण दिखाई पड़ती है, वह दूसरी दृष्टि से तुच्छ ज्ञात होने लगती है। अनन्त अंगों और प्रकारों वाले इस विश्व में कोई दार्शनिक किसी प्रकार और किसी अंग की ओर विशेष ध्यान देकर जिस दर्शन का निर्माण करता है, वह दूसरी ओर दृष्टि देने वाले दार्शनिक को तुच्छ दिखाई पड़ता है। यह बात भारत के दार्शनिक भली भांति जानते थे। ब्राह्मणों ने पारमार्थिक सत्य, व्यावहारिक सत्य और प्रातिभासिक सत्य में भेद करके, बौद्धों ने परमार्थ, सत्य और संवृति सत्य में भेद करके और जैनियों ने अनेकान्त वाद के आधार पर स्याद्वाद का निर्माण करके भारत को दार्शनिक समन्वय का मार्ग दिखला दिया। भविष्य में संसार भर को यह समन्वय सीखना पड़ेगा; नहीं तो एक सर्वतोमुखी पूर्ण विश्व-दर्शन का निर्माण नहीं हो सकेगा। दर्शन के क्षेत्र में ही नहीं, जीवन के व्यव-

हार में भी समन्वय के सिद्धान्त को अपनाये बिना सार्वभौम मानव समाज का निर्माण नहीं हो सकता। समन्वय की भावना भारत की एक बहुत बड़ी देन है।

भारतेतर देशों से भारत में दर्शन का अर्थ और प्रयोजन कुछ भिन्न रहा है। दूसरे देशों— यूनान, यूरोप और अमेरिका में दर्शन का अर्थ केवल जीवन और विश्व सम्बन्धी अन्तिम और गहनतम समस्याओं को समझने का प्रयत्न है, और इसका उद्देश्य केवल जिज्ञासा की पूर्ति है। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार दर्शन केवल मानवी जिज्ञासा की पूर्ति ही नहीं है, वरन् मनुष्य को उसके उच्चतम आदर्शों का ज्ञान कराकर उनकी ओर ले जाने का मार्ग और मनुष्य जीवन में परम आनन्द और परम शान्ति के अनुभव कराने का साधन बतलाना भी दर्शन का कार्य है। पाश्चात्य दर्शन अधिकतर सत्य की खोज है। भारतीय दर्शन सत्य, कल्याण और आनन्द तीनों की खोज है। अतएव भारतीय दर्शन में धर्म, कर्म और योग की चर्चा और देशों के दर्शनों से अधिक होती है।

भारतीय दर्शन में जीवन पर बहुत विस्तृत दृष्टि डालकर जीवन की प्रायः सभी समीप और दूर की आवश्यकताओं और इच्छाओं का ध्यान रक्खा गया है। जीवन के सभी अंगों—स्पष्ट, अस्पष्ट, दृष्ट और अदृष्ट, स्थूल और सूक्ष्म, दृश्य और अदृश्य, व्यक्त और अव्यक्त, क्षणिक और नित्य, बाह्य और आन्तरिक की ओर ध्यान देकर और सबके उचित स्थान, महत्त्व और तारतम्य को समझकर सत्य, आदर्श और साधनों का विवेचन किया गया है। अतएव धर्म (कर्त्तव्य), अर्थ (सम्पत्ति), काम (सुख भोग) और मोक्ष (शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वतंत्रता और पूर्णता) इन सभी की स्वतंत्र और गहरी चर्चा भारतीय दर्शन में इतनी अधिक मात्रा में होती है कि जितनी किसी और देश के दर्शन में नहीं हुई। जिस दर्शन में इन चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की चर्चा और उनका समन्वय नहीं है, वह दर्शन पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

पाश्चात्य देशों में, जिनके दर्शनों का प्रचार आजकल विश्व में है, दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्माण साधारण मानवी इन्द्रिय ज्ञान के आधार पर बुद्धि के विचार द्वारा होता है। हमारी जाग्रत अवस्था में हमारा बाह्य जगत् सम्बन्धी और हमारे मन में उत्पन्न होने वाले विकारों द्वारा जो ज्ञान हमको होता है, उसका बुद्धि द्वारा विश्लेषण और उस विश्लेषण के आधार पर बनाई हुई जीवन और बाह्य जग सम्बन्धी कल्पनायें ही हमारी दार्शनिक कृतियाँ हैं। कोई दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञान के बाह्य अंगों को अधिक महत्त्व देकर और कोई उसके आन्तरिक अंगों (मानसिक विकारों) को महत्त्व देकर अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्माण करता है। और कोई केवल इसी बात की चर्चा करता है कि वह ज्ञान क्या है, कैसे उत्पन्न होता है और विषयों से उसका क्या सम्बन्ध है। पर भारत के दार्शनिकों ने मानव अनुभव को बहुत गहरे और विस्तृत रूप में देखकर और उसकी सामन्वयिक और संतोषजनक व्याख्या करके दर्शन का महत्त्व बढ़ाया है। उन्होंने यह जाना है कि मानवी अनुभव केवल जाग्रत अवस्था तक ही सीमित नहीं है। मनुष्य के जीवन में जाग्रत के अतिरिक्त स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थायें भी हैं। उनका भी यथोचित स्थान और महत्त्व है। इनका भली भाँति अध्ययन करके उन्होंने यह जान लिया है कि मनुष्य में ऐसे भी तत्त्व हैं, जिनका जाग्रत अवस्था में होने वाले बाह्य और आन्तरिक ऐन्द्रिय ज्ञान में स्पष्ट भान नहीं होता और जिनका अनुभव और ज्ञान अन्य तीन अवस्थाओं में ही हो सकता है। जाग्रत अवस्था के अनुभवगत अनेक पदार्थों का—जैसे देश और काल का - दूसरी अवस्थाओं में अभाव हो जाता है। इन अन्य तीन अवस्थाओं में से स्वप्न और सुषुप्ति का अनुभव तो प्रायः सभी को हुआ करता है, यद्यपि इनका स्वरूप और रहस्य कोई नहीं जानता, पर तुरीय अवस्था तो साधना करने

पर ही अनुभव में आती है। जीवन को पूर्णतया समझने के लिये उस अनुभव की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि उसमें जीवन के अद्भुत और बहुमूल्य अंगों और तत्त्वों का अनुभव होता है। अतएव प्रत्येक दार्शनिक का यह कर्त्तव्य है कि वह योग द्वारा साधना करके तुरीय अवस्था का, जिसको समाधि भी कहते हैं, अनुभव करे। तब कहीं वह जीवन के सब तत्त्वों का अवलोकन कर सकता है। अन्यथा उसका अनुभव अपूर्ण और दर्शन अधूरा होगा। इन तीनों अवस्थाओं के अनुभव और ज्ञान का जाग्रत अवस्था के अनुभव और ज्ञान के साथ समन्वय किये बिना दर्शन अधूरा और निकम्मा रहता है।

अतएव इन्द्रियों द्वारा जाग्रत अवस्था में प्राप्त किये हुये ज्ञान के आधार पर निर्माण किया गया विश्व सम्बन्धी ज्ञान केवल ऊपरी और आपाततः प्राप्त ज्ञान है। उसके द्वारा हम विश्व के भीतर प्रवेश नहीं कर सकते और न उसके आन्तरिक रहस्यों को समझ सकते हैं। मनुष्य भी विश्व का एक भाग है। मनुष्य अपने आप को बाहर और भीतर दोनों प्रकार से समझ कर ही अपना और विश्व का स्वरूप समझ सकता है, क्योंकि उसमें विश्व के सभी तत्त्व और सभी रहस्य वर्तमान हैं। अतएव भारतीय दार्शनिकों ने आत्म ज्ञान, आत्मावलोकन, आत्म-साक्षात्कार पर बहुत ज़ोर दिया है और यह भी बतलाया है कि जो तत्त्व ब्रह्माण्ड में हैं, वे ही मानव पिण्ड में है—"यत्पिंडे तद् ब्रह्माण्डे।" ब्रह्माण्ड के रहस्यों के समझने के लिये अपने अन्तर्गत रहस्यों को समझना ही एक मात्र साधन है। इसलिये ही भारतीय दार्शनिकों ने आन्तरिक अनुभव, ध्यान और विचार को बहुत महत्त्व दिया है।

ध्यान और योग द्वारा पूर्ण अनुभव और उस अनुभव की जीवन में परीक्षा और उसके प्रकाश में जीवन और विश्व के तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करके भारतीय दार्शनिकों ने बहुत से ऐसे तत्त्वों और नियमों की खोज कर ली है जो निश्चित रूप से अकाट्य और जीवनोपयोगी हैं और जिनकी ओर ध्यान दिलाना और जिनका आधुनिक भाषा में और आधुनिक रीति से प्रतिपादन करना भारतीय दार्शनिकों का कर्तव्य होना चाहिये जिससे विश्व दर्शन में उनको उचित स्थान मिले और जिनके ज्ञान से विश्व के सभी मनुष्यों का कल्याण हो। उन तत्त्वों, सत्यों और नियमों में से कुछ का यहाँ पर संकेत मात्र किया जाता है।

१. मानवी अनुभव का, अतएव विश्व का भी आधार एक ऐसा सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ, अव्यक्त, अवर्णनीय, अविकारी और नित्य तत्त्व है, जिसमें समस्त दृष्ट और अदृष्ट विश्व और तद्गत प्राणी स्थित हैं और जिसका अपने अन्दर तुरीयावस्था में अनुभव होने पर विश्व के साथ एकता, परम आनन्द, परम शान्ति और तृप्ति का अनुभव होता है। यह अनुभव ही हमारा परम उद्देश्य और चरम लक्ष्य है।

२. मनुष्य और विश्व का अस्तित्व केवल भौतिक ही नहीं है। हमारे अस्तित्व के स्थूल शरीर से लेकर सूक्ष्मतम आत्मा तक अनन्त स्तर हैं। उनमें प्रवेश करके हम वहाँ के विचित्र और अद्भुत अनुभव प्राप्त कर सकते हैं और उनमें स्थित अन्य प्राणियों के साथ सम्पर्क भी स्थापित कर सकते हैं। जिस प्रकार मनुष्य के भीतर अनेक सूक्ष्म स्तर हैं, उसी प्रकार विश्व में अनेक सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम लोक हैं। एक से दृष्टि हटा लेने पर दूसरे का अनुभव होने लगता है। विश्वगत कण-कण में अनन्त सृष्टियाँ हैं।

३. हमारा और विश्व का अस्तित्व केवल स्थूल और भौतिक न होने के कारण "उत्पत्ति" और "नाश" शब्द निरर्थक है। "दृष्ट" और "अदृष्ट", "व्यक्त और "अव्यक्त", "उदय" और "लय" अधिक सार्थक शब्द हैं। स्थूल जगत में जो व्यक्ति नहीं है, वह सूक्ष्म जगत में

रह सकता है। अतएव 'मृत्यु के द्वारा' प्राणी का 'नाश' सम्भव नहीं है। 'मृत' प्राणी दूसरे स्तरों में और दूसरे लोकों में रह सकते और व्यवहार कर सकते हैं। पुनर्जन्म और परलोक के सिद्धान्त अनुभवजन्य और युक्तिसंगत हैं।

४. प्रत्येक शारीरिक और मानसिक क्रिया हमारे व्यक्तित्व में कुछ न कुछ विकार उत्पन्न करती है और वह विकार किसी न किसी रूप में हमारे व्यक्तित्त्व में रहता है। इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञान और प्रत्येक भावना हमारे व्यक्तित्व में किसी न किसी प्रकार और किसी न किसी रूप में वर्तमान रहती है। नहीं तो उसकी स्मृति न हो। विश्व में प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया भी हुआ करती है क्योंकि समस्त विश्व एक ब्रह्म के आधार पर स्थित है और जीवित और सक्रिय है। अतएव 'संस्कार' और 'कर्म' सम्बन्धी भारतीय सिद्धान्त जीवन और विश्व के समझने में बहुत उपयोगी हैं। इनके सम्बन्ध में वैज्ञानिक खोज होनी चाहिए और इनका प्रचार भी होना चाहिए।

५. भारतीय दर्शन का आधार जीवन का पूर्ण अनुभव और योग द्वारा प्राप्त ज्ञान होने के कारण उसको विज्ञान से डरने की कोई आवश्यकता नहीं। ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति होगी और उसका प्रवेश सूक्ष्म जगत् में होगा त्यों-त्यों भारतीय 'दर्शन' के सिद्धान्तों की पुष्टि ही होगी। अभी कुछ दिन हुये जर्मनी के एक विद्वान दार्शनिक डा० ग्लैसनप्प ने अपने एक लेख 'Parallels and contrasts in Indian and Western metaphysics' 'भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों में समानता और भेद' में जो कि "Philosophy: East & West" नामक पत्रिका में छपा है, कहा है:— "It is noteworthy that the Indian sages of ancient times anticipated in their speculation some of the results of modern science." "यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन भारतीय ऋषियों ने कई आधुनिक वैज्ञानिक सत्यों को पहले ही भाँप लिया था।"

इस बात को ध्यान में रखकर भारतीय दार्शनिकों को चाहिए कि विश्व-दर्शन को भारत का जितना भी दार्शनिक ज्ञान दे सकें, उतना देने का प्रयत्न करें।

—इलाहाबाद से प्रसारित

बुद्ध-चरित

बहुशः किल-शत्रवो निरस्ताः समरे त्वामधिरुह्य पार्थिवेन
अहमप्यमृतं पदं यथावत्तुरगश्रेष्ठ लभेय तत्कुरुष्व ।
इह चैव भवन्ति ये सहायाः कलुषे धर्मणि धर्मसंश्रये वा ।
अवगच्छति मे यथान्तरात्मा नियतं तेऽपि जनास्तदंशभाजः ॥

(अश्वघोष)

हे श्रेष्ठ अश्व ! मेरे पिता महाराज शुद्धोदन ने तुम्हारे ऊपर चढ़कर अनेक शत्रुओं को परास्त किया। मैं अमृत पद प्राप्त करना चाहता हूँ, मेरे भी तुम सहायक बनो। जो अच्छे या बुरे कामों में किसी के सहायक बनते हैं, उन्हें भी उन अच्छे या बुरे कामों का फल अवश्य मिलता है, ऐसी मेरी अंतरात्मा समझती है। मेरा यह अभिनिष्क्रमण जगत् के हित के लिए है, ऐसा समझ कर तुम अपने वेग और विक्रम से प्रयत्न करो, तुम्हारा भी कल्याण होगा।

(परमेश्वरानन्द, जालंधर)

क बी र

शिवदानसिंह चौहान

कबीर मध्ययुग के युग-प्रवर्तक सन्त और महाकवि हैं। उनका सुदीर्घ जीवन-काल पूरी पन्द्रहवीं शताब्दी और सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक उन्नीस वर्षों को घेर लेता है।

सुदूर दक्षिण के आलवार भक्तों में भक्ति-पूर्ण उपासना पद्धति वर्तमान थी। इन्हीं लोगों की परम्परा में वैष्णव आचार्य रामानुजाचार्य हुए। उन्होंने विष्णु की भक्ति का आश्रय लेकर निचले वर्गों को ऊँचा किया। उनका श्री सम्प्रदाय मायावाद का विरोधी था। इनकी ही शिष्य-परम्परा में स्वामी रामानन्द हुए जो कबीर के गुरु थे। वे दक्षिण से उत्तर भारत में आये थे। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि मध्ययुग की स्वाधीन चिन्तना के गुरु रामानन्द ही थे। उनके अनुसार जो भक्ति के पथ में आ गया उसके लिए वर्णाश्रम का बन्धन व्यर्थ है—सभी भाई-भाई हैं, सभी एक जाति के हैं, श्रेष्ठता भक्ति से होती है जन्म से नहीं। उन्होंने देशी भाषा में कविता लिखी और ब्राह्मण से चांडाल तक को राम नाम का उपदेश दिया। स्वामी रामानन्द के बारह शिष्य थे जिनमें रैदास चमार, कबीर जुलाहा, धन्ना जाट, सेना नाई आदि थे।



कबीर के समय देश में धर्म की एक और धारा प्रवाहित हो रही थी। वह थी सूफ़ी साधना की धारा। सूफ़ी साधक इस्लाम के एकेश्वरवाद से सन्तुष्ट न थे और भगवान को विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्तियों की तरह मानते थे। पहले ये साधक पंजाब और सिन्ध में आकर बसे। फिर धीरे-धीरे उनकी परम्परा सारे भारतवर्ष में फैल गई। ये साधक मुसलमान उल्माओं की तरह कट्टर और संकीर्ण मतवादी न थे। इसी लिए मुईनउद्दीन (११४२ ई०), कुतुबुद्दीन काकी, फ़रीद शकरगंज (१२०० ई०), शेख चिश्ती (१२६१ ई०) तथा निज़ामुद्दीन औलिया (१२३५ ई०) आदि सूफ़ी साधक समान भाव से हिन्दू और मुसलमानों का विश्वास और सम्मान प्राप्त कर सके थे। बाद में इन सूफ़ी साधकों ने पौराणिक आख्यानों के बदले लोक प्रचलित आख्यायिकाओं का आश्रय लेकर जनता तक अपनी बात पहुँचाई।

इस प्रकार कबीर के समय और उनसे पहले देश में धार्मिक आन्दोलनों के रूप में जनता का विद्रोह जिन तीन परम्पराओं के रूप में व्यक्त हुआ था, कबीर को उन सब को आत्मसात् करने का सुयोग मिला। इसी कारण उनकी वाणी में इतना विशद युग-चित्रण है और इतना अक्खड़पन, सहज भाव, साहस और गहरा व्यंग्य है जो उन्हें एक युगावतार व्यक्ति की कोटि में रख देता है।

कबीर के पदों और साखियों में अनेकानेक व्यंग्योक्तियाँ मिलती हैं। कहीं वे पूछते हैं यदि नग्न घूमने से योग मिलता तो वन के सभी मृग मुक्त हो जाते, सिर का मुँडन कराने से यदि मुक्ति मिल जाती तो सिद्धि की ओर

भेड़ें क्यों नहीं चली गईं ? कहीं वे वर्णाश्रम व्यवस्था पर व्यंग्य कसते हुए पूछते हैं तुम किस प्रकार ब्राह्मण हो और हम किस प्रकार शूद्र हैं ? हम किस प्रकार घृणित रक्त हैं, तुम किस प्रकार पवित्र दूध हो ? छुआछूत के विरुद्ध तर्क करते हुए कबीर कहते हैं, जल में छूत है, थल में छूत है और ग्रहण के अवसर पर किरणों में भी छूत है, जन्म में भी छूत है और मरने में भी छूत है। कह तो रे पंडित, कौन पवित्र है ? आँखों में छूत है, बोली में छूत है, कानों में भी छूत है। उठते-बैठते तुझे छूत लगती है, यहाँ तक कि भोजन में भी छूत है। इस प्रकार कर्म-बन्धन में फँसने की विधि तो सभी कोई जानते हैं, मुक्त होने की विधि कोई एक ही जानता है। कबीर कहते हैं कि जो राम को हृदय में विचारते हैं, उन्हें छूत नहीं लगती।

बनारस के सन्तों का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं:

साढ़े तीन-तीन गज़ की धोती पहने हुए, पैरों में तिहरे तागे लपेटे हुए, गले में जपमाला डाले हुए और हाथ में लोटे लिये हुए, इन लोगों को हरि के सन्त कैसे कहा जा सकता है ? ये तो बनारस के ठग हैं। मुझे ऐसे सन्त अच्छे नहीं लगते, जो टोकरे भर-भर कर पेड़े गटक जाते हैं। बरतन माँज कर अलग बैठकर खाना खाते हैं कि कहीं किसी की भोजन पर छाया न पड़ जाये और लकड़ी धोकर जलाते हैं।

राज्य की ओर से की गई न्याय-व्यवस्था के आडम्बर पर चोट करते हुए कबीर कहते हैं— ऐ काज़ी, तुम से ठीक तरह बोलते नहीं बनता, हम तो दीन, बेचारे ईश्वर के सेवक हैं और तुम्हारे मन को राजसी बातें ही भाती हैं। लेकिन इतना समझ लो कि धर्म के स्वामी ईश्वर ने कभी अत्याचार करने की आज्ञा नहीं दी। एक और स्थान पर नसीहत देते हुए कहते हैं—ऐ पागल, तू दीन से सहानुभूति नहीं रखता। इस लिये तेरा जन्म किसी काम का नहीं है।

कबीर जनता के कवि थे और जनता के प्रति उनके हृदय में असीम करुणा और अनुराग का भाव था। उन्हें राजा के घर जाने में आपत्ति थी। एक पद में उन्होंने कहा भी है— हे राजन् ! तुम्हारे घर कौन आयेगा ? तुम्हारे दूध से अधिक मैंने विदुर के पानी को अमृत करके माना है। तुम्हारी खीर की तुलना में मैंने उनका साग खाया, जिसका गुण गाते मैंने सारी रात बिता दी। यह कह कर कि "साईं के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय," उन्होंने मानव मात्र की समानता का सिद्धान्त प्रचारित किया और ईश्वर की धर्मोपासना के लिए सबके लिए समान अधिकार की मांग की।

—दिल्ली से प्रसारित



मानसिक रोग और नैतिकता

लालजीराम शुक्ल

सभ्यता का प्रसार जैसे-जैसे होता जा रहा है, वैसे-वैसे अनेक प्रकार के मानसिक रोग बढ़ रहे हैं। सभ्यता मनुष्य की बुद्धि की वृद्धि का परिणाम है। बुद्धि के बढ़ने के साथ-साथ विज्ञान में वृद्धि होती है। विज्ञान मनुष्य को बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का उपाय बताता है, परन्तु विज्ञान मनुष्य को अपने आप पर विजय प्राप्त करने की सामर्थ्य नहीं देता। जब तक मनुष्य अपने मनका उसी प्रकार ज्ञान नहीं कर लेता, जिस प्रकार वह बाह्यजगत के पदार्थों का ज्ञान करता है, तब तक उसमें अपने आपको नियंत्रित रखने की क्षमता नहीं आती। जब मनुष्य में आत्म-नियंत्रण नहीं रहता, तभी उसे मानसिक रोग होता है।

मनुष्य में आत्म-नियंत्रण की शक्ति धीरे-धीरे आती है। जिन बालकों को समय के पूर्व ही अत्यधिक नैतिकता सिखा दी जाती है, वे वास्तविक संयमी न बनकर मानसिक रोगी बन जाते हैं। मनुष्य की सभी प्रारम्भिक इच्छाएँ स्वार्थमयी होती हैं। इन इच्छाओं के पूरे होने पर उदार भावनाओं का स्वतः ही विकास होता है। जब मनुष्य में उदारता, सहिष्णुता और सद्भाव का विकास सहज रूप से होता है, तब वह स्थिर रहता है। परन्तु जब किसी व्यक्ति में इन भावों को समय से पूर्व डाला जाता है तो वे उसके स्वभाव में अपनी जड़ नहीं जमाते। वे ऊपर ही ऊपर रह जाते हैं। नैतिकता जब मनुष्य के प्राकृतिक स्वभाव पर आधारित रहती है और जब वह अनुभव की परिपक्वता के साथ आती है, तब वह मनुष्य के व्यक्तित्व को बली बनाती है।

मानसिक रोग की अवस्था में मनुष्य की इच्छा-शक्ति दुर्बल रहती है। इस दुर्बलता का कारण उसके मनमें चलने वाला आन्तरिक संघर्ष रहता है। इस संघर्ष का संपूर्ण ज्ञान स्वयं मानसिक रोगी को नहीं रहता। वह इस संघर्ष के परिणाम-मात्र को मानसिक रोग के रूप में देखता है। मानसिक संघर्ष मनुष्य की चेतना की सतह के नीचे चलता है। रोगी में संघर्ष के निराकरण की क्षमता नहीं रहती। संघर्ष करने वाली प्रवृत्तियाँ एक ओर नैतिक और दूसरी ओर प्राकृतिक रहती हैं। मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ उसकी नैतिक भावना द्वारा दबाए जाने के कारण प्रकाश में नहीं आतीं। परन्तु दबाए जाने से ये प्रवृत्तियाँ निर्बल न होकर और प्रबल हो जाती हैं। अपने प्रकाशन का योग्य मार्ग जब वे नहीं पातीं तो अयोग्य मार्ग से ही प्रकाशित होती हैं। प्राकृतिक प्रवृत्तियों का विकृत होकर अयोग्य मार्ग से प्रकाशित होना ही मानसिक रोग है।

हर एक व्यक्ति की नैतिकता दो प्रकार की होती है, एक वास्तविक और दूसरी दिखावटी। मनुष्य की वास्तविक नैतिकता से उसको लौकिक लाभ नहीं होता। इस प्रकार की नैतिकता के कारण मनुष्य को अनेक प्रकार की आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। उसे अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं। संसार में ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा बहुत थोड़े लोग करते हैं। अधिक लोग उसकी निन्दा ही करते हैं। सुकरात को अपनी वास्तविक नैतिकता के लिए विष का प्याला पीना पड़ा था और ईसा को इसी कारण

सूली पर चढ़ना पड़ा था। जब समाज में अधर्म और अन्याय फैला रहता है, जब समाज के धनी और अधिकारी पुरुष अनुचित कार्यों को करने लगते हैं और उनका अनुकरण करके समाज के साधारण व्यक्ति भी उचित-अनुचित का विचार करना भूल जाते हैं, तब ऐसे किसी व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो इस प्रकार के अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाए और बिगड़ी हुई सामाजिक व्यवस्था को सुधारने की चेष्टा करे। ऐसे व्यक्ति को बड़ी हिम्मत की आवश्यकता होती है। समाज के प्रबल अन्यायी लोगों का विरोध करने से मनुष्य अपने प्राणों तक को खो सकता है। इसी प्रकार का कार्य करना वास्तविक नैतिकता है।

जो व्यक्ति इस तरह सच्चे अर्थों में नैतिक होता है, उसकी इच्छा-शक्ति दृढ़ होती है और उसको मानसिक रोग नहीं होते।

किसी प्रकार के अनैतिक कार्य करने से मनुष्य का मन दुर्बल होता है। जब यह मानसिक दुर्बलता बाहरी मन से भीतरी मन में चली जाती है, तब मनुष्य को अनेक प्रकार के मानसिक रोग हो जाते हैं। काम, क्रोध, भय, ईर्ष्या और लोभ के भावों में बह जाना मानसिक दुर्बलता को व्यक्त करता है। जिस मनुष्य की इच्छा-शक्ति दुर्बल होती है, वह विवेक-शून्य होता है। वह नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करता है। इस प्रकार के आचरण से उसे कभी-कभी आत्म-ग्लानि होती है। इस आत्मग्लानि की पीड़ा से बचने के लिए मनुष्य उस घटना को ही भूलने की चेष्टा करता है जिसमें वह किसी मनोवेग में बह गया था। बार-बार इस प्रकार के प्रयत्न करने से वह अपने इस आत्म-विस्मृति के कार्य में सफल हो जाता है। परन्तु इस व्यक्ति का अवांछनीय मनोवेग चेतना के स्तर से हटकर चेतना के नीचे पहले जैसा ही कार्य करने लगता है। इसे प्रकट होने से रोकने के लिए मनुष्य कठोर नैतिक धारणाओं को अपनाता है।

इस प्रकार मनुष्य एक ओर बड़ा ही नैतिक व्यक्ति बन जाता है और दूसरी ओर उसकी प्रबल प्रवृत्तियाँ उसके अनजाने ही उसके मन के गुप्त भाग में सदा क्रियाशील रहती हैं। ये प्रवृत्तियाँ मनुष्य के स्वभाव के अंग उसी प्रकार बन जाती हैं, जिस प्रकार उसकी नैतिकता उसके स्वभाव का अंग बन जाती है। अतएव इन प्रवृत्तियों अथवा आवेगों के दमित रहने के कारण मनुष्य के आन्तरिक मन में भारी असन्तोष रहता है। यही असन्तोष नाना प्रकार से मनुष्य के जीवन में मानसिक रोग के रूप में प्रकट होता है। यह बनावटी नैतिकता का परिणाम है।

बनावटी नैतिकता वह है, जो केवल अपने आन्तरिक मन की वस्तुस्थिति को भुलाने के लिए ही धारण की जाती है। ऐसी नैतिकता में मनुष्य आवश्यकता से अधिक उदार, विनीत, श्रद्धालु और निर्भीक दिखाई पड़ता है। जब किसी व्यक्ति के जीवन में नैतिकता के सब गुण असाधारण प्रकार से प्रदर्शित हों, तब हमें जानना चाहिए कि उसके आन्तरिक मन में असन्तोष है अर्थात् वह एक प्रकार का मानसिक रोगी है। उसका नैतिक आचरण आत्मविस्मृति का उपाय मात्र है।

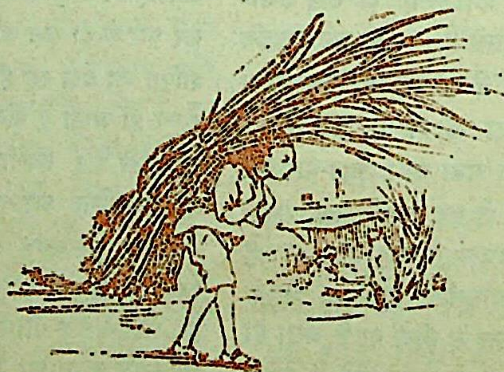
जब मानसिक रोग अधिक बढ़ जाता है अर्थात् जब मनुष्य साधारण विक्षिप्तता से हट कर पागल ही बन जाता है, तब उसमें इच्छा-शक्ति का बल रह ही नहीं जाता। वह विवेक-शून्य हो जाता है और उसकी नैतिकता समाप्त हो जाती है। किसी मनुष्य का पागल होना घोर मानसिक असन्तोष का परिणाम है। जब तक यह असन्तोष चेतना की सतह के नीचे रहता है, मनुष्य थोड़ा बहुत विक्षिप्त भले ही हो, लेकिन वह पागल नहीं होता। जब यह असन्तोष बाहर आ जाता है तब मनुष्य पागल हो जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य की ठोस नैतिकता मानसिक रोग की विनाशक

है और उसकी बनावटी नैतिकता वास्तविक कमज़ोरियों को ओझल करने में सहायक होकर मानसिक रोगों की सृष्टि करती है।

प्रत्येक मानसिक रोगी का मन विभाजित अवस्था में रहता है। उसके आन्तरिक मन और बाहरी मन में सम्पर्क नहीं रहता। यदि वह बाहरी मन से शीलवान, सच्चा, सदाचारी और उदार है, तो आन्तरिक मन से वह इसके ठीक विरोधी गुण वाला होता है। जब मनोविश्लेषण प्रक्रिया से मनुष्य के बाहरी और आन्तरिक मन में एकता स्थापित की जाती है, तब मनुष्य के जीवन का नैतिक स्तर अत्युच्च न होकर नीचा हो जाता है। अर्थात् स्वास्थ्य लाभ करने के पश्चात् उसके नैतिक विचार पहले जैसे ऊँचे नहीं रह जाते। परन्तु उसकी इस प्रकार की नैतिकता अब बनावटी नहीं रहती। ऐसे व्यक्ति के जीवन के आदर्श बहुत ऊँचे तो नहीं रहते, परन्तु वे व्यावहारिक होते हैं। उसके बाहरी और भीतरी मन में एकता रहती है। ऐसे व्यक्ति के विचार और व्यवहार में एकता रहती है। सम्पूर्ण व्यक्तित्व की दृष्टि से ऐसा ही व्यक्ति सच्चा आरोग्यवान कहा जा सकता है।

मानसिक रोगों के उपचार में मनुष्य को नैतिक शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। बहुत से मानसिक रोगियों को अपनी नैतिकता का अभिमान रहता है, परन्तु उनकी यह नैतिकता उनकी प्रबल भोग प्रवृत्तियों के दमन करने का एक उपाय मात्र है। इसकी जड़ मनुष्य के आन्तरिक स्वभाव में नहीं रहती, वरन् वह हठवादिता पर आश्रित रहती है। यह इच्छा शक्ति के दिवालियापन की द्योतक है। मानसिक रोग से मुक्त करने के लिए मनुष्य को इस झूठी नैतिकता के अभिमान से मुक्त करना पड़ता है। मानसिक चिकित्सक की कुशलता इस बात में है कि किसी रोगी की झूठी नैतिकता के अभिमान को उतनी ही दूर तक कम करने की चेष्टा करे, जितनी दूर तक उसमें सच्ची नैतिकता जड़ पकड़ती जाए। मानसिक रोगी अपनी झूठी नैतिकता के अभिमान को सरलता से नहीं खोना चाहता। यदि यह अभिमान एक दम खो जाये तो उसका जीना ही कठिन हो जाए। परन्तु जब वह सच्ची नैतिकता के स्वरूप को पा जाता है तब वह झूठी नैतिकता को त्याग देता है। इस नैतिकता को पाकर वह अपने रोग से भी मुक्त हो जाता है।

—इलाहाबाद से प्रसारित



दलाल

विजयदेव नारायण साही

ज़माने की हवा कहिये या हमारी बद-क़िस्मती, लेकिन साहब, दुनिया का एक चलन यह भी है कि जिसकी चाहें भरे बाज़ार में पगड़ी उतार लें। बस जी में समाने की देर है, नहीं तो काले को गोरा और गोरे को काला करते क्या देर लगती है? एक भेड़िया-धसान ही तो है कि कौवा कान ले गया कहने पर अपना कान तो देखते नहीं, कौवे के पीछे दौड़ते हैं। अब मुझको देखिये। जो कोई पूछ बैठता है...भाई क्या करते हो? तो दो बार सोचना पड़ता है इसके पहले, कि कहूँ....भाई मैं दलाली करता हूँ। मैं पूछता हूँ कि मेरा पेशा सुनते ही मन ही मन मुस्कराने की ऐसी क्या बात है? माफ़ कीजिये, मैं कोई चोरी नहीं करता, डकैती नहीं करता, किसी की क़त्ल ख़ून नहीं करता। एक बे ज़बान, ईमानदार, आबरू-वाला, ख़ानदानी आदमी हूँ और देवदूतों, राज-दूतों और अन्य सभी दूतों की तरह अपना काम करता हूँ। जी हाँ, मैं दलाल हूँ।

मतलब यह है कि इसी तरह का भेड़िया-धसान हम ग़रीबों के बारे में भी हुआ है। क्षमा कीजियेगा, इसके बारे में मैं किसी को दोष नहीं देता, केवल अपने भाग्य को रोता हूँ। नहीं तो अच्छा ख़ासा, साफ़-सुथरा, अरबी का शब्द है—'दल्लाल'। शब्दकोष उठाकर देखिये, तो माइने लिखे हैं—रास्ता दिखलाने वाला, पथप्रदर्शक....संक्षेप में 'नेता'। अब हालत यह है कि किसी नेता को दलाल कह दीजिये, तो एक ओर तो कहने वाला यह समझता है कि चलो हमने इसको पेट भर कोस लिया, और नेता सोचता है कि इसके जवाब में मुक़दमा चलाया जाये या अख़बार में वक्तव्य दिया जाये। लेकिन मुझसे कोई नहीं पूछता कि मेरी भी इसमें कोई राय है या नहीं? मैं, जो कई पुश्तों से यही काम करता चला आ रहा हूँ।

अब आप ही ईमानदारी से विचार करें। जिस आदमी के ख़िलाफ़ सारी दुनिया हो और पक्ष में केवल एक शब्दकोष, उससे बड़ा बद-क़िस्मत कोई होगा? मैं किस-किस से कहता फिरूँ कि भाई कान भी देखोगे या सिर्फ़ कौवे के पीछे ही दौड़ते फिरोगे? फिर अब तो पाणिनी की परम्परा के लोग भी नहीं रहे। एक ज़माना था कि जहाँ हम एक बग़ल में अपना झोला गट्टर लटकाते, दूसरी में एक-एक शब्द-कोष भी लेकर चलते और जब आप दलाल शब्द सुनते ही मुस्कराते तो हम झट दूसरी से शब्दकोष निकाल कर आपके सामने रख देते। अब हम ऐसा करें तो पहले तो आप यह सोचेंगे कि ज़री की साड़ी या बीमे की पालिसी के साथ-साथ यह आदमी डिक्शनरी भी बेचता है क्या? चलिये, हम तो कहीं के न रहे। आप भी भ्रम में पड़े और हमारा लगा लगाया व्यापार भी चौपट। क्योंकि साहब, मैं बड़े तजुर्बे से जानता हूँ और अपने सब भाइयों को चेतावनी देता हूँ कि लोग इस दुनिया में अनपढ़ बादशाह अकबर को महान् कहने में नहीं हिचकेंगे, लेकिन डिक्श-

नरी बाज़ दलाल को कभी स्वीकार नहीं करेंगे। इसलिए साहब, मैं बहस नहीं करता। आपकी ख़ाक की ख़ाक हूँ, आपकी जूतियों की भी जूती। जो ग्राहक की मर्ज़ी, वही मेरा विश्वास, वही धर्म, वही आस्था।

मेरे दोस्त एक मुनीम जी हैं। उनका क़ौल है कि मालिक की नज़र टेढ़ी हुई और उनकी राय बदली। इसी क़ौल की बदौलत आज लाखों नहीं तो हज़ारों के आदमी तो वह हो ही गये। मैं कहता हूँ कि हर दलाल को सुनहरे अक्षरों से यही क़ौल अपने घर में लिख लेना चाहिये। फ़र्क़ यही है कि मुनीम जी के मालिक तो एक ही हैं। हम दलालों के मालिक आप सब हैं। क्योंकि कौन जाने कल ही आप हमारे ग्राहक बन जायें। मेरा क़ौल तो मुनीम जी से भी एक क़दम आगे है। भाइयों, अपनी कोई राय ही न रखो। और जो रखो भी तो सात हाथ ज़मीन खोद कर गाड़ रखो कि फ़रिश्तों तक को भी ख़बर न हो। न तुम्हारी कोई राय होगी और न किसी की नज़र टेढ़ी होगी।

साहब, हम चुप न रहें तो करें भी क्या? शब्दकोषों को छोड़ दीजिये तो आज तक कोई ऐसा हुआ जिसने हमदर्दी के साथ हमारी मुसीबत समझने की कोशिश की हो या एक शब्द हमारे पक्ष में कहा हो? वर्ना हम कोई छोटा काम करते हैं? इंजन के दो चलते हुए पुर्ज़ों के बीच तेल....लुब्रिकेशन... का जो महत्व होता है उससे कम हमारा महत्त्व नहीं। हम जो आदमी आदमी के सम्बन्धों के बीच मीठी बोली, मुरौव्वत, मेहरबानी का तेल डालते फिरते हैं कि कहीं रगड़ न पैदा हो जाये और दुनिया की यह मशीनरी बिना खड़खड़ाहट के चलती रहे, यों कि काम भी निकल जाये और किसी को कानों कान ख़बर न हो, किसके काम नहीं आते? फिर भी ज़रा सोचिये कि कितने इंजिन, कितनी मोटरें, कितने हवाई जहाज़ बरसों ठाठ से काम देते रहते हैं। इंजिन, मोटर और हवाई जहाज़ की तारीफ़ सब करते हैं लेकिन बेचारे लुब्रिकेशन को कोई नहीं पूछता। सिर्फ़ इसीलिये न कि हम शोर नहीं मचाते, ज़रा से असम्मान पर घिसे हुए पुर्ज़ों की तरह धक्के नहीं देते चलते, टूटे इंजनों की तरह अकड़ कर ऐंठ नहीं जाते? बस चुप रहते हैं और निष्काम भाव से अपना कर्म किये चलते हैं।

यह चुप रहना भी कोई मामूली कला नहीं है। यूनिवर्सिटियों में जाकर देखिये। पूछिये कि भाई यह हज़ारों की संख्या में नौजवानों को क्या सिखाते हो? कहेंगे कि हम इन्हें अपने विचारों को व्यक्त करना सिखाते हैं। मैं देखता हूँ और हैरान रह जाता हूँ। वह लाखों रुपया मन की बात कैसे प्रकट की जाये, इस पर खर्च हो रहा है। देखिये, मैं राय नहीं देना चाहता, सिर्फ़ एक बात कहता हूँ। और अगर आपका इसमें मतभेद हो मेहरबान, आप ही की बात ठीक है। मेरी और मेरी बात की कोई बिसात नहीं। लेकिन मैं सोचता हूँ कि काश इसका चौथाई रुपया भी मन की बात छिपाने की कला सिखाने में खर्च होता, तो दुनिया का बड़ा काम बनता। आप ही कहिये आज की बातूनी, भाषण-ग्रस्त, उद्‌गार-रुग्ण दुनिया को बात खोलने की ज़रूरत है या कुछ चुप रहने की? देखिये, मैं कोई बड़ी क्रांतिकारी बात नहीं कह रहा हूँ। कहना चाहता भी नहीं। यों ही मन में आयी, और आज चूँकि आप मेहरबानों ने थोड़ा बोलने की छूट दे दी है, इसलिये कह गया। आपको न स्वीकार हो तो वापस लेता हूँ। लेकिन सच बताइए, बात ठीक है या नहीं? जी नहीं, हमें कभी न गुस्सा आता है न उदासी। न मन मैला होता है, न दुःख व्यापता है। हम जो आपको बनारसी साड़ी के बाज़ारों में कामदार कत्थई टोपी लगाये, जालीदार बनियाइन पर आबेरवाँ का कुर्ता डाले, चारख़ानेदार लुँगी पहने, गले में सुगंधित माला डाले और हाथ में चार बीड़े पत्ती की बढ़िया पान थामे आपको

जैराम या जैगोपाल कहते हैं और लपक कर आपका हालचाल पूछते हैं, तो विश्वास मानिये हमें आपकी वह झिड़की भूल गई है जो पिछली बार आपने दी थी। हमें यह भी याद नहीं है कि किसने अपनी साधारण ज़िन्दगी में बड़ी नीचता का व्यवहार किया है। हमें न कभी बीवी डाँटती और न हमारे बच्चे कभी रोते हैं। न हम यह जानते हैं कि कौन विधवा का रुपया हड़प करके साहूकार बन बठा है और न हमें इसकी ही ख़बर है कि कौन सी राजनीतिक पार्टी सही राह पर जा रही है और कौन सी ग़लत। जी हाँ, हमें बस एक ही चीज़ चाहिये.... आपकी कृपा दृष्टि।

हम तो अपने उस भाई को आदर्श मानते हैं जो किसी बीमा कम्पनी का एजेंट था। आप इस नाम पर मुस्कराते हैं तो मुस्करा लीजिये। आपकी मर्ज़ी। लेकिन क़िस्सा सुन लीजिये। तो वह बेचारा बार-बार एक सज्जन के पास जाता था और प्रार्थना करता था कि अपना बीमा करा लीजिये साहब। वह सज्जन बार-बार टालते जायें। एजेंट को तो अपना कर्त्तव्य करना ही था लेकिन बदकिस्मती यह कि उन सज्जन को गुस्सा आ गया। मैं इसके लिए उन सज्जन को क़सूरवार नहीं कहता। आखिर दलालों को छोड़कर, दुनिया के सभी लोगों को गुस्सा करने का मौलिक अधिकार है ही। तो साहब, अन्त में एक दिन अपने इस मौलिक अखंड अधिकार का प्रयोग उन्होंने यों किया कि जैसे ही बेचारा एजेंट सीढ़ियाँ चढ़ कर उनके ऊपर के कमरे के पास दरवाज़े तक पहुँचा ही था कि उन्होंने कस कर उस गरीब के एक ठोकर मारी। न आव देखा, न ताव। यह ग़रीब, जो वहाँ से गिरा तो लुढ़कते-लुढ़कते सभी सीढ़ियाँ पार कर नीचे ही आकर टिका। होता क्या? खोपड़ी फट गई। अब उन सज्जन को होश आया। घबराए हुए नीचे पहुँचे और गरीब एजेंट को सम्भालने लगे। उसने आँख खोली और उसी मीठे शान्त स्वर में कहा, "साहब" मैं तो चला। अब आपको तो मेरी हत्या के जुर्म में फाँसी हो ही जायेगी। अपने बीवी बच्चों का ख़्याल कीजिये। आपके बाद उनका क्या होगा? इसीलिए कहता हूँ अपना बीमा ज़रूर करवा लीजिये।" इतनी ही कहानी मुझे मालूम है। ईश्वर जाने इसके बाद क्या हुआ। मैं तो यही मानता हूँ कि वह एजेंट भी बच गया होगा और उन सज्जन ने भी अपना बीमा ज़रूर करवा लिया होगा।

एक भ्रम हमारे बारे में न जाने क्यों फैल गया है कि दलाल बहुत चतुर होते हैं। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि ऐसी कोई बात नहीं है। हम लोगों से बढ़कर मतिमंद कोई नहीं होता। आँख से देखते हुये नहीं देखते, कान से सुनते हुये नहीं सुनते, मुँह से बोलते हुये नहीं बोलते। अब अपनी ही बात आपसे कहूँ। एक महाशय के पास कुछ कपड़ों का नमूना लेकर गया था। इसी शादियों के मौसम की बात है। उनके घर शादी थी। मियाँ बीवी बैठे थे। बोले, "भई हम तो फ़र्स्ट क्लास चीज़ लेते हैं हमेशा। बढ़िया चीज़ हो तो दिखलाओ। फिर हम आर्डर देंगे।" मैंने कहा, "बहुत अच्छा हुज़ूर, आपको मैं आज से जानता हूँ? बिल्कुल बढ़िया नमूने लाया हूँ, आपके ही लायक़।" उनको एक से एक बढ़िया कपड़ों के नमूने दिखलाने लगा। बेगम साहिबा बहुत खुश हुईं। लेकिन महाशय जी ने छूते ही दाम पूछा। भाव कुछ तेज़ थे। यहाँ एक निवेदन अवश्य करना चाहूँगा। सब चीज़ों के बारे में अपनी ग़लती मानूँगा लेकिन दामों के बारे में नहीं। साहब, आख़िर फ़र्स्टक्लास चीज़ का दाम फ़र्स्ट-क्लास होगा ही। दाम बतलाते ही मियाँ बीवी ने एक दूसरे की ओर देखा। ठीक है, कपड़े की डिज़ाइन उनको पसन्द नहीं आई, अपनी-अपनी रुचि है। हमारा तो काम ही है आपकी रुचि के अनुसार माल देना। अब यह तो एक इत्त-फ़ाक की बात है कि ऊँचे दामों वाले किसी कपड़े की डिज़ाइन उन्हें पसन्द नहीं आयी। मैं मानता हूँ कि इसमें ग़लती मेरी ही थी।

लेकिन इन्सान हूँ, भूल-चूक किससे नहीं होती ? आख़िर वह बात मुँह से निकल ही पड़ी जो नहीं निकलनी चाहिये। मैं पूछ बैठा, "कुछ और कम दाम का दिखलाऊँ साहब ?" श्रीमती जी ने नाक सिकोड़ कर कहा, "दाम का सवाल नहीं है, डिज़ाइन पसन्द की होनी चाहिये, दाम चाहे जो भी हो।" यह सुनना था कि जैसे मुझे ठोकर लगी। मन के भीतर से अपने संस्कार ने धिक्कारा कि दल्लाल होकर भी तू गृहस्थ से धोखा न खाने की चतुराई बरतना चाहता है। गृहस्थ के मन की कमज़ोरी पकड़ना चाहता है। यह तो कहिये कि समय रहते चेत गया। उसके बाद मैंने फ़र्स्ट क्लास डिज़ाइन के अर्थात् कम दामों वाले कपड़े दिखलाए। इस बार साहब ने पहले ही दाम पूछा। दाम सुनते ही श्रीमती जी मुस्करा कर बोलीं, "वाह ! इतने अच्छे डिज़ाइन वाले कपड़े तुमने अब तक छिपा क्यों रक्खे थे ?" परमात्मा को धन्यवाद है कि अच्छा सौदा करके उठा।

और आप मुझसे पूछें कि फ़र्स्ट क्लास चीज़ और बढ़िया डिज़ाईन होती क्या है ? तो मैं हाथ जोड़कर कहूंगा...सरकार, मुझे चुप ही रहने दीजिये। भला मैं यह सब कला और सौंदर्य की बातें क्या जानूँ। आज तक किसी को फ़र्स्ट क्लास से नीचे की चीज़ तो खरीदते देखा नहीं। इसलिये मेरी धारणा तो यह होती जा रही है कि घटिया माल और भदेस रुचि तो दुनिया में होती ही नहीं। अपना-अपना मुँह और अपना-अपना स्वाद।

सुनता हूँ दुनिया में तानाशाही को लोग बुरा कहते हैं और तानाशाहों की बुराई यह बतलाते हैं कि वे अपने मन की राय लोगों पर लाद देते हैं। मैं किसी की बुराई में शामिल नहीं होना चाहता। लेकिन इतना हाथ जोड़ कर ज़रूर कहना चाहता हूँ कि अगर यह सच हो तो इस जनतंत्रता के ज़माने में हमारे बारे में दो शब्द अच्छाई के कहना न भूलियेगा, सरकार ! क्योंकि हम तानाशाहों से बिल्कुल विपरीत हैं। इन्सान तो बोलता है। हम बे ज़बानों की ही श्रेणी में आते हैं। जिस दिन यह पेशा अपनाया, उसी दिन ज़बान को गिरवी रख दिया। यों इतना कहूँगा कि ज़बान को गिरवी रखने वाले दुनिया में बहुत हैं, लेकिन इतनी निर्लिप्त, निष्काम भावना से कोई नहीं रखता ? और वह भी किस लिये ? आपकी सुविधा के लिये। आपकी रुचि के लिये आपकी आवश्यकता के लिये। बस, अब बहुत हो चुका। ज़्यादा बोलना ख़तरनाक है। एक प्रार्थना है, अगली बार चौक बाज़ार आइएगा तो सेवक को भूलियेगा नहीं। कोई मुश्किल नहीं होगी मुझे पहचानने में। मैं किसी बड़ी दूकान के पास वाले नुक्कड़ पर खड़ा मिल जाऊँगा। और अगर आपको मुझ पर यक़ीन न हो तो कोई बात नहीं। सिर्फ़ इतनी प्रार्थना है कि जब मैं चुपचाप सलाम करूँ तो मेरी ओर देखकर मुस्करा अवश्य दीजियेगा। बाक़ी सब काम मैं बना लूँगा। आख़िर मैं भी बाल बच्चेदार आदमी हूँ ! आप लोगों की दयादृष्टि चाहिये। बोलता कुछ नहीं, केवल सलाम करता हूँ।

—इलाहाबाद से प्रसारित

हिन्दी कहानी की नयी दिशा

श्रीपत राय

आज की मेरी बातचीत का शीर्षक भ्रामक है, या शायद नहीं है। हिन्दी कहानी की नयी दिशा से मेरा अभिप्राय क्या है? कोई नदी जब नयें मोड़ से गुज़रती है, तो उसे दिशा तो अवश्य नयी मिल जाती है, पर उससे बदलता कुछ नहीं। दृश्यावली पहले चाहे कुछ नयी भले ही लगे पर थोड़ी देर ध्यान से देखने के बाद पता चलेगा कि वह तो बिल्कुल वैसी ही है जैसी कि हम अभी मोड़ से पीछे छोड़ आये हैं। और इस नदी को नयी दिशा क्या मिली? दिशा तो गति का एक अविच्छिन्न अंग है। इसी प्रकार हिन्दी कहानी ने प्रगति यदि की है, तो किसी न किसी दिशा में ही की होगी। शायद मेरा अभिप्राय उस प्रगति से है, जिसे मैं नयी दिशा का नाम दे रहा हूँ। तो अब देखें कि पिछले दस वर्षों में हिन्दी कहानी ने यदि प्रगति की है तो किस दिशा में, वह नयी दिशा क्या, या वे नयी दिशायें क्या-क्या हैं?

सबसे पहले तो यह कि इस काल में कहानियाँ पहले की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या में लिखी जाने लगी हैं। पर यह तो युग की मांग है। अधिक पाठकों के होने में अधिक साहित्य का सृजन निहित है। और अभी तो हमारा अंतरिक्ष बहुत विस्तीर्ण है। पर संख्या ही तो प्रगति का मापक यंत्र नहीं है। क्या हम प्रेमचन्द, प्रसाद या उसके और बाद जैनेन्द्र, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा और अज्ञेय से आगे बढ़े हैं? मेरा निश्चित मत है कि आज उन लेखकों की तुलना में बड़ी घटिया कहानियाँ लिखी और पढ़ी जाती हैं। और यह केवल मेरा अतीत प्रेम नहीं बोल रहा है बल्कि निष्पक्ष, पूर्वाग्रहविहीन, संतुलित मत है। आज के लिखनेवालों में प्रतिभा की कमी नहीं है, वे लिखने का ढंग भी जानते हैं, अपनी शक्तियों का अतिक्रमण भी नहीं करते, पर इन सब बातों के बाद भी उनकी कहानियाँ जैसे सफलता के पास पहुँचकर, या उसे मुट्ठी में पाकर भी उँगलियों के बीच से फिसल जाने देती हैं। शायद यह त्वरा का युग है, और किसी के पास अधिक सोचने-विचारने, अधिक माँजने-सँवारने का अवकाश ही नहीं है। या शायद इस प्रकार के कर्तव्य को वे घटिया समझते हैं। किसी कहानी में वर्णन की खूबी होती है, किसी में प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन मन को लुभा लेता है, किसी में संवादों की स्वाभाविकता हृदय छू लेती है, किसी में कोई मनोवैज्ञानिक रहस्य इस सुन्दरता से उद्घाटित होता है कि चित्त प्रसन्न हो जाय, पर ऐसा बहुत ही कम होता है कि किसी कहानी के सभी पक्ष निर्दोष हों। ऐसी निर्दोष कहानियाँ ही मन की गहराइयों तक पहुँचती हैं। वे ही याद रह जाती हैं। भला हिन्दी का कौन पाठक 'उसने कहा था', 'शतरंज के खिलाड़ी' या 'आकाश दीप' जैसी कहानी भूल सकता है?

आज कहानी में लोग सूक्ष्म विवरण पर बड़ा ज़ोर देने लगे हैं। मन्मथनाथ गुप्त की एक बड़ी सुन्दर कहानी है—'मनुष्य और घोड़े'। उसमें वर्णन का कौशल देखने योग्य है—"उन दिनों अब्दुल की उम्र केवल सात साल की थी। इतनी ही उम्र में घोड़े और तांगों का सारा

काम उसे आता था। कभी-कभी शौकिया तांगा भी चलाता था, पर ऐसे सब मौकों पर शकूर भी साथ में होता था। अवश्य कभी उसे अपने बाप की मदद की ज़रूरत नहीं हुई। तांगा चलाना उसे उसी प्रकार स्वाभाविक रूप से आ गया था, जैसे बत्तख़ के बच्चे को तैरना आ जाता है। फिर भी, अभी तक उसने अकेले तांगा नहीं चलाया था। इसीलिये जब शकूर ने अपनी रोग-शैया से उससे कहा कि वह तांगा लेकर निकल पड़े, तो वह एक बार हिचकिचाया और जिधर मीना घोड़ी अपने बच्चे रुस्तम के साथ बँधी थी, उधर उसने देखा। बाप ने उसे पुचकारते हुए कहा, "बेटा डरो मत, घोड़ी खानदानी है, तुम खानदानी हो और ऊपर देखने वाला अल्लाह है। क्या करूँ, मुझसे उठा नहीं जाता।" कहकर उसने ऐसा मुँह बनाया जैसे शरीर में किसी जगह कोई टीस उठ रही हो।

इस पूरी कहानी में वर्णन की शैली बड़ी स्वाभाविक एवं सुथरी है। यों यह कहानी भी निर्दोष है। पर क्या है जो इसे एकदम अविस्मरणीय कहानी होते-होते बचा लेता है? वह शायद इसका थोड़ा आवश्यकता से अधिक विस्तार है।

एक मध्यवित्त परिवार के जीवन का एकदम सच्चा चित्र श्री विष्णु प्रभाकर ने अपनी 'गृहस्थी' नामक कहानी में उपस्थित किया है। उसके संवाद इतने जीवित हैं जैसे लगता है कि आप उन चरित्रों के बीच जी रहे हों, और उनसे बातें कर रहे हों। एक छोटा सा उदाहरण यहाँ देता हूँ—वीणा ने तड़पकर बीच ही में टोकते हुए कहा, "बस शीला भाभी! रहने दे। उन तक न जा। उन्हें तू खिला रही है क्या? तेरा इतना साहस कि तू उन्हें निकम्मा कहे; तू तो उनके पैर धोने लायक भी नहीं है। दुनिया पूजती है उन्हें। दूसरे दर-दर मारे फिरते हैं तो कोई नहीं पूछता और यहाँ घर बैठे पूजने आते हैं। कोई दिन जाता होगा जो पाँच-सात का खाना न बनाती हूँ। बनाती हूँ तो मैं, मुसीबत है तो मेरी, तुझे क्या दर्द उठा जो लगी उनका अपमान करने? दो पैसे हो गये हैं तो लाडो का दिमाग़ फिर गया है। ब्लैक मार्केट की कमाई के ये ही फल होते हैं। अभिमान फूलता है। यहाँ तो तन खपाना पड़ता है, तब दो टुकड़े नसीब होते हैं। पर कोई बता दे, किसी का रखा है, किसी से भीख माँगी है।"

मैंने ये दो उद्धरण विस्तार से इसलिये दिये हैं कि आप देखें कि हिन्दी कहानी ने भाषा सौष्ठव और व्यंजना क्षमता की नयी दिशा पायी है।

अब मैं धर्मवीर भारती की एक उत्कृष्ट कहानी 'चाँद और टूटे हुए लोग' का उल्लेख करना चाहता हूँ। इसमें एक नये प्रकार की टेकनीक उपयोग में लायी गयी है। तीन मानवी पात्र हैं और एक चौथा पात्र है, चतुर्दशी का चाँद। रचना बड़ी कोमल है और अनुभूति के बड़े सच्चे चित्र उपस्थित किये गये हैं। यह हिन्दी कहानी के लिये एक नया और सुन्दर प्रयोग है। यह नहीं कि यह सर्वथा अनूठा है क्योंकि साहित्य में तो क्या प्रकृति में भी कोई सर्वथा अनूठी चीज़ पा सकना दुष्कर है। पर कहने का ढंग, वर्णन क्षमता अवश्य नयी है। एक पात्र के उद्‌गार सुनिये—हम सब टूटे हुए लोग हैं, कठिन अधूरे, जिनका विकास कुचला जा चुका है। हम सब की निगाह टूटी है, अधूरी है, पता नहीं सचाई क्या है? मैंने जो कुछ कहा, पता नहीं, उसमें स्वयं मैं विश्वास करता हूँ या नहीं। मैं प्रेम के रुमानी अंश को नहीं मानता, फिर भी लगता है उसे अस्वीकार भी नहीं कर सकता। पता नहीं यह केवल संस्कार मात्र है, जो छूट नहीं पाता या सचाई का तकाज़ा है। मैं ही अभी व्यक्तिगत मोह से उठने की बात कह रहा था। सामाजिक दृष्टिकोण की बात कर रहा था। पर मुझे कभी-कभी लगता है कि चाहे मेरा प्यार अब व्यक्तिगत सीमा से न बँधा हो पर वह दर्द तो मेरा ही है जो हड्डियों में आग की तरह रेंगा करता है।

इस उद्धरण में आप देखेंगे कि गहरे चिन्तन और तीव्र अनुभूति के बीज हैं। यह हमारी बौद्धिक और संस्कृति संपन्न वृत्तियों की देन है, और नयी है।

आज की हिन्दी कहानी ने एक और नयी दिशा भी अपनायी है। और वह है हमारे देहातों में जाकर वहाँ के अतिशय रसपूर्ण चित्र ला उपस्थित करने की। यह शायद हमारी नागरिक सभ्यता की प्रतिक्रिया के रूप में ही हुई है, पर इधर इस प्रतिक्रिया ने बहुत से उदीयमान कहानीकारों को आकृष्ट किया है। देहातों के जीवन में अभी सभी कुछ अछूता है, नया है, शिव है और वर्णनातीत भी है। वहाँ प्रकृति उल्लासपूर्ण, उद्दाम, अप्रतिहत गति से विचरण करती है। वहाँ हवा में ताज़गी है, मादकता है, रस है। मानव भी अधिक उल्लास और जीवन-मय है, स्वतन्त्र, कौटिल्य-हीन, विकार रहित। वहाँ अभी उसकी स्नायुओं में ढीलापन, मुर्दनी नहीं छायी है। वहाँ के चित्र बड़े मोहक और पुनीत हैं।

मार्कण्डेय की कई कहानियों का उल्लेख मैं इस दिशा में कर सकता हूँ। उनकी एक बड़ी मर्मभेदी कहानी है, 'सात बच्चों की माँ।' उसके शब्द-चित्र सीधे हृदय में प्रवेश करते हैं। बड़ी व्यथा, बड़ी करुणा फूटती है उन चित्रों से। जैसे यह देखिये—एक पहर बीता होगा अभी, पर मनेरा के भीटों पर गहरी काली रात हो आयी थी। हाथ को हाथ न सूझता था, बड़े-बड़े पुराने आम के पेड़, जिनकी कुछ दूर तक नंगी डालियाँ, फिर ऊपर की झपसी कडचियों में उल्लू और गेडुरों की कचपच, दो एक खजूर और नीम के उदास पेड़ और नाटी-नाटी अड़ूस की झाड़ियाँ, किनारे-किनारे हाजी बाबा, रहमत, करामत और जुम्मन साईं की कबरें। बड़ा भयानक लगता है ना ?

एक कारुणिक कहानी के लिये इससे अधिक उपयुक्त प्रारम्भ और क्या हो सकता है ? पूरे प्रदेश पर जैसे करुणा उतर आयी है। यह सच ही हिन्दी कहानी के लिये नया अनुभव है और नयी दिशा भी है।

गाँव और शहर के बीच कस्बे के चित्र कमलेश्वर ने अच्छे प्रस्तुत किये हैं। वे दमित वासनाओं के चित्र भी उतनी ही सफलता से उपस्थित करते हैं। यह भी हिन्दी कहानी के लिए नयी दिशा है। कस्बे की मान्यतायें, उसके नैतिक मान-दण्ड, उसका ओछापन चाहे कितने ही घृणास्पद हों, पर वे कहानी के लिये बड़े अच्छे कच्चे माल की सृष्टि करते हैं। कहानी का उद्देश्य भी तो जीवन को मुखरित करना है। कुरूपता, अन्याय एवं नीचता से पलायन क्यों ? आज की कहानी में जीवन के उस अंग को भी अछूता नहीं छोड़ा गया है। कमलेश्वर की कहानी "अधखुली नज़रें" में उनके रचना-कौशल की सभी विशेषतायें बड़ी स्पष्टता से उभरी हैं। अपनी बात को और साफ़ करने के लिए मैं इस कहानी का कुछ अंश उद्धृत करता हूँ—

इस मुहल्ले में अधिकतर ऐसे लोग रहते हैं जो दिन भर दूकानों का काम-काज देखते हैं, दिन में एक बार खाना खाकर फिर चले जाते हैं, तो रात को लौटते हैं। यही छोटे पेशेवर लोग हैं लोहेवाले, बढ़ई, पीतल के बर्तन जोड़ने वाले आदि। ऊँचे मध्यमवर्ग तथा अछूतों की न्यारी बस्ती के बीच का यह मुहल्ला कड़ी है, यद्यपि अछूतों से कुछ दूर-सा।

इसी मुहल्ले में उसका मकान है और वह टूटे सीकचों में से गली की ओर देख रही है। मंगरू लुहार का लड़का चमन सामने खड़ा है। पूरा आदमी है—बदन और आयु दोनों से। बाप तो लोहे और आग का खेल खेलते जलकर काला पड़ गया है, पर इसके बदन पर चिकना-पन है, माँस में चमक है। रोज़ राजा साहब के बाग में जाकर कसरत भी तो करता है। सुबह हाथ में कसरती जवानों की भांति पीतल की बाल्टी और डोर लिये, बदन पर खास तौर से

गर्दन और सिर से मिट्टी लपेटे जब आता है, तो आँखों में कितना शौर्य होता है, चाल में कितना मर्दानापन होता है, यह केवल उसी की आँखें परख पाती हैं क्योंकि वह अनायास ही उस समय न जाने क्यों गली के छोर की ओर देखती होती है।

इस वर्णन में बड़ा ही सम्पूर्ण चित्र है। लगता है जैसे किसी का दिल आप के पास ही ज़ोरों से धड़क रहा हो और उसकी धड़कन आप सुन रहे हो। अनुभूति को इस सफलता से हस्तान्तरित करने की कला हिन्दी कहानी के लिये नयी ही है।

हिन्दी कहानी बहुत तेज़ी से आगे बढ़ रही है– एक वेगवती नदी की भांति, नयी दिशायें, नये मोड़ लेती हुई। नये अंतरिक्ष उसकी आँखों की परिधि में हैं और जहाँ तक वे आँखें देख सकती हैं सौन्दर्य का अक्षय भंडार बिखरा पड़ा है।

—इलाहाबाद से प्रसारित

गांधी जी की प्रेरणा का स्रोत

सन् १९२० की बात है, गांधी जी बिहार का दौरा कर रहे थे। दरभंगा ज़िले की एक बड़ी सभा में बोलते समय उन्होंने हिन्दी प्रचार का ज़िक्र किया। वहां पर कुछ बंगाली युवक खड़े थे। शायद उन्हें यह सुझाव पसन्द न आया। वे गांधी जी से पूछ बैठे कि आप जो बार बार हिन्दी पढ़ने की बात कहते हैं, सो हिन्दी में कोई पढ़ने लायक ग्रन्थ भी है ? गांधी जी ने हंस कर कहा कि बड़े मूर्ख हो। वैसे तो हिन्दी में अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थ हैं, परन्तु सबको छोड़ कर अगर अकेले तुलसीदास के रामचरितमानस को ही उठा लो तो उसी में जो कुछ तुम्हें चाहिए सब मिल जायगा। नवयुवकों ने तुरन्त पूछा कि जिस असहयोग आन्दोलन की बात आप कर रहे हैं, क्या वह भी रामायण में मिल जायगा ? गांधी जीने कहा कि "असहयोग—नॉन को ऑपरेशन" की सबसे अधिक प्रेरणा मुझे रामायण से ही मिली है। उदाहरण के रूप में उन्होंने सुन्दर कांड में वर्णित उस स्थल का उल्लेख किया जहां अबला जानकी रावण सरीखे अत्याचारी और प्रतापी राक्षस की कैद में बन्द थी। रावण सीता के पास आता है और अपनी तलवार दिखा कर कहता है कि एक महीने के अन्दर तुम्हें मुझसे विवाह करना होगा, वरना इसी तलवार से तुम्हारी गर्दन अलग कर दी जायगी। कौशलाधीश रामचन्द्र का स्मरण करके तिनके की ओट से जानकी जी दुष्ट रावण को उत्तर देती हैं—

स्याम सरोज दाम सम सुन्दर। प्रभु भुज करिकर सम दसकंधर ॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रमान प्रण मोरा ॥

अर्थात्, मेरे प्रभु रामचन्द्र की भुजायें श्याम कमल की माला के समान सुन्दर तथा हाथी के सूंड के समान सुडौल और बलशाली हैं। सो हे शठ रावण ! मेरे कंठ में या तो प्रभु की वे भुजायें पड़ सकती हैं, या तेरी तलवार। मेरा कठोर प्रण है कि इस गर्दन को तीसरी चीज स्पर्श भी नहीं कर सकेगी। गांधी जी ने कहा असहयोग का इससे सुन्दर उदाहरण और कहाँ मिल सकता है ?

(सत्यनारायण सिंह, दिल्ली)

पार्क, सड़क की लालटेन और चिड़ियाँ

धर्मवीर भारती

मैं कोई कहानी कहने नहीं जा रहा हूँ। आप खुद सोचिये, पार्क, सड़क की लालटेन और चिड़ियाँ, ये भी कोई कहानी के विषय हो सकते हैं ? कितने भिन्न, कितने बेमेल। कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा। लेकिन भानमती की शिकायत करने से होता ही क्या है, उस कुनबे की कथा तो कहनी ही है। तो मैं आपको सचमुच का एक पार्क, एक सचमुच की लालटेन और कुछ वास्तविक चिड़ियों की अजब-सी जिन्दगी के बारे में बताऊँगा। हाँ, एक बात पहले से कह दूँ, श्रोताओं में बहुत से ऐसे होंगे जो गर्मी की लम्बी दोपहरें मोटे-मोटे गद्दों के सहारे बिता देते हैं। उनके मन में पार्क के नाम से ही किसी ऐसे हरे-भरे पार्क का ध्यान आ गया होगा जहाँ अक्सर उपन्यासों के या कहानियों के नायक-नायिका अकस्मात् मिल जाते हैं और मिलते रहते हैं। बदकिस्मती से यह पार्क कहानियों के पार्कों जैसा बिल्कुल नहीं है। सूखा, जिसकी रेलिंग जगह-जगह पर टूट गई है, ऐसा है यह पार्क। निम्न मध्यमवर्ग के लोगों की एक बस्ती में, तंग गलियों के बीच में स्थित। यूँ तो प्रसिद्ध नगर ऐसे हैं जिन्हें पार्कों का नगर कहा जाता है। जहाँ न केवल भूमि पर किन्तु लोगों की बुद्धि, सभ्यता, संस्कृति में भी बड़े-बड़े पार्क ही हैं। किन्तु यह नगर अभाग्यवश पार्कों की दिशा में इतनी उन्नति नहीं कर पाया। इसीलिए पार्कों की अपेक्षाकृत कमी को देखते हुए इस तंग गलियों वाली बस्ती में इस पार्क का अस्तित्व अचरज में डाल देता है।

वास्तव में इस पार्क के निर्माण के पीछे एक अजीब-सा इतिहास है। वह इतिहास आपको सरकारी कागज़ात में नहीं मिलेगा, लेकिन इस बस्ती के लोगों को वह इतिहास मालूम है। आज से १५ वर्ष पहले, जहाँ यह पार्क बसा है, वहाँ नम, सीली कीचड़ भरी एक गन्दी बस्ती थी। मिट्टी की मोटी बेडौल दीवारें, फूस के छप्पर, और गलियों के नाम पर बदबूदार कीचड़ में रखी हुई बेतरतीब ईंटें जो मुख्य गली से लोगों की देहरियों तक रखी रहती थीं। जाड़ा, गर्मी, बरसात में लाखों मच्छरों के झुंड के झुंड उस कीचड़ पर आराम से तैरते रहते थे। उस तमाम बस्ती में सभ्यता का विकास मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भी पहले के काल का था, क्योंकि हड़प्पा में तो पुरातत्त्व वेत्ताओं ने नालियाँ खोद निकाली हैं। उस बस्ती में नाली जैसी कोई भी चीज़ नहीं पाई जाती थी। इस बस्ती में कुछ खटिक, कुछ चमार और कुछ डोम रहते थे। खटिक मुर्गियाँ पालते थे, बत्तखें पालते थे और चिड़ियों के नाम पर बड़ी-बड़ी बूढ़ी और मैली बत्तखें अपने छातेदार पंजों से कतारों में चलती हुई, उस कीचड़ में चोंच डाल कर खाना ढूंढ़ती थीं। आप क्षमा करेंगे, चिड़ियों के नाम पर मैं मोर, हंस, चकोर, चकई-चकवा, या कोयल की बात न बता पाऊँगा क्योंकि ये उस बस्ती में पाये ही नहीं जाते थे। ये बत्तखें छोटे खटिक की थीं और इनके कारण बिरादरी में उसका मान था। जब ये बत्तखें स्कूली लड़कियों की तरह, गोल बाँधकर पंख

फड़फड़ाती हुई आपस में चीख-चोख़ कर बातें करती हुई चलती थीं तो बस्ती भर की निगाह उन पर जम जाती थी और छोटे खटिक की छाती गर्व से फूल उठती थी। वह हर शनिवार को कैन्टूनमेंट और सिविललैंन्स के बंगलों में बत्तखों के अंडे पहुँचाने जाया करता था। अगर उसके पड़ोसी बसन्तू का इक्का उधर जाता हुआ तो वह उसी पर बैठा जाता था। बसन्तू और उसकी बिरादरी के सभी चमार इक्के हाँकते थे पर बसन्तू के घोड़े को कोई नहीं पा सकता था। किले के किसी अधगोरे साहब ने यह घोड़ा उसे फौज में से जाने कैसे दिला दिया था। शिकोटी और नागपंचमी के दिन बसन्तू घंटियों, कौड़ियों, दुपट्टे और कलगी से अपने घोड़े को सजाता था और फिर गहरेबाज़ी में क्या मजाल कि पीर साहब का घोड़ा उसके आगे निकल तो जाय। ये लोग उस कीचड़ में रहते थे मगर कीड़ों की तरह नहीं, अभिमान से सर उठा कर।

हाँ, उस तमाम बस्ती में एक अजीब-सा व्यक्ति था मित्तू डोम। उसकी औरत उसको छोड़ करभाग गई थी। उसके घर का छप्पर आँधी में उड़ गया था, दरवाजे बस्ती के लड़कों ने उखाड़ कर चौराहे की होली में जला दिये थे और वह कनस्तर की टीनों की छाजन में एक बंसखट पर पड़ा रहता था और दरवाज़े पर चार बाँसों को कैंचीनुमा बाँधकर टिका देता था। उसके तीन काम थे। यदि कहीं कोई जानवर मर जाय तो नगरपालिका की ओर से उसे उठाकर नदी में प्रवाहित करता था, सरकारी अस्पताल में या कोतवाली में कोई लावारिस मुर्दा हुआ तो उसे गाड़ी पर लाद कर घाट तक ले जाता था और अक्सर तार का एक बड़ा फन्दा लेकर लोहे की बड़ी सीखचोंदार गाड़ी में घूम-घूम कर कुत्ते पकड़ता था। शहर भर के कुत्ते उसे पहचानते थे और उसे देखते ही विचित्र त्रास, आशंका, और विरोध-मिश्रित स्वर में भागते जाते और भूँकते जाते थे। न सिर्फ कुत्ते वरन शहर भर के बच्चे उससे डरते थे। उनमें यह किम्वदन्ती मशहूर थी मित्तू डोम कुत्तों की जीभ से दवा बनाकर गोरों को दे आता है। बसन्तू चमार और छोटे खटिक भी मित्तू से नफ़रत करते थे। ये लोग जिन्दा जानवरों के मालिक थे, मित्तू डोम मुर्दों का। और इसीलिये अपने छाजन में टूटी खाट पर दिन रात दारू में बुत्त मित्तू डोम लेटा रहता था और जाने किसे निरन्तर डाँटता रहता था। दीवारों को, कड़ियों को। ये थे वे लोग और यह थी उनकी ज़िन्दगी, जिसका यह ढर्रा जाने कब से चला आ रहा था।

हाँ, एक नई बात हुई। एक बंगाली बाबू ने इस बस्ती के पीछे वाली एक टूटी हवेली इसाक़ मियाँ से खरीदी और उसमें आने के दूसरे ही दिन बाद उन्होंने छोटे खटिक को बुलाकर दो मुर्गियाँ खरीद लीं। फिर तो उसके बाद पीछे की ओर बाबुओं की एक बस्ती ही बस गयी। चूंकि उनके आने-जाने का रास्ता उसी बस्ती में से होकर था इसलिये एक दिन देखा गया कि कुछ म्युनिस्पलिटी के मज़दूर एक खम्भा और लालटेन लाद कर लाये हैं। वह लालटेन लगी और एक हल्की धीमी रोशनी शायद कई सदियों बाद उस बस्ती में पहली बार चमकी। सच मानिए, वह एक चमत्कार था। उस दिन बसन्तू ने जल्दी घोड़ा खोल दिया, छोटे खटिक कैण्टूमेण्ट नहीं गया, सभी उसी लालटेन के नीचे बैठे रहे। हां, मित्तू डोम ज़रूर नज़दीक नहीं आया। दूर से ही पड़ा-पड़ा उस लालटेन को गालियाँ देता रहा। तीसरे दिन बसंतू की औरत मुँह अंधेरे टोटके के लिए चौराहे पर जल चढ़ाने गई तो उसने लौटते वक्त एक लाल फूल लालटेन मैया के नीचे भी रख दिया कि वह अप्रसन्न न हो और छोटे बच्चे तो महीने भर तक उस लालटेन के पास नहीं आये क्योंकि उन्होंने सुना था कि जिन्न लोग उस लालटेन को जलाते हैं और उसके नीचे चुड़ैलें नाचती हैं जिनके पंजे पीछे की ओर होते हैं। इस लालटेन की एक गाथा बन गई थी। लोग उसे भय, श्रद्धा और आश्चर्य से देखते थे। वह लालटेन रोशनी भी देती है, उसमें रास्ता भी ढूँढ़ा जा सकता है, इसे कोई

नहीं जानता था। हालांकि वह उन्हीं की बस्ती में लगी थी।

और फिर एक दूसरी नयी बात हुई। एक कोई गान्धी बाबा पैदा हुए। जेल में बिल्कुल श्रीकृष्ण भगवान की तरह उनका जन्म हुआ था, पैदा होते ही उनके हाथ में सुदर्शन चक्र नाचने लगा जिसमें से सूत निकलने लगा। फिर गान्धी बाबा ने सुदर्शन चक्र को कुल्हाड़े में बदल दिया और ताड़ के पेड़ काटने लगे। गोरे लोग उन्हें बंद करने आये तो देखा कि ताड़ के पेड़ में से तो दूध निकल रहा है। ये सब बातें छोटे खटिक ने मुहल्ले वालों को बताई थीं, क्योंकि इतवार को वह ताड़ी पीता था। मगर अब ताड़ी खाने पर गान्धी जी के चेले धरना देते थे। होते-होते हुआ यह कि एक दिन छोटे खटिक भी गान्धी जी का चेला हो गया। उसने ताड़ी पीना छोड़ दिया। उसकी औरत जिसे वह ताड़ी पीकर मारता था, इससे इतनी खुश हुई कि अगले माघ में उसने गान्धी जी के नाम गंगाजी का एक झण्डा उठाने की मानता की। बढ़ते-बढ़ते गान्धी बाबा का तेज इतना बढ़ा कि गोरे लोग बोले कि भाई अच्छा अपने-अपने सूबे में गान्धी बाबा के चेले राज-पाट सम्हालें। फिर क्या था, वोट पड़ा और छोटे खटिक बिगुल बजा बजाकर जलूस निकालता रहा। उधर जो नये बाबू लोग बसे थे उनके लड़के सब गान्धी बाबा के चेले थे। गान्धी बाबा जीते। छोटे खटिक ने उस दिन बसन्तू का इक्का सजवाया और बसन्तू ने एक भेली गुड़ की मित्तू डोम को भिजवाई।

लेकिन दुश्मन सबके होते हैं। महीने भर बाद दशहरा और मुहर्रम साथ पड़ रहे थे और लोग कहते थे कि गान्धी जी के दुश्मनों ने सैकड़ों लठबन्द देहात से बुलवाए हैं जिनमें से कुछ ताज़ियों के साथ रहेंगे और कुछ महाबीरी अखाड़े में, और उस दिन शहर में जो न हो जाय वह थोड़ा है। जलूस इस बस्ती के बग़ल से होकर जाता था। बहुत सनसनी थी, फौज का पहरा था। त्योहार के ४ दिन पहले पीछे वाले बाबू लोग घर छोड़ कर दूसरे सुरक्षित मुहल्लों में चले गए थे। पर छोटे खटिक निश्चिन्त था। इसाक़ मियां, पीरे, रसूल—ये लोग भी वहीं थे। उनको क्या लेना-देना!

मगर जब अगले चौराहे पर दल और ताज़िया मिला तब एकाएक लाठियाँ हवाओं में उठ गईं और ईंटें बरसने लगीं। हज़ारों लठबन्दों का रेला जब इस बस्ती की ओर आया तब बसंतू, छोटे, इसाक़ और पीरे सभी लाठियाँ लेकर दौड़े। सवाल इस वक्त हिन्दू-मुसलमान का नहीं था, सवाल मुहल्ले की रक्षा का था। छोटे की औरत को पीरे काकी कहता था और इसाक़ मुहल्ले के रिश्ते से बसंतू के दादा थे। इसाक़ बूढ़े थे, पर ग़ज़ब की हिम्मत थी उनमें। छोटे उन्हें रोकता ही रह गया, पर वे भीड़ में घुस ही गये। पर लठैत तो टिड्डीदल की तरह घुसते चले आ रहे थे। इसाक़ घूमकर लौटे और औरतों बच्चों को फ़ौरन पीछे की ओर से निकाल ले गए। इतने में मित्तू डोम का छप्पर जलता हुआ नज़र आया और फिर तो आग जो फैली तो कहते हैं कि मीलों दूर के मुहल्लों से उजाला और धुआँ दीख पड़ा। छोटे, बसंतू सब भागे। रात उन्होंने एक पेड़ के नीचे काटी। दूसरे दिन शहर में मार्शल-लॉ था, पर चुपचाप बसंतू, पीरे, इसाक़, छोटे अपने मुहल्ले की ओर लौटे तो देखा सारा मुहल्ला भस्म हो गया है। लालटेन के शीशे फूटे पड़े हैं। मित्तू डोम का कुछ पता नहीं था। कुछ लोग कहते हैं मौका पाकर आग उसी ने लगाई थी। मगर क्यों? यह कोई नहीं जानता था।

दंगा ख़त्म होने के बाद बाबू लोग अपने-अपने घरों में लौट आए, पर छोटे, बसंतू, पीरे, इसाक़—ये लोग न लौट पाए। बाबुओं ने दरख़्वास्त दी थी कि स्वास्थ्य और खुली हवा के लिए यहाँ पार्क बनाया जाय और यह दरख़्वास्त मंजूर हो गई थी। और तब इसी लालटेन के उत्तर वाली ज़मीन में यह पार्क बना। छोटे और बसंतू और पीरे को मुआविज़ा

मिला पर उतने में बसंतू अपना घोड़ा नहीं रख सका। जिस दिन उसने घोड़ा बेचा उस दिन वह इतना फूट-फूटकर रोया जितना घर जल जाने पर भी नहीं रोया था।

और इस तरह यह लालटेन लगी, यह पार्क बना। कुछ दिनों रौनक रही पर धीरे-धीरे लड़ाई ने और बाद की महंगाई ने बाबुओं की भी रीढ़ तोड़ दी। सुबह के निकले-निकले रात को घर आते थे। पार्क साफ़ हवा के लिये बना था, पर बाबुओं की किस्मत में वक्त नहीं। महंगाई के ७-८ सालों ने उन्हें बूढ़ा बना दिया था। पार्क धीरे-धीरे उजड़ गया, रेलिंग टूट गई, बेंचें उखाड़कर लोग ले गये। लालटेन लगी है, पर जलती नहीं क्योंकि जो कहार बत्तियाँ जलाने के लिये तैनात है वह उनका तेल चुराकर चुपके से बाबुओं को बेच आता है, वरना बच्चों को खिलाये क्या। हाँ, चिड़ियाँ अब नहीं रहीं। पहले छोटे की बत्तखें गईं, फिर घरों में कुछ गौरैयाँ थीं जब तक दाना था, अब बाबुओं के घरों में दाना पूरा ही नहीं पड़ता।

और इस क्षण भी यह कहानी इसी तरह चल रही है। पहले छोटे, बसन्तू, पीरे इनके पाँव उखड़े और यह तिनकों की तरह बह गये। फिर बाबुओं के पाँव उखड़े और वह तिनकों के सहारे बह रहे हैं। साफ़ हवा है पर किसी को मयस्सर नहीं, लालटेन है, पर उसमें रोशनी नहीं, चिड़ियों के गीत हैं, पर उनके लिये दाना नहीं। आज पार्क, लालटेन और चिड़ियों की यही कहानी है। कहानी मैंने आपको सुना दी, आज मैं आपसे थोड़ी-सी मदद चाहूँगा। इसका अन्त मुझे आप सुझा दें। क्या हमेशा इसी तरह एक के बाद दूसरे लोग तिनकों की तरह बहते जायंगे। या कभी यह तिनके एक साथ मिलकर नया किनारा बनाएंगे, नई दिशा में धार को मोड़ देंगे। क्या ये पार्क और लालटेन इसी तरह सुनसान पड़े रहेंगे या पार्क में कभी स्वस्थ नई पीढ़ी साफ़ हवा पायेगी, चिड़ियों के कण्ठों में नये सुबह के गीत फूटेंगे और लालटेनों में वह रोशनी वापस आयेगी, वह ज्योति जिसके लिये हमारी जनता ने संस्कृति के उषा-काल में ही, प्रार्थना की थी—तमसो मा ज्योतिर्गमय—हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो। मैं जानना चाहूँगा कि आप अन्धेरे में रहेंगे, या प्रकाश के लिये लड़ेंगे। आप मुझे जो उत्तर देंगे वैसा ही अन्त में कहानी में जोड़ दूँगा, तब तक इस कहानी को अधूरा रहने देता हूँ।

—लखनऊ से प्रसारित



तीसरे दर्जे के डिब्बे में

हरिचन्द अख़्तर

प्लेटफ़ार्म पर पहुँचे तो गार्ड सब्ज़ झंडी हिला रहा था। घबराकर कुली से कहा, "जल्द, जल्द भागो।" बोझ तले दबे हुए कुली ने सख़्त नामाकूल सवाल किया, "कौनसे दर्जे में जायेंगे साहब?" तीसरे दर्जे में सफ़र करने वाले किसी सफ़ेदपोश से यह सवाल करने की सख़्त मुमानियत होनी चाहिए। ख़ैर, गाड़ी क्योंकि रींगने लगी थी, इसलिए इज्ज़त रह गई। निहायत बेपरवाही से कहा, "अरे, तुम जल्दी करो। गाड़ी जा रही है, सामने थर्ड क्लास के ही डिब्बे में फेंक दो सामान।" यह कहा और उचक कर सवार हो गया। कुली ने ताकचे में से सामान फेंका। चुनाँचे बिस्तर एक भले आदमी के सिर से टकरा कर घुटनों पर से होता हुआ फ़र्श पर आ गिरा, ट्रंक से दो आदमियों के टखने छिल गए और अटेचीकेस एक बड़ी बी (दीदी) की गोद में जा रहा।

मगर तीसरे दर्जे में सफ़र करनेवालों के टख़ने, घुटने और सिर इस किस्म के वाक़्यात के आदी होते हैं, इसलिए किसी ने एहतजाज़ (एतराज़) नहीं किया। जिस किसी पर कोई चीज़ गिरी उसने बड़े इतमिनान से फ़र्श पर रख दी और अपने साथी के साथ फिर बातों में मशग़ूल हो गया। मैं सामान संभाल चुका तो एक लाला जी ने बैठे ही बैठे अपने तीन साढ़े तीन मन के डील को एक तरफ़ खिसका कर मेरे बैठने के लिए थोड़ी सी जगह छोड़ दी। मेरा तजुर्बा है कि सूरत शक्ल कितनी ही नामाकूल हो अगर आपका लिबास कुछ माकूल हो तो तीसरे दर्जे में लोग आपके लिए जगह छोड़ ही देते हैं।

मैं उनकी शुक्रगुज़ारी का तरीक़ा सोच ही रहा था कि यकायक दूसरी जानिब बैठा हुआ आदमी यूं उछल कर खड़ा हो गया जैसे साँप नज़र आ गया हो, या किसी मशीन ने उसे ज़बर्दस्ती सीट पर से उछाल दिया हो। उठते ही चिल्लाया—"गोलियोंवाला! लीजिये, भाई साहबान, आप अपना-अपना सामान सँभाल चुके, अब ज़रा दो मिनट के लिये अपनी बातें बन्द करके पाँच मिनट मुझ मुसाफ़िर को इनायत कीजिए।" एक और शख़्स बोला, "वाह, दो मिनट अपनी बातें बन्द करके दो मिनट मुझे इनायत कीजिए! यह क्योंकर हो सकता है?"

लेकिन वह पहला आदमी बोले जा रहा था—

"बात यह है कि रेल के सफ़र में अगर किसी भाई को, जी हाँ, या किसी बहन को मतली होने लगे, सर दर्द की शिकायत हो, खट्टी डकारें आ रही हों, या यों ही चक्कर आते हों, तो हाथ कंगन को आरसी क्या है? मेरी एक गोली मुँह में रख कर देखिये। इसके तीन मज़े होंगे, ठंडी, मीठी और चटपटी, दिल को ताकत देती है। मतली फ़ौरन दूर हो जाती है। सर दर्द का निशान बाकी नहीं रहता। यह रामबाण गोलियाँ स्वामी गोगानन्द जी के नुस्ख़े से तैयार की गई हैं, जो उन्होंने हमारे कारख़ाने के मालिक भूखेराम जी को हरिद्वार और ऋषिकेश के ऐन दरमियान

मैं बताया था। सत पुदीना, सत अजवाइन, सत नीबू, मुश्क काफूर, चारों नमक, पीपलामूल और काली मिर्च, बस यही चीज़ें इसमें पड़ती हैं। लेकिन कई लोगों ने इसे तैयार करके देख लिया। वह असर पैदा ही न हुआ जो स्वामी गोगानन्द के शिष्य लाला भूखेराम का हाथ लग जाने से होता है। जी, ठहरिये अभी आता हूँ। कितनी गोलियां चाहिएँ ? हाँ साहब, तो जल्दी कीजिये। कीमत बहुत मामूली है। कारख़ाने से मंगवाओ तो आठ आना फी दर्जन के हिसाब से मिलेंगी, मगर यहाँ कारखाने की मशहूरी के लिए एक आने में सौ गोलियां दी जाएँगी। बस, लूट लीजिए, हाथों हाथ। यह दुअन्नी बदल दो, आपको कितनी दूँ ?"

मैंने सोचा चलो यह किस्सा खत्म हुआ। अब लाला जी का शुक्रिया अदा कर दूं। लेकिन तीन चार बच्चे यकायक खड़े हो गये और गाना शुरू हो गया—

यह ग़म की कहानी है सुन लीजिये,
परेशान बयानी है, सुन लीजिये।
हुए जब से मां बाप हमसे जुदा,
हमारा वह सब ऐश जाता रहा॥

एक शख़्स बोला, "ले मेरे भाई, यतीमख़ाना भी आ गया। खुदा जाने इन बच्चों से भीख क्यों मंगवाई जाती है ? ये कौम के नौनिहाल...."

दूसरे ने टोका, "अमाँ क्या ज्ञान-गूदड़ी खोल बैठे ? गाना सुनने दो।"

उनके पहलू में एक ख़ान साहब बैठे थे। फरमाने लगे, "ए बाई ! यह क्या गाता अय। बोत पुराना। अम तो सुनते-सुनते बुड्ढा हो गया। कोई अचा-सा गाना सुनाओ, खो अच्चा सा। आं टीक अय, यह लो चवानी।"

बच्चों ने फ़ौरन गाना बदल दिया और चुटकियाँ (या ठीकरियां) बजा कर गाने लगे —

आ जा – ओ आ जा
आ जा आ आ आ आ–ओ आ जा
आ जा आ मेरी बर्बाद मुहब्बत के सहारे
है कौन जो तुझ बिन मेरी तकदीर संवारे
आ जा – आ जा —

मेरे सामने के बैंच पर बैठे हुये दो माकूल शख़्स जो अब तक निहायत दोस्ताना अंदाज़ में सिग्रेट पी रहे थे एक ही बार ज्वालामुखी पहाड़ की तरह फट पड़े। एक ने कहा, "क्या शेर है ! यही फिल्मी शायरी है, जिसकी तुम तारीफ़ किया करते हो ?"

दूसरा बोला, "लोग यही कुछ चाहते हैं। इसलिये फिल्मसाज़ इसी क़िस्म की शायरी पेश करने पर मजबूर हैं। और फिर इन अशारों में ख़राबी क्या है ? ऐन मौके के मुताबिक हैं।"

पहला, "मौके के मुताबिक हैं तुम्हारा सिर। इन्हें शेर कौन कहता है। तुम भी अजब गदहे हो।"

दूसरा, "मैं तो ख़ैर जो कुछ हूँ। मगर फिल्म में यह शेर ग़ालिब की ग़ज़लों से बहुत बेहतर मालूम होते हैं।"

पहला (गर्ज कर), "क्या बकते हो ?"

दूसरा, "शोर मचाने से क्या होता है। मैंने सच बात कह दी। फिल्मी शायरी दरअसल शायरी नहीं है, महज़ बकवास है, लेकिन लोग यही कुछ मांगें तो कोई क्या करे।"

पहला, "तवेले की बला बन्दर के सिर। इन अहमकों को शेर का खुद कुछ भी पता नहीं और बदनाम करते हैं फिल्म देखने वालों को।"

दूसरा, "जी हाँ, ताकि कोई शख़्स सिनेमा के हाल के पास न फटके। सिर्फ आप ही वहाँ नज़र आयें और वह भी टिकट लेकर नहीं किसी पत्रकार के ज़रिये हासिल किये हुये पास पर।"

ये दोनों दोस्त बहुत तेज़ हो रहे थे और निहायत बुलन्द आवाज़ में बहस हो रही थी। मैंने भी इस अदबी बहस में शरकत की तो वे ज़रा ठंडे होकर बातें करने लगे। लेकिन इसका

एक अजीबो गरीब नतीजा निकला। देहातियों का एक गिरोह अलगोज़े और डफली लिये बैठा था। उन्होंने समझा कि ये दोनों बहस करनेवाले मेरे ज़ेर असर हैं इसलिये अब तल्ख कलामी छोड़कर होले-होले बातें करने लगे हैं। चुनाँचे इनमें से एक मेरे पास आकर कहने लगा, "बाबू जी, अगर आप अपने दोस्तों को चुप करा दें तो हम आपको गाना सुनाएँ।"

ऐन उसी वक्त टी०टी०आई० भी हमारे डिब्बे में आ गया और सब अपना-अपना टिकट निकालने लगे। एक बड़ी बी के साथ १५-१६ साल की लड़की थी। उसका आधा टिकट ले रखा था। टी०टी०आई० ने कहा, "इस लड़की का पूरा टिकट लगेगा, माई।"

बुढ़िया चमककर बोली, "क्यों पूरा टिकट लगेगा? यह तो बारह साल की नहीं है।"

टी० टी० आई० बोला, "माई टिकट के बाकी पैसे निकाल। यह लड़की बारह साल से ज़्यादा उम्र की है।"

बुढ़िया, "तुझे कैसे मालूम हुआ कि यह बारह साल से ऊपर की है। इसकी माँ मैं हूँ या तू है?"

टी०टी०आई० बेचारा शरीफ़ आदमी था। इस निहायत ही सीधे और बरजस्ता (अनुकूल) सवाल का जवाब देने की बजाय मुस्कराकर दूसरे लोगों के टिकट देखने लगा। और ज़रा-सी देर में दूसरे डिब्बे में जाने के लिये बाहर निकल गया।

लेकिन उसके जाते ही ख़ां साहब को खाँसी का जैसे दौरा पड़ गया। एक साहब ने पूछा, "ख़ां साहब बात क्या है, जो यों ही हँसते जा रहे हैं?"

ख़ां साहब, "ए बाई, कुच न पूचो। ये टिकस देकने वाले से एक दात याद आ गई.... ओ हो होथ होथ हो...ही...ही...ही....!"

हम सब उस तरफ़ मुतवज्जा (एकाग्र) हो गये, तो ख़ां साहब खुद ही कहानी सुनाने लगे।

"एक दिन रात के वक्त अम गाड़ी से उतरा। दरवाज़े पर बाबू बोला टिकस दिखाव। अम चुप रहा। उसने कहा टिकस नहीं। अम पिर चुप रहा। उसने आव देखा न ताव पुलिस को बुलाकर अम को ताने भेज दिया।"

एक शख़्स ने दिलचस्पी लेते हुए पूछा, "फिर क्या हुआ?"

खां साहब, "खो ओता क्या? रात मज़्ज़े में हवालात में रहे। सुबह मजस्ट्रेट के पेश किया। वह बोला खां साहब टिकस क्यों न लिया? अमने कहा—टिकसटिकस यह देको। अमने जेब से टिकस निकाल कर दे दिया। उसने पूचा, 'रात क्यों न दिखाया टिकस?' अमने कहा, 'खो बाबू साहब अमारे पास था दो हज़ार रुपया। होटल में खतरा था। अमने कहा ताने चलें। अमहवालात में रात रहा और सारी रात पुलिस ने चौकीदारी किया। अम मज़े से सोया। ये लो टिकस टीक ए ना'।"

यह कहकर खां साहब फिर कहकहा लगाने लगा और हम सब इनकी ज़िहानत की दाद देने की तैयारियाँ ही कर रहे थे कि इतने में आवाज़ आई, "माई तुम दोनों ज़रा सिमट के बैठ जाओ न।"

बुढ़िया गर्जी, "क्यों बैठ जाएँ सिमट के? नहीं बैठते।"

पहला शख़्स, "तुम दोनों ने सारी बेंच रोक रखी है और हम खड़े-खड़े अकड़ गये हैं।"

बुढ़िया, "तो फिर मैं क्या करूँ। अकड़ो या सूखो मुझे क्या?"

वही आदमी, "तो क्या तुमने सारी गाड़ी मोल ले रखी है? हमने क्या टिकट नहीं लिया?"

बुढ़िया चीख कर बोली, "टिकट लिया है तो जाओ ज़हन्नुम में।"

वही आदमी लटकी हुई सी आवाज़ में बोला, "लेडीज़ फ़र्स्ट...."

बुढ़िया ने गर्ज कर कहा, "मौंड़ी काटे अंग्रेज़ी में गालियाँ देता है। तेरी मूँछ नोच लूँ।"

यह आदमी बड़ी नर्मी से बोला, "नहीं माई, मैंने गाली नहीं दी, बल्कि आपकी इज़्ज़त की है। आजकल औरतों का ज़माना है, इसलिए जब आपने कहा ज़हन्नुम में जाओ, तो मैंने अर्ज़ किया कि 'पहले आप'।"

बुढ़िया फिर गरजने की तैयारी कर रही थी, मगर उस शख़्स के मासूमाना अंदाज़ पर सबको हँसी आ गई और बड़ी बी झेंप के रह गईं।

मैंने हँसी रोकते हुए उस शख़्स से कहा, "तुम इधर आ बैठो भाई। मैं अभी उतर जाऊँगा। मेरा स्टेशन आ गया है।"

इतने में गाड़ी रुकी। इस दिलचस्प सोहबत को छोड़कर जाना नागवार-सा मालूम हो रहा था।

मगर स्टेशन आ गया था, चुनाँचे मुझे उतर जाना था। इसलिए मैं उतर गया। और गाड़ी को आगे जाना था, वह आगे चली गई।

—दिल्ली से प्रसारित

जात-पात का पचड़ा

गान्धीजी हमेशा कहते थे कि यदि भगवान मुझसे पूछे कि अगले जन्म में किसके घर में पैदा होना चाहते हो, तो मैं निस्संकोच जवाब दूँगा कि किसी ग़रीब हरिजन के कुटुम्ब में।

शुरू में जब वह वर्धा से सेवाग्राम गये, तो मैं भी उनके साथ था। सेवाग्राम जाने के एक-दो दिन बाद ही गाँव का एक नाई आया और उनसे पूछने लगा कि क्या वह उनकी हजामत बनाये? गान्धीजी ने तुरन्त पूछा, "क्या तुम हरिजनों की हजामत बनाते हो?" नाई ने उत्तर दिया, "नहीं, महाराज!" गान्धीजी ने मुस्कराते हुये कहा, "भाई मैं तो एक हरिजन हूँ, फिर तुम मेरी हजामत किस प्रकार बना सकते हो?"

गान्धीजी के आश्रम में रसोई भी अक्सर हरिजन बहिन और भाइयों द्वारा बनाई जाती थी। उनके अस्पताल में भी हरिजन भाई ही काम करते थे। बापू तो दरिद्रनारायण को ही अपना इष्टदेव मानते थे। उनका स्वप्न यही था कि किसी दिन राष्ट्रपति का पद भी कोई हरिजन लड़की ही सुशोभित करे।

यह खुशी की बात है कि भारत के विधान में अस्पृश्यता को गुनाह करार दिया गया है। यद्यपि विधान में छुआछूत को स्थान नहीं है, फिर भी बड़े दुख की बात है कि अस्पृश्यता की भावना अभी तक लोगों के दिल और दिमाग़ से निकली नहीं है।

कुछ महीने पहले आचार्य विनोबा भावे पर देवघर के पंडों ने हमला किया। विनोबाजी गान्धीजी के सब से महान् और तेजस्वी शिष्य हैं। वे मंदिर के पुजारी की अनुमति से ही मंदिर में भगवान के दर्शन करने गये थे। उनका नियम है कि वे कभी भी किसी ऐसे मंदिर में नहीं जाते जो हरिजनों के लिये खुला न हो। जिस समय वे हरिजन भाइयों के साथ मन्दिर में प्रवेश करने लगे तो पंडों ने उन पर आक्रमण किया। उनकी टोली की एक दो बहिनों पर भी हमला किया। यह भी भगवान की ही इच्छा थी कि विनोबा जी सही सलामत मन्दिर से वापस आये। किन्तु इस घटना के कारण सारे भारत का दिल हिल गया। सभी को बहुत ही आश्चर्य हुआ कि इस समय भी देश के धार्मिक केन्द्रों में इतनी अधार्मिकता भरी हुई है।

हमारे विधान में हरिजन भाइयों को १० वर्ष तक का विशेष संरक्षण किया गया है। लगभग तीन वर्ष तो पूरे हो गये, अगले सात वर्ष बाद हरिजन तथा सवर्णों में किसी प्रकार का भेद नहीं माना जायेगा। इसलिये यह आवश्यक है कि अब धीरे-धीरे हरिजनों के लिये अलग संस्थायें क़ायम करने की प्रथा बन्द होनी चाहिये। देश के सब नागरिकों को समान स्थान मिलना चाहिये और छुआछूत का नामोनिशान ही मिट जाना चाहिये। हरिजन व सवर्ण की परिभाषा का ही समाज में कोई स्थान नहीं रहना चाहिए। जब तक जाति-पाति का भेद हमारे मन में रहेगा तब तक हरिजनों की समस्या जड़ से खत्म न हो सकेगी।

(श्रीमन्नारायण अग्रवाल–दिल्ली)

संस्कृत रंगमंच

बलदेव उपाध्याय

भारत में समग्र साधनों से परिपूर्ण रंगमंच का उदय उतना ही प्राचीन है, जितना अभिनय का उदय। भरत मुनि ने अपने प्रख्यात-ग्रन्थ भरत नाट्य शास्त्र में इन दोनों विषयों का प्राचीनतम आद्य विवरण प्रस्तुत किया है।

रंगमंच का प्राचीन संस्कृत नाम है प्रेक्षागृह या रंगशाला। अपने जीवन के आरम्भ में भारतीय नाटक का अभिनय ठेठ आसमान के नीचे खुले मैदान में होता था, जिसके देखने में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न था, परन्तु विघ्नों के उदय ने नाट्याचार्यों को वाध्य किया कि वे नाट्य-प्रयोगों को खुले मैदानों से हटाकर बन्द स्थानों में ले जायें। भरत के कथनानुसार प्रथम अभिनीत नाटक महेन्द्र-विजय था, जिसमें देवताओं की विजय तथा दानवों की पराजय दिखलाई गई थी। पराजय के दृश्य दैत्यों के हृदय में प्रतिहिंसा की भावना जगाने में समर्थ हुए। फलतः नाटक का अभिनय समाप्त होने से पहले ही दैत्यों ने विघ्न उपस्थित कर दिया और बलशाली देवों ने अपनी समग्र शक्ति का प्रयोग कर बड़े धैर्य तथा बल से उनका प्रशमन किया। परन्तु इस कलह तथा विघ्न से नाटक प्रयोग को सदा के लिए बचाने के लिए ब्रह्मा की आज्ञा से विश्वकर्मा ने प्रेक्षागृह का निर्माण किया।

भरत मुनि के कथनानुसार प्राचीन भारत के प्रेक्षागृह या नाट्य-मण्डप तीन प्रकार के होते थे। इन तीनों का परिमाण तथा उपयोग भिन्न-भिन्न हुआ करता था। इन तीनों प्रेक्षागृहों के नाम थे—(१) विकृष्ट (२) चतुरस्र (३) त्र्यस्र। इनमें से विकृष्ट सबसे बड़ा था तथा देवताओं के लिए ही नियत किया गया था। इसका परिमाण था १०८ हाथ। इसके आकार का ठीक पता नहीं चलता है। संभवतः यह गोलाकार होता था। चतुरस्र तो स्पष्ट ही चौकोर रंगमंच था, जिसकी लम्बाई होती थी ६४ हाथ तथा चौड़ाई ३२ हाथ। यह मध्यम कहलाता था तथा राजाओं के लिए और सम्भवतः जनता के लिए भी यह प्रेक्षागृह आदर्श माना जाता था। त्र्यस्र तिकोने ढंग का रंगमंच था, जिसकी प्रत्येक भुजा ३२ हाथ की होती थी। इसका उपयोग सम्भवतः छोटे-छोटे नाटकों के अभिनय के अवसर पर किया जाता था।

इन तीनों रंगशालाओं में चतुरस्र या मध्यम प्रेक्षागृह आदर्श समझा जाता था। इसके वैशिष्ट्य के वर्णन में भरत मुनि की वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक पटुता का उज्ज्वल दृष्टान्त हमें उपलब्ध होता है। आदर्श प्रेक्षागृह के चुनाव के अवसर पर तीन बातों पर विशेष दृष्टि रखी जाती थी। दर्शकों को रंगपीठ पर होने वाले वार्तालाप, पाठ्य तथा गेय-गायन का श्रवण खूब अच्छी तरह होना चाहिये। नाट्य प्रयोग में गीतों का उपयोग दर्शकों के मनोरंजन के निमित्त ही किया जाये। रंगमंच के विशाल होने में एक और भी हानि है और महती हानि है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न रसों के अभिनय प्रसंग में पात्रों के मुखमण्डल पर अभिनीत भाव अपना प्रभाव डालता है। इसका साक्षात्कार उचित रीति से मध्यम परिमाण वाले प्रेक्षागृहों में ही हो सकता है।

भरत मुनि के शब्दों में—

यश्चाप्यास्यागतो भावो नानादृष्टिसमन्वितः।
सवेश्मनः प्रकृष्टत्वाद् व्रजेदव्यक्ततां पराम्॥
यावत् पाठ्यं च गेयं च तत्र श्रव्यतरं भवेत्।
प्रेक्षागृहाणां सर्वेषां तस्मान्मध्यममिष्यते॥
(नाट्यशास्त्रम्, २१, २३, २४)

मध्यम रंगशाला ६४ हाथ की लम्बाई तथा ३२ हाथ की चौड़ाई वाली एक चौकोर शाला होती थी। इसका निर्माण शुभ मुहूर्त्त में किया जाता था। ज़मीन को समतल तथा चौरस बनाने के लिए उसे हल से जोत कर ठीक करते थे। चारों कोनों पर चार प्रधान खम्भे लगाए जाते थे। दक्षिण पूर्व से आरम्भ कर इन स्तम्भों का नामकरण चारों वर्णों के नाम पर ब्राह्मण स्तम्भ, क्षत्रिय स्तम्भ, वैश्य स्तम्भ तथा शूद्र स्तम्भ होता था। रंगशाला के दो मुख्य भाग होते थे जिसमें आधा भाग रंगमंच के निमित्त सुरक्षित रहता था। रंगमंच के सबसे पिछले भाग का नाम था रंगशीर्ष जो ८ हाथ लम्बा तथा ४ हाथ चौड़ा होता था। इससे आगे वाला भाग ठीक इतने ही परिमाण का होता था और नेपथ्यगृह कहलाता था। रंगशीर्ष में अभिनय के रक्षक देवी-देवताओं की विशिष्ट पूजा होती थी, तथा नेपथ्यगृह तो स्पष्टतः पात्रों के वेशभूषा के सजाने तथा परिवर्तन के निमित्त पृथक् प्रयोग में आता था। रंगशीर्ष से नेपथ्यगृह में आने के लिए दो दरवाज़े बनाए जाते थे। नेपथ्य-गृह से आगे होता था रंगपीठ—१६ हाथ लम्बा और ८ हाथ चौड़ा, जिस पर पात्रों के द्वारा समग्र अभिनय दिखलाया जाता था। रंगपीठ से होकर नेपथ्य-गृह में जाने के लिए एक दरवाज़ा होता था और इसी का उपयोग पात्र अपने प्रवेश तथा निर्गम के लिए किया करते थे। एक बात ध्यान देने की है कि रंगपीठ की दोनों बगलों में डेढ़ हाथ ऊँची मत्तवारणी (बरामदा) बनाई जाती थी। रंगशीर्ष की बनावट का विधान पाया जाता है। इसे न तो कूर्मपृष्ठ (कछुए की पीठ) की तरह होना चाहिये और न मत्स्य पृष्ठ की तरह बल्कि दर्पण के समान समतल तथा चिक्कण होना चाहिए। कभी-कभी पात्र-प्रवेश रंगपीठ पर नहीं होता, प्रत्युत नेपथ्य-गृह में ही उसके विषय में सूचना दी जाती है। ऐसे पात्र-प्रवेश को चूलिका कहते हैं।

नाट्य-मण्डप पर्वत की गुफ़ा के आकार का होना चाहिए। उसमें दो खण्ड (द्विभूमि) होते हैं। सम्भवतः ऊपरी खण्ड में देवताओं से सम्बद्ध घटनायें प्रदर्शित की जाती थीं तथा निचले खण्ड में मानवी घटनाओं का अभिनय किया जाता था। नाट्य-मण्डप की दीवारों को नाना प्रकार के चित्रों से सजाया जाता था जो सामयिक तथा विषय से सम्बद्ध होने से नितान्त उपयुक्त होते थे। रंगमंच की रचना निवात में होनी चाहिए, विशेष हवादार स्थान में नहीं। नहीं तो आवाज़ गम्भीर न होगी और न शब्दों की श्रुति ही ठीक-ठीक श्रोताओं को हो सकेगी।

दर्शकों के बैठने के स्थानों की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की जाती थी। आजकल के सीढ़ी-नुमा या गैलरी वाले आसन को अधिकांश आलोचक पश्चिमी नाट्य-कला की देन मानते हैं, परन्तु वस्तुतः यह भारतीय प्रतिभा का व्यावहारिक निदर्शन है। भरत मुनि ने गैलरी की ही व्यवस्था दर्शकों के निमित्त मान्य बतलाई है। दर्शकों के निवेशन अर्थात बैठने के स्थान सोपानाकृति (सीढ़ी के ढंग के) होते थे। ज़मीन से सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची रखी जाती थीं तथा इनका निर्माण लकड़ी तथा ईंट की सहायता से किया जाता था। रंगपीठावलोक्य अर्थात् निवेशनों की सजावट ऐसी होती थी कि कहीं पर बैठ कर रंगपीठ के ऊपर अभिनय का साक्षात्कार भली भाँति किया जा सके।

रंगपीठ के ऊपर नाटक के अंक की समाप्ति होने पर परदा गिराया जाता था। परदे के लिए शुद्ध शब्द है जवनिका, यवनिका नहीं। जवनिका शब्द से ठीक परिचय न होने के कारण आलोचकों ने इसके विषय में बे-सिर-

पैर की बातें कह डाली हैं। अशुद्धतया प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द को देखकर हमारे पश्चिमी पंडितों ने एक भ्रान्त धारणा को जन्म दिया है कि भारतीय नाटकों पर यूनानी नाट्य कला का प्रभाव पड़ा है, क्योंकि यवनिका शब्द स्पष्टतया अपना सम्बन्ध यवनों के साथ जोड़ता है। परन्तु ध्यान देने की बात है कि शब्द जवनिका है, यवनिका नहीं। और यह नाट्य शास्त्र का पारिभाषिक शब्द न होकर आवरण के अर्थ में प्रयुक्त एक सामान्य शब्द है। दूसरी बात यह है कि यूनानी रंगमंचों के ऊपर कोई परदा ही नहीं होता था। वे बिना परदे के ही ठेठ आसमान के नीचे अभिनीत किए जाते थे। जवनिका भारत की अपनी वस्तु है, किसी विदेश से उधार ली गई चीज़ नहीं। कम से कम दो पर्दों का विधान रंगमंचों पर देखा जाता है।

प्राचीन प्रेक्षागृह का यह निखरा रूप भारतीयों की निजी प्रतिभा का विकास है। यूनानी रंगशाला से इसकी तुलना करने पर इसकी सर्वांगीणता तथा वैज्ञानिकता का पता लग जाता है। प्राचीन यूनान का रंगमंच एक साधारण-सी वस्तु होती थी। अत्यन्त प्राचीन काल में रंगपीठ के लिये एक ऊँचा स्थान होता था, जिस पर वाद्यमण्डली तथा एक दो पात्र बैठते थे। दर्शकों के लिए कोई व्यवस्था न होती थी। अभिनय प्रायः पहाड़ की बग़ल में नीची ज़मीन पर होता था, जहाँ दर्शक अपने बैठने के लिए ऊँचा-नीचा स्थान खोज लिया करते थे। बहुत पीछे गैलरी बनी होती थी। रोमन काल में ही रंगपीठ के पीछे नेपथ्यगृह के लिए भी विशिष्ट मकान बनाया गया तथा पूरे रंगमंच के सुव्यवस्थित प्रकार की योजना सम्पन्न हुई। यह अनेक शताब्दियों के उद्योग तथा प्रयास का सुपरिणाम था, परन्तु भारतवर्ष में प्रेक्षागृह का निर्माण नाट्य कला के प्रभात काल में ही सम्पन्न हुआ।

प्राचीन रंगपीठ यथार्थवादी था, परन्तु घृणा या उद्वेगजनक दृश्यों का प्रदर्शन सर्वथा वर्जित था। आजकल जिन दृश्यों का प्रदर्शन उचित माना जाता है, उनमें से अनेक दृश्य प्राचीन काल में वर्ज्य थे, जैसे रंगपीठ पर युद्ध का प्रदर्शन, भोजन, शयन आदि। फिर भी आवश्यकतानुसार घोड़े, हाथी रंगमंच पर दिखलाए जाते थे। उस समय घास-फूस के बने पदार्थ को चाम से मढ़ कर दिखलाने की प्रथा थी। भरत नाट्य शास्त्र में इस अभिनय विषय का सांगोपांग वर्णन उपलब्ध है।

बर्मा, श्याम, कम्बोज, जावा, बाली, मलय आदि समस्त देशों के नाट्य तथा अभिनय पर भारतीय नाटक का व्यवस्थित प्रभाव पड़ा है। कम्बोडिया की राजकीय रंगशाला "राम राम" के नाम से पुकारी जाती थी। यह रचना हमारी रंगभूमि के सदृश ही थी। रामायण के अभिनय के अवसर पर पात्र पुरुष ही होते थे, नहीं तो स्त्रियाँ ही नाटकों की भूमिका में अवतीर्ण होती थीं। रंगशाला का एक विशेष प्रबन्धक होता था, जो हमारे नाट्याचार्य के समान होता था। नटियों के सजाने, सिखलाने तथा तैयार करने का भार राजमहल की किसी विशिष्ट शिक्षित महिला के ऊपर था। जावा के नाटक छायानाटक ही होते थे, जिन्हें वजंग कहते हैं। इस प्रकार भारतीय रंगमंच अपनी वैज्ञानिकता, सुव्यवस्था तथा विपुल प्रभावशालिता के कारण विश्व की रंगशालाओं के इतिहास में अपना पर्याप्त महत्त्व रखता है।

—इलाहाबाद से प्रसारित

घिरे गगन में कजरारे घन........

नर्मदेश्वर उपाध्याय

घिरे गगन में कजरारे घन, पहली-पहली बार रे।
पहला पानी बरसा जैसे पहला-पहला प्यार रे॥

१.

धूप लजा-धुर सी शरमाई,
सोनजुही बिजुरी मुसकाई,
दूर-दूर हरियाली छाई,
रूठी खुशी लौट घर आई,
उमड़-घुमड़ कर कारे बदरा गाने लगे मल्हार रे।

२.

झूम रहे नंदन वन उपवन,
झूम रहे हैं जड़, चेतन वन,
अंगड़ाई ले रहा मगन मन,
फूट पड़ा कलियों का यौवन,
थिरक उठी बूँदों के सरगम पर पहली बौछार रे।

३.

चहक उठे पंछी डालों पर,
झरने लगे रूप रस निर्झर,
बिरहा औ कजरी की धुन पर,
होने लगे प्रान न्यौछावर,
पुरवया के पंख पसारे, बहने लगी बयार रे।

४.

झुक आये धरती पर बादल,
लहराये श्यामल नभ कुंतल,
पी वर्षा का प्रथम अमृत जल,
तृप्त हो गये लोचन शतदल,
सजे मेघ के शिखरों पर किरणों के बन्दनवार रे।

५.

जब-जब मोतिन चौक पुराये,
घर-घर सुधि के पाहुन आये,
वन-वन मोर पपीहा गाये,
अनगाए अब रहा न जाये,
सतरंगी चूनर-सी उड़ती, वाणी की झनकार रे।
घिरे गगन में कजरारे घन, पहली-पहली बार रे।
पहला पानी बरसा जैसे पहला-पहला प्यार रे॥

—नागपुर से प्रसारित

पारिभाषिक शब्दों का निर्माण

रघुवीर

पिछले २३ वर्षों के कार्य में जिन सिद्धान्तों को हमने नियमित रूप से अपने कार्य का आधार बनाया है, उन्हीं का आज प्रतिपादन करेंगे।

प्रथम सिद्धान्त—एक शब्द एक ही मुख्य अर्थ का वाची हो अथवा यूं कहें कि प्रत्येक मुख्य अर्थ के लिये पृथक् शब्द हो।

दूसरा सिद्धान्त—प्रत्येक शब्द अन्वर्थ अर्थात् अर्थानुगामी निर्माण किया जाए।

अन्वर्थता हमारी शब्दावलि का प्राण है। यथासंभव मुख्य लक्षण अथवा विभेदक गुण के आधार पर शब्द बनाये जायें।

तीसरा सिद्धान्त—असमस्तपद का परिमाण चार अक्षरों से अधिक न हो। जैसे Phosphorous के लिये भास्वर। भास्वर में तीन अक्षर हैं—भास्, व, र।

यदि रोमन लिपि में लिखे हुए अंग्रेज़ी शब्दों और देवनागरी में लिखे हुए भारतीय अनुवादों पर आप दृष्टिपात करेंगे तो आप पाएँगे कि सामान्यतया भारतीय शब्द थोड़ा स्थान लेते हैं।

चौथा सिद्धान्त—जब अंग्रेज़ी शब्द के एक अथवा अनेक संक्षेप तथा प्रतीक विद्यमान हों तो भारतीय शब्द के भी प्रतीक और संक्षेप, एक अथवा अनेक (जैसे भी आवश्यकता हो) होने चाहियें। गणित, रसायन और अन्य विज्ञानों में प्रतीकों और संक्षेपों की पदे-पदे आवश्यकता पड़ती है। इन्हीं की सहायता से सूत्रों (Formulae) का निर्माण होता है। रसायन में ६२ तत्त्व हैं। इनमें प्रत्येक का प्रतीक आवश्यक है। प्रत्येक प्रतीक विभिन्न होना चाहिये। प्रतीक निर्माण की सामान्य पद्धति शब्द के आदि अक्षर का प्रयोग है। इसलिये प्रत्येक रसायनिक तत्त्व का प्रारम्भिक अक्षर (Syllable) विभिन्न रखा गया है। यह संभावना केवल हमारी भाषा और लिपि में है। अंग्रेज़ी में तो वर्णमाला के केवल २६ अक्षर हैं। इनकी लिपि का लेखन एकक (Graphic-unit) एक वर्ण है न कि अक्षर (Syllable)।

पाँचवा सिद्धान्त—अंग्रेज़ी के असमस्त पदों का अनुवाद असमस्त पदों से ही किया जाए, समासों अथवा वाक्यों से नहीं। यह नियम बहुत महत्त्व का है। इसका पालन न कर के कुछ लोगों ने उपहास की अच्छी सामग्री जनता के लिये उपस्थित की है जैसे Signal अग्निरथ-गमन-आगमन-सूचना-लोहपट्टिका। यह व्याख्या है, शब्द नहीं। इसका अनुवाद तो संकेत है। व्याख्यात्मक अनुवाद नये शब्दों को अपरिचित व्यक्ति को समझाने के लिये उपयुक्त हो सकते हैं किन्तु प्रयोग के लिये वे सर्वथा अनुपयुक्त हैं। इनकी अनुपयुक्तता समझने के लिये हम इनसे उत्पन्न शब्दों की ओर आपका ध्यान दिलाते हैं। यदि Signal का अनुवाद अग्निरथ गमन-आगमन-सूचनालोहपट्टिका मान लिया जाए, तो Signalling, Signalman आदि का अनुवाद और भी लंबा तथा भद्दा हो जायेगा। और जब ये शब्द वाक्य में प्रयोग करने होंगे, तो उस वाक्य की रचना किस प्रकार से होगी यह अनुमान करना ही व्याकुलता उत्पन्न करता है।

अंग्रेज़ी के एक शब्द का अनुवाद हिन्दी के एक शब्द से ही होना चाहिये। यह सिद्धान्त जब भी उल्लंघन किया जायेगा, तभी कष्ट होने की संभावना रहेगी।

छठा सिद्धान्त—यथाशक्य उपसर्गों का अनुवाद उपसर्गों से तथा प्रत्ययों का प्रत्ययों से करना चाहिये। उदाहरण के लिये Peri—के लिये परि (Peri metre—परिमाप)। Sub—के लिये अनु। (Subgenous—अनुप्रजाति)। Con—के लिये सं (Condense—संघनन)। ab—के लिये उप। (abrade—अपघर्षण)। anti के लिये प्रति। (antimere—प्रतिखण्ड)। eu—के लिये सु। (eupepsia—सुपचन)। dye के लिये दुस्। dyepnea-दुश्श्वसन। इत्यादि।

Phosph-से ate, ated, atide, ation, ide, inic, oric, आदि अनेक प्रत्यय एक-एक, दो-दो करके लगाए जाते हैं। Phosph का अनुवाद भास्व, ate काईय, phosphate भास्वीय। एवमेव Phosphated भास्वीयित, Phosphatic भास्वीयिक, phosphation भास्वीयेव, phosphide भास्वि, phosphinic भास्वियिक, phosphoric भास्वायिक इत्यादि।

सातवां सिद्धान्त—जब अंग्रेज़ी शब्द समस्त हो तो उसका विश्लेषण करके सार्थक अंगों का अलग-अलग अनुवाद करके उनके सहयोग से हिन्दी के शब्द का निर्माण किया जाए जैसे Centrifugal केन्द्रापग, केन्द्र से अपगमन करने वाला Centri केन्द्र, fugal अपग। Centripetal केन्द्राभिग, केन्द्र की ओर अभिगमन करने वाला। tetramerous चतुरवयवन। tetra चतुर merous अवयव। Xanthophyll पर्णपीत। xanth पीत phyll पर्ण।

आठवां सिद्धान्त—यदि एक शब्द से अंग्रेज़ी में अनेक शब्दों की प्राप्ति होती हो तो उन सब व्युत्पन्न शब्दों की व्यवस्था होनी चाहिये। शब्द विकास की दृष्टि से इस सिद्धान्त का पालन नितान्त आवश्यक है।

जैसे :

Law विधि
Lawful विधिवत्
Legal वैध
Illegal अवैध
Legislate, legislature विधान
Legislative विधायी
Legislate विधायक
Legislatable विधेय
Illegislatable अविधेय
Lawless विधिहीन
Lawlessness विधिहीनता

नवाँ सिद्धान्त--शब्दों का अकेले-अकेले अनुवाद नहीं किया जाना चाहिये। सर्वप्रथम शब्द के सम्बन्धी पदों का संग्रह किया जाना चाहिये, फिर अनेक समासों का सम्बन्धी शब्दों में व्याकरण अथवा अर्थों द्वारा स्थापित दोनों प्रकार का सन्निवेश है।

व्याकरण सम्बन्ध के उदाहरण—

(क) Absorb प्रचूषण
Absorbancy प्रचूषत्व
Absorbed प्रचूषित
Absorber प्रचूषक
Absorbtive प्रचूषी

(ख) Acid अम्ल
Acidic अम्लिक
Acidient अम्लकर
Acidification अम्लन
Acidifier अम्लक

अब अर्थ द्वारा सम्बन्ध कुछ शब्दों को लिजिए—

(ग) Superintendent अधीक्षक
Inspector निरीक्षक

(ङ) Motion प्रस्ताव
Resolution संकल्प
Bill विधेयक

Act अधिनियम
(च) Revolution क्रान्ति
Mutiny सैन्यद्रोह
Rebellion विद्रोह
(छ) Right अधिकार
Authority प्राधिकार
Privilege विशेषाधिकार

समासों की संख्या तो कभी-कभी सैंकड़ों और सहस्रों तक पहुँचती है।

दसवाँ सिद्धान्त—नये विचारों के लिये नये प्रत्ययों का निर्माण। उन प्रत्ययों का आविष्कार कल्पना के आधार पर नहीं किया जाता। किन्तु वास्तविक शब्दों के संक्षेपों को प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यह पद्धति संसार की अन्य भाषाओं में भी विद्यमान है। अंग्रेज़ी में तो इसका प्रतिदिन अधिकाधिक प्रयोग हो रहा है।

Alum, Ferrum, Argentum आदिके अन्तिम भाग um को रसायन शास्त्र में धातुवाची तत्वों के द्योतन करने के लिये प्रत्यय के रूप में प्रयोग किया गया है। Alum अर्थात् फटकड़ी से um प्रत्यय लगाकर Aluminium रासायनिक तत्व का नाम रखा गया है। इन नये प्रत्ययों की संख्या बहुत थोड़ी है। नितान्त आवश्यकता पड़ने पर ही हमने इस पद्धति का प्रयोग किया है:-रासायनिक धातुवाची तत्त्व नामों के लिये स्वयं धातु शब्द का अत्यन्त भाग-आतु प्रयोग किया है। Alumin का अनुवाद स्फटी अर्थात् फटकड़ी है। इसी स्फटी, स्फटिक, स्फटिकारी से हिन्दी के फटकड़ी, फिठकड़ी आदि रूप बने हैं। स्फटी के आगे आतु प्रयोग लगाने पर स्फट्यातु शब्द प्राप्त होता है।

ग्यारहवाँ सिद्धान्त—जो विचार और पदार्थ प्राचीन समय से हमारी भाषाओं में चले आये हैं उनका अन्वेषण करना हमारा परम कर्तव्य है। नये शब्द बनाने के स्थान में प्राचीन शब्दों का प्रयोग अधिक उपकारी है। भारत का प्राचीन साहित्य संस्कृत, पाली और प्राकृत में निहित है। उस साहित्य की विशालता, विभिन्नता और गम्भीरता का अनुमान करना सरल नहीं।

इसके अतिरिक्त उत्तर और दक्षिण की आधुनिक भाषाओं में भी अच्छा साहित्य विद्यमान है। इनके शब्दों का निरीक्षण करना हमारे लिये लाभकारी सिद्ध हुआ है। यह कार्य समय और परिश्रम की दृष्टि से अनन्त व्यय साध्य है, किन्तु अपरिहार्य है।

बारहवाँ सिद्धान्त· पारिभाषिक शब्द ऐसे होने चाहिएँ जो केवल हिन्दी में ही नहीं किन्तु भारतवर्ष की अन्य भाषाओं में भी प्रयुक्त किये जा सकें।

हमारा सौभाग्य है कि प्राचीन काल से पारिभाषिक क्षेत्र में उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सर्वत्र भारतवर्ष में समानता और एकरूपता रही है। आयुर्वेद के कारण पौधों के नाम, औषधियों और रोगों के नाम लंका से नैपाल तक, विद्वानों में एक ही समान है। ज्योतिष, दर्शन, पुराण, महाभारत समस्त भारत की सम्पत्ति है। वैष्णव, शैव, शक्ति, तन्त्र काव्य हमारे अनन्य सखा हैं। यदि हम भारतीय भाषाओं के शब्दकोषों पर दृष्टि डालें तो मलयालम, बंगला, असमिया और उड़िया में ८० प्रतिशत शब्द संस्कृत के दिखाई पड़ते हैं। कन्नड, तेलगु, और हिन्दी में भी संस्कृत शब्द ७० प्रतिशत हैं। इसी प्रकार गुजराती और मराठी में।

मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित वृहत् तमिल-कोष के ७ भागों में ४०,००० शब्द संस्कृत के विद्यमान हैं।

उत्तर की भाषाएँ संस्कृत की पुत्रियाँ हैं। इसलिये उनके तो बहुत से सामान्य शब्द भी आए हुए हैं। इनको तद्भव कहते हैं। जैसे करना, जाना, खेलना, हँसना, देना, पाना आदि करण, यान, क्रीडन, हसन, दान, प्रापण आदि से बने हैं। सामान्य जनभाषा में इन्हीं शब्दों का अधिक प्रयोग होता है। किन्तु जिस समय

पारिभाषिक विषयों का अध्ययन होता है उस समय शुद्ध संस्कृत अथवा तत्सम शब्दों का प्रयोग होता है। पाठशाला में प्रवेश करते ही बालक वर्णमाला, स्वर, व्यंजन, कण्ठ्य, तालव्य संयुक्त वर्ण, भूगोल, गणित, इतिहास, त्रिकोण, चतुष्कोण, षट्कोण इत्यादि तत्सम शब्दों को सीखना आरम्भ करता है। विद्यार्थी जितना ऊँचा जायगा उतने ही अधिक उसको तत्सम शब्द मिलते जाएंगे।

कविता, निबन्ध, समालोचना, शिल्प, कला आदि के क्षेत्रों में भी उत्तरोत्तर तत्सम शब्दों की वृद्धि होती जाती है।

अब दक्षिणी भाषाओं की ओर चलें। इनमें तद्भव शब्दों की संख्या उत्तर की अपेक्षा थोड़ी है किन्तु तत्सम शब्दों की प्रचुरता में विशेष भेद नहीं। मलयालम में तो केवल संस्कृत शब्दों का ही नहीं, किन्तु लम्बे-लम्बे समासों का भी प्रयोग होता है।

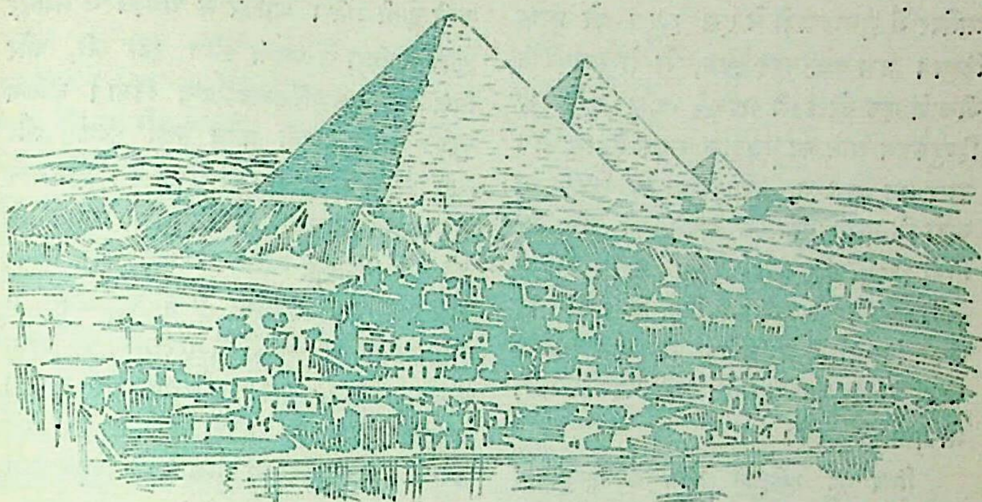
हमारा क्षेत्र पारिभाषिक है। इसमें हम यदि ऐसे शब्द लें जो उत्तर और दक्षिण दोनों में प्रयोग हो सकें, तो अनायास ही तत्सम शब्द सामने आते हैं। इन्हीं के आधार पर हमारी पारिभाषिक शब्दावलि एक बन सकती है।

तेरहवाँ सिद्धान्त—पारिभाषिक शब्दकोष सामान्य शब्दकोष का सहायक और पूरक है। पारिभाषिक शब्द सामान्य जनशब्दों के प्रयोग में बाधक नहीं होते। सामान्य जनता अपने सामान्य कार्यों को करने के लिये कोष का प्रयोग नहीं करती और न करेगी। यह बात प्रत्येक विद्वान के मन में अंकित कर देनी चाहिये। यह सच है कि विद्वानों के शब्द धीरे-धीरे जनता में फैलते हैं और जनता के शब्द विद्वानों में आते हैं, तथापि दोनों में संघर्ष हो, ऐसी बात नहीं।

पश्चिमी भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी डेढ़ सौ वर्ष पीछे है। इस अवधि में पश्चिमी भाषाओं ने छः सौ वैज्ञानिक विषयों की रचना की और उनके लिये लाखों शब्दों का निर्माण किया। इनका स्रोत लातीनी और यावनी अर्थात् लैटिन और ग्रीक भाषाएं हैं।

नए विषयों के लिए हमको भी नए शब्दों के निर्माण की आवश्यकता है। हमारे नए शब्द पूर्व परिचित साहित्यक उपसर्गों, धातुओं और प्रत्ययों से बने हुए होने के कारण सरल और व्याख्यागम्य होंगे। वैज्ञानिक अध्ययन के लिये विदेशी भाषाएँ पढ़ने की आवश्यकता न रहेगी और उनके बहु-मूल्य जीवन के ५-७ वर्ष बच जायेंगे। विदेशी भाषाओं का अध्ययन केवल अन्वेषण-कर्ताओं के लिये अनिवार्य होगा।





मिस्र की कहानी

सयद महमूद

मिस्र एक बहुत पुराना मुल्क है। उसकी तहज़ीब या सभ्यता, उसका कलचर या संस्कृति भी बहुत पुरानी है। बहुत ज़माने पहले यहाँ के बादशाह और बड़े लोग जब मरते, तो जिस्म में कोई ख़ास मसाला लगाकर उनके जिस्म को हमेशा के लिये महफ़ूज कर दिया जाता, और वह कभी ख़राब न होता। बहुत-सा सोना-चांदी और कीमती चीज़ें उसके साथ क़ब्र में दफ़न करते। उस मुर्दा लाश को 'ममी' कहते हैं। कई हज़ार बरस के बाद भी यह मुर्दा लाशें अभी तक महफ़ूज हैं। जब बहुत सी कब्रें खोदी गईं तो पुराने ज़माने के बादशाह जिनको फरऊन कहते थे, उनकी लाशें निकलीं। इन बादशाहों का तारीख़ (इतिहास) में नाम मौजूद है और तारीख की मदद से ख़ास-ख़ास मशहूर फरऊनों की लाशें पहचानी गईं।

हमारे लिए यह बड़ी दिलचस्पी की बात है कि इन लाशों को जिस बारीक कपड़े से लपेटा गया था, वह कपड़ा हिन्दुस्तान का बना हुआ था जिसको हम मलमल कहते हैं। इससे हमारे मुल्क की संस्कृति और सभ्यता पर बहुत रोशनी पड़ती है। इतने हज़ार साल पहले से हमारा मुल्क इस क़दर बारीक कपड़े बनाता था। बाइबिल में हज़रत मूसा और यहूदियों का किस्सा भी दर्ज है, जो उसी वक्त का है। फिर यूनानियों ने इस मुल्क पर हुकूमत की, और यूनान का मशहूर बादशाह सिकन्दर आज़म इसी रास्ते से हिन्दुस्तान से वापिस गया।

क्लिओपैट्रा मिस्र की बहुत खूबसूरत शाहज़ादी थी। मक्कारी और हुस्न के लिए उसका नाम आज तक लिया जाता है। वहाँ के एक और बादशाह की बीवी पीर ज़ुलेख़ा थी जो अपने हुस्न के लिए मशहूर थी। वह यूसुफ़ नबी पर आशिक़ हो गई। यूसुफ़ का नाम खूबसूरती के लिए मशहूर है और कहा जाता है कि उससे ज़्यादा खूबसूरत दुनिया में आज तक कोई मर्द पैदा नहीं हुआ। बाईबिल में यूसुफ़ और ज़ुलेख़ा का किस्सा दर्ज है। सबके

आख़िर में मुसलमानों ने इस मुल्क को फ़तह किया। उस वक्त नहर स्वेज़, जो दो समुद्रों के बीच में एक छोटी सी नहर है और यूरोप से हिन्दुस्तान आने का नज़दीक रास्ता है, न थी। उमर बन आल ने, जो मिस्र का गवर्नर था चाहा कि इस ज़मीन के टुकड़े को खोद कर दोनों समुद्रों को मिला दिया जाये। लेकिन ख़लीफ़ा अमर ने मना कर दिया कि अगर यह रास्ता निकालोगे तो यूरोप की क़ौमें एशिया वालों पर हमलावर होंगी। जब नहर निकली, तो ऐसा ही हुआ।

मिस्र की संस्कृति चीन व हिन्दुस्तान से बहुत ज़्यादा पुरानी मानी जाती है। अब इस मुल्क में ज़्यादातर मुसलमान हैं, और थोड़े से ईसाई। सन् १८५६ में एक फ्रांसीसी ने इस छोटे से खुश्की के रास्ते को खोद कर दोनों समुद्रों को मिला दिया और यूरोप से ऐशिया आने वालों के लिये आसानी पैदा हो गई। इससे पहले समुद्र से आने में छः महीने लगते थे। वास्को डि गामा ने इसी रास्ते को पन्द्रहवीं सदी के आख़िर में दरयाफ्त किया था, और हिन्दुस्तान पहुँचा था। असल में यह रास्ता एक अरब मल्लाह ने वास्को डि गामा को बतलाया था, जिसको उसने अपने जहाज़ पर दावत के बहाने बुला कर मार डाला। सन् १८७६ में मिस्र के बादशाह ने नहर का अपना हिस्सा अंग्रेज़ों के हाथ बेच डाला। इस तरह अंग्रेज़ों को मिस्री मामलात में दख़ल देने का मौका मिल गया। बादशाह के खिलाफ़ मुल्क के एक खैर-ख्वाह लीडर अरबी पाशा ने बग़ावत की। बादशाह ने अंग्रेज़ों से मदद मांगी। इस तरह अंग्रेज़ मिस्र पर काबिज़ हो गये, और बादशाह के नाम से हकूमत करने लगे। अंग्रेज़ों ने मुसलमान और ईसाइयों में लड़ाई करानी चाही और इसके लिए बड़ी कोशिश की, लेकिन ज़गलोल पाशा ने लड़ाई न होने दी और ईसाई अक़्लीयत (अल्पसंख्यकों) की सारी मांगें पूरी कर दीं। वहाँ की जनता और अंग्रेज़ों में बराबर रस्सा-कशी होती रही। आखिर में अंग्रेज़ों ने मजबूर होकर काहिरा से अपनी फ़ौज हटा ली, और मिस्र को खुदमुख्तियार बना दिया। लेकिन नहर स्वेज़ से अपनी फ़ौज नहीं हटाई, और कहा कि यह हिन्दुस्तान का रास्ता है। इस बात से अब तक मिस्रियों से अंग्रेज़ों की लड़ाई हो रही है। बादशाह फ़ारूक बराबर अंग्रेज़ों का साथ देता था। इसलिये मिस्र की फ़ौज ने नजीब पाशा की लीडरी में बादशाह को तख्त से उतार दिया, और जलावतन कर दिया। आजकल मिस्र में फ़ौजी हुकूमत है और जनरल नजीब मुल्क की भलाई के बहुत काम कर रहे हैं।

मिस्र में या तो बहुत अमीर हैं या बहुत गरीब। वहाँ के गरीब या तो खेतों में मज़दूरी करते हैं या किश्ती चलाते हैं, या शहरों में मज़दूरी करते हैं। इन सब को फ़लाहीन कहते हैं। अगर इनके पास कुछ ज़मीन है, तो बहुत थोड़ी। लेकिन अब जनरल नजीब ने तमाम शाही ख़ानदान की और अमीरों की ज़मीन ज़ब्त कर ली है, और किसी को अब दो सौ एकड़ से ज्यादा ज़मीन रखने की इजाज़त नहीं है। यह ज़ब्त शुदा ज़मीन फ़लाहीन में तकसीम की जा रही है।

मिस्र के ऊँचे तबके के लोग बड़े खूबसूरत होते हैं। पढ़े-लिखे तबके पर अंग्रेज़ी रहन-सहन का बड़ा असर पड़ा है। तमाम शहरी और पढ़े-लिखे लोग अंग्रेज़ी लिबास पहनते हैं। उनके खाने-पीने का तरीका बिल्कुल अंग्रेज़ी है। मेज़ पर छुरी कांटे से खाते हैं। ज़्यादातर लोग तुर्की टोपी पहनते हैं। यहाँ के लोगों में जोशोख़रोश तो बहुत होता है, लेकिन देर तक लगातार तामीरी (रचनात्मक) काम नहीं कर सकते। जोश उभरता है, और जल्दी ही ठंडा हो जाता है। शहरों की ज़िन्दगी और उनका रहन-सहन तो बिल्कुल अंग्रेज़ी है, लेकिन देहातों का रहन-सहन बिल्कुल एशियाई है। वह ज़मीन पर फ़र्श या चटाई बिछा कर बैठते और

खाते-पीते हैं। खाना हाथ से खाते हैं। लिबास अरबी है—एक लम्बा ढीला-सा चोग़ा। इसके नीचे लम्बा-सा कुर्ता पहनते हैं। सिर पर एक रूमाल बाँध लेते हैं। बहुत मेहनती होते हैं। तमाम मुल्क में मेहमाननवाज़ी बहुत है। इन लोगों की मेहमाननवाज़ी मशहूर है। एक मरतबा एक अमीर आदमी ने सुना कि फलां जगह एक ग़रीब के पास एक लाजवाब अरबी घोड़ा है, जिसको वह किसी क़ीमत पर नहीं जुदा करता। वह अमीर आदमी नौकरों के साथ अशरफियों का तोड़ा लेकर उस आदमी के पास पहुँचा। ग़रीब आदमी ने उन सबको अपना मेहमान रखा और बड़ी खातिर की। दूसरे दिन जब मेहमान ने घोड़े के बारे में अपना मतलब कहा, तो ग़रीब मेज़बान ने हँसकर कहा कि आप मेरे मेहमान थे, मेरे पास कुछ न था कि आपको खिलाता, इसलिए अपना प्यारा घोड़ा जिसको मैं जान से ज़्यादा अज़ीज़ रखता था ज़िबह करके आपकी मेहमाननवाज़ी की।

अगर कोई अपने जानी दुश्मन से दुश्मन के पास जा कर मेहमान हो जाये, तो यह मजाल नहीं कि अपने दुश्मन का बाल बाँका करे। बल्कि उसकी ख़ातिर अगर ज़रूरत पड़ जाये तो लड़ने-मरने को भी तैयार हो जायेगा। मिस्र में जब कोई किसी के यहाँ मुलाकात को जाता है, तो मेज़बान फौरन काफ़ी, शर्बत, चाय हाज़िर करेगा। अगर मेज़बान अमीर है, तो नौकर सारी चीज़ें सजा कर मेहमान के सामने लायेगा। अगर मेज़बान ग़रीब है, तो वह खुद उठकर काफ़ी या चाय या शर्बत पेश करेगा। मालूम ऐसा होता है कि समावार हर वक्त गर्म रहा करती है।

मिस्र में मुसलमान व ईसाई सब अरब हैं और दोनों अपने को मिस्री या पीर अरब कहते हैं। कोई अपने को ईसाई या मुसलमान नहीं कहता। हमारे मुल्क में इसका उल्टा है। यहाँ लोग अपने को हिन्दू या मुसलमान कहते हैं, हिन्दुस्तानी नहीं कहते। मुसलमान व ईसाई अरब मिलकर आज कल फ़लस्तीन में विदेशी यहूदियों से लड़ते हैं, जिनको अमेरिका व ब्रिटेन ने उनके मुल्क पर ज़बरदस्ती मढ़ दिया।

अभी गुज़िश्ता गर्मियों में इराक व ईरान वगैरह गया था। मैं नजफ़ से कर्बला मोटर पर जा रहा था। रास्ता बियाबान रेगिस्तान से था। एक जगह मैंने दो तीन छोटे-छोटे खेमे लगे देखे। भेड़ें चर रही थीं। मालूम हुआ कि ये खानाबदोश अरब हैं। हम लोग मोटर से उतर कर उन ख़ेमों की तरफ़ गये। हम लोगों को देखकर एक बदवी अरब खेमे के अन्दर तेज़ी से भाग गया। मुझे ताज्जुब हुआ कि मेरे पास आने के बजाये वह भागा क्यों। जब मैं खेमे के पास पहुँचा, तो क्या देखता हूँ कि वह अरब एक चमड़े की मशक से कोई सफ़ेद चीज़ उँड़ेल रहा है। फिर प्याला भर कर और उसमें सुर्ख शक्कर डाल कर वह मेरे पास लाया, और पीने का इशारा दिया। वह मट्ठा था। चन्द भेड़ें उसकी कायनात (सम्पत्ति) थीं, और उनके दूध का मट्ठा और रोटी उस ग़रीब खानदान का खाना-पीना था। मैंने इन्कार करना चाहा, लेकिन वहाँ के जो लोग हमारे साथ थे, उन्होंने कहा कि थोड़ा ज़रूर पी लीजिये वरना यह गरीब समझेगा कि आपने मेहमाननवाज़ी क़बूल नहीं की और उसको बड़ा दुख होगा। मैंने थोड़ा मट्ठा पी लिया और जेब से चन्द रुपया निकाल कर देने लगा। उसने निहायत हकारत (घृणा) व गुस्से की निगाह से मुझे देखा। जो अरबी मेरे साथ थे उन्होंने कहा कि आपने यह क्या ग़ज़ब किया। चलते वक्त उसके बच्चों के हाथ में ज़बरदस्ती कुछ दे दीजिए। मैं बच्चों की तरफ रुपया लेकर बढ़ा। बाज़ भाग गये, बाज़ ने इन्कार कर दिया। एक छोटे बच्चे को मैंने पकड़ लिया। मेरे साथी अरबों ने उसकी माँ से अरबी में कहा कि यह बच्चों को बहुत प्यार करते हैं, इसलिए दे रहे हैं। तुम बच्चे से कह दो कि इनका

तोहफ़ा क़बूल करे। तब जाकर बच्चे को मैं कुछ दे सका। यह है उनकी मेहमाननवाज़ी का एक नमूना।

देहात की ज़िन्दगी बहुत सादा है। आम तौर पर वहाँ ग़रीबी है। शहरी और देहाती ज़िन्दगी में ज़मीन-आसमान का फ़र्क है। देहात में तालीम बहुत कम है। अब हर जगह छोटे-छोटे मकतब या पाठशालायें होती जा रही हैं, लेकिन फिर भी बहुत कम हैं। शहरों में सेकेण्ड्री स्कूल और बहुत से कालेज हैं, और कई यूनिवर्सिटियाँ भी हैं। एक धार्मिक यूनिवर्सिटी है, जिसका नाम अल अज़हर है। यह बहुत पुरानी यूनिवर्सिटी है—छः सौ साल पुरानी। इसमें पन्द्रह-बीस हज़ार विद्यार्थी पढ़ते हैं। उसके लिए बड़े-बड़े वक्फ़ हैं, और स्टेट की तरफ़ से बड़ी रक़म मिलती है। तकरीबन सब तालिबइल्मों को खाना मुफ़्त मिलता है। रहने की जगह भी मुफ़्त मिलती है।

इस यूनिवर्सिटी के तालिबइल्म बड़े जोशीले हैं। अंग्रेज़ों के और अपने बादशाहों के खिलाफ़ बड़े-बड़े कारनामे किये हैं। हमारे शिक्षा मन्त्री मौलाना आज़ाद ने इसी यूनिवर्सिटी में पढ़ा है। यहाँ बहुत से लोग उमर भर पढ़ते रहते हैं।

यहाँ अख़बार पढ़ने का बड़ा रिवाज है, और हर अमीरोग़रीब अख़बार ज़रूर पढ़ता है। यहाँ के अख़बार अच्छे से अच्छे अंग्रेज़ी अख़बार का इंतज़ामी मामलात और लिखने में मुकाबिला कर सकते हैं।

शादी-ब्याह इस्लामी तरीके पर होता है। हिन्दुस्तानी मुसलमानों में शादी-ब्याह के रसूमात तक़रीबन सब हिन्दुवाना हैं। सिर्फ़ आग के सामने अलबत्ता नहीं चलते, और क़ाज़ी निकाह पढ़ा देता है, जो इस्लामी तरीका है।

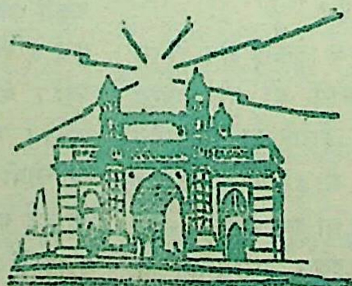
ग़मी में यानी मरने पर सीने पर हाथ मारकर मातम करते हैं, जो बिल्कुल ग़ैर इस्लामी तरीका है। इस्लाम से पहले, बहुत पुराने ज़माने में दरियाये नील को, जिस पर मिस्र की पैदावार का दारोमदार है, ख़ुश करने के लिये मिस्र की सबसे ख़ूबसूरत लड़की की क़ुरबानी करते थे।

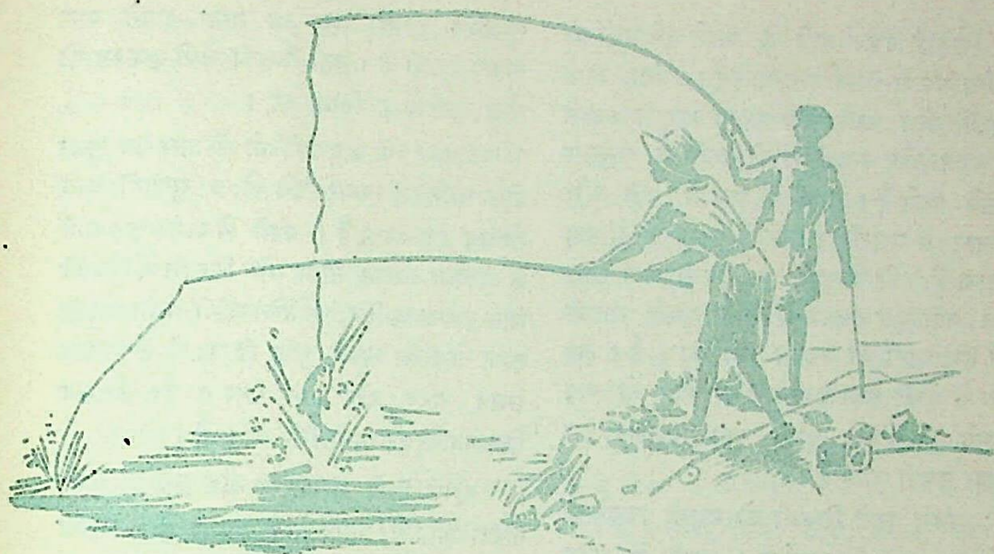
मिस्र की सबसे बड़ी पैदावार रुई है जिसको बाहर मुल्कों में भेजा जाता है, और वहाँ की ख़ुशहाली बहुत-कुछ रुई की पैदावार पर मुनहसर है। और फिर वहाँ का तम्बाकू जिसका सिगरेट बनता है, बाहर बहुत जाता है और मिस्र के लोग मिस्री सिगरेट बड़े शौक से पीते हैं।

कहा जाता है कि हमारे मुल्क के मिश्र ब्राह्मण मिस्र से आये थे। यह कोई तारीख़ी (ऐतिहासिक) बात नहीं है। हाल की ख़बर है कि मिस्र में चार हज़ार बरस बी० सी० का एक बहुत बड़ा पिरामिड मालूम हुआ है, जिसको लोग अब तक पहाड़ समझते थे।

हिन्दुस्तान की तरह अगले ज़माने में मिस्र में सूरज की पूजा बहुत होती थी, और सूरज मिस्र का बड़ा देवता था, जिसको 'रा' कहते थे। मिस्र और हिन्दुस्तान में पहले ज़माने में तिजारत का सिलसिला भी जारी था।

—दिल्ली से प्रसारित





मछली पकड़ना

विनयेंदु भट्टाचार्य

बंसी से मछली पकड़ना भी भारत में लोगों के मन-बहलाव का एक साधन है। पेशेवर मछली पकड़ने वाले तो नाव से, जाल से और तेज़ पानी के बहाव को रोक कर मछलियों के झुंड के झुंड पकड़ लेते हैं, पर साधारण काश्तकार और मज़दूरी करने वाले बंसी और धागे से मछली पकड़ कर दिल बहलाते हैं और फिर मज़े से खाते हैं। कभी-कभी दफ़्तर में काम करने वालों और अन्य शिकारियों के लिए भी इस प्रकार से मछली पकड़ना एक नशा-सा बन जाता है।

एक बार कमरे में बन्द एक पागल ने खिड़की में से एक मछली के शिकारी को मछली पकड़ते हुए देखा। शिकारी दिन भर में एक भी मछली न पकड़ सका और जब वह उठ कर चल दिया, तो पागल ने हँस कर उससे कहा, "अब बताओ कौन पागल है? तुम मेरी जगह आकर बैठो, मैं तुम्हारी जगह लेता हूँ।"

पर बंसी से मछली पकड़ना पागल की सनक नहीं है। यह एक विशेष कुशलता का काम है और यह जुआ भी नहीं है।

इस तरह मछली पकड़नेवाले को हर प्रकार की मछलियों के रहन-सहन, उनकी आदतें और उनके आहार-विहार का अध्ययन करना होता है। गहरे समुद्र में रहनेवाली मछलियों, कम गहरे पानी में रहनेवाली मछलियों, झीलों, नदियों, तालाबों और नहरों में रहनेवाली मछलियों का अलग-अलग आकार होता है। एक कुशल मछली पकड़नेवाले के लिए इन बातों की जानकारी बहुत आवश्यक है। अगर कोई अनाड़ी एक कुएं में बंसी डाल कर आयु भर चुप बैठा रहे तो वह एक भी मछली नहीं पकड़ पायेगा।

मछली पकड़नेवाले को अपने हथियारों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। डंडा, तागा चरखी, काँटा आदि सब साधन मछली पकड़ने के स्थान और मछलियों की जाति के अनुसार जुटाने पड़ते हैं। अब मैं आपको नदी और तालाब से मछली पकड़ने के सम्बन्ध में कुछ बताता हूँ, जो मैं अपने अनुभव से जान सका हूँ। नदी और तालाब में रहने वाली मछली को मीठे पानी की मछली कहा जाता है। छः इंच से छोटी मछली पकड़ने का ढंग तो सब जानते ही होंगे। इससे बड़ी मछलियाँ इस प्रकार पकड़ी जाती हैं।

सबसे पहले शिकारी को मछली पकड़ने के डंडे पर ध्यान देना चाहिए। बाज़ार से बहुत कीमती डंडे ख़रीदने की ज़रूरत नहीं है। बाँस का डंडा इस काम के लिए ठीक रहेगा। बड़ी मछली पकड़ने के लिए डंडे की लम्बाई छः से आठ फुट के बीच होनी चाहिए और डंडा काफ़ी लचकदार होना चाहिए जो कि मछली का वज़न और उसकी खींच का बोझ संभाल ले। हरा बाँस काट कर उसको धुँए में सेंक लेने से डंडा काफी लचकदार हो जाता है। सेंक लेने के बाद डंडे को कुछ दिनों के लिए तालाब के कीचड़ में दबाकर रख देना चाहिए। ऐसा करने से उसकी गन्ध मिट जाती है और डंडा पानी की गन्ध ले लेता है जिससे मछली दूर नहीं भागती। तागे के चुनाव में भी कुशलता की ज़रूरत है। मछली हाथ तभी आती है जब तागे में मछली के वज़न और खींच को सहन करने का बल होता है। दिन भर की मेहनत और कोशिश के बाद अगर बंसी में फँसी हुई मछली धागे को तोड़ कर निकल जाए, तो इससे बड़ी निराशा की बात क्या हो सकती है ?

जिस पानी में हरी घास ज्यादा हो उसमें हरे रंग का तागा डालना चाहिए और जहाँ पानी साफ़ न हो और मिट्टी के रंग का हो, वहाँ तागा मटियाले रंग का होना चाहिए। इसलिए दोनों तरह का तागा अपने पास रखना ज़रूरी है। जहाँ जिसकी जैसी ज़रूरत हो वैसा तागा डाल दिया जाए।

शिकार के बाद तागे को निकाल कर सुखा लेना चाहिए। अगर तागे को न सुखाया जाये तो वह सड़ जाता है। बंसी में लगे हुए तागे के अलावा फ़ालतू तागा भी शिकारी को अपने साथ रखना चाहिए, क्योंकि कभी-कभी मछली तागा तोड़ कर अपने साथ ले जाती है। उस समय अगर और तागा पास न हो तो सब किए-कराये पर पानी फिर जाता है।

व्हील यानी चरखी पर भी जिसमें तागा लपेटा जाता है, ध्यान देना ज़रूरी है। चरखी खरीदते समय जाँच कर लेनी चाहिए कि तागा खोलते और लपेटते समय कोई रुकावट तो नहीं होती। जंग से बचाने के लिए चरखी में बराबर तेल देते रहना चाहिए।

काँटा घड़ी के टूटे हुए स्प्रिंग से बहुत बढ़िया बनता है। बाज़ार से जो काँटा मिलता है, उसे अच्छी तरह देखकर लेना चाहिए क्योंकि कच्चे लोहे का काँटा बहुत जल्दी टूट जाता है। हर समय कम से कम आधा दर्जन काँटे अपने साथ रखने चाहिएँ।

तालाब में मछली पकड़ने का मौसम बरसात के बाद आरम्भ होता है। जब पानी मैला और गंदला होता है, उस समय मछली काँटे पर लगे गाले को खाने के लिए लपकती है और अपने अंडों को फेंक कर भूखी शार्क की तरह गाले पर टूट पड़ती है। गाले भी दो तरह के होते हैं। एक वह जो कि काँटे पर लगाया जाता है और दूसरा वह, जो कि पानी में मछली को आकृष्ट करने के लिए फेंका जाता है। लोग बकरी की सड़ी हुई अंतड़ियों और खाल का प्रयोग भी करते हैं। मेरे विचार में यह सुरुचिपूर्ण नहीं। मैं तो इन चीज़ों का प्रयोग करता हूँ—मेथी, काला ज़ीरा, कस्तूरी और खल।

मैं ये सब चीज़ें भून कर, पीस कर, मिट्टी में मिला कर पानी में डालता हूँ। कभी-कभी लाल चींटी के अण्डे भी पानी में डाल देता हूँ। इससे हर तरह की बड़ी मछली पास आ जाती है। काँटे में लोग छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े लगाते हैं, मैं यह पसन्द नहीं करता। रोहू मछली पकड़ने के लिये मैं चने के सत्तू, मैदा और पनीर के छोटे-छोटे टुकड़े मिलाकर पानी में सानकर, काँटे में लगाता हूँ। इससे रोहू बहुत जल्दी खिंच आती है।

कतला मछली के लिये पका हुआ केला, भीगे हुए चिड़वे के साथ सान कर काँटे में लगा देता हूँ। मृगल मछली चोर मछली कहलाती है। यह हर तरह का गाला बग़ल से काट कर खा जाती है और कभी काँटे को मुँह के भीतर नहीं लेती। जब कभी यह फँस जाती है तो सीधी पानी के अन्दर कीचड़ में घुस कर बैठ जाती है। उस जगह से उसे उठाना बहुत कठिन होता है। इसका एक उपाय यह है कि टूटे हुए मटके का ऊपर का आधा हिस्सा तागे से गुज़ार दिया जाता है जो कि मछली के गले में जाकर फँस जाता है। और फिर मछली कीचड़ से निकल कर ऊपर आ जाती है। एक बार मछली के शिकार में तीन घंटे कोशिश करने के बाद हार कर मुझे यह ही प्रयोग करना पड़ा। तब कहीं मछली हाथ लगी।

कई बार नदी में कछुए आकर तंग करते हैं और मछलियों को भगा देते हैं। कछुओं को भगाने के लिए पानी में मसूर की दाल डाल देनी चाहिए। ऐसा करने से वे तुरन्त भाग जायेंगे।

अब मैं आपको मछली के छोड़े हुए बुलबुलों से मछली को पहचान लेने की बात बताता हूँ।

जब गाला डाले हुए स्थान पर मछलियाँ आनी शुरू होती हैं तो पानी की लहरों से और बुलबुलों से पता लगाया जा सकता है कि वे किस जाति की हैं। शिकारी को बुलबुलों से जान लेना चाहिये कि वह किस मछली का शिकार करने जा रहा है। रोहू मछली थोड़ी-थोड़ी देर बाद तीन-चार बुलबुले एक साथ छोड़ती है, मृग मछली छोटे-छोटे पर बहुत से बुलबुले बराबर छोड़ती रहती है, कतला मछली बड़े-बड़े बुलबुले छोड़ती है। ईल मछली बराबर एक के बाद दूसरा बुलबुला छोड़ती ही रहती है, पर नज़र एक बार में एक ही आता है।

इसलिये अपने इस पानी के मेहमान को पहले ठीक से पहिचान लीजिये, और फिर उसी के अनुसार तैयारी करके, उसका स्वागत कीजिये। कभी-कभी मछली नज़दीक आकर भी वंसी में लगा हुआ गाला नहीं खाती। उसके बहुत से कारण हो सकते हैं। ऐसे में मछली के शिकारी की बुरी हालत हो जाती है। कुछ ऐसा ही एक मेरा किस्सा है। एक बार मैंने एक फ़िशिंग-क्लब का दो महीने का टिकट ख़रीदा और दस-पन्द्रह दिन तक कोशिश करते रहने पर भी एक भी मछली हाथ नहीं लगी। निराश होकर जब मैं बैठा हुआ था तो एक दोस्त ने सलाह दी कि टार्च के छोटे बल्ब को काँटे के साथ बाँध कर और एक बिजली का तार लगा कर पानी में डाल दीजिये और छोटी बैटरी से उसे मिलाकर बल्ब को जला दीजिये। मैंने बड़े परिश्रम के बाद यह तैयारी कर ली और अगले दिन शाम को उनके बताये हुए तरीके से बल्ब जला कर काँटा पानी में डाल दिया। फिर क्या था, अनेक मछलियाँ उस बल्ब पर उसकी रोशनी देख कर टूट पड़ीं और शिकार हो गईं। इसलिये भाई मछली का शिकार जल्दबाज़ी या उतावलेपन का शिकार नहीं है, इसमें तो धैर्य की बड़ी आवश्यकता है।

—दिल्ली से प्रसारित



टॉलस्टाय का जीवन दर्शन

लियो टॉलस्टाय रूस के उन निराले और अनोखे व्यक्तियों में थे जो निचले स्तर से उन्नति के शिखर पर नहीं चढ़े, वरन् अनुकम्पा और करुणा से पसीज कर शिखर से नीचे उतर आये। भगवान् बुद्ध की तरह भोग और विलास के जीवन को तिलाँजलि देकर वे संसार को नया संदेश देने में सफल हुए।

टॉलस्टाय का जन्म एक संभ्रांत सामन्त परिवार में हुआ था। बचपन में ही माता-पिता का देहान्त हो जाने के कारण उनकी देखभाल एक दूर के रिश्तेदार ने की, जिसका गहरा प्रभाव उनके जीवन पर पड़ा। इस रिश्तेदार को साधु-सत्संग का बहुत शौक़ था। परिणाम यह हुआ कि उस के मन में अध्यात्मवाद ने घर कर लिया।

युवावस्था में वे सेना में भरती हुए, परन्तु सेना और युद्ध के प्रति उनकी घृणा तीव्र होती गई। विनाश नहीं, विकास ही जीवन का चिर-सत्य है, ऐसी उनकी भावना बनी। उन्होंने युद्ध के विरुद्ध नारा लगाया। मनुष्य का शत्रु मनुष्य क्यों है? युद्ध मानवता का शत्रु है। युद्ध के अनुभवों को ही "युद्ध और शान्ति" में चित्रित किया गया है। यह उपन्यास नैपोलियन के युद्धों से सम्बन्धित है। इसमें एक परिवार की कथा को नहीं अनेकों परिवारों की जीवन कथाओं को समेटा है। अहिंसा, बन्धुत्व और विश्व शान्ति, यह है इसका संदेश। उपन्यास का नायक रणक्षेत्र में घायल पड़ा है। एकदम उसके मन में विवेक उत्पन्न होता है—वह एक नया स्वप्न देखता है—विश्व शान्ति का महान् स्वप्न वह अनुभव करता है कि बुद्ध की करुणा और ईसा का प्रेम दुखी मानव को शान्ति दे सकते हैं। सब धर्मों का यही सार है—किसी से शत्रुता न करो, क्रोध हिंसा का दूसरा रूप है. हिंसा पाप है। साथ ही वे उपन्यास में जमींदारों की क्रूरता के प्रति विद्रोह करते हैं। महन्तों के और ज़ार के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाते हैं।

लोग टॉलस्टाय को अवतार मानने लगे, परन्तु परिवार के लोग उन्हें मूर्ख समझते थे। उनकी पत्नी को डर लगने लगा कि टॉलस्टाय की बुद्धि में कहीं विकार तो नहीं आ गया है। जब पिता विश्वबन्धुत्व की बातें करते तो उन के पुत्र उठकर चले जाते। जिस तरह महात्मा ईसा धरती पर स्वर्ग लाना चाहते थे उसी तरह "युद्ध और शान्ति" उपन्यास का नायक सब देशों में लोकतंत्र राज्य स्थापित देखना चाहता था।

(इन्द्रनाथ मदान—जालंधर)

बादशाह अकबर यदि ब्रॉडकास्ट करते !

...दीने इलाही दुनिया का दीन है, बशर्ते कि दुनिया खुदा की जात और सिफ़्त समझे। आप पूछ सकते हैं कि दीने इलाही का रास्ता क्या है? रास्ता आप अपने दिल से पूछिये और हमें कामिल यक़ीन है कि हर एक इंसान इस रास्ते को जानता है, लेकिन उस पर अमल नहीं करता। हर एक दीन और धर्म के मुबाहिसों से हमने दीने इलाही के लिये सिर्फ़ दस बातें चुनी हैं। सुनिये—

पहली है, जूद और करम (दरियादिली और मेहरबानी)। क़ुरान की आयत है कि जब तक तू अपनी सबसे प्यारी चीज क़ुर्बान नहीं करता, तब तक तू हक़ीक़त से वाकिफ़ नहीं हो सकता। इसलिये हर एक के लिये दरियादिल और मेहरबान होना जरूरी है।

दूसरी बात है, बुरे काम करने वाले को माफ़ कर देना और उसके गुस्से का जवाब शीरीं जबान से देना। अगर तुझे कोई जहर दे तो तू उसे शक्कर दे।

कम मबाश अज़ दरख़्ते साया फ़िगन।
हर कि संगत जनद समर बख्शा॥

तू साया देने वाले दरख़्त से कम न साबित हो। जो तुझे पत्थर मारे उसे तू फूल दे।

तीसरी बात है, दुनियावी ख्वाइशात से तू परहेज कर। समझ ले कि दुनियावी ज़िन्दगी एक खेल और बाज़ी है।

मुहब्बते दुनिया से तू परहेज कर। रोटी और दौलत की ख़ातिर तू अपने जिगर का ख़ून मत पी।

चौथी बात है, दायमुल वजूद (अमरत्व) के लिए तू इस दुनियावी ज़िन्दगी की क़ैद से नजात हासिल कर।

पांचवीं बात है, कामों को तू अक़्ल और अदब से अंजाम दे।

छटी बात है, दुनिया में ख़ुदा का ऐजाज़ (करिश्मा) तू तभी देख सकता है जब तू होशियारी से काम ले।

सातवीं बात है, सब के लिये नर्म ज़बान और खुश कलाम (मीठा बोल) रखना ज़रूरी है।

आठवीं बात है, दूसरे की बात हमेशा अपनी बात से मुक़द्दम (बढ़कर) समझ। खल्क की खिदमत से बढ़कर कोई इबादत नहीं है।

नवीं बात है, दीन के लिये तू दुनिया को तर्क कर द और अपने को ख़ुदा पर छोड़।

दसवीं और अख़िरी बात यह है कि ऐ बिरादर! अगर तू अपने दोस्त से वस्ल चाहता है तो रूह और नफ़्स को एक में मिला दे।

बस इन्हीं दस बातों में दीने इलाही है।

ख़ुदा ने हमें मुल्क अता फ़रमाया। उस मुल्क को हम शीरीं ज़बान दें, मुहब्बत दें और इबादत दें।

अल्लाहो अकबर!

(रामकुमार वर्मा, इलाहाबाद)



राम चरित्र

भगीरथ मिश्र

करुणा के उद्रेक से जिनकी वाणी सर्वप्रथम काव्य के रूप में मुखरित हुई थी, उन आदि कवि महर्षि वाल्मीकि द्वारा लिखी गई रामायण, रामकथा का मूल स्रोत है। यों तो राम-कथा को बौद्ध और जैन साहित्य में भी सम्मान प्राप्त हुआ और "दशरथ जातक तथा पउम चरिउ" जैसे ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। राम के चरित्र को लेकर विदेशों में भी काव्य रचनाएं हुईं। तिब्बती रामायण, तुर्किस्तान की खोतानी रामायण, हिन्देशिया की सेरत राम, रेआम केर, इत्यादि। भारतवर्ष में राम के चरित्र से प्रेरित होकर यों तो अनेक ग्रन्थों की रचना हुई, परन्तु उनमें सबसे महत्वपूर्ण तीन महाकाव्य हैं—वाल्मीकि रामायण, रघुवंश और तुलसी का रामचरित मानस। वास्तव में राम के चरित्र में काव्यात्मक प्रेरणा देने की अद्भुत शक्ति है। इसी शक्ति की ओर संकेत करते हुए मैथिली शरण गुप्त ने अपने महाकाव्य "साकेत" के प्रारम्भ में लिखा है—

राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।

आज जब हम ईश्वरता के नहीं, वरन् मानवता के उपासक हैं, तब राम चरित्र हमारे सामने एक महा मानव के रूप में प्रस्तुत है। वाल्मीकि के राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, एक आदर्श राजा हैं। तुलसी के राम सच्चिदानंदमय ब्रह्म के अवतार हैं, परन्तु "साकेत" के राम मानव हैं, जो मनुष्य को उसके जीवन का यथार्थ मार्ग बताने के लिये अवतरित हुए थे।

गुप्त जी के "साकेत" महाकाव्य में राम का चरित्र-चित्रण प्रधान लक्ष्य नहीं, परन्तु गुरु-पितु-मातु किसी को न जानने वाले और "मोरे सबइ एक तुम स्वामी" कह कर हठपूर्वक वन को राम के साथ जाने वाले लक्ष्मण की कथा में राम का चरित्र गौण कैसे रह सकता था।

इतना ही नहीं राम के चरित्र-चित्रण में गुप्त जी ने आधुनिक युग के गान्धीजी के सत्याग्रह आंदोलन में आए सविनय अवज्ञाभंग आदि का भी संकेत किया है। जिस समय राम पिता की आज्ञा से वन जाने लगे उस समय प्रजा-जन अपना राजा चुनने का अधिकार जताते हुए कहते हैं:

राजा हमने राम तुम्हीं को है चुना।
करो न तुम यों हाय लोकमत अनसुना।
जाओ यदि जा सको रौंद हमको यहाँ।
यों कह पथ में लेट गयें बहु जन वहाँ।

गुप्त जी के "साकेत" में राम का चरित्र आर्यों का आदर्श प्रगट करने वाला चरित्र है। इसके कुछ सिद्धान्त ये हैं:

१. मानव जाति की स्थायी सुख-शान्ति के लिए क्रान्तिकारी परिवर्तन किये जा सकते हैं।
२. मनुष्य को अपने भीतर ईश्वरीय गुणों का विकास करना चाहिए।
३. सामूहिक कल्याण के लिए व्यक्तिगत सुखों का त्याग करना चाहिये।
४. सामाजिक मर्यादा और नियमों का पालन सभी के लिए आवश्यक है।

"साकेत" में राम का चरित्र एक उदार, उत्साही कर्मठ मानव के रूप में ही नहीं, वरन् सरल विनोदप्रिय, सखा, भ्राता और पति के रूप में भी है। उदात्त महानता को न छोड़ते हुए भी वे हम से दूर नहीं जान पड़ते। यही "साकेत" के रामचरित्र की विशेषता है।

—लखनऊ से प्रसारित

Printed at the Coronation Printing Works, Delhi and Edited and Published by the Director, Publications Division, Ministry of Information & Broadcasting, Government of India, Old Secretariate, Delhi-8.

देश-विदेश की लोक-कथायें

इस संग्रह में देश-विदेश की चुनी हुई सोलह लोक-कथाओं को स्थान दिया गया है। पुस्तक में ५० से ऊपर चित्र और ७४ पृष्ठ हैं और इसका आवरण पृष्ठ बहुत ही आकर्षक तथा तिरंगा है। इतना सब होते हुए भी पुस्तक का मूल्य केवल एक रुपया रखा गया है।

देश-विदेश की प्रसिद्ध लोक-कथाओं का यह संग्रह इस उद्देश्य से निकाला गया है कि हमारे देश के बच्चे लोक-कथाओं के द्वारा अन्य देशों के लोक जीवन से परिचित हों और उनमें अन्तर्राष्ट्रीय भावना बढ़े। इस संग्रह में तुर्किस्तान, अफ्रीका, तिब्बत, कोरिया, जापान, जर्मनी, चैकोस्लोवाकिया, यूनान, रूस, प्राचीन अमेरिका, इटली, नार्वे, इंग्लैंड, फ्राँस आदि देशों की लोक-कथाएँ हैं। ये कहानियाँ अत्यन्त सरल और रोचक भाषा में लिखी गई हैं। जिन बच्चों या प्रौढ़ों का हिन्दी सम्बन्धी ज्ञान तीसरी-चौथी कक्षा तक है, वे भी इस पुस्तक को अच्छी तरह समझ सकते हैं। यह पुस्तक बाल-साहित्य और प्रौढ़-शिक्षा, दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी होगी।

इस माला के अगले दो संग्रह 'भारत की लोक-कथाएं' तथा 'मनोरंजक कहानियाँ' जल्दी ही प्रकाशित होने वाले हैं।

पुस्तक सब पुस्तक विक्रेताओं के यहाँ मिल सकती है

अथवा

पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियेट, दिल्ली को लिखें

स्वाधीनता और उसके बाद

जवाहरलाल नेहरू के भाषण

(१९४६–१९४९)

इस संग्रह में हमारे प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू के लगभग ६० महत्वपूर्ण भाषण संग्रहीत हैं। ये भाषण १९४६ से १९४९ तक विशेष-विशेष अवसरों पर दिये गए थे। स्वाधीनता, महात्मा गान्धी, साम्प्रदायिकता, काश्मीर, हैदराबाद, शिक्षा, उद्योग, भारत की वैदेशिक-नीति, भारत और राष्ट्रमंडल, भारत और विश्व आदि विषयों के अतिरिक्त कई फुटकर विषयों पर भी भाषण हैं। जो व्यक्ति आज के भारत या भारत सरकार पर कुछ भी जानना चाहता है वह इन भाषणों को पढ़े बिना काम नही चला सकता। नैतिक मूल्यों के लिए हमारी प्रधान-मन्त्री का आग्रह, उनकी सरलता, निष्कपटता तथा स्वभावगत सच्चाई के कारण इन भाषणों को स्थायी साहित्य का महत्व प्राप्त हुआ है। केवल सामयिक विषयों पर प्रामाणिक रोशनी की दृष्टि से ही नहीं बल्कि सभी दृष्टियों से ये भाषण संग्रहणीय और पठनीय हैं।

पृष्ठ संख्या डिमाई ४४५, सुन्दर कलापूर्ण
कड़ी जिल्द, मूल्य ५) डाक व्यय १)

प्राप्ति स्थान—

पब्लिकेशन्स डिवीज़न, ओल्ड सेक्रेटेरियट, दिल्ली—८

